



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर
सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सम्मत्तिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

ॐ

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्

(प्रथम खण्ड)

हिन्दीभाषानुवादिका
पूज्य गणिनी आर्यिका 105 श्री सुपार्श्वमती माताजी

स्वर्णिम अमृत महोत्सव की भेंट

(परम्परानायक)



परम पूज्य चरित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)



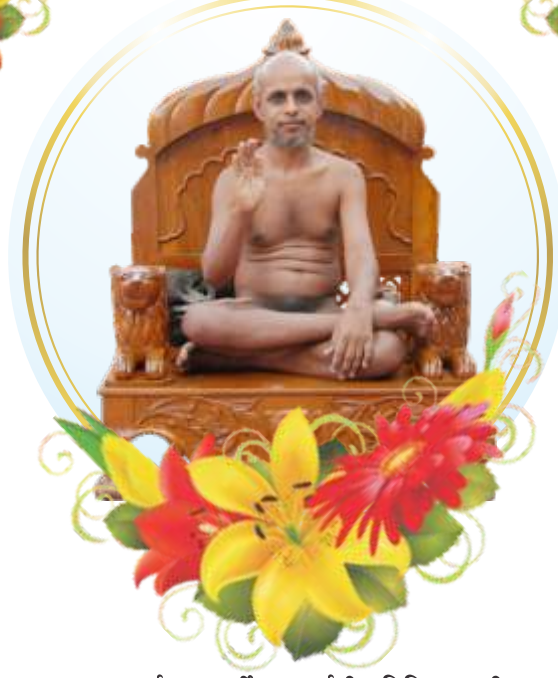
परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार



महर्षिविद्यानन्दविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारः

प्रथम खण्ड



हिन्दीभाषानुवादिका
पूज्य गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी



स्वर्णिम अमृत महोत्सव की भेंट



महर्षिविद्यानन्दविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारः

(प्रथम खण्ड)

हिन्दीभाषानुवादिका

पूज्य गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपाश्वर्यमती माताजी

स्वर्णिम अमृत महोत्सव की भेंट

ग्रन्थ : तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारः (प्रथम खण्ड)

रचयिता : महर्षि विद्यानन्द

हिन्दी अनुवादकर्त्री : गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपाश्वर्ममति माताजी

सम्पादक : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

सह सम्पादक : बा. ब्र. डॉ. प्रमिला जैन

संस्करण : द्वितीय

प्रतियाँ : १०००

प्रकाशन तिथि : भाद्र पद शुक्ल-६, वीर निर्वाण संवत् २५३३
सन् २००७

प्रकाशन सहयोगी : श्री डूंगरमलजी सुरेश कुंजी पाण्डया (जयपुर)

प्राप्ति स्थान : १. चुड़ीवाल कृषि फार्म, बड़ के बालाजी,
ओमेक्स सिटी के पास, अजमेर रोड़,
जयपुर (राज.)

मुद्रण : सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर (राज.)
फोन : 0294-3295406
मोबाईल : 98295-82041

श्री डूंगरमलजी सुरेश कु०जी पाण्डया (जयपुर)

एवं परिवार का

धन्यवाद देते हुए आभार मानते हैं

जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में

अर्थ सहयोग देकर

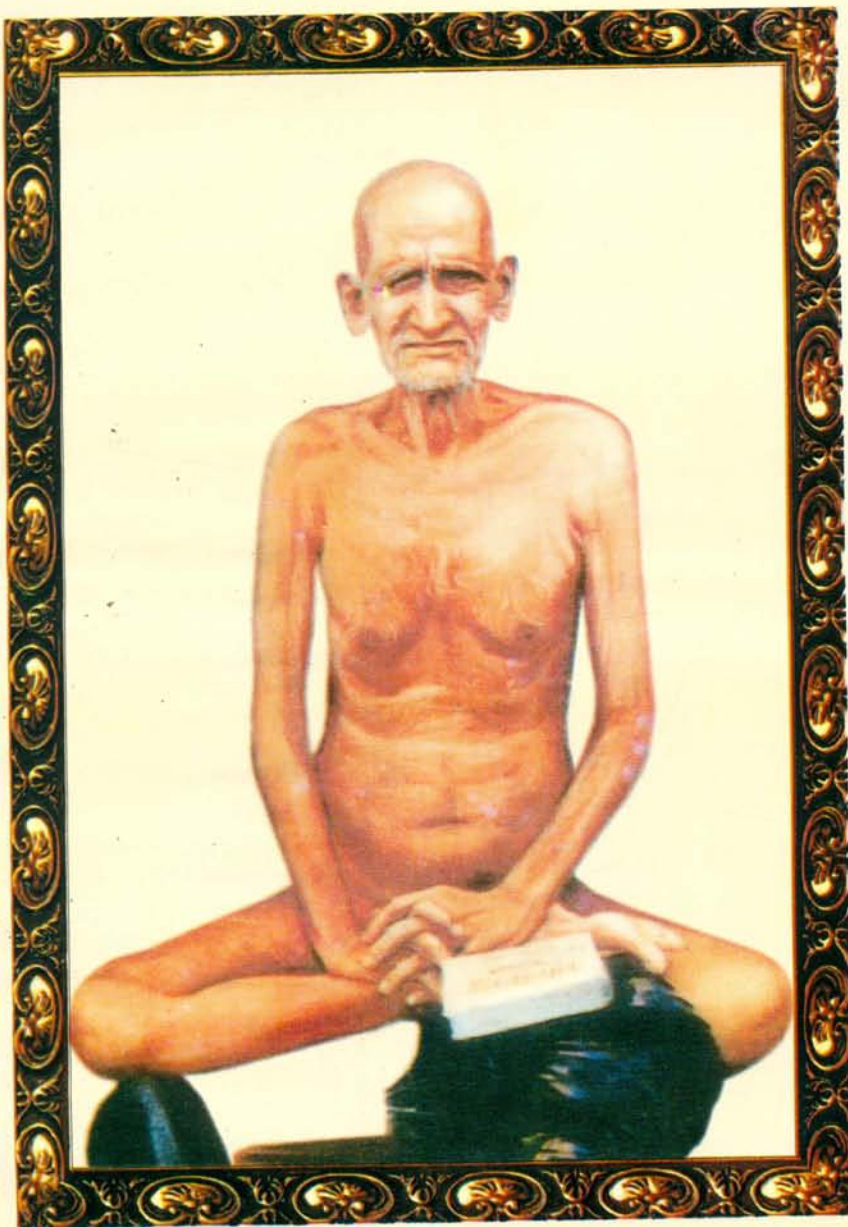
ज्ञान प्रचार का कार्य किया ।

समर्पण

श्रुत की सतत् समुपासिका
निर्दोष निष्काम स्वाध्याय साधिका
आगमोक्तचर्या की अनुरागिका
सतत् सत् साहित्य सृजनिका
गणिनी आर्यिका श्री १०५ सुपाश्वर्यमती माताजी के
संयम यात्रा के
५०वें स्वर्णिम अमृत महोत्सव पर
सादर समर्पित
उन्हीं की तपः पूत लेखनी से निसृत
यह श्रुत सार अमृत

चरणानुरागिनी
प्रमिला

आर्यिकाश्री के दीक्षागुरु



परम पूज्य (स्व.) आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज

स्वात्मैकनिष्ठं नृसुरादिपूज्यं, षड्जीवकायेषु दयार्द्रचित्तं
श्रीवीरसिन्धुं भववार्धिपोतं, तं सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या ॥



गणिनी आर्यिक १०५ श्री सुपाश्वमती माताजी

जन्म
वि.सं. १९८५
मैनसर-नागौर (राज.)

आर्यिका दीक्षा
वि.सं. २०१४
खानिया- जयपुर (राज.)

गणिनी पद
वि.सं. २०४३
कानकी (बिहार)

५२ दो शब्द ५२

विश्व में सब प्रकार की वस्तुएँ या विभूतियाँ सरलता से उपलब्ध हो सकती हैं, किन्तु आत्मोद्धार की विद्या या ज्ञान का प्राप्त होना दुर्लभ और कष्टसाध्य है। उपदेशक तो बहुत हैं पर सच्चा उपदेशक मिले तो ज्ञान की दुर्लभता सुलभता में परिवर्तित हो सकती है।

ज्ञान के चरमोत्कर्ष को प्राप्त रत्नत्रयविभूषित महर्षि विद्यानन्द ने आचार्य गृद्धपिच्छ के सुप्रसिद्ध 'तत्त्वार्थसूत्र' पर कुमारिल के 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' की तरह 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार' पद्य में लिखा है। साथ ही पद्यवार्तिकों पर स्वयं भाष्य अथवा गद्य में व्याख्यान लिखकर भव्य जीवों पर महान् उपकार किया है। अतः हम इन्हें कोटि-कोटि नमन करते हैं।

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य स्वर्गीय आचार्यदेव श्री वीरसागरजी महाराज के पुनीत चरणों में मैं केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेद प्रमाण नमस्कार करती हूँ, जिन्होंने दीक्षा देकर मुझे शिवपथ के योग्य बनाया और मेरी आशा पूरी की। केवल मन में यही आस—'चेतन के ऊर्ध्वारोहण का आत्मा में फैले दिव्य प्रकाश'—लेकर और आचार्य महावीरकीर्तिजी, आचार्य शिवसागरजी, आचार्य धर्मसागरजी, आचार्य अजितसागरजी सदृश महान् गुरुओं का आशीर्वाद पाकर तथा उनकी चरण-रज रूपी कुंकुम को अपने भाल पर अंकित कर सतत आगे बढ़ने का प्रयास कर रही हूँ।

भूला नहीं जा सकता—प्रेम, करुणा, वात्सल्य और दया की अनुपम भण्डार माता इन्दुमतीजी को—जिन्होंने मेरे जीवन को सार्थकता प्रदान की। मुझ अज्ञानी, अल्पज्ञ—संस्कृत, प्राकृत तो दूर जिसे ठीक से हिन्दी बोलना भी नहीं आता था—ऐसी मुझ भूली-भटकी को आपने अपनाया तथा अगाध वात्सल्य से शिवपथ के योग्य बनाया। ऐसी पूज्य माताजी की मैं चिर-ऋणी हूँ और प्रभु से सदैव यही प्रार्थना करती हूँ कि अपने चारित्र का निर्दोष पालन करती हुई मैं भी उनकी तरह की यम सल्लेखना अंगीकार कर सकूँ।

मैं डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के संशोधक, सम्पादक के रूप में अपना विशेष सहयोग दिया है। वे सदैव मेरे हार्दिक आशीर्वाद के पात्र हैं। समय-समय पर अनेक प्रकार से सहयोगकर्त्री डॉ. प्रमिलाजी को भी आशीर्वाद देती हूँ।

श्री डूंगरमलजी सुरेश कुमार जी पाण्ड्या, जयपुर निवासी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभार वहन किया है। मैं प्रकाशक दम्पति एवं उनके सम्पूर्ण परिवार को आशीर्वाद देती हूँ और यही भावना भाती हूँ कि उनके द्वारा इसी प्रकार जिनवाणी का प्रचार एवं प्रसार होता रहे।

इस ग्रन्थ की वर्तमान प्रस्तुति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जो-जो मेरे सहयोगी बने, मैं उन सभी को आशीर्वाद देती हूँ।

भाषान्तर करते समय मैंने आगम के अर्थ का पूर्ण ध्यान रखा है तथापि अज्ञान या प्रमाद से रही त्रुटियों के लिए मैं सुधी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

— आर्यिका सुपाश्वर्यमती

卐 भँवरी भँवर से पार 卐

वीणावादिनी की वीणा के तारों का मधुरिम गुंजन,
कण्ठ विराजा जिनके ऐसी माँ सुपाश्व को शत वंदन।
सरिता सम प्रवाहित शब्दों का मन को छूता स्पन्दन,
बरबस थामे रहता हर सुनने वाले का चंचल मन॥

परम्पराओं की कड़ियों का जुड़ना इतिहास और संस्कृति को जन्म देता है। संस्कृति समाज की आधारशिला बनती है और समाज बनता है मानव-व्यक्तित्व के विकास का स्तंभ। इतिहास, संस्कृति और समाज की यह त्रिवेणी कालचक्र द्वारा भी अवरुद्ध नहीं हो पाती है। हाँ! क्षेत्र-काल-परिस्थिति के अनुसार उसकी दिशा-उत्थान-पतन आदि में परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है क्योंकि परिवर्तन तो सृष्टि का नियम है।

राजस्थान की शूरतापूर्ण माटी से अनेक इतिहास जुड़े हैं, संस्कृतियाँ जन्मी हैं। उसमें अनेक गौरव-गाथाओं का जन्म हुआ है। मानव मात्र की भलाई के लिए, उनके उत्थान के लिए, उन्हें धर्ममार्ग पर प्रेरित करने के लिए समय-समय पर आदर्श विभूतियों का अवतरण हुआ है।

राजस्थान के ही बीकानेर जिले के ग्राम मेनसर में श्रेष्ठिवर श्री हरकचंदजी चूड़ीवाल के आँगन में उनकी पत्नी श्रीमती अणची देवी की गोद में एक बालिका का अवतरण हुआ। वह शुभ दिन था- फागुन शुक्ला नवमी, विक्रम संवत् १९८५, शुक्रवार, मृगशिरा नक्षत्र। हर्षोल्लासपूर्ण वातावरण में बालिका को 'भँवरी' नाम से अलंकृत किया गया। समाज व संस्कृति के बीच सँवरित वह बालिका बचपन की देहलीज पार करने को अग्रसर हुई। काश! बाल्यावस्था ठहर जाती। परन्तु कर्म-रेख कुछ और दर्शा रही थी। अग्निताप की पराकाष्ठा पार करके ही स्वर्ण कसौटी पर खरा उतरता है। उत्कृष्ट व्यक्तित्व का निर्माण भी कर्म-रेख द्वारा निर्मित इष्टानिष्ट पड़ावों को पार करके ही संभव है। विपदाओं के बीच ही रचनाकार-साहित्यकार का निर्माण होता है। भँवरी को भी भवरूपी भँवर से मुक्ति हेतु अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ा। बचपन की देहरी पर वैधव्य का सामना! उस अबोध बालिका की नियति के साथ यह एक क्रूर अन्याय नहीं तो और क्या था? आँसुओं की गंभीरता से भी अनभिज्ञ को आँसुओं के सागर में उतार दिया। भँवरी तो इसे बड़ी सहजता से देख रही थी। कभी-कभी आश्चर्यमिश्रित भावों की स्पष्टता परिलक्षित होती थी। समाज के रीति-रिवाजों और संस्कृति ने उसे परिस्थिति का आभास कराया। सुदीर्घ भविष्य के प्रति गंभीरतापूर्वक मनन के लिए प्रेरित किया।

भाग्य ने करवट ली, पूज्य १०५ आर्थिका इन्दुमतीजी का सान्निध्य मिला। पत्थर को आकार पाने का अवसर मिला। बालिका भँवरी वैधव्य की कालीघटा को लाँघ कर चल पड़ी संसार की असारता से साक्षात्कार करने। मुक्तिमार्ग की प्रथम सीढ़ी पर पग रखा। २० वर्ष की वय में ब्रह्मचारिणी परिधान की परिधि में संयमित हुई। अनेक तीर्थों की वंदना-भ्रमण करते हुए आर्थिका इन्दुमतीजी के अनुशासन-संरक्षण में पूज्य

१०८ आचार्यश्री वीरसागरजी का सान्निध्य मिला। अष्ट मूलगुण धारण कर माघ शुक्ला नवमी कृतिका नक्षत्र में सातवीं प्रतिमा के व्रत से संस्कारित हुई भँवरी बाई ने अपने आपको संयम की सीमा में बाँधने का क्रम जारी रखा। इसी बीच संस्कृत की प्रारंभिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा एवं शास्त्राभ्यास की कड़ियाँ भी जुड़ीं।
 ब्र. राजमलजी (अनन्तर आचार्य अजितसागरजी) से संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की और बढ़ चली अध्ययन की साधना का एक आधारस्तम्भ बनने।

भारतीय संस्कृति, श्रमण संस्कृति, देश के अनेक नगरों, ग्रामों, जन-जीवन, भाषा, क्षेत्र, पर्यावरण आदि का प्रत्यक्ष-परोक्ष अनुभव-परीक्षण करते हुए भँवरी बाई को अपने आपको कसौटी पर कसने का अवसर मिला। मन में अपूर्व उल्लास था, संयम-साधना के प्रति दृढ़ विश्वास था और जिनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धा थी। इन सबका समागम धारण किये भँवरी बाई ने पूज्य आचार्य वीरसागरजी से संवत् २०१४ भाद्रपद शुक्ला ६, रविवार, स्वातिनक्षत्र, आचार्य वीरसागरजी, आचार्य महावीरकीर्तिजी दो आचार्य, शिव, श्रुत, धर्म, जय, पद्म, सन्मति, विष्णु ७ मुनिराज, वीरमती, सुमतिमती, पार्श्वमती, इन्दुमती, सिद्धमती, शांतिमती, वासुमती, ज्ञानमती, धर्ममती — ९ आर्यिकाएँ एवं ९ क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ— ऐसे २७ साधुओं के समक्ष नारीजीवन का सर्वोच्च पद, आर्यिका पद ग्रहण किया और आर्यिका सुपार्श्वमती के नाम से अपने नये जीवन की बागडोर सँभाली।

स्व-पर कल्याण की भावना लिये आर्यिका सुपार्श्वमतीजी को मनवांछित फल की प्राप्ति हुई। वर्षों की साधना, शास्त्रों का अध्ययन, मुनि-आर्यिकाओं की चर्या आदि अनेक विधाओं का ज्वार उनकी प्रवचनधारा के रूप में प्रस्फुटित होने लगा। उनके उपदेशों से क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या अमीर, क्या गरीब सभी के मन में धर्म के प्रति एक नई आस्था का उद्भव हुआ। जैन समाज में मानों व्रतधारण, संयमित जीवन, जैन सिद्धांतों के प्रति अटूट श्रद्धा-विश्वास, गृहस्थों के कर्तव्य, श्रावकों के कर्तव्य, मुनि-आर्यिकाओं के प्रति उनके कर्तव्य आदि को समझने, पालने एवं अनुकरण करने की मानों होड़ सी लग गई। जैनधर्म की महती प्रभावना करती हुई, अपनी सम्मोहक शैली में मानव की अंतरंग भावना को झंकृत करती हुई, वात्सल्य से परिपूर्ण इस प्रसन्नमूर्ति ने पूरे भारत के तीर्थक्षेत्रों की वंदना की। चारों ओर अमिट धर्मप्रभावना की छटा बिखेरते हुए आर्यिकाजी के संघ का संस्कारधानी जबलपुर (म.प्र.) में आगमन हुआ। आपके प्रवचनों एवं आपकी भावना का सबसे अधिक प्रभाव मुझ पर पड़ा और मैंने आर्यिका जी का सान्निध्य पाने, धर्ममार्ग पर बढ़ने और जीवन के नूतन अनुभव को प्राप्त करने का संकल्प किया। परिवार से विमुख होकर माताजी का दामन पकड़ लिया और उनकी छत्रछाया में रहने हेतु निवेदन किया। पूज्य माताजी ने अपनी अनुभवी दृष्टि से मुझे परखा और पूर्ण वात्सल्य भाव से मुझे संघ में स्थान दिया। आर्यिका इन्दुमतीजी एवं आर्यिका सुपार्श्वमतीजी के साथ संघस्थ सभी आर्यिकाओं का मुझे आशीर्वाद मिला। संघ का प्रस्थान पावन भूमि सम्मोदशिखर की ओर हुआ और वहाँ पहुँचकर संघ ने मानों एक छोटा विराम लिया।

तीर्थराज पर श्रावकों की भावनाओं को समझते हुए आर्यिकासंघ द्वारा भारत के पूर्वांचल के भ्रमण का एक अभूतपूर्व साहसिक निर्णय लिया गया और आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने अपनी सम्मोहक शैली से सारे पूर्वांचल में मानों एक नई ऊर्जा का संचार किया। साधु-साध्वियों के विहार से अछूते रह गए इस अंचल में इस आर्यिकासंघ को प्रथम प्रवेश का श्रेय प्राप्त हुआ। आसाम, नागालैण्ड, बंगाल आदि राज्यों के दुर्गम

स्थलों तक आर्यिका इन्दुमतीजी के नेतृत्व में आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी ने धर्मध्वजा फहराई। 'रमता जोगी बहता पानी' सूक्ति को चरितार्थ करते हुए यह संघ पुनः तीर्थराज पर आ विराजा।

कर्म-रेख में परिवर्तन ! गुरुमाता आर्यिका इन्दुमतीजी के महाप्रयाण का समय आ गया। उनकी यम सल्लेखना, उनकी वैय्यावृत्ति आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी द्वारा जिस लगन और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक की गई उसकी मिसाल शायद आज के युग में संभव नहीं है। गुरु का वियोग क्षण भर के लिए तो असह्य हुआ परन्तु 'संसार का यही नियम है,' इस सत्य ने उन्हें ढाढ़स बँधाया और आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी ने आर्यिकाप्रमुख का भार ग्रहण करते हुए धर्मप्रचार अभियान जारी रखा। एक बार पुनः पूर्वांचल की यात्रा। अनेक स्थानों पर वर्षायोग सम्पन्न करते हुए आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी ने बुंदेलखंड की ओर कदम बढ़ाए। दुर्गम रास्तों को पार करते हुए, आर्यिकाश्री ने मेरे गृहनगर-जबलपुर में प्रवेश किया। मेरी माँ मानों उनकी प्रतीक्षा में ही थी। आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी के सान्निध्य में माँ ने आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिका निश्चलमती नाम से अलंकृत हो समाधिपूर्वक देहविसर्जन किया। 'भक्त के यहाँ भगवान' की उक्ति चरितार्थ हुई।

बुंदेलखंड के तीर्थों की वंदना के बाद आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी ने अतिशयक्षेत्र श्रीमहावीरजी में संवत् २०५५ में वर्षायोग किया जहाँ अनेक धार्मिक आयोजनों के बीच महती धर्मप्रभावना हुई। आचार्य वर्धमानसागरजी का संसंध सान्निध्य प्राप्त हुआ। वर्षायोग समाप्त होते ही आर्यिकाश्री ने विहार किया और संघ ने अतिशयक्षेत्र श्री चांदखेड़ी जी में प्रवेश किया। विधि की विडम्बना ! इसी क्षेत्र में संघस्थ आर्यिका भक्तिमतीजी का स्वास्थ्य डगमगाया और रास्ते में विहार करते हुए उनका समाधिपूर्वक महाप्रयाण हुआ। आर्यिकाश्री सुपाश्वर्मती माताजी ने समता भाव रखते हुए राजस्थान की माटी को पवित्र करते हुए आगे गमन किया।

शताधिक मंदिरों की नगरी, गुलाबीनगरी, ऐतिहासिक धरोहरों की नगरी जयपुर में पूज्य आर्यिकाश्री का मंगल प्रवेश हुआ। यह प्रवेश भी इतिहास में एक कड़ी बन गया क्योंकि यहीं आर्यिकासंघ को परम पूज्य आचार्य वर्धमानसागर जी के संघ का सान्निध्य मिला। ४२ वर्षों का अंतराल, आचार्यश्री एवं आर्यिकाश्री के दीक्षाकाल का स्वर्णिम काल, ज्ञानपिपासा की उत्कृष्ट अभिलाषा को सँवारने मानों प्रतीक्षारत था।

ज्ञानसुधा प्रवाहित होने लगी। शंकाओं का समाधान, गूढ़ विषयों के उलझे रहस्यों का सुलझा अर्थ सामने आया। ज्ञानपिपासु मुनियों, आर्यिकाओं को आचार्यश्री एवं आर्यिकाश्री के ज्ञानकोष का अनमोल खजाना प्राप्त हुआ-

सरस्वती के भंडार की, बड़ी अपूरब बात।

ज्यों खरचे त्यों-त्यों बढ़े, बिन खरचे घट जात॥

गुरुओं के लिए तो यह जाँची-परखी बात थी। उन्होंने अपना ज्ञान रूपी खजाना रुचिपूर्वक लुटाया और सान्निध्य में रहे साधुओं, आर्यिकाओं, श्रावकों ने भी यह खजाना जी-भरकर लूटा। जयपुर नगरी का चातुर्मास ज्ञानवर्षा से परिपूर्ण रहा।

ऐतिहासिक नगरी के ऐतिहासिक वर्षायोग में आर्यिकाश्री के संघस्थ बालब्रह्मचारी कैलाशचन्दजी द्वारा ऐलक दीक्षा लेकर मानव-जीवन की सार्थकता प्रकट की गई। आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी के चरणसान्निध्य में

चारित्ररूपी रथ पर आरूढ़ होकर ब्र. कैलाशचन्द जी आचार्य वर्धमानसागर जी के मार्गदर्शन में उनके कर-कमलों द्वारा मोक्षमार्ग की ओर बढ़े। नाम पाया ऐलक नमितसागर।

इस तरह गुलाबीनगरी में, वास्तव में, गुलाब की गन्ध बिखेरी आर्यिका मुपार्श्वमतीजी ने अपने करुणामयी स्वभाव से, अपने वात्सल्य से, अपनी कठोर साधना से, अपने दृढ़ चारित्र से और अपनी मोहक शैली के प्रवचनों से।

काल की गति रुकती नहीं। आर्यिकाश्री ने वर्षायोग पूर्ण कर कूच किया मारवाड़ की धरती की ओर। दुर्गम रास्तों, दुरूह मौसमी तेवरों का सामना करते हुए मारवाड़ प्रांत के अनेक ग्रामों-नगरों में धर्मसुधा प्रवाहित करते हुए आर्यिकासंघ का अविस्मरणीय मंगल प्रवेश नागौर नगरी में हुआ। यह वही नागौर है जहाँ ६७ वर्ष पूर्व आर्यिकाश्री ने सेठ छोगमलजी बड़जात्या की बहू के रूप में प्रवेश किया था। आज नारीजीवन के सर्वोच्च पद गणिनी आर्यिकाश्री के रूप में माताजी का आगमन नागौर-वासियों के लिए महान् पुण्य का उदय है। साठ वर्षों के अंतराल ने पत्थर को आकार दिया, कोयले को हीरा बनाया और अनपढ़ अबोध बालिका को जनमानस में पूज्य परम विदुषी गणिनी आर्यिकाश्रेष्ठ पद पर आसीन किया। एक समय था जब संसार को बढ़ाने की खुशी में समाज का योगदान था और एक समय आज का है जब जनमानस संसार से मुक्त होने की दिशा में अग्रसर आर्यिकाश्री के धर्मानुबंध में सहयोगी बनने को आतुर है। यही तो सच्चे सुख को पाने की राह है।

वधू के रूप में अपनाने वाली नागौर नगरी का उपकार करने हेतु ही मानों आर्यिकाश्री का पावन वर्षायोग यहाँ हो रहा है।

आग में तपने पर कंचन का खरापन निखरता है, त्याग-तपस्या की अग्नि से निकलकर आर्यिकाश्री के ज्ञान का भंडार समृद्ध हुआ। आपने लेखनी का अवलम्बन लेकर ज्ञान के अनेक सोपानों को पुस्तकाकार दिया। मानवजीवन के लिए इससे बढ़कर उपकार क्या होगा! आज भी आर्यिकाश्री की लेखनी और वक्तव्य शैली अपनी अलग छाप रखती हैं। आर्यिकाश्री की पवित्र लेखनी के कुछ प्रसून हैं—

तत्त्वार्थ राजवार्तिक-भाग १ एवं २, तत्त्वार्थवृत्ति, अष्टपाहुड़, आचारसार, नीतिसारसमुच्चय, मेरा चिन्तवन, पाण्डवपुराण, नेमिनाथपुराण, वरांगचरित्र, नारी का चातुर्य, दशलक्षण धर्म, प्रतिक्रमण पंजिका, नैतिक शिक्षाप्रद कहानियाँ - भाग १ से भाग ८, इत्यादि एवं जैनदर्शन के सबसे क्लिष्ट एवं न्यायपूरित ग्रंथराज तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकालंकार का प्रथम खण्ड आपके हाथों में है। शेष खण्ड भी क्रमशः प्रकाशित होंगे। अन्य टीका-कृतियाँ हैं— स्तुतिविद्या (समन्तभद्र), आराधनासार (देवसेन), रत्नकरण्डश्रावकाचार।

ऐसी विलक्षण प्रतिभा को कोटि-कोटि वंदन, कोटि-कोटि नमन।

— ब्र. (डॉ.) प्रमिला जैन, संघस्थ

卐 सम्पादकीय 卐

आचार्य उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र जैनधर्म और जैनदर्शन का एक अत्यन्त प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक पवित्र ग्रन्थ है। इसमें जीव की बन्धन-मुक्ति के कारणों का साक्षोपात्त विवेचन है। जैन वाङ्मय के तीनों अनुयोगों—करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग की मान्यताओं का व्यवस्थित रूप से सूक्ष्म निदर्शन कराने वाला यह अद्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में थोड़े बहुत पाठभेद के साथ समान रूप से समादरणीय है। दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने इस पर टीका ग्रन्थ लिखे हैं। इस ग्रन्थ से जैन परम्परा में संस्कृत भाषा में ग्रन्थनिर्माण- युग प्रारम्भ होता है। संस्कृत भाषा में सूत्रशैली में रचित यह पहला जैन सूत्रग्रन्थ है। ग्रन्थ के दस अध्यायों में कुल ३५७ सूत्र हैं। सबसे छोटे सूत्र एक-दो शब्दों के हैं और अधिकांश पाँच-सात शब्दों से अधिक दीर्घ नहीं हैं। इस ग्रन्थ के मात्र पाठ या श्रवण का फल एक उपवास बताया गया है।

ग्रन्थ के मंगलाचरण रूप प्रथम श्लोक पर ही आचार्य समन्तभद्र ने आत्ममीमांसा (देवागम स्तोत्र) की रचना की थी जिस पर अकलंकदेव ने ८०० श्लोक प्रमाण अष्टशती नाम की टीका की। आचार्य विद्यानन्द ने इस अष्टशती पर ८००० श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नाम की व्याख्या की। इनके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ पर इतने काल में अनेक भाष्य, वृत्ति, टीकाएँ आदि लिखी गईं। कतिपय प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) आचार्य समन्तभद्र (ई.२) विरचित ९६०० श्लोक प्रमाण गन्धहस्ति महाभाष्य (२) श्री पूज्यपाद (ई.श.६) विरचित सर्वार्थसिद्धि (३) आचार्य उमास्वामि कृत (ई.श.६) तत्त्वार्थधिगम भाष्य (संस्कृत) (४) योगीन्द्रदेव विरचित तत्त्वप्रकाशिका (ई.श.६) (५) श्री अकलंक भट्ट (ई.६४०-६८०) विरचित तत्त्वार्थराजवार्तिक (६) श्री विद्यानन्दि (ई.७७५-८४०) विरचित श्लोकवार्तिक (७) श्री अभयनन्दि (ई.श.१०-११) विरचित तत्त्वार्थवृत्ति (८) आचार्य शिवकोटि (ई.श.११) द्वारा रचित रत्नमाला नाम की टीका (९) आचार्य भास्करनन्दि (ई.श.१३) कृत सुखबोध नामक टीका (१०) आचार्य बालचन्द्र (ई.१३५०) कृत कन्नड़ टीका (११) विबुधसेनाचार्य विरचित तत्त्वार्थटीका (१२) योगदेव विरचित तत्त्वार्थवृत्ति (१३) लक्ष्मीदेव विरचित तत्त्वार्थटीका (१४) आ. श्रुतसागर (ई.१४७३-१५३३) कृत तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरी) (१५) द्वितीय श्रुतसागर विरचित तत्त्वार्थ सुखबोधिनी (१६) पं. सदासुख (ई.१७९३-१८६३) कृत अर्थप्रकाशिका टीका। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणि और हरिभद्रसूरि की टीकायें भी उल्लेखनीय हैं।

आचार्य समन्तभद्र कृत गन्धहस्ति महाभाष्य नामक टीका दुर्भाग्य से आज उपलब्ध नहीं है। परन्तु अन्य ग्रन्थों में इसके उल्लेखों से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना अवश्य हुई है। पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध टीकाओं में प्रथम टीका है। इसमें प्रमेय का विचार आगमिक, दार्शनिक आदि सभी पद्धतियों से किया गया है। तदनन्तर अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिक अपनी प्राचीनता, प्रामाणिकता एवं विषयगाम्भीर्य और विस्तार आदि गुणों के लिए श्रेष्ठ टीका मानी जाती है। इस वार्तिक में 'सर्वार्थसिद्धि' का अच्छा विस्तार किया गया है, शैली न्यायप्रचुर है, अधिकांश सुबोध है पर कहीं-कहीं जटिल भी। इसके रचयिता ने अपने से पूर्व की सिद्धान्त और न्याय सम्बन्धी सामग्री और परम्परा का अच्छा उपयोग किया है। परवर्ती रचनाकारों पर इस रचना का गम्भीर प्रभाव परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त आचार्यत्रयी के अनन्तर 'तत्त्वार्थसूत्र' पर जिस महत्वपूर्ण भाष्य की रचना हुई है, वह आचार्यश्री विद्यानन्द स्वामी की यही प्रस्तुत कृति है तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककालंकार। इसके अन्य नाम हैं— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

भाष्य, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक व्याख्यान और श्लोकवार्तिकभाष्य। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने अपने इस ग्रन्थ में केवल एक ही जगह (पृ. ३२) पर 'तत्त्वार्थसूत्रकर्ता का गृहपिच्छाचार्य नाम से उल्लेख किया है और सर्वत्र 'सूत्रकार' जैसे आदरवाची नाम से ही उनका उल्लेख हुआ है, उमास्वामी नाम का कथन ही नहीं किया। महर्षि विद्यानन्द ने इस ग्रन्थ में प्रशस्त तर्क-वितर्क व विचारणा के द्वारा सिद्धान्त समन्वित तत्त्वों की प्रतिष्ठापना की है। विशेषता यह है कि ग्रन्थ का प्रमेय सिद्धान्त होने पर भी इसे न्यायशास्त्र की कसौटी पर कस कर समुज्ज्वल रूप से प्रस्तुत किया है। डॉ. दारबारीलाल कोठिया के शब्दों में— "जैनदर्शन के प्राणभूत ग्रन्थों में यह प्रथम कोटि का ग्रन्थरत्न है। विद्यानन्द ने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध इतर तार्किकों के जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपों का सबल जवाब ही नहीं दिया किन्तु जैनदर्शन का मस्तक भी उन्नत किया है। हमें तो भारतीय दर्शन साहित्य में ऐसा एक भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जो श्लोकवार्तिक की समता कर सके।" १

मुद्रित प्रतियाँ : (१) इस ग्रन्थ (मूलसंस्कृत) का प्रथम मुद्रण 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्' नाम से श्रावण शुक्ला ७ वीरनिर्वाण सं. २४४४ विक्रम सं. १९७५ में श्रेष्ठिवर्य रामचन्द्रनाथारंगजी ने अपनी गांधीनाथारंग जैनग्रन्थमाला मुम्बई से निर्णयसागर प्रेस से छपवाकर पं. मनोहरलाल न्यायशास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित कराया था, जो अब उपलब्ध नहीं है। यह $\frac{२२ \times ३०}{८}$ पेजी आकार में है। कुल पृष्ठ संख्या ८+५१२ है, पक्की जिल्द है। इसके सम्पादन-संशोधन के सम्बन्ध में पं. मनोहरलालजी ने लिखा है— "एतद् ग्रन्थसंशोधनकार्ये पुस्तकमेकमतीवप्राचीनं जयपुरनगराल्लब्धं, द्वितीयं मुम्बईपट्टनस्थं किंचिदशुद्धप्रायं। तयोः साहाय्येन स्वज्ञानावरणक्षयोपशमानुसारेण च संशोधितं।" परन्तु इन प्रतियों/पुस्तकों का परिचय नहीं दिया गया है।

(२) यही ग्रन्थ आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला सोलापुर से भी हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन सहित सात खण्डों में प्रकाशित हुआ है। सम्पादक प्रकाशक और मुद्रक हैं पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री। टीकाकार हैं— पं. माणिकचन्दजी कौदिय न्यायाचार्य। प्रथम खण्ड दिसम्बर सन् १९४९ में प्रकाशित हुआ था और सातवें खण्ड में प्रकाशन वर्ष १९८४ छपा है। $२० \times ३० = ८$ पेजी आकार में इन सात खण्डों की कुल पृष्ठ संख्या ७४+४३२६+६९=४४६९ है। पक्की जिल्द है। 'तत्त्वार्थचिन्तामणि' नामक सवा लाख श्लोक प्रमाण यह टीका सरल, सुन्दर तथा प्रामाणिक है। तत्त्वार्थसूत्र के मर्म को समझने के लिए यह महान् ग्रन्थ है। हिन्दी टीकाकार विद्वान् पण्डितजी ने महान् ग्रंथ को सर्वसाधारण के लिए भी सहजबुद्धि बना दिया है। आपने स्थान-स्थान पर तात्त्विक गुत्थियों को सुलझाया है। कई स्थानों पर सुन्दर उदाहरण देते हुए विषय को स्पष्ट किया है, कितने ही स्थानों में विषय को विशद करके समझाया है जिसने स्वतंत्र विवेचन का स्वरूप धारण कर लिया है। पण्डितजी ने टीका के प्रारम्भ और अन्त में संस्कृत श्लोकों की स्वतंत्र रचना भी की है। परन्तु न तो टीकाकार ने और न सम्पादक महोदय ने इस बात का कहीं उल्लेख किया है कि मूल संस्कृत पाठ का आधार कौनसी प्रतियाँ रही हैं? अनुमान है पूर्व मुद्रित प्रति का ही इस टीका में उपयोग किया गया है।

अमुद्रित पाण्डुलिपि : पूज्य आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी ने अपने अनुवाद में गांधीनाथारंग जैनग्रन्थमाला से प्रकाशित प्रति का ही उपयोग किया है। जब आपका यह अनुवाद मेरे पास आया तभी मुझे ज्ञात हुआ कि जैन जगत् के अनन्य विद्वान् पं. मोतीचन्द जी कोठारी (फलटण) भी इसके प्रकाशन का उद्योग कर रहे थे। पूरी पाण्डुलिपि तैयार कर उन्होंने संस्कृत में टिप्पण लिखे, फिर इसका मुद्रण भी प्रारम्भ करवाया। संस्कृत मूल और पण्डितजी लिखित

संस्कृत टिप्पणों के साथ इसके १६ पृष्ठ छपे भी पर आगे मुद्रण नहीं हो पाया। पण्डितजी कालधर्म को प्राप्त हुए। इस सम्बन्ध में मेरा पत्रव्यवहार पूज्य पण्डितजी के साले, स्वाध्यायी अग्रज प्रा. रतिकान्त शहा जैन (कोरेगाव, सातारा) से हुआ। उन्होंने सूचित किया कि पण्डितजी के निधन के बाद पण्डितजी द्वारा तैयार पाण्डुलिपि सम्बन्धित सभी सामग्री के साथ हस्तिनापुर भिजवाई गई थी, परन्तु वहाँ भी प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हो सकी। पाण्डुलिपि लौट आई है, आप कहें तो मैं पाण्डुलिपि आपको भिजवा दूँ। मैंने उन्हें पाण्डुलिपि भेज देने को लिखा। उन्होंने पाण्डुलिपि भिजवा दी। मैं उनका आभारी हूँ।

पाण्डुलिपि पण्डितजी ने स्वयं अपने हाथ से लिखी है। पर उन्होंने संधिकृत पदों का विच्छेद कर लिखने की शैली अपनाई है क्योंकि उन्हें अलग-अलग पदों पर संस्कृत में टिप्पण लिखने थे और वे तभी लिखे जा सकते थे जब पद अलग-अलग हों। प्रत्येक पद पर संख्यांक और नीचे टिप्पण। पाण्डुलिपि और दो छपे फर्मों के अलावा मेरे पास कोई सामग्री नहीं आई थी अतः मैंने फिर शहा सा. को लिखा कि पण्डितजी ने किन प्रतियों के आधार पर यह पाण्डुलिपि तैयार की थी-इस सम्बन्ध में कोई जानकारी हो तो अवगत करावें। उनका उत्तर मिला- “उन्होंने (पं. मोतीचन्दजी कोठारी) किन प्रतियों के आधार से संशोधन किया, यह समस्या तो अनसुलझी ही रहने वाली है। पं. कौन्देयजी की टीका सहित जो ७ खण्ड हैं, वे तो उनके पास थे ही, साथ ही और दो एक अन्य मुद्रित ग्रन्थ भी थे। और एक विशेष बात यह है कि वे पूना के भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट में जाकर वहाँ की श्लोकवार्तिक की प्रतियों का वाचन करते थे। वे उस समय पूना में ही रह कर हर रोज सुबह ११ से संध्या ५ तक उसी इन्स्टीट्यूट में बैठते थे। करीब-करीब २, २- $\frac{1}{2}$ वर्ष उनका यह क्रम जारी था। इस पाण्डुलिपि के साथ और भी कुछ कागज हस्तिनापुर में पूज्य आर्यिकाश्री ज्ञानमतीजी को दिये थे या नहीं, इस बारे में कोई जानकारी नहीं है। उनके घर में भी इस सन्दर्भ का कोई साहित्य ढूँढ़ने पर भी नहीं मिला। उनकी इस पाण्डुलिपि के साथ एक छपा हुआ फार्म मैंने भेज दिया था, उस पर से कोई अनुमान किया जा सकता है या नहीं? उनकी तो इस पाठसंशोधन के बारे में बहुत सी अपेक्षाएँ थीं, इसीलिए तो वे उसके प्रकाशन के लिए चिन्तित थे।”

मैंने पण्डितजी की पाण्डुलिपि से इस खण्ड में प्रकाशित संस्कृत मूल का मिलान किया है। पाण्डुलिपि नीली स्याही में फुलस्केप लाइनदार कागज पर हाशिया छोड़ पृष्ठ के एक ओर लिखी गई है। हाशिये की ओर छोटे अक्षरों में शीर्षक देने का भी पुरुषार्थ पण्डितजी ने किया है पर बाद में उनमें से आधे से अधिक काट दिये गये हैं। प्रकृत खण्ड की पाण्डुलिपि के प्रारम्भ में ‘श्रीसमन्तभद्रादिभ्यो नमः’ और अन्त में ‘श्रीचन्द्रप्रभजिनाय नमः’ लिखा है। पण्डितजी ने पाण्डुलिपि में कहीं भी पाठभेद का संकेत नहीं किया है। इस खण्ड की पाण्डुलिपि १७ पृष्ठों की है। सार्थक पाठभेद नगण्य हैं। हाँ, प्रथम आह्निक के श्लोक ११२ के बाद मुद्रित प्रतियों में जहाँ यह गद्य मिलता है-

“तत्र कुतो भवन् भवेऽत्यन्तं बन्धः केन निवर्त्यते, येन पञ्चविधो मोक्षमार्गः स्यादित्यधीयते” वहीं पण्डितजी की पाण्डुलिपि में यह श्लोकबद्ध है-

कुतो भवन् भवेऽत्यन्तं बन्धः केन निवर्त्यते।

येन पञ्चविधो मोक्षमार्गः स्यादित्यधीयते॥११३॥

इस श्लोक से पाण्डुलिपि में प्रथम आह्निक की श्लोक संख्या १६३ हो गई है जबकि मुद्रित प्रतियों में यह संख्या १६२ ही है। छपे फर्मों में पण्डितजी के लिखे टिप्पण निश्चय ही उपयोगी हैं पर वे पाण्डुलिपि में नहीं

लिखे गये हैं। पृथक् लिखे जाने के कारण ही टिप्पण सम्बन्धी वह सामग्री कहीं खो गई है। आगामी खण्डों के पाठ का मिलान करने में भी पण्डितजी की इस पाण्डुलिपि का उपयोग अवश्य करूंगा। मैं स्व. पूज्य पण्डितजी का पुण्यस्मरण करता हुआ उस विशिष्ट प्रतिभा को सश्रद्ध नमन करता हूँ।

प्रस्तुत संस्करण की आवश्यकता और इसकी विशेषताएँ

पूर्व मुद्रित प्रतियों में एक तो केवल मूल-मूल है जिससे संस्कृत का अनभ्यासी कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। दूसरी पं. माणिकचन्दजी की हिन्दी टीका समन्वित विशालकाय टीका है, जिसमें मूल के साथ विशद व्याख्या है। इस टीका के प्रकाशन के साथ ही इस ग्रन्थ का प्रचलन स्वाध्याय में हुआ है। किन्तु यहाँ भी संस्कृत का अनभ्यासी यह नहीं समझता कि मूल का अनुवाद कौनसा है और इसकी व्याख्या कौनसी है? एक तो प्रमेय भी जटिल, दूसरे पण्डितजी की संस्कृतनिष्ठ शब्दावली भी कहीं-कहीं दुर्बोध हो गई है। अतः मूलानुगामी अनुवाद की आवश्यकता ही इस संस्करण के उद्भव का प्रधान कारण है। उसी की पूर्ति का यह संस्करण एक प्रयत्न है।

- प्रस्तुत संस्करण में आचार्य विद्यानन्द विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक संस्कृत टीका को परम पूज्य गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपाश्वर्यमती माताजी कृत मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया गया है। प्रत्येक पृष्ठ के अर्धभाग/चतुर्थभाग में ऊपर मूल संस्कृतवृत्ति है और अधोभाग में उसी का हिन्दी अनुवाद है। जहाँ तहाँ विशेष स्पष्ट करने के लिए स्वतंत्र रूप से भावार्थ भी आर्यिकाश्री ने लिखा है।
- ग्रन्थ के प्रारम्भ में अनुवादकर्त्री की प्रस्तावना भी है। प्रस्तावना में महर्षि विद्यानन्द और पात्रकेसरी स्वामी, शिलालेख, ग्रन्थकर्ता का जीवन, समय और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है।
- संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहिन डॉ. प्रमिला जैन का आलेख 'न्याय ग्रन्थों की रचना का हेतु' भी प्रारम्भिक पृष्ठों में संकलित है।
- मूलग्रन्थ में अनुच्छेद व विषय-विभाजन भी किया गया है। अनुवाद में यथासम्भव शीर्षक भी दिये गये हैं जिससे विषय को ग्रहण करने में अवश्य सहायता मिलेगी।
- ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भी हैं जिनमें पारिभाषिक लक्षणावली, अन्य दर्शनों का संक्षिप्त परिचय, स्रोत सहित उद्धरणों की सूची और श्लोकानुक्रमणिका संकलित हैं।

प्रस्तुत खण्ड का प्रमेय

इस खण्ड में 'तत्त्वार्थसूत्र' के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक तक का प्रकरण आया है। आचार्यश्री ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में निर्विघ्न रूप से शास्त्र की परिसमाप्ति और उपकार-स्मरण के निमित्त भगवान् वर्धमान स्वामी का ध्यान करते हुए मंगलाचरण रूप प्रतिज्ञा श्लोक कहा है। फिर परापर गुरुओं का ध्यान करना आवश्यक बताया है। इस पर अच्छा खण्डन-मण्डन करके ग्रन्थ की सिद्धि के कारण गुरुओं का ध्यान करते हुए सूत्र, अध्याय आदि का लक्षण लिखा है। अनन्तर 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ को आम्नाय के अनुसार आया हुआ बतलाकर साक्षात्फल ज्ञान की प्राप्ति और परम्पराफल कर्मों का नाश करने में उपयोगी सिद्ध किया है।

जिनेन्द्र भगवान् ने सूत्र अर्थ रूप से कहा है। उसी आम्नाय से आये हुए सूत्र का गूढ़पिच्छाचार्य ने प्रतिपादन किया है। यह सूत्र प्रमेय की अपेक्षा अनादि है किन्तु पर्यायदृष्टि से सादि है। शब्द पुद्गल की पर्याय है, अव्यापक

है, मूर्त है, ऐसे पौद्गलिक सूत्रों का ग्रथन गणधरदेव ने द्वादशाङ्ग में किया है। ग्रहीता शिष्यों के बिना भगवान की दिव्यध्वनि भी नहीं खिरती है। प्रतिपादकों की इच्छा होने पर सूत्र या अन्य आर्षग्रन्थ प्रवर्तित होते हैं। हिंसा आदि पापों की प्रेरणा करने वाले ग्रन्थ अप्रामाणिक हैं। अतः ज्ञानी वक्ता और विनयी श्रोताओं के होने पर सदृशास्त्रों की रचना होती है। आचार्यश्री ने सूत्र को आगम और अनुमानरूप सिद्ध करते हुए अपौरुषेय वेद का खण्डन किया है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक वक्ता का निर्णय कर लेने पर उसके कथनों की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध होती है।

मीमांसकों ने सर्वज्ञ को स्वीकार नहीं किया है, उनके लिए सर्वज्ञसिद्धि सूक्ष्म आदिक अर्थों के उपदेश करने की अपेक्षा की गई है। प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों से सर्व पदार्थों के जानने वाले को सर्वज्ञ नहीं कहते हैं किन्तु केवलज्ञान से एक क्षण में ही त्रिकाल-त्रिलोक के पदार्थों को जानने वाला सर्वज्ञ है। सर्वज्ञता घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है। कर्मों का क्षय होने पर अर्हन्त देव स्वभाव से ही सब पदार्थों को जान लेते हैं, उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। दर्पण बिना इच्छा और प्रयत्न के प्रतिबिम्ब ले लेता है। जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर प्रकृति का उदय होने पर मोक्षमार्ग का उपदेश करते हैं। इस प्रकरण में अकेले ज्ञान से ही मोक्ष मानने वाले नैयायिकों और सांख्यों आदि का खण्डन कर रत्नत्रय से मुक्ति होना सिद्ध किया है। ज्ञान के समवाय सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानी नहीं हो सकता है। भिन्न पड़ा हुआ समवाय सम्बन्ध भी किसी गुणी में किसी विशेष गुण को सम्बन्धित कराने का नियामक नहीं हो सकता है।

नैयायिकों के ईश्वर की भाँति बुद्ध भी मुक्ति नहीं पा सकता है, न मोक्षमार्ग का उपदेश दे सकता है। निरन्वय क्षणिक अवस्था में सन्तान भी नहीं बन पाती है। अन्वय सहित परिणाम मानने पर ही पदार्थों में अर्थक्रिया बन सकती है। वचन बोलने में विवक्षा कारण नहीं है। तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि बिना विवक्षा ही खिरती है। चित्राद्वैत मत में भी मोक्ष और मोक्ष का उपदेश नहीं बनता है। विज्ञानाद्वैत और ब्रह्माद्वैत की भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

चार्वाकों द्वारा मान्य पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से उत्पन्न आत्मा द्रव्य नहीं है। आत्मा पुद्गलनिर्मित होता तो बाह्य इन्द्रियों से जाना जाता किन्तु आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। आत्मा का लक्षण भिन्न है पुद्गल का लक्षण भिन्न है- पृथ्वी आदि भौतिक तत्त्व आत्मा को प्रकट करने वाले भी सिद्ध नहीं हैं। उपादान कारण माने बिना कारक पक्ष और ज्ञापक पक्ष नहीं चलते हैं। इन्द्रियों से चैतन्यशक्ति उत्पन्न नहीं होती। शरीर का गुण ज्ञान नहीं है। अन्यथा मृत देह में भी ज्ञान, सुख, दुःख आदि का प्रसंग आयेगा। मैं सुखी हूँ, गुणी हूँ, कर्ता हूँ इत्यादिक प्रतीतियों से आत्मा स्वतंत्र तत्त्व सिद्ध है जो अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाला है। चार्वाक की मान्यता ठीक नहीं है।

आत्मा द्रव्यार्थिक नय से नित्य है और पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। इस कारण आत्मा नित्यानित्यात्मक है। बौद्धों का आत्मा को क्षणिक विज्ञानरूप मानना भी ठीक नहीं है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक या भेदाभेदात्मक है। एक आत्मद्रव्य क्रमभावी और सहभावी पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है। आत्मा न कभी अपने गुणपर्यायों का त्याग करता है न अन्य द्रव्य के गुणपर्यायों का कभी स्पर्श ही करता है। बौद्धों के यहाँ इसकी व्यवस्थापक कोई विधि नहीं है। अवस्तुभूत वासनाओं से कोई कार्य नहीं हो सकता है। बौद्धों द्वारा मान्य एकसन्तानपना असिद्ध है। उपयोग स्वरूप आत्मद्रव्य के ही मोक्षमार्ग को जानने की इच्छा होना सम्भव है। प्रामाणिक प्रतीतियों से आत्मा को ही चेतनपना सिद्ध है। आत्मा में रहने वाला ज्ञान स्वयं को जान लेता है। उसको जानने के लिए अन्य ज्ञान अपेक्षित नहीं है। इस तथ्य को आचार्यश्री ने अनेक युक्तियों से पुष्ट किया है।

प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति ये चार स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं। प्रमाता भी प्रमेय हो जाता है और प्रमाण भी प्रमेय तथा प्रमितिरूप है। अपनी आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञान हो जाता है। ज्ञान और आत्मा सभी प्रकारों से परोक्ष नहीं है। ज्ञान के परोक्ष होने पर अर्थ का प्रत्यक्ष होना नहीं बन सकेगा, सर्व ही मिथ्या या समीचीन ज्ञान अपने स्वरूप की प्रमिति करने में प्रत्यक्ष प्रमाणरूप हैं। आत्मा उपयोगस्वरूप है, इस अपेक्षा प्रत्यक्ष है तथा प्रतिक्षण नवीन, नवीन परिणाम, असंख्यातप्रदेशीयता आदि धर्मों से छद्मस्थों के ज्ञेय नहीं है अतः परोक्ष भी है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणाम हुए बिना पदार्थों का सत्त्व असम्भव है। यदि अन्वय बना रहे तो नाश होना बहुत अच्छा गुण है। संसार के कारण मोह आदि कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव का संसार समाप्त हो जाता है। संसार का समापन करने वाले जीव ने पूर्व में मोक्षमार्ग को जानने की इच्छा की थी और अब वह जीव सिद्धावस्था में अनन्त काल तक रहेगा। यह व्यवस्था अनेकान्त-स्याद्वाद सिद्धान्त में ही सम्भव है।

जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन आदि से विशिष्ट शिष्य को ही उपदेश दिया जाता है। उपदेश सुनने वाले के जिज्ञासा का होना अत्यावश्यक है।

प्रश्न है कि आचार्य ने मोक्ष का कथन न करके मोक्षमार्ग का कथन पहले क्यों किया? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि मोक्ष के सम्बन्ध में किसी का विवाद नहीं है परन्तु मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में विवाद है। कोई भक्ति से, कोई ज्ञान से और कोई कर्म से इस प्रकार एकान्त से मुक्ति मानते हैं। अतः शिष्य को मोक्षमार्ग की जिज्ञासा हुई है। शून्यवादी या उपप्लववादी मोक्ष को सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं। मोक्ष आगम द्वारा भी जाना जाता है। निर्दोष वक्ता से कहा गया आगम प्रमाण है। अनुमानप्रमाण से भी मोक्ष जाना जा सकता है। अतः निकट भव्य जीव के मोक्षमार्ग की जिज्ञासा होने पर आचार्य सूत्र कहते हैं- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'

प्रथम सूत्र के वार्तिकों का सार-संक्षेप

सबसे पहले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का निर्दोष लक्षण करके मोक्ष और मार्ग का स्वरूप बताया है। नगरों तक पहुँचने के मार्ग उपमेय हैं और मोक्षमार्ग उपमान है।

आचार्यश्री ने परिणाम और परिणामी के भेद की विवक्षा होने पर दर्शन, ज्ञान आदि शब्दों को व्याकरण द्वारा करण, कर्ता और भाव में सिद्ध किया है। शक्ति शक्तिमान से अभिन्न रहती है। नैयायिकों द्वारा मान्य सहकारी कारणों का निकट आ जाना रूप शक्ति नहीं है। वह शक्ति द्रव्य, गुण, कर्म या इनके सम्बन्ध स्वरूप भी नहीं है। वैशेषिकों द्वारा माने गये अयुतसिद्ध पदार्थों का समवाय और युतसिद्ध पदार्थों का संयोग ठीक नहीं बनता है। शक्ति और शक्तिमान का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने वाले मीमांसकों का खण्डन कर आचार्यश्री ने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञान को कथंचित् प्रत्यक्ष करना सिद्ध किया है। लब्धिरूप भावेन्द्रियाँ साधारण संसारी जीवों के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हैं। अतः परोक्ष हैं।

चारित्र शब्द को सिद्ध करके कारकों की व्यवस्था को विवक्षा के आधीन स्थित किया है। यहाँ बौद्धों और नैयायिकों के आग्रह का खण्डन कर वस्तु को अनेक कारकपना व्यवस्थित कर दिया है। सम्पूर्ण वस्तुएँ सांश हैं। एक परमाणु में भी स्वभाव, गुण और पर्यायों की अपेक्षा अनेक कारकपना है। परमाणु के अनेक धर्म उसके अंश हैं। जो अंशों से रहित है, वह अर्थक्रियाकारी न होने से अदस्तु है।

अनन्तर, आचार्यश्री ने सम्यग्दर्शन की पूज्यता बतलाते हुए द्वन्द्व समास में पहले दर्शन का प्रयोग सिद्ध किया है। ज्ञान में समीचीनता सम्यग्दर्शन से ही आती है, बाद में भले ही वह ज्ञान अनेक पुरुषार्थों को सिद्ध करा दे। क्षायिक सम्यक्त्व के होने पर ही क्षायिक ज्ञान हो सकता है। भविष्य में होने वाले अनेक भवों का ध्वंस क्षायिक

सम्यग्दर्शन से हो जाता है, वैसे ही पूर्ण ज्ञान भी पूर्ण चारित्र्य से प्रथम हो जाता है। १४वें गुणस्थान के अन्त में ही व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान के होने पर ही चारित्र्य पूर्ण कहलाता है। सम्यक् शब्द तीनों गुणों के साथ है।

मोक्ष के सामान्य कारण तो और भी हैं पर विशेष कारण रत्नत्रय ही है। चार आराधना में तप भी चारित्र्य रूप है। तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में रत्नत्रय के पूर्ण हो जाने पर भी सहकारी कारणों के न होने से मुक्ति नहीं होने पाती है। किसी कार्य के कारणों का नियम कर देने पर भी शक्तिविशेष और विशिष्ट काल की अपेक्षा रही आती है। वह चारित्र्य की विशेष शक्ति अयोगी गुणस्थान के अन्त समय में पूर्ण होती है।

नैयायिकों की मोक्षमार्ग-प्रक्रिया प्रशस्त नहीं है। संचित कर्मों का उपभोग करके ही नाश मानने का एकान्त उपयुक्त नहीं है। सांख्य और बौद्धों की मोक्षमार्ग-प्रक्रिया भी समीचीन नहीं है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यगुण कथंचित् भिन्न-भिन्न हैं। इनमें सर्वथा अभेद नहीं है। इनके लक्षण और कार्य भिन्न-भिन्न हैं। पहिले गुणों के होने पर उत्तरगुण भाज्य होते हैं। उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होने पर पूर्व पर्याय का कथंचित् नाश हो जाना इष्ट है।

पूर्व स्वभावों का त्याग, उत्तर स्वभावों का ग्रहण और स्थूलपने से ध्रुव रहने को परिणाम कहते हैं। कूटस्थ पदार्थ असत् हैं। उपादान कारण के होने पर भी सहकारी कारणों के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती है।

मोक्ष के कारण तीन हैं, अतः संसार के कारण भी तीन हैं। नैयायिक, सांख्य आदि स्वीकृत अकेला मिथ्याज्ञान ही संसार का कारण नहीं है। यदि मिथ्याज्ञान से ही संसार और सम्यग्ज्ञान से ही मोक्ष माना जावेगा तो सर्वज्ञदेव उपदेश नहीं दे सकेंगे। कायक्लेश, केशलुंचन आदि क्रियाओं में मुनियों को प्रशम, सुख प्राप्त होता है। असंयम और मिथ्यासंयम में अन्तर है। बंध के पाँच कारण-मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग भी सामान्य रूप से तीन में गर्भित हो जाते हैं। यहाँ आचार्यश्री ने प्रमाद और कषाय का अच्छा विवेचन किया है।

आचार्यश्री ने बल देकर यह स्थापना की है कि जिस कार्य को जितनी सामग्री की आवश्यकता होती है, वह कार्य उतनी ही सामग्री से उत्पन्न होता है। यह विचार भी अनेकान्त पर आधारित है, सर्वथा एकान्त मानने पर नहीं बन सकता है। सम्यग्दर्शन आदि गुणों का परिणामी आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध है। यहाँ अनेकान्त मत के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का अच्छा विचार किया है। चित्रज्ञान, सामान्य-विशेष इन दृष्टान्तों से अनेकान्त को पुष्ट करते हुए सप्तभंगी का भी विचार गर्भित कर दिया है। सर्वथा क्षणिक और कूटस्थनित्य में क्रियाकारक व्यवस्था नहीं बन पाती है।

अनेकान्तवाद के बिना बंध, बंध का कारण और मोक्ष, मोक्ष का कारण इनकी व्यवस्था नहीं बनती है। संवेदनाद्वैत और पुरुषाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकते हैं। वेदान्तवादियों की अविद्या और बौद्धों की संवृत्ति अवस्तरूप है। अतः व्यवहार में भी प्रयोजक नहीं हैं। शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववाद के अनुसार तो किसी तत्त्व की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है और न तत्त्वों का खण्डन हो सकता है।

अनेकान्त में भी अनेकान्त है। प्रमाण की अर्पणा से अनेकान्त है और सुनय की अपेक्षा से एकान्त है। स्याद्वादियों द्वारा माना गया रत्नत्रय ही सहकारियों से युक्त होकर मोक्ष का साधक है। इस प्रकार अनेक मिथ्या मतों का निरसन कर अंत में आचार्यश्री आशीर्वादात्मक पद्य कहते हैं कि चारित्र्य गुण सभी बुद्धिमान् वादी-प्रतिवादियों को रत्नत्रय-मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करा दे।

आभार

महर्षि विद्यानन्द की इस दुरवबोध रचना का अनुवाद पूज्य गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपाश्वर्यमती माताजी ने अपनी अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और उसके फलस्वरूप प्रकट हुए क्षयोपशम से सम्यक् रीत्या सम्पन्न किया

है। मूलानुगामी होने से यह पाठकों, स्वाध्यायियों को सहज ग्राह्य होगा, ऐसा विश्वास है। विधिवत् लौकिक शिक्षार्जन न होने पर भी पूज्य आर्यिकाश्री ने जो वैदुष्य प्राप्त किया है, वह उनकी साधना से अर्जित असाधारण आत्मबल का ही परिचायक है। तपश्चरण के माध्यम से ही स्वयं ज्ञानावरण का ऐसा विशाल क्षयोपशम हो जाता है कि जिसमें अंगपूर्व का ज्ञान स्वतः समुद्भूत हो जाता है। प्रस्तुत जटिल ग्रन्थ के सम्पादन का गुरुतर भार मुझ अल्पज्ञ पर डालकर पूज्य आर्यिकाश्री ने मुझ पर जो अनुग्रह किया है, एतदर्थ मैं आपका चिरकृतज्ञ हूँ। मुझमें कार्यनिष्पादन की वैसी योग्यता नहीं है, जो कुछ सम्भव हुआ है, उसमें आपका अनुग्रह ही प्रमुख है। मैं पूज्य माताजी के दीर्घ स्वस्थ जीवन की कामना करता हुआ उनके श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहन डॉ. प्रमिला जैन का उनके आलेखों के लिए आभार व्यक्त करता हूँ।

पण्डित मोतीचन्दजी कोठारी की तैयार की हुई पाण्डुलिपि सुलभ कराने के लिए मैं प्रा. रतिकान्त शहा जैन, कोरेगाव का भी आभारी हूँ। पूर्वप्रकाशित कृतियों से भी इस संस्करण को तैयार करने में बहुत सहायता मिली है। मैं उनके सम्पादकों का आभारी हूँ। टीकाकार पं. माणिकचन्दजी कौन्देय न्यायाचार्य को सविनय नमन करता हूँ जिनकी भाषा टीका 'तत्त्वार्थचिन्तामणि' से अनुवादकार्य की गुत्थियों को सुलझाने में व सारांश तैयार करने में बहुत सहायता मिली है। उनकी अद्भुत प्रतिभा वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है। परिशिष्ट में अन्य दर्शनों का परिचय दिया गया है। इसे तैयार करने में भी कई ग्रन्थों का साहाय्य लिया गया है। मैं उन सभी ग्रन्थकारों का हृदय से आभारी हूँ।

इस संस्करण की कम्प्यूटरीकृत पाण्डुलिपि के प्रथम पाठक अनुज तुल्य मेरे प्रिय सुहृद् डॉ. राजकुमार छाबड़ा असिस्टेंट प्रोफेसर, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर का भी आभारी हूँ जिनकी सूक्ष्म दृष्टि ने छोटी-बड़ी कई भूलों का परिष्कार किया है। उनके सुझावों से यह संस्करण अधिक उपयोगी बन सका है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में जयपुर निवासी श्री ढूंगरमलजी सुरेश कुंजी पाण्डेया ने पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान कर पूज्य माताजी के प्रति अनन्य भक्ति एवं जिनवाणी माँ के प्रति अटूट निष्ठा की अभिव्यक्ति की है। मैं प्रकाशक परिवार को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटर कार्य के लिये सीमा प्रिन्टर्स व उनके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर को त्वरित मुद्रण के लिये साधुवाद देता हूँ।

इस सम्यग्ज्ञानरूपी महायज्ञ में अन्य भी जिन भव्य जीवों ने तन-मन एवं धन से किञ्चित् भी सहयोग किया है, मैं उन सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। मेरे प्रमाद एवं अज्ञान से भूलें रह जाना स्वाभाविक है। अतः पाठकों से विनम्र निवेदन है कि वे क्षमा प्रदान करते हुए सौहार्द भाव से मुझे उन भूलों से अवगत कराने की अनुकम्पा करें।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आगे के खण्डों का प्रकाशन यथाशीघ्र कर सकूँ, पूज्य माताजी से इसी आशीर्वाद की कामना करता हूँ।

卐 प्रस्तावना 卐

आचार्य विद्यानन्द

१. आचार्य विद्यानन्द और पात्रकेसरी : पं. गजाधरलालजी ने आत्मपरीक्षा की प्रस्तावना लिखी है संस्कृत में। इसमें उन्होंने विद्यानन्दी या विद्यानन्द और पात्रकेसरी को एक ही व्यक्ति सिद्ध किया है। उन्होंने अपने लेख में पात्रकेसरी और विद्यानन्दाचार्य को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने के लिए कितने ही प्रमाण भी दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

इस भूतल पर न्यायशास्त्र के वेत्ता अनेक विद्वान् हुए हैं परन्तु दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में विख्यात विद्यानन्दी वा विद्यानन्द हैं। पात्रकेसरी का ही दूसरा नाम विद्यानन्दी है।

(१) 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है—

“तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्दपरनामपात्रकेसरिणा यदुक्तं तच्च लिख्यते । तत्त्वार्थ-
श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, ननु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूप-
निर्णयादशेषतद्विप्रतिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति
कस्यचिदारेका तामपाकरोति।”

इस संदर्भ में श्लोकवार्तिक के प्रणेता विद्यानन्दी को ही सूचित किया है।

(२) श्रवणबेलगुलनगर में श्री दौबली (भुजबली) जिनदास शास्त्री के द्वारा संचित ग्रन्थसंग्रह है। उसमें ताड़पत्र पर लिखा हुआ एक 'आदिनाथ पुराण' है। उस ग्रन्थ की टिप्पणी में लिखा है—
“पात्रकेसरीसंज्ञां दधानो विभुर्विद्यानन्द एवेत्युद्योषितः।”

पात्रकेसरी नाम को धारण करने वाले विद्यानन्दी हुए हैं।

(३) श्री ब्रह्म नेमिदत्त के कर-कमल से लिखित 'आराधना कथाकोष' में पात्रकेसरी की कथा है, इससे अनुमान लगाया जाता है कि पात्रकेसरी का ही दूसरा नाम विद्यानन्दी है।

(४) श्रीमान् वादिचन्द्र सूरि ने भी अपने हस्तलिखित ज्ञानसूर्योदय नाटक के चतुर्थ अंक में पात्रीभूत अष्टशती नामक स्त्री ने पुरुष के प्रति कहा है—

“देव ! ततोहमुत्तालितहृदया श्रीमत्पात्रकेसरिमुखकमलं गता । तेन साक्षात्
कृतसकलस्याद्वादाभिप्रायेण लालिता पालिताष्टसहस्री तथा पुष्टिं नीता । देव ! स
यदि नापालयिष्यत् तदा कथं त्वामद्राक्षम्॥”

अर्थ — हे देव ! इसलिए मैं उत्तालित हृदय से श्री पात्रकेसरी के मुखकमल में चली गई। उसने साक्षात् किये हुए सकल स्याद्वाद के अभिप्राय से मेरा लालन-पालन किया और अष्टसहस्री नाम से मुझे

पुष्ट किया। हे देव ! यदि वे पात्रकेसरी अष्टसहस्री रूप से मेरा पालन नहीं करते तो मैं तुमको आज देख नहीं पाती।”

इसका संदर्भ यह है कि अकलंक देव ने ‘देवागमस्तोत्र’ पर अष्टशती नामक दुरवबोधग्रन्थ लिखा। उसके निर्दोष तात्पर्य को नहीं समझने वाले कितने ही विद्वान् मानकषाय रूप ज्वर के वशीभूत होकर अष्टशती के निर्दोष तात्पर्य रूपी क्षीर को विपरीत स्वीकार कर कुपित हो गये और उस पर आक्रमण करने लगे। तब उनकी अविनीत वृत्ति (क्रिया) को देखकर श्रीमान् विद्यानन्द आचार्य ने अष्टशती भाष्य ग्रन्थ को विशद करने के लिए अष्टसहस्री की रचना की। अतः अष्टसहस्री के रचयिता पात्रकेसरी इस अपर नाम को धारण करने वाले विद्यानन्दस्वामी हैं।

(५) हुमचा नगर के शिलालेख से उद्धृत वाक्य से भी विद्यानन्द ही पात्रकेसरी हैं, ऐसा निश्चय किया जाता है।

पं. गजाधरलालजी ने लिखा है कि इस प्रकार इन पाँच प्रमाणों से निःसंशय जाना जाता है कि विद्यानन्द आचार्य का ही अपर नाम पात्रकेसरी है। मेरे द्वारा ऐसा जाना जाता है कि विद्वान् पात्रकेसरी ने जब तक दीक्षा नहीं ली थी तब तक उनका नाम पात्रकेसरी था और दीक्षा लेने के बाद उनका नाम *विद्यानन्द था। इसलिए श्री ब्रह्म नेमिदत्त महोदय ने आर्हत पथ अनुगामित्व उल्लेख में लिखा है कि जब तक जैन दीक्षा ग्रहण नहीं की तब तक वे पात्रकेसरी नाम से विख्यात थे। जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करने के बाद उनका नाम विद्यानन्द था। महात्मा विद्यानन्द ने स्वकीय लिखित किसी भी ग्रन्थ में पात्रकेसरी नाम को उपयुक्त नहीं समझा इसलिए उन्होंने पात्रकेसरी नाम का उल्लेख नहीं किया।*

भट्टारक श्रीमत्प्रभाचन्द्र और नेमिदत्त ने स्वरचित ‘कथांकोष’ ग्रन्थ में पात्रकेसरी की कथा इस प्रकार लिखी है—

‘मगध देशान्तर्गत-अहिच्छत्रपुर नगर का अनुशास्ता अवनिपाल नाम का राजा राज्य करता था। वहाँ वेदान्त के पारगामी ५०० ब्राह्मण थे। उस नगर में श्रीमत् पार्श्वनाथ भगवान का जिनमन्दिर था।

एक बार पाँच सौ विद्वान् ब्राह्मण जिनमन्दिर को देखने के लिए वहाँ आये। उस समय जिनभक्ति में तीन चारित्रभूषण नामक मुनिराज भगवान के सम्मुख बैठकर ‘देवागम’ स्तोत्र पढ़ रहे थे, जिसे सुनकर पाँच सौ विद्वानों में अग्रणी पात्रकेसरी आश्चर्यचकित हुए।

स्तोत्र सुनकर पात्रकेसरी ने चारित्रभूषण मुनिराज से कहा— “हे यतिराज ! इस स्तोत्र को पुनः पढ़कर मुझे सुनाओ।” मुनिराज ने ‘देवागम’ स्तोत्र को शुद्ध पढ़कर सुनाया। एक बार सुनकर के ही पात्रकेसरी ने उस स्तोत्र को हृदयंगत कर लिया। उसी समय पात्रकेसरी को दर्शनमोहकर्म का क्षयोपशम होकर क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई। पात्रकेसरी ने अपने मन में विचार किया कि जीव, अजीवादि सात तत्त्वों का कथन अर्हन्मत के अनुसार ही निर्दोष है, अन्य मतावलम्बियों के द्वारा कथित निर्दोष नहीं है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से संतुष्ट होकर वे अपनी मित्रमंडली के साथ अपने घर आ गये।

घर आकर उन्होंने स्तोत्र के अर्थ का चिन्तन किया। अहो ! जिनेन्द्रमत में प्रमाण पद्धति समीचीन है- परन्तु अनुमान का लक्षण नहीं है। अनुमान लक्षण को जानने के लिए वे चिन्तासागर में डूबकर निद्रादेवी की गोद में सो गये। रात्रि में पद्मावती देवी ने स्वप्न में कहा- “चिन्ता मत करो, प्रातःकाल पार्श्वनाथ भगवान् के जिनमन्दिर जाकर देखना, उस मन्दिर में पार्श्वनाथ भगवान् के फणामण्डल पर अनुमान का लक्षण लिखा हुआ मिलेगा।”

दूसरे दिन प्रातःकाल विद्वान् पात्रकेसरी पार्श्वनाथ जिनमन्दिर में गये और तीन लोक के नाथ का अवलोकन करके फणामण्डल को देखा तो उस पर लिखा था-

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं।

जहाँ अन्यथा अनुपपन्नत्व है वहाँ अनुमान के तीन अंग से क्या प्रयोजन है और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है, वहाँ अनुमान के तीन अंग से क्या प्रयोजन है ?

देवी के कर-कमल से लिखे हुए श्लोक को पढ़कर और अनुमान का यह लक्षण ‘अन्यथानुपपन्नत्वरूपव्याप्तिज्ञानमेवानवद्यानुमानं अन्यथानुपपन्नत्व ही अनुमान का निर्दोष लक्षण है’ पढ़कर पात्रकेसरी के हृदय में स्थित मिथ्या अन्धकार विलीन हो गया और सम्यग्दर्शन की ज्योति जगमगा उठी। उनको जिनधर्म में दृढ़ आस्था उत्पन्न हुई। वे दिगम्बर मुनि हो गये।

इस प्रकार ‘आप्त परीक्षा’ एवं ‘पत्र परीक्षा’ की प्रस्तावना में लिखा है और पात्रकेसरी और विद्यानन्द को एक ही घोषित किया है।

विद्यानन्द आचार्य के निवास-स्थान के सम्बन्ध में उपरिलिखित कथानक से जाना जाता है कि वे उत्तरप्रान्तवासी थे परन्तु इनके कार्य और साधना की भूमि कर्नाटक है, ऐसा पं. गजाधरलाल जी ने लिखा है।

पं. गजाधरलालजी के कथन और कर्नाटक के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि विद्यानन्द और पात्रकेसरी दोनों एक हैं परन्तु पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार और दरबारीलाल जी कोठिया के कथन से पात्रकेसरी और विद्यानन्द दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

२. शिलालेख

१. नजरारजपट्टणमहीपतिनंजपरिषदि श्रीमद्विद्यानंदिस्वामिना नंदनमल्लिभट्टाभिधो विदग्धो विहितानवद्यविवादमर्यादया विजिग्ये।
२. हृद्यानवघयद्यैकप्रभावेण श्रीरातर्वेद्वनरपतिसभायां श्रीविद्यानंदिविभुना निखिलश्रोतारो विस्मयपदमानीताः।
३. शल्वमल्लिभूपतिसंसदि स्वीयामलवचनपाटवपरभूतवादिविदुषः क्षमतेस्म विद्यानंदिप्रभुः।
४. सलूवेदपृथ्वीपतिपरिषदिनैकविधपरिवादिमंडललपनविनिर्गतसिद्धांतसंदोहं सिद्धाताभासतांयाऽनृती-कृत्यहिमतं प्रभावितं।

५. विलगीपत्तनमंडननरपतिनरसिंहसंसदि समुद्बोधितः किल प्रभावो जैनमतस्य श्रीमद्विद्यानंदिप्रभुणा।
६. कारकलनगरस्थभैरवाचार्यराजपरिषदि जैनमतगौरवं प्रदर्श्य तत्प्रभावं विजजृम्भे श्रीविद्यानन्दिप्रभुः।
७. विदरीनगरनिवासिभावुकलोकेभ्यः श्रीमद्विद्यानंदिप्रभुणा स्वधर्मज्ञानप्राकर्ष्येण सम्यक्त्वावाप्तिः कारिता।
८. यस्य नरसिंहराजात्मजकृष्णराजस्य संसदि नमतिस्म नरपतिसहस्रकं तस्यां परिषदि हे विद्यानंदिप्रभो त्वया समुधीपितो जैनधर्मः पराभुताश्च मत्तपरवादिनः।
९. कोप्पनाद्यनेकतीर्थक्षेत्रेषु कारयित्वा द्रव्यवैपुल्यं हे विद्यानंदिप्रभो त्वयार्हतधर्मः प्रभावितः। भूषितश्च श्रवणबेलगुलनगरस्थजैनसंघः कनकवसनादिप्रदापनतः विधाय च गेरसप्पानगरासन्नमुनिसंदोहसंघं स्वशिष्यमंडलं स विभूषितः।

गौतमभद्रबाहुविशाखाचार्योमास्वामिसमंतभद्राकलंकादिविद्वांसो विजयतां भुवि सांमतभद्रभाष्य मंगलाचरणदेवागमोपरि विरचितं भाष्यं श्रीमदकलंकदेवेन।

समजसतयाप्तमीमांसाग्रंथ विबोधयित्रे श्रीमद्विद्यानंदिने नमः। श्लोकवार्तिकप्रणेता कविचूडामणि तार्किकसिंहो विद्वान् यतिविद्यानंदी चिरं जीयाद्भुवि धरणीधर सन्निकृष्टोग्रतपस्वी ध्यानी मुनिः पात्रकेसर्येव समजनिष्ठ नान्यः। षट्चत्वारिंशतमः शिलालेखः।

३. जीवन परिचय

जैन ग्रन्थों में विद्यानन्द, विद्यानंदी ये दो नाम मिलते हैं। एक विद्यानन्दी भट्टारक का भी उल्लेख है। इन दोनों में वास्तविक नाम कौनसा है, इसको जानना कठिन है क्योंकि इनके जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक इतिवृत्त ज्ञात नहीं है। आचार्यदेव की रचनाओं के अवलोकन से यह अवगत होता है कि ये दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इस प्रदेश को इनकी साधना और कार्यभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। किंवदन्तियों के आधार पर यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इस मान्यता की सिद्धि इनके प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वत्ता से भी होती है। इन्होंने कुमारावस्था में ही वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों का अध्ययन कर लिया था।

इन आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त ये दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध दार्शनिकों के मन्तव्यों से भी परिचित थे। शक संवत् १३२० के एक अभिलेख में वर्णित नन्दिसंघ के मुनियों की नामावली में विद्यानन्द का नाम प्राप्त कर यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि इन्होंने नन्दिसंघ के किसी आचार्य से दीक्षा ग्रहण की होगी। जैन वाङ्मय का आलोड़न-विलोड़न कर इन्होंने अपूर्व पाण्डित्य प्राप्त किया। साथ ही मुनिपद धारण कर तपश्चर्या द्वारा अपने चारित्र को भी निर्मल बनाया।

इनके पाण्डित्य की ख्याति १०वीं, ११वीं शती में ही हो चुकी थी। यही कारण है कि वादिराज ने (ई. सन् १०५५ में) अपने 'पार्श्वनाथचरित' नामक काव्य में इनका स्मरण करते हुए लिखा है—

ऋजुसूत्रं स्फुरद्भूतं विद्यानन्दस्य विस्मयः।

शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति ॥२८॥

“आश्चर्य है कि विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री जैसे दीप्तिमान अलङ्कारों को सुनने वालों के भी अज्ञों में दीप्ति आ जाती है तो उन्हें धारण करने वालों की बात ही क्या है।”

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सारस्वताचार्य विद्यानन्द की कीर्ति ई. सन् की १०वीं शताब्दी में ही व्याप्त हो चुकी थी। उनके महनीय व्यक्तित्व का सभी पर प्रभाव था। दक्षिण से उत्तर तक उनकी प्रखर न्यायप्रतिभा से सभी आश्चर्यचकित थे।

४. समय

आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ में जल्प और वाद सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया गया है, जिसमें उनसे पूर्ववर्ती श्रीदत्त और ‘जल्पनिर्णय’ ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित ‘जैनेन्द्रव्याकरण’ में ‘गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम्’ सूत्र से श्रीदत्त का उल्लेख मिलने से श्रीदत्त को आचार्य पूज्यपाद (छठी शताब्दी) का पूर्ववर्ती ग्रन्थकार मानते हैं।

आचार्य विद्यानन्द की रचनाओं में और भी अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है, जैसे— गृह्यपिच्छाचार्य, स्वामी समन्तभद्र, श्रीदत्त, सिद्धसेन, पात्रस्वामी, भट्टाकलङ्क, कुमारनन्दिभट्टारक आदि।

आचार्य विद्यानन्द जी सिद्धसेन के पश्चाद्वर्ती हैं। क्योंकि उनके द्वारा रचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ३ पर सिद्धसेन के ‘सन्मतिसूत्र’ के तीसरे काण्डगत “जो हेउवायपक्खम्मि” आदि ४५वीं गाथा उद्धृत की है। पृ. ११४ पर “जावदिया वयणवहा-तावदिया होंति णयवाया” (सन्मति. ३-४७) का संस्कृत रूपान्तर भी मिलता है।

विद्यानन्दजी ने अष्टसहस्री में तो जैसे अकलङ्क की अष्टशती को आत्मसात् ही कर लिया है। इसलिए इनको अकलङ्कजी का उत्तरवर्ती माना गया है।

अकलङ्कजी के उत्तरवर्ती कुमारनन्दिभट्टारक के ‘वादन्याय’ का विद्यानन्द जी ने तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षा में नामोल्लेख किया है। अतः इनको कुमारनन्दिभट्टारक का उत्तरवर्ती माना जाता है। इनका समय आठवीं और नौवीं शताब्दी का मध्य भाग होना चाहिए।

आचार्य विद्यानन्द की रचनाओं—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक एवं अष्टसहस्री में ई. सन् ७८८ के पहले के दार्शनिक विद्वानों जैसे उद्योतकर, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, प्रशस्तपाद व्योमशिवाचार्य, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, मण्डन मिश्र और सुरेश्वर मिश्र की समीक्षा मिलने से आचार्य विद्यानन्द के समय की पूर्ववर्ती सीमा ७८८ ई. से मानी जा सकती है।

आचार्य विद्यानन्द कृत प्रशस्तपादभाष्य पर लिखी गई चार टीकाओं में श्रीधर की न्याय कन्दली (ई. सन् ९९१) और उदयन की किरणवल्ली (ई. सन् ९८४) समीक्षा का न होना एवं माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि आदि आचार्यों पर विद्यानन्द जी का प्रभाव होने से यह मानना चाहिए कि इनका समय अकलङ्क देव (८वीं शती) और माणिक्यनन्दि (११वीं शती) के मध्य अर्थात् ९वीं शती है। अर्थात् इनके समय की उत्तरवर्ती सीमा ई. सन् ९८४ तक मानी जा सकती है।

विद्यानन्द की 'अष्टसहस्री' की अन्तिम प्रशस्ति में

वीरसेनाख्यमोक्षगे चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम् ।
सारतरात्मध्यानगे मारमदाभ्योदपवनगिरिगह्वरायितु ॥
कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुण्यात् ।
शश्वदभीष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥ (नद्धा)

यह श्लोक होने से कुमारसेन को इनका पूर्ववर्ती माना गया है। जिनसेन प्रथम के द्वारा ई. सन् ७८३ में रचित हरिवंश पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण १, ३८ पृ. ५) में—

आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् ।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥

कुमारसेन का उल्लेख होने से कुमारसेन का समय ई. सन् ७८३ के पूर्व का माना गया है। हरिवंश पुराण में विद्यानन्द जी का कहीं कोई उल्लेख न होने से यह माना गया है कि ई. सन् ७८३ तक इनकी ऐसी ख्याति नहीं थी जिससे पुराणकार इनका उल्लेख करता।

उक्त विद्वानों के अभिमत में आचार्य विद्यानन्द की रचनायें गंगनरेश शिवमार द्वितीय (ई. सन् ८१०) के राज्य काल में लिखी गई हैं। अतः आचार्य विद्यानन्दजी का समय ई. सन् ७७५ से ई. सन् ८४० तक जानना चाहिए।

५. रचनाएँ

आचार्य विद्यानन्द की दो तरह की रचनाएँ हैं— १. टीकात्मक और २. मौलिक।

टीकात्मक रचनाओं में १. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार (सभाष्य) २. अष्टसहस्री-देवागमालंकार और ३. युक्त्यनुशासनालंकार हैं और मौलिक कृतियाँ हैं— १. विद्यानन्दमहोदय २. आप्तपरीक्षा ३. प्रमाणपरीक्षा ४. पत्रपरीक्षा ५. सत्यशासन परीक्षा ६. श्रीपुरपाश्वर्नाथ स्तोत्र। कुल ९ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

(१) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार सभाष्य — प्रस्तुत ग्रन्थ इसी का एक खण्ड है।

(२) अष्टसहस्री-देवागमालंकार — स्वामी समन्तभद्रविरचित 'आप्तमीमांसा' अपरनाम 'देवागमस्तोत्र' पर लिखी गयी यह विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीका है। इसमें अकलंकदेव के 'देवागम' पर ही रचे गये दुरूह 'अष्टशतीविवरण' (देवागम भाष्य) को अन्तःप्रविष्ट करते हुए देवागम की प्रत्येक कारिका का व्याख्यान किया गया है। वास्तव में यदि विद्यानन्द आचार्य 'अष्टसहस्री' न बनाते तो 'अष्टशती' का गूढ़ रहस्य उसमें ही छिपा रहता क्योंकि अष्टशती का प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक स्थल इतना दुरूह और जटिल है कि साधारण विद्वान् की तो उसमें गति ही नहीं हो सकती। अष्टसहस्री को आचार्यश्री ने जो 'कष्टसहस्री' कहा है, वह इस अष्टशती की मुख्यता से ही कहा है।

'अष्टसहस्री' श्लोकवार्तिक की तुलना का ही ग्रन्थ है। 'देवागम' में दस परिच्छेद हैं इसलिए

इसकी टीका 'अष्टसहस्री' में भी दस परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद का प्रारम्भ और समाप्ति एक-एक सुन्दर पद्य द्वारा किये गये हैं। इस पर लघु समन्तभद्र (वि. की १७वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका' और श्री यशोविजयजी (वि. की १७वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्य-विवरण' नाम की व्याख्याएँ लिखी हैं।

(३) युक्त्यनुशासनालङ्कार - 'आप्तमीमांसा' का स्वामी समन्तभद्र की दूसरी बेजोड़ रचना 'युक्त्यनुशासन' है। यह एक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर स्तोत्र ग्रन्थ है। 'आप्तमीमांसा' में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की परीक्षा की गई है और परीक्षा के बाद उनके आप्त सिद्ध हो जाने पर इस 'युक्त्यनुशासन' में उनकी गुणस्तुति की गई है। इसमें केवल ६४ पद्य ही हैं परन्तु एक-एक पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येक के व्याख्यान में एक-एक स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखा जाना योग्य है। आचार्य विद्यानन्द ने इस ग्रन्थ को सुविशद व्याख्यान से अलंकृत किया है। यह 'युक्त्यनुशासनालंकार' उनका मध्यम परिमाण का टीका ग्रन्थ है, न ज्यादा बड़ा है और न ज्यादा छोटा।

मौलिक ग्रन्थ :

(१) विद्यानन्द महोदय - यह आचार्यश्री की सर्वप्रथम रचना है। 'श्लोकवार्तिक' आदि में उन्होंने अनेक जगह इस रचना का उल्लेख किया है और विस्तार से उसमें जानने एवं प्ररूपण करने की सूचनाएँ की हैं। आज यह अनुपलब्ध है। विक्रम की १३वीं सदी तक इसका पता मिलता है। आचार्य विद्यानन्द ने तो अपने परवर्ती सभी ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया ही है किन्तु उनके तीन-चार सौ वर्ष बाद होने वाले वादिदेवसूरि ने भी अपनी विशाल टीका 'स्याद्वाद रत्नाकर' में इसका उल्लेख किया है और इसकी एक पंक्ति भी दी है। इस ग्रन्थरत्न का उल्लेख 'विद्यानन्दमहोदय' और 'महोदय' दोनों नामों से हुआ है।

(२) आप्तपरीक्षा - स्वामी समन्तभद्र ने जिस प्रकार 'तत्त्वार्थसूत्र' के 'मोक्षमार्गस्य नेतास्म' मंगल पद्य पर उसके व्याख्यान में 'आप्तमीमांसा' लिखी है उसी प्रकार आ. विद्यानन्द ने भी उसी मंगल श्लोक के व्याख्यान में यह 'आप्तपरीक्षा' रची है और उसकी स्वयं 'आप्तपरीक्षालंकृति' नाम की व्याख्या भी लिखी है। 'आप्तपरीक्षा' में 'आप्तमीमांसा' की तरह मोक्षमार्गनेतृत्व, कर्मभूभूदनेतृत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व—इन्हीं तीन गुणों से युक्त आप्त का उपपादन और समर्थन करते हुए अन्ययोग व्यवच्छेद से ईश्वर, कपिल, सुगत और ब्रह्म की परीक्षापूर्वक अरहन्तजिन को आप्त सुनिर्णीत किया गया है। ग्रन्थ में कुल १२४ कारिकाएँ हैं।

(३) प्रमाणपरीक्षा - यह आ. विद्यानन्द की तीसरी मौलिक रचना है जो 'आप्तपरीक्षा' के बाद लिखी गई है। आचार्यश्री ने इसकी रचना अकलंकदेव के प्रमाणसंग्रहादि प्रमाणविषयक प्रकरणों का आश्रय लेकर की जान पड़ती है। यद्यपि इसमें परिच्छेदभेद नहीं है तथापि प्रमाण को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाकर उसका अच्छा निरूपण किया गया है। प्रमाण का 'सम्यग्ज्ञानत्व' लक्षण करके उसके भेद-प्रभेदों, विषय तथा फल और हेतुओं की इसमें सुसम्बद्ध एवं विस्तृत चर्चा की गई है। यह बहुत ही सरल और सुविशद रचना है।

(४) पत्रपरीक्षा — यह ग्रन्थकार की चतुर्थ रचना है। इसमें अन्य दर्शनों के पत्रलक्षणों की समालोचनापूर्वक जैन दृष्टि से पत्र का लक्षण किया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को ही अनुमानांग बतलाया है। यह गद्य-पद्यात्मक लघु तर्करचना बड़ी सुन्दर और प्रवाहपूर्ण है।

(५) सत्यशासनपरीक्षा — आचार्य विद्यानन्द की पाँचवीं मौलिक रचना 'सत्यशासनपरीक्षा' है। इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनो की परीक्षा करने की प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु १२ शासनों में ९ शासनों की पूरी और प्रभाकर शासन की अधूरी परीक्षाएँ ही इसमें उपलब्ध होती हैं। प्रभाकरशासन का शेषांश, तत्त्वोपप्लवशासनपरीक्षा और अनेकान्तशासनपरीक्षा इसमें अनुपलब्ध है। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ आचार्यश्री की अन्तिम रचना है जिसे वे पूर्ण नहीं कर सके। रचना तर्कणाओं से ओतप्रोत और अत्यन्त विशद है।

(६) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र — स्वामी समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासनस्तोत्र की तरह यह भी आचार्य विद्यानन्द की तार्किककृति है तथा जटिल एवं दुरूह है। इसमें कुल ३० पद्य हैं। २९ पद्य तो ग्रन्थ के विषय के प्रतिपादक हैं और अन्तिम पद्य अन्तिम वक्तव्य एवं उपसंहार के रूप में है। ग्रन्थ का विषय श्रीपुरस्थ (अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ) भगवान पार्श्वनाथ हैं। कपिलादिक में अनाप्तता बतलाकर उन्हें इसमें आप्त सिद्ध किया गया है और उनके वीतरागत्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्ग-प्रणेतृत्व इन असाधारण गुणों की स्तुति की गई है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने जटिल और सरल दोनों प्रकार की रचनायें की हैं। ग्रन्थकार के 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' और 'अष्टसहस्री' गत उनके अगाध पाण्डित्य को देखकर यह आश्चर्य होने लगता है कि उनकी उस पाण्डित्यगर्भ लेखनी से 'परीक्षान्त' ग्रन्थों में सरल और विशद रचना कैसे प्रसूत हुई? वास्तव में, यह उनकी सुयोग्य विद्वत्ता का सुन्दर और सुमधुर फल ही है।

डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने 'आप्तपरीक्षा' की प्रस्तावना में लिखा है— 'सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्द ने जब देखा कि मीमांसादर्शन के प्रतिपादक जैमिनी के मीमांसासूत्र पर शबर के भाष्य के अलावा भट्ट कुमारिल का मीमांसाश्लोकवार्तिक भी है तब उन्होंने जैनदर्शन के प्रतिपादक श्री गृद्धपिच्छाचार्य रचित सुप्रसिद्ध 'तत्त्वार्थसूत्र' पर अकलंकदेव के 'तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य' से अतिरिक्त 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' बनाया और उसमें अपना अगाध पाण्डित्य एवं तार्किकता भर दी जिसे उच्चकोटि के विशिष्ट दार्शनिक विद्वान् ही अवगत कर सकते हैं। साधारण लोगों का उसमें प्रवेश पाना बड़ा कठिन है। अतएव उन्होंने जैनदर्शनजिज्ञासु प्राथमिकजनों के बोधार्थ प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा आदि परीक्षान्त सरल एवं विशद ग्रन्थों की रचना की। प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों का नामकरण आचार्य विद्यानन्द ने दिङ्नाग की आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, धर्मकीर्ति की सम्बन्धपरीक्षा, धर्मोत्तर की प्रमाणपरीक्षा व लघुप्रमाणपरीक्षा और कल्याणरक्षित की श्रुतिपरीक्षा जैसे पूर्ववर्ती परीक्षान्त ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर किया है।'

— आर्यिका सुपाश्वमती

५१ न्याय ग्रन्थों की रचना का हेतु ५१

न्यायशास्त्र प्रमाणभूत शास्त्र है। इतना ही नहीं, इतर सिद्धांत, व्याकरण, साहित्य, चरणानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग आदि ग्रन्थों में प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए साधन है। द्वादशांग वाणी में दृष्टिवाद नामक जो अन्तिम अंग है, उससे प्रसृत यह न्यायशास्त्र है। न्यायशास्त्र के द्वारा ही सिद्धान्तकथित विषयों को कसौटी पर कसकर सिद्ध किया जाता है।

जैन ग्रन्थों में प्रतिपादित तत्त्वों की प्रामाणिकता न्यायशास्त्र से ही जानी जाती है। वस्तु का सर्वांश एवं सर्वांग से यथार्थ दर्शन न्यायशास्त्र के द्वारा ही होता है। न्यायशास्त्र की आधारशिला स्याद्वाद या अनेकान्त है तो प्रमाण और नय उसके दो पंख हैं। नय एवं प्रमाण रूपी पंखों को धारण कर स्याद्वाद यथेच्छ सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में भ्रमण कर सकता है। इस स्याद्वाद की गति निर्बाध, आतंकरहित और वेगवती है। उसमें उपरोध करने वाली शक्ति संसार में नहीं है।

संसार में युक्ति प्रयुक्त करने की योग्यता वाले विचक्षण पुरुष हर विषय को विवादास्पद बना सकते हैं। उस विषय को, उस कथन को एवं युक्ति को तर्क की कसौटी पर कसकर देखना होगा कि वह सम्यक् है या मिथ्या है? युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध जो वचन है, वह सम्यक् तर्क है। तर्क में सुतर्क भी होता है, कुतर्क भी होता है। परन्तु सुतर्क ग्राह्य है, उपादेय है, कुतर्क त्याज्य है, निषेध्य है। सुतर्क के द्वारा ही द्रव्य की प्रतिष्ठा होती है। द्रव्य में द्रव्य की सिद्धि, गुण में गुणत्व की सिद्धि, पर्याय में उत्पाद-व्यय की सिद्धि आदि सभी तर्कपूर्ण दृष्टि से होती है। प्रतिदिन उपयोग में आने वाले सर्व कार्य और वचनों में भी न्याय का पुट लगा रहता है। अन्यायपूर्ण कार्य एवं वचनों से विवाद, कलह, संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिए शांति एवं सन्तोष-प्रिय मानव को प्रत्येक कार्य एवं वचन, न्याय एवं युक्ति संगत करने और बोलने का प्रयत्न करना चाहिए।

परमपूज्य समन्तभद्राचार्य ने अरहंत परमेश्वर की स्तुति करते हुए देवागमस्तोत्र में लिखा है कि—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

हे भगवन्! आपके वचन युक्ति और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध होने से आप ही निर्दोष हैं। जो ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है वही न्यायशास्त्र के लिए सम्मत है, उसी से पदार्थ का निर्दोष ज्ञान होता है। इसीलिए सिद्धान्तशिरोमणि आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि प्रमाणनयैरधिगमः, प्रमाण एवं नय के द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है। इस परिपाटी को सिखाने वाला न्यायशास्त्र है। इस सरणि को छोड़कर हम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। हमारे ज्ञान में प्रमाण की सत्ता रहेगी या नयविवक्षा रहेगी। इसके बिना पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए आगम, सिद्धान्त एवं लोकव्यवहार की सिद्धि-प्रसिद्धि के लिए तथा स्वमत-स्थापन और परमत-खण्डन कर वस्तु के वस्तुत्व को जानने के लिए न्यायशास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता है। पूज्यपाद, समन्तभद्र, अकलंक देव, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनदी, अनन्तवीर्य आदि जैनाचार्यों ने न्यायशास्त्रों की रचना कर भगवान्

अर्हत्परमेश्वर के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व का विवेचन किया है। इन महान् आचार्यों ने अपने अगाध पांडित्य के द्वारा जैन सिद्धान्त की समीचीनता का दर्शन युक्ति और आगम के अविरोधी वचनों एवं अपने तर्क-कौशल के द्वारा कराया। यही कारण है कि आज जैन दर्शन निर्दोष रूप से और पूर्वापर अविरोध रूप से व्यवस्थित है। यथार्थ में जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माने जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-व्यवस्थापक स्याद्वाद न्याय को भूलने लगी तो उसे उज्जीवित एवं प्रभावित करने के लिए आचार्यदेवों ने अनेक न्यायग्रन्थों की रचना की।

दृष्टिवाद जैनश्रुत का १२वाँ अंग है जिसमें तीन सौ त्रेसठ विभिन्न वादियों की एकान्त दृष्टियों का निरूपण और समीक्षणपूर्वक उनका स्याद्वाद नय से समन्वय उपलब्ध है। इसीलिए श्रुत के मूलकर्ता ऋषभादि सभी तीर्थंकरों को श्री समन्तभद्राचार्य ने स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं जैसे पद-प्रयोगों के द्वारा स्याद्वादी (स्याद्वाद प्रतिपादक) कहा है। अकलंक देव ने भी चतुर्विंशति तीर्थंकरों को स्याद्वाद का प्रवक्ता^१ और उनके शासन को स्याद्वाद रूप अमोघ चिह्न से युक्त बतलाया है।^२

षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में यद्यपि स्याद्वाद की स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती है तथापि उनमें सिद्धान्त प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया अथवा सिय) शब्द को लेकर अवश्य प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ मनुष्यों को पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि 'मणुस्सा सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक हैं, स्यात् अपर्याप्तक हैं। इस प्रकार आगम ग्रन्थों में 'स्यात्' शब्द को लिये हुए विधि और निषेध इन दो वचन प्रकारों से उपलब्ध होता है। आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने उपरिस्थित विधि और निषेध वचन प्रकारों में पाँच वचन प्रकार और मिलाकर सात वचन प्रकारों से वस्तु-निरूपण का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ पंचास्तिकाय गा. १४ ॥

'स्यादस्ति द्रव्यं, स्यान्नास्ति द्रव्यं, स्यादुभयं, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्त्यवक्तव्यं, स्यान्नास्त्यवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं।' इन सात भंगों का यहाँ उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आदेशवशात् (नय विवक्षानुसार) द्रव्य निरूपण करने की सूचना की है। आचार्य कुन्दकुन्द ने यह भी प्रतिपादित किया है कि यदि सदरूप ही द्रव्य है तो उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असदरूप ही द्रव्य है तो उसका उत्पाद संभव नहीं है। क्योंकि यह देखा जाता है कि गेहूँ पर्याय से नष्ट, रोटी पर्याय से उत्पन्न और पुद्गल द्रव्य सामान्य से ध्रुव रहने से पुद्गल द्रव्य उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में जैन वाङ्मय में दर्शन का रूप तो आने लगा था, परन्तु उसका विकास नहीं हो सका था।

यद्यपि भाव मिथ्यात्व की अपेक्षा तीन सौ त्रेसठ पाखण्ड अनादिकालीन हैं परन्तु व्यवहार में आदिनाथ भगवान के पौत्र एवं भरत चक्रवर्ती के पुत्र मारीचकुमार ने इन्हें प्रगट किया था। उसकी परम्परा अभी तक चल रही है तथापि विशेष रूप से वाद का विषय कुन्दकुन्द के समय से प्रारम्भ हुआ।

१. धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः। ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यो स्वात्मोपलब्धये। लघीयः का १-१ ॥

२. श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनं। जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनं ॥ प्रमाणसंग्रह १-१ ॥

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित दर्शन के रूप में कुछ वृद्धि की। एक तो उन्होंने प्राकृत में सिद्धान्त प्रतिपादन की पद्धति को संस्कृत-गद्यसूत्रों में बदल दिया। दूसरे उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण प्रारम्भ किया। तीसरे आगम प्रतिपादित ज्ञानमार्गाणागत मत्यादि ज्ञानों को प्रमाण संज्ञा देकर उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदों का कथन किया। चतुर्थ दर्शनान्तरों में पृथक् प्रमाण स्वरूप से स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान इन्हें मतिज्ञान और शब्द को श्रुतज्ञान कहकर उन्हें आद्ये परोक्ष सूत्र द्वारा परोक्ष प्रमाण में समाविष्ट किया तथा शेष ज्ञान को प्रत्यक्षमन्यत् सूत्र के द्वारा प्रत्यक्ष में समावेश करके सम्पूर्ण ज्ञान को दो ज्ञानों में गर्भित किया। पाँचवें प्रमाण के समान नय को भी अर्थाधिगम का साधन मानकर उसके भी नैगमादि सात भेद किये। इस प्रकार उमास्वामी आचार्य ने कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया। इतना होने पर भी दर्शनशास्त्रों में एकान्तवादों, संघर्षों और अनिश्चयों का तार्किक समाधान नहीं आ पाया जो उनके कुछ समय बाद की चर्चा के विषय हुए हैं।

विक्रमी दूसरी, तीसरी शताब्दी का समय दार्शनिक क्रान्ति का समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनों में अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। बौद्ध और वैदिक दोनों परम्पराओं में अश्वघोष, मातृचेत, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनी जैसे प्रतिद्वन्द्वी प्रभावक विद्वानों का आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मण्डन और दूसरों के खण्डन में लग गये। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-अशाश्वतवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद, अव्यक्तवाद-व्यक्तवाद इन चार विरोधी युगलों को लेकर तत्त्व की मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियों से विचार किया जाता था।

आचार्य समन्तभद्र, माणिक्यनन्दी, अकलंक देव आदि अनेक आचार्यों ने तत्त्वप्ररूपण में तर्क का उपयोग किया और उस पर विस्तृत चिन्तन कर प्रबन्ध लिखे। इन प्रबन्धों द्वारा उन्होंने प्रतिपादित किया कि तत्त्व का पूर्ण कथन दो या चार कोटियों में निहित नहीं है अपितु सात कोटियों में निहित है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि तत्त्व वस्तुतः अनेकान्तमय है, एकान्त रूप नहीं है। अनेकान्त सत्-असत् आदि विरोधी दो धर्मों के युगल के आश्रय से प्रकाश में आने वाले वस्तुगत सात धर्मों का समुच्चय है और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्त धर्मों के समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व सागर में अनन्त लहरों की तरह लहरा रहे हैं। इसी से उसमें अनन्त सप्त कोटियाँ भरी पड़ी हैं। हाँ, द्रष्टा को सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्व को जब किसी एक धर्म से कहता है तो वह अन्य धर्मों का निषेधक नहीं है, केवल विवक्षावश वह मुख्य है और अन्य धर्म गौण हैं। इस वस्तुतत्त्व को समझने के लिए स्याद्वाद वा सप्तभंगी तथा नयविवक्षा की आवश्यकता है अतः दयालु आचार्यदेवों ने भव्य जीवों का उपकार करने के लिए न्यायग्रन्थों की रचना की है, ऐसा मेरा अभिप्राय है।

गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती जी संघस्था

बालब्रह्मचारिणी डॉ. प्रमिला जैन



॥ श्रीमहावीरस्वामिने नमः ॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिविरचितः

तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकालङ्कारः

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

श्रीवर्धमानमाध्याय, घातिसङ्घातघातनम् ।

विद्यास्पदं प्रवक्ष्यामि, तत्त्वार्थ' श्लोकवार्तिकम् ॥१॥

श्रेयस्तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकप्रवचनात्पूर्वं परापर-गुरुप्रवाहस्याऽऽध्यानं, तत्सिद्धिनिबन्धनत्वात् । तत्र परमो गुरुस्तीर्थकरत्वश्रियोपलक्षितो वर्धमानो भगवान् घातिसंघातघातनत्वात् । यस्तु न परमो गुरुः, स न घातिसंघातघातनो, यथाऽस्मदादिः ।

मंगलाचरण एवं ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा

ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के समूह के नाशक, विद्या यानी द्वादशाङ्ग वाणी के आस्पद अर्थात् उत्पत्तिस्थान ऐसे श्री वर्द्धमान भगवान का ध्यान/चिन्तन करके मैं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक कहूँगा ॥१॥

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की सिद्धि का निमित्त होने से तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की रचना के पूर्व, पर-गुरु-सर्वोत्कृष्ट तीर्थकरों का, अपर गुरु-गणधर से लेकर पूरी गुरु-परम्परा का चिन्तन करना, उनके गुणों का चिन्तन करना श्रेयस्कर है। उन गुरुओं में घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कर्मों

१. 'तत्त्वार्थसूत्र' पर श्लोक (अनुष्टुप्छन्द) और वार्तिक में रचना करना।

घातिसंघातघातनोऽसौ, विद्यास्पदत्वात्। विद्यैकदेशास्पदेनाऽस्मदादिनाऽनैकान्तिक इति चेत्, न, सकलविद्यास्पदत्वस्य हेतुत्वाद् व्यभिचारानुपपत्तेः।

प्रसिद्धं च सकलविद्यास्पदत्वं भगवतः सर्वज्ञत्वसाधनादतो नान्यः परमगुरुरेकान्ततत्त्वप्रकाशनाद्। दृष्टेष्ट-विरुद्ध-वचनत्वाद् अविद्यास्पदत्वादक्षीणकल्मष-समूहत्वाच्चेति न तस्याऽऽध्यानं युक्तम्।

एतेनापरगुरुगणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यातस्तस्यैकदेशविद्यास्पदत्वेन देशतो घाति-संघात घातनत्व सिद्धेस्सामर्थ्यादपरगुरुत्वोपपत्तेः।

का नाश कर देने से तीर्थकरत्वश्री (समवसरण की विभूति एवं अनन्तचतुष्टयरूप श्री) से शोभायमान होने से वर्द्धमान भगवान तो परम गुरु हैं। जो परम गुरु नहीं है, वह घातिया कर्मों का नाशक भी नहीं है, जैसे - हम लोग। महावीर भगवान ने घातिया कर्मों का विनाश किया है, क्योंकि वे केवलज्ञानरूप विद्या के आश्रयस्थान हैं।

शंका - एकदेश विद्या के स्वामी तो हम लोग भी हैं, परन्तु घातिया कर्मों के विनाशक नहीं हैं अतः घातिया कर्मों के विनाशक ही विद्या के स्वामी होते हैं, यह हेतु अनैकान्तिक (पक्ष^१, सपक्ष^२, विपक्ष^३ तीनों में जाने से व्यभिचारी) है।

समाधान - आपका ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ सकल विद्यास्पदत्व को हेतु माना गया है, अतः व्यभिचार दोष नहीं बन सकता है।

प्रभु परम गुरु हैं, मुनीन्द्र अपर गुरु हैं

सर्वज्ञत्व की सिद्धि होने से वर्द्धमान भगवान के ही सर्वविद्या का आधारपना प्रसिद्ध है इसलिए वीतराग प्रभु ही परम गुरु हैं। एकान्त तत्त्व के प्रकाशक होने से, प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से विरुद्ध वचन वाले होने से, अविद्या के स्थान होने से और कर्म/कषाय क्षीण न होने से अन्य रागी-द्वेषी परम गुरु नहीं हैं। अतः श्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में इन रागी-द्वेषी देवों का चिन्तन करना उपयुक्त नहीं है।

इस प्रकार गणधरदेव से लेकर सूत्रकार (उमास्वामी) पर्यन्त मुनीन्द्र अपर गुरु हैं क्योंकि उनके एकदेश विद्यास्पदत्व एवं एकदेश घातिकर्म के घातन का सामर्थ्य है - इसलिए अपर गुरु गणधरादि भी श्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में ध्यान करने योग्य हैं।

१. जहाँ साध्य को सिद्ध करना अभिप्रेत है वह पक्ष कहलाता है क्योंकि साध्य को पक्ष कहते हैं।

२. साध्य के सदृश को सपक्ष कहते हैं।

३. साध्य से विपरीत को विपक्ष कहते हैं। पक्ष-सपक्ष-विपक्ष में जाने वाले हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।

नन्वेवं प्रसिद्धोऽपि परापरगुरुप्रवाहः कथं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकप्रवचनस्य सिद्धिनिबन्धनं यतस्तस्य ततः पूर्वमाध्यानं साधीय इति कश्चित्, तदाध्यानाद्धर्मविशेषोत्पत्तेरधर्मध्वंसात्तद्धेतुक-विघ्नोपशमनादभिमतशास्त्र-परिसमाप्तिस्तत्सिद्धिनिबन्धनमित्येके। तान् प्रति समादधते। तेषां पात्रदानादिकमपि शास्त्रारंभात् प्रथममाचरणीयं परापर-गुरुप्रवाहाध्यानवत्तस्यापि धर्मविशेषोत्पत्ति-हेतुत्वाविशेषाद्यथोक्तक्रमेण शास्त्रसिद्धिनिबन्धनत्वोपपत्तेः।

परममंगलत्वादाप्तानुध्यानं शास्त्रसिद्धिनिबन्धनमित्यन्ये, तदपि तादृगेव। सत्पात्रदानादेरपि मंगलतोपपत्तेः। न हि जिनेन्द्रगुणस्तोत्रमेव मंगलमिति नियमोऽस्ति स्वाध्यायादेरेव मंगलत्वाभावप्रसंगात्।

परमाप्तानुध्यानादग्रंथकारस्य नास्तिकतापरिहार-सिद्धिस्तद्वचनस्यास्तिकैरादरणीयत्वेन सर्वत्र ख्यात्युपपत्तेस्तदाध्यानं तत्सिद्धिनिबन्धनमित्यपरे।

शंका - इस प्रकार आपने पर और अपर गुरु का प्रवाह तो सिद्ध किया परन्तु उनका ध्यान श्लोकवार्तिक ग्रन्थ की सिद्धि का कारण कैसे हो सकता है? जिससे कि उनका चिन्तन श्लोकवार्तिक की रचना के पूर्व किया जाय। दूसरा प्रतिवादी (नैयायिक) कहता है कि पर और अपर गुरु का ध्यान करने से धर्म विशेष (पुण्य) की उत्पत्ति होती है, अधर्म (पाप) का विनाश होता है; उससे शास्त्र की परिसमाप्ति में आने वाले विघ्नों का उपशमन होता है और अभीष्ट शास्त्र की समाप्ति निर्विघ्न होती है। इसलिए पर और अपर गुरु का ध्यान तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की रचना की सिद्धि का कारण है। इस प्रकार कहने वाले के प्रति कोई समाधान करते हैं कि यदि पर-अपर गुरु के ध्यान से विघ्नों का नाश होता है तो उसके समान शास्त्र के प्रारम्भ में पात्रदान आदि का भी पहले आचरण करना चाहिए - क्योंकि पर-अपर गुरु के प्रवाह के ध्यान के समान पात्रदानादिक से भी पुण्य की उत्पत्ति, पाप का नाश, तद्वहेतुक विघ्नों का उपशमन आदि होता है अतः पात्रदानादि के भी शास्त्र की सिद्धि-रूप कार्य का होना बन जावेगा।

परम मंगल कार्य होने से आप्त का ध्यान करना शास्त्र की सिद्धि का कारण है; ऐसा अन्य कहते हैं। उनका यह कथन भी ऊपर के कथन के समान ही अनुपयुक्त है अर्थात् मंगल रूप होने से आप्त का ध्यान शास्त्रसिद्धि का कारण नहीं है, क्योंकि सत्पात्रदानादि के भी मंगलपना पाया जाता है। केवल जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन ही मंगल रूप है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर स्वाध्याय आदि के मंगलपने के अभाव का प्रसंग आता है।

कोई अन्य कहते हैं कि यथार्थ वक्ता गुरुओं के ध्यान से ग्रन्थकार के नास्तिकता का परिहार सिद्ध होता है, तथा आस्तिक पुरुषों के द्वारा उस ग्रन्थकार के वचन आदरणीय होने से सर्वत्र उसकी ख्याति होती है, अतः आप्त का ध्यान शास्त्र की सिद्धि का कारण है।

तदप्यसारं, श्रेयोमार्गसमर्थनादेव वक्तुर्नास्तिकतापरिहारघटनात्। तदभावे सत्यपि शास्त्रारंभे परमात्मानुध्यानवचने तदनुपपत्तेः।

“शिष्टाचारपरिपालनसाधनत्वात्तदनुध्यानवचनं तत्सिद्धिनिबन्धनमिति केचित्।” तदपि तादृशमेव। स्वाध्यायादेरेव सकलशिष्टाचारपरिपालनसाधनत्वनिर्णयात्।

ततः शास्त्रस्योत्पत्तिहेतुत्वात्-तदर्थनिर्णयसाधनत्वाच्च परापरगुरुप्रवाहस्तत्सिद्धि-निबन्धनमिति धीमद्भृतिकरम्।

सम्यग्बोध एव वक्तुः शास्त्रोत्पत्तिज्ञप्तिनिमित्तमिति चेन्न, तस्य गुरुपदेशायत्तत्वात्।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाद् गुरुपदेशस्यापायेऽपि श्रुतज्ञानस्योत्पत्तेर्न तत्तदायत्तमिति चेन्न, द्रव्यभावश्रुतस्याप्नोपदेशविरहे कस्यचिदभावात्। द्रव्यश्रुतं हि द्वादशांगं वचनात्मकमाप्नोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतं, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदहर्त्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात्

ऐसा कहना भी निस्सार है क्योंकि श्रेयोमार्ग के समर्थन से ही ग्रन्थकार के नास्तिकता का परिहार हो जाता है - क्योंकि श्रेयोमार्ग के समर्थन का अभाव होने पर परमात्मा के ध्यान करने का वचन कहने पर भी नास्तिकता का परिहार सम्भव नहीं था।

कोई अन्य वादी कहते हैं कि शिष्टाचार के परिपालन का साधन होने से शास्त्र के प्रारम्भ में आप्त गुरुओं का ध्यान शास्त्र की सिद्धि का कारण है। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह कथन भी उक्त कथन के समान निस्सार है, क्योंकि स्वाध्याय आदि से भी सकल शिष्टाचार पालन के साधनपने का निर्णय होता है। अब उक्त चारों उत्तरों में असन्तोष बतलाकर टीकाकार स्वयं उक्त शंका का समाधान करते हैं कि शास्त्र की उत्पत्ति का कारण होने से और शास्त्र के अर्थ के निर्णय का कारण होने से पर-गुरुओं और अपर-गुरुओं के प्रवाह का ध्यान शास्त्र की सिद्धि में कारण है, यह (समाधान) बुद्धिमानों को धैर्य उत्पन्न करने वाला है।

शंका - वक्ता का सम्यग् (समीचीन) ज्ञान ही शास्त्र की उत्पत्ति और उसकी जप्ति (अर्थनिर्णय) का कारण है अर्थात् वक्ता के सम्यग्ज्ञान से ही शास्त्र की उत्पत्ति और शास्त्र का ज्ञान होता है (गुरुओं के ध्यान से नहीं)। उत्तर - यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वक्ता का सम्यग्ज्ञान भी गुरु के उपदेश के आधीन है, गुरुपदेश से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। पुनः शंकाकार कहता है -

श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर गुरुपदेश के अभाव में भी श्रुतज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है अतः वक्ता का सम्यग्ज्ञान गुरु के उपदेश के आधीन नहीं है। आचार्य उत्तर देते हैं - इस प्रकार

स्वमतिश्रुतज्ञानावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमातिशयाच्चोत्पद्यमानं कथमाप्तायत्तं न भवेत्। यत्
चक्षुरादिमतिपूर्वकं श्रुतं तन्नेह प्रस्तुतं, श्रोत्रमतिपूर्वकस्य भावश्रुतस्य प्रस्तुतत्वात्तस्य
चाप्तोपदेशायत्तताप्रतिष्ठानात्परापरामप्रवाहनिबन्धन एव परापरशास्त्रप्रवाहस्तन्निबन्धनश्च
सम्यगवबोधः स्वयमभिमतशास्त्रकरणलक्षणफलसिद्धेरभ्युपाय इति।
तत्कामैराप्तस्सकलोऽप्याध्यातव्य एव। तदुक्तं-

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,

प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात् प्रबुद्धै -

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यश्रुत (शब्द) और भावश्रुत (ज्ञान) गुरु के उपदेश बिना किसी को भी प्राप्त नहीं होते। वचनात्मक द्वादशांग द्रव्यश्रुत तो आप (परम गुरु) के उपदेश रूप ही है और उस द्रव्यश्रुत का जो अर्थज्ञान है वह भावश्रुतज्ञान है। अतः ये दोनों, गणधरदेवों को भगवान् अरहन्त सर्वज्ञ के वचनातिशय से तथा अपने-अपने मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हो जाते हैं तो भावश्रुत और द्रव्यश्रुत आप के आधीन कैसे नहीं हैं? अर्थात् दोनों प्रकार का-शास्त्र और शास्त्रज्ञान परापर गुरुओं के प्रसाद से ही उत्पन्न होता है। इस पर शंकाकार कहता है कि चक्षु आदि इन्द्रियों से भी तो मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान कहा है तो कहते हैं कि उसका यहाँ प्रकरण नहीं है। यहाँ पर श्रोत्र इन्द्रियपूर्वक होने वाले, मतिज्ञान के पश्चात् होने वाले भावश्रुत का प्रकरण है और भावश्रुतज्ञान आप के उपदेश के ही आधीन प्रतिष्ठित है। अतः पर और अपर आप का प्रवाह ही इसमें कारण है। तथा परापर शास्त्र का प्रवाह भी परापर गुरु से ही चला आ रहा है, उसी से हम लोगों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति है तथा वही अभीष्ट शास्त्रों की रचना रूप फल की सिद्धि का उपाय है अतः शास्त्ररचना की इच्छा करने वाले विद्वज्जनों को प्रथम सकल (परापर) आपों (गुरुओं) का यानी सर्वज्ञदेव से लेकर अब तक के यथार्थ वक्ता श्रीगुरुओं का ध्यान - आदर, नमस्कारादि करना ही चाहिए। कहा भी है कि —

शास्त्र के प्रारम्भ में आप परमादरणीय हैं

अभीष्ट (इच्छित) फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान आपवचन कथित शास्त्र से उत्पन्न होता है और उस शास्त्र की उत्पत्ति आप (सर्वज्ञदेव गणधरदेव आदि) से होती है अतः आप के प्रसाद से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्वानों को वे गुरु ही पूजनीय होते हैं क्योंकि साधु लोग किये हुए उपकार को नहीं भूलते हैं अर्थात् आप से शास्त्र की उत्पत्ति हुई और शास्त्र से हमें सम्यग्बोध हुआ, उसमें मुख्य कारण आप होने से वह शास्त्र के प्रारम्भ में परम आदरणीय है।

ननु यथा गुरूपदेशः शास्त्रसिद्धेर्निबन्धनं तथाप्मानुध्यानकृतनास्तिकतापरिहार-शिष्टाचार-परिपालनमंगलधर्मविशेषाश्च तत्सहकारित्वाविशेषादिति चेत्।

सत्यं। केवलमाप्मानुध्यानकृता एव ते तस्य सहकारिण इति नियमो निषिध्यते, साधनान्तरकृतानामपि तेषां तत्सहकारितोपपत्तेः कदाचित्तदभावेऽपि पूर्वोपात्त-धर्मविशेषेभ्यस्तन्निष्पत्तेश्च। परापर-गुरूपदेशस्तु नैवमनियतः, शास्त्रकरणे तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वादन्यथा तदघटनात्।

ततः सूक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकप्रवचनात् पूर्व श्रेयस्तत्सिद्धिनिबन्धनत्वादिति प्रधानप्रयोजनापेक्षया नान्यथा, मंगलकरणादेरप्यनिवारणात् पात्रदानादिवत्।

शंका - जिस प्रकार परापर गुरु का उपदेश शास्त्र-रचना की सिद्धि का कारण है, उसी प्रकार आप्त के ध्यान से किये गये नास्तिकता दोष का परिहार, शिष्टाचार का परिपालन, मंगल और धर्मविशेष(पुण्य) भी शास्त्र की रचना में सहकारी कारण हैं, क्योंकि आप्त के चिन्तन और नास्तिकता के परिहार आदि में सहकारी कारण की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।

समाधान - आपका कथन सत्य है, परन्तु केवल आप्त के अनुध्यान कृत नास्तिकता परिहारादि के ही शास्त्र-रचना में सहकारी कारणपने का नियम है, इसका आपने निषेध किया है क्योंकि साधनान्तर (आप्त के अनुध्यान से भिन्न कारणों) से उत्पन्न शिष्टाचार आदि भी शास्त्र-रचना में सहकारी कारण हो सकते हैं, कदाचित् नास्तिकता के परिहार, शिष्टाचार के पालन आदि के अभाव में भी पूर्वोपाजित धर्म (पुण्य) विशेष से शास्त्ररचना आदि कार्य की निष्पत्ति देखी जाती है परन्तु पर-अपर गुरु का उपदेश तो इस प्रकार अनियत नहीं है क्योंकि शास्त्र की रचना में पर-अपर गुरु का उपदेश अवश्य अपेक्षणीय है। पर-अपर गुरु के उपदेश बिना तो शास्त्र की रचना नहीं हो सकती। अतः प्रधान प्रयोजन की अपेक्षा से न कि दूसरे प्रकार से शास्त्र की सिद्धि का कारण होने से तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रवचन के पूर्व पर-अपर गुरुओं के प्रवाह का ध्यान करना कल्याणकारी है, यह ठीक ही कहा है। पात्रदानादि के समान मंगलकरण आदि सहकारी कारणों का भी निराकरण हम नहीं करते हैं। अर्थात् ग्रन्थरचना में पात्र-दानादि अप्रधान अनियम रूप से कारण हैं और गुरुओं का ध्यान प्रधान आवश्यक कारण है।

तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक शास्त्र हैं

प्रश्न - तत्त्वार्थ (सूत्र) को, उस पर लिखे गये श्लोकवार्तिक को तथा भाष्यरूप व्याख्यान को शास्त्रपना कैसे है; जिससे इस श्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में परमेष्ठी का ध्यान किया जाये।

‘कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं, तस्य श्लोकवार्तिकं वा, तद्व्याख्यानं वा, येन तद्वारंभे परमेश्वरिणामाध्यानं विधीयते?’ इति चेत्, तल्लक्षणयोगित्वात्। वर्णात्मकं हि पदं, पदसमुदायविशेषः सूत्रं, सूत्रसमूहः प्रकरणं, प्रकरणसमितिराह्निकं, आह्निकसंघातोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम्। तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः। शास्त्राभासत्वशंकाप्यत्र न कार्याऽन्वर्थसंज्ञाकरणात्। तत्त्वार्थविषयत्वाद्धि तत्त्वार्थो ग्रन्थः प्रसिद्धो न च शास्त्राभासस्य तत्त्वार्थविषयताविरोधात्सर्वथैकांतसंभवात्।

प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव, तदर्थत्वात्। वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धं, तत्कथमन्यार्थं भवेत्। तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम्। ततोऽन्यत्र कुतः शास्त्रव्यवहार इति चेत्, तदेकदेशे

उत्तर - तत्त्वार्थसूत्र में वा श्लोकवार्तिक में वा भाष्य में शास्त्र का लक्षण घटित होता है, इसलिए यह शास्त्र है। क्योंकि वर्णात्मक पद होता है, पदों का समुदायविशेष सूत्र कहलाता है, सूत्रों का समूह प्रकरण है, प्रकरणों का समूह आह्निक है, आह्निकों का समूह अध्याय है और अध्यायों का समुदाय शास्त्र कहलाता है; यह शास्त्र का लक्षण है। यह लक्षण दश अध्यायों के समाहार रूप तत्त्वार्थ में घटित होता है इसलिए तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र है।

तत्त्वार्थ में शास्त्राभासत्व (शास्त्राभास) की शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ‘तत्त्वार्थ’ यह इसका सार्थक नाम (जैसा नाम वैसा अर्थ) है। तत्त्व करके निर्णीत किये गये जीव आदि अर्थों को विषय करने वाला होने से यह ग्रन्थ तत्त्वार्थ नाम से प्रसिद्ध है, शास्त्राभासों के तत्त्वार्थविषयता नहीं होती। सर्वथा एकान्तवाद की संभावना होने से शास्त्राभास के तत्त्वार्थविषयता का विरोध आता है। तथा ‘तत्त्वार्थ’ (सूत्र) के शास्त्रत्व की प्रसिद्धि हो जाने पर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के भी शास्त्रत्व सिद्ध हो ही जाता है क्योंकि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र के ही अर्थ का निरूपण करने वाला है। सूत्रों की अनुपपत्ति (असिद्धि) की तथा सूत्रों के अर्थ को न सिद्ध होने देने की तर्कणा करना और उसका परिहार करना वा उनके विशेष अर्थों का प्रतिपादन करना ही वार्तिक कहलाता है। अतः वार्तिक तत्त्वार्थ से पृथक् अर्थात् अन्य पदार्थ को कहने वाला कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं, इससे तत्त्वार्थ के वा श्लोकवार्तिक के व्याख्यान के भी शास्त्रपना निवेदन कर दिया गया है अर्थात् तत्त्वार्थ की व्याख्या भी शास्त्र ही है।

प्रश्न - इनसे (सूत्र, वार्तिक, व्याख्यान) भिन्न दूसरे प्रवचनों में शास्त्रपने का व्यवहार कैसे होता है?

शास्त्रत्वोपचारात् ।

यत्पुनर्द्वादशांगं

श्रुतं

तदेवंविधानेकशास्त्रसमूहरूपत्वान्महाशास्त्रमनेकस्कन्धाधारसमूहमहास्कन्धाधारवत् । येषां तु शिष्यंते शिष्याः येन तच्छास्त्रमिति शास्त्रलक्षणं, तेषामेकमपि वाक्यं शास्त्रव्यवहारभाग् भवेदन्यथाऽभिप्रेतमपि माभूदिति यथोक्तलक्षणमेव शास्त्रमेतदवबोद्धव्यं । ततस्तदारंभे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम् ।

अथवा, यद्यपूर्वार्थमिदं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकं न तदा वक्तव्यं, सतामनादेयत्वप्रसंगात्, स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षावतामनादरणीयत्वात् । पूर्वप्रसिद्धार्थं तु सुतरामेतन्न वाच्यं, पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यादिति ब्रुवाणं प्रत्येतदुच्यते । “विद्यास्पदं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकं प्रवक्ष्यामीति ।” विद्याः पूर्वाचार्यशास्त्राणि सम्यग्ज्ञानलक्षणविद्यापूर्वकत्वात्ता एवास्पदमस्येति विद्यास्पदम् । न

उत्तर - उन शास्त्रों में भी तत्त्वार्थ का एकदेश विषय होने से उनके भी उपचार से शास्त्रत्व है । जिस प्रकार अनेक स्कन्धों का आधारभूत स्कन्ध महास्कन्ध कहलाता है, उसी प्रकार अनेकविध शास्त्रों का समुदाय रूप होने से द्वादशांगश्रुत महाशास्त्र है; जिसके द्वारा शिष्य शिक्षित किये जाते हैं वा जिसके द्वारा शिष्यों पर अनुशासन किया जाता है, वह शास्त्र है, ऐसा शास्त्र का लक्षण जिनके किया जाता है, उनके तो एक वाक्य भी शास्त्र के व्यवहार को धारण करने वाला हो जाता है अर्थात् उनके एक वाक्य भी शास्त्र बन जाता है क्योंकि एक वाक्य से भी तो शिष्यों को शिक्षा मिलती है । अन्यथा विवक्षित ग्रन्थ भी शास्त्र नहीं हो सकता । अतः यथोक्त (पद, वाक्य, सूत्र, प्रकरण, आह्निक, अध्याय आदि का समूह) लक्षण वाला ही शास्त्र है, ऐसा जानना चाहिए । अतः इस श्लोकवार्तिक शास्त्र के प्रारम्भ में परापर गुरु के प्रवाह का ध्यान, चिन्तन, आदर करना उपयुक्त ही है ।

प्रस्तुत ग्रंथ की सार्थकता और प्रयोजन

यहाँ तर्क यह है कि यदि यह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अपूर्व अर्थों को व्यक्त करने वाला है तब तो (ग्रन्थकार को यह ग्रन्थ) नहीं कहना चाहिए । क्योंकि ऐसा होने पर सज्जनों के द्वारा अनादेयत्व (ग्रहण न करने योग्य) का प्रसंग आता है; क्योंकि जो स्वरुचि से विरचित ग्रन्थ है (पूर्वाचार्यों की आम्नाय के अनुसार नहीं कथित है) वह बुद्धिमानों के द्वारा अनादरणीय होता है और यदि यह श्लोकवार्तिक ग्रन्थ पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित पूर्व के प्रसिद्धार्थों का ही कथन करता है तब तो इसे सर्वथा ही नहीं कहना चाहिए क्योंकि कही हुई बात फिर कहना पिसे हुए को पीसने के समान व्यर्थ ही है । इस प्रकार तर्क करने वाले के प्रति आचार्य कहते हैं कि मैं विद्यास्पद तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक कहूँगा । पूर्वाचार्य कथित शास्त्र ही विद्या कहलाते हैं । सम्यग्ज्ञान लक्षण वाली विद्या से उत्पन्न वे शास्त्र ही इस श्लोकवार्तिक ग्रन्थ के आधार हैं और पूर्वाचार्य कथित शास्त्र ही जिसका आधार है, वह विद्यास्पद कहलाता है । पूर्वाचार्य कथित शास्त्रों का आलम्बन लिये बिना शास्त्र की रचना नहीं होती - क्योंकि पूर्वाचार्यों के कथन को छोड़कर स्वरुचि से विरचित ग्रन्थ विद्वानों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होता ।

पूर्वशास्त्रानाश्रयं, यतः स्वरुचिविरचितत्वादनादेयं प्रेक्षावतां भवेदिति यावत्। पिष्टपेषणवदव्यर्थ तथा स्यादित्यप्यचोद्यं, “आध्यायघातिसंघातघातनमिति” विशेषणेन साफल्यप्रतिपादनात्। धियः समागमो हि ध्यायः। आसमंताद्ध्यायोऽस्मादित्याध्यायं तच्च तद्घातिसंघातघातनं चेत्याध्यायघातिसंघातघातनं। यस्माच्च प्रेक्षावतां समंततः प्रज्ञासमागमो यच्च मुमुक्षून् स्वयं घातिसंघातं घ्नतः प्रयोजयति तन्निमित्तकारणत्वात्। तत्कथमफलमावेदयितुं शक्यं। प्रज्ञातिशयसकलकल्मषक्षयकरणलक्षणेन फलेन फलवत्त्वात्। कुतस्तदाध्यायघातिसंघातघातनं सिद्धं? विद्यास्पदत्वात्। यत्पुनर्न तथाविधं, न तद्विद्यास्पदं यथा पापानुष्ठानमिति समर्थयिष्यते। विद्यास्पदं कुतस्तदिति चेत्, श्रीवर्धमानत्वात्। प्रतिस्थानमविसंवादलक्षणया हि श्रिया वर्धमानं कथमविद्यास्पदं नामातिप्रसंगात्। तदेवं सप्रयोजनत्वप्रतिपादनपरमिदमादिश्लोकवाक्यं

तथा (यह आक्षेप भी ठीक नहीं है कि) पिष्टपेषण के समान यह व्यर्थ है। क्योंकि ‘आध्यायघातिसंघातघातन’ इस विशेषण से इस ग्रन्थ की सफलता का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् यह ग्रन्थ पाठक के घातिकर्म का नाशक होने से पिष्टपेषण की तरह निष्फल नहीं है। धी यानी बुद्धि का समागम ही ध्याय कहलाता है। ‘आ’ समन्तात् यानी चारों तरफ से बुद्धि का आगमन हो उसको आध्याय कहते हैं और श्लोकवार्तिक के अध्ययन से होने वाली ज्ञान की वृद्धि घातिकर्म के समूह का घात करने वाली होने से यह ग्रन्थ आध्यायघातिसंघातघातन कहलाता है। क्योंकि जिस कारण इस ग्रन्थ से बुद्धिमानों के समन्तात् अर्थात् चारों ओर से प्रज्ञा का समागम होता है और वह घातिकर्मों के समुदाय के घात करने का निमित्त होने से, स्वयं घातिकर्मों का घात करने वाले मुक्ति के इच्छुक जीवों को घातिकर्मों का घात करने के लिए प्रेरित करता है, तब इस तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ को (पिष्टपेषण के समान व्यर्थ होने से) निष्फल कैसे कह सकते हैं? नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यह ग्रन्थ प्रज्ञा के अतिशय और सर्व कल्मषों (आत्मिक विकारों) के क्षय-लक्षणफल से फलवान है अर्थात् इसके अध्ययन का फल है प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान) की वृद्धि और सर्व कल्मषों का क्षय।

प्रश्न - यह ग्रन्थ ‘घातिकर्मों के समूह का घातक है’ यह कैसे सिद्ध होता है?

उत्तर - विद्यास्पद (पूर्वाचार्यों के ज्ञान को आश्रय मान कर लिखा गया) होने से यह घातिया कर्मों के (ज्ञानावरणादि कर्मों के) समूह का घातक है। इसमें अनुमान का प्रयोग करते हैं, जो शास्त्र पुनः घातिकर्मों के संघात का घातक नहीं है, वह विद्यास्पद भी नहीं है यानी पूर्वाचार्यों के ज्ञान के आधीन भी नहीं है जैसे पाप का अनुष्ठान; इसका आगे समर्थन करेंगे।

प्रश्न - यह शास्त्र विद्यास्पद कैसे है?

उत्तर - श्री से बढ़ रहा होने के कारण यह ग्रन्थ विद्यास्पद (पूर्व ज्ञानियों के अवलम्ब से लिखा गया सिद्ध होता) है। क्योंकि प्रतिस्थान (यानी प्रत्येक स्थल पर) अविसंवाद (निर्दोष) लक्षण रूप श्री के द्वारा वर्धमान होने से यह अविद्या का स्थान (आस्पद) कैसे हो सकता है? यदि निर्दोष श्री से वर्धमान

प्रयुक्तमवगम्यते । ननु किमर्थमिदं प्रयुज्यते? श्रोतृजनानां प्रवर्तनार्थमिति चेत्, ते यदि श्रद्धानुसारिणस्तदा व्यर्थस्तत्प्रयोगस्तन्तरेणापि यथाकथंचित् तेषां शास्त्रश्रवणे प्रवर्तयितुं शक्यत्वात् । यदि प्रेक्षावंतस्ते तदा कथमप्रमाणकाद्वाक्यात्प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्त्वविरोधादिति केचित् । तदसारं । प्रयोजनवाक्यस्य सप्रमाणकत्वनिश्चयात् । प्रवचनानुमानमूलं हि शास्त्रकारास्तत्प्रथमं प्रयुज्यन्ते नान्यथा, अनादेयवचनत्वप्रसंगात् । तथाविधाच्च । ततः श्रद्धानुसारिणां प्रेक्षावतां च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते । श्रद्धानुसारिणोपि ह्यागमादेव प्रवर्तयितुं शक्याः, न यथा कथंचित् प्रवचनोपदिष्टतत्त्वे श्रद्धामनुसरतां श्रद्धानुसारित्वादन्यादृशामतिमूढमनस्कत्वात् तत्त्वार्थश्रवणेऽनधिकृतत्वादतिविपर्यस्तवत् तेषां तदनुरूपोपदेशयोग्यत्वात्

(यह ग्रन्थ) भी अविद्यास्पद माना जायेगा तो अतिप्रसंग दोष आयेगा । अतः 'श्रीवर्धमानः' यह जो प्रथम श्लोक है उसमें जो विद्यास्पद आदि विशेषण हैं वे परस्पर सप्रयोजनत्व के प्रतिपादन में प्रयुक्त किये गये हैं, ऐसा जानना चाहिए । अर्थात् जो श्री से वर्द्धमान है, वह विद्यास्पद है और जो विद्यास्पद है, वह घातिकर्मों के समूह का घातक है, इत्यादि ।

हेतु और आगम - दोनों से आदिवाक्य - मंगलाचरण की स्थिति

कोई प्रश्न करता है कि इस श्लोक के लिखने का क्या प्रयोजन है? यदि श्रोतागण की इसमें (इस ग्रन्थ में) प्रवृत्ति कराने के लिए यह लिखा गया है तो (श्रोता दो प्रकार के हैं श्रद्धालु और प्रेक्षावान्) यदि वे श्रद्धानुसारी हैं, तो उनके लिए प्रयोजन बतलाने वाले आदिश्लोक का कथन निरर्थक है । क्योंकि श्रद्धालु व्यक्ति को तो जिस किसी भी तरह शास्त्रश्रवण में प्रवृत्त कराना शक्य है । अर्थात् श्रद्धालु व्यक्ति को तो कैसे ही समझा कर के, शास्त्रश्रवण में प्रवृत्ति करा सकते हैं । और यदि श्रोता प्रेक्षावान् है, परीक्षाप्रधानी है, तो वह अप्रामाणिक वाक्य से शास्त्रश्रवण में प्रवृत्ति कैसे करेगा और यदि बिना विचारे प्रवृत्ति करेगा तो उसमें बुद्धिमत्ता कैसे रहेगी? क्योंकि बुद्धिमत्ता और यद्वा तद्वा प्रवृत्ति में परस्पर विरोध है ।

उत्तर - इस प्रकार की शंका में कोई सार नहीं है क्योंकि प्रयोजन बताने वाले आदि के वाक्य-रूप श्लोक में सप्रमाणता निश्चित है । शास्त्रकार जिस आदिवाक्य का पहले प्रयोग करते हैं वह आगम और अनुमान दोनों प्रमाणों को मूल मान कर सिद्ध होना चाहिए अन्यथा अग्राह्यपने का प्रसंग आता है । यहाँ भी आचार्य महाराज का पहला वाक्य आगम और अनुमान के आधार पर है । अतः उस वाक्य से श्रद्धा के अनुसार चलने वाले आज्ञाप्रधानियों की प्रवृत्ति होने में कोई विरोध नहीं है । श्रद्धा के अनुसार चलने वाले आज्ञाप्रधानी श्रोताओं को भी आगमानुसार ही प्रवर्तन कराना शक्य है, चाहे जिस किसी भी शास्त्र के वाक्य में विश्वास कराना ठीक नहीं ।

प्रवचन के द्वारा उपदिष्टतत्त्व में श्रद्धा का अनुसरण करने वालों के ही श्रद्धानुसारित्व पाया जाता है । विपरीत समझ वाले अतिमूढमति होने से मिथ्यादृष्टियों का तत्त्वार्थ सुनने में अधिकार नहीं है । जैसे

सिद्धमातृकोपदेशयोग्यदारकवत् । प्रेक्षावन्तः पुनरागमादनुमानाच्च प्रवर्तमानास्तत्त्वं लभन्ते, न केवलादनुमानात्प्रत्यक्षादितस्तेषामप्रवृत्तिप्रसंगात् । नापि केवलादागमादेव विरुद्धार्थमतेभ्योपि प्रवर्तमानानां प्रेक्षावत्त्वप्रसक्तेः । तदुक्तं —

“सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः ।

सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥” (समन्तभद्राचार्य)

इति । तस्मादाप्ते वक्तरि संप्रदायाव्यवच्छेदेन निश्चिते तद्वाक्यात्प्रवर्तनमागमादेव । वक्तव्यनाप्ते तु यत्तद्वाक्यात्प्रवर्तनं तदनुमानादिति विभागः साधीयान् । तदप्युक्तं ।

छोटे बच्चों को उनके अनुसार सिद्धमातृका (अ, आ, इ, ई आदि वर्णमाला का) उपदेश देना ही लाभकर है, उसी प्रकार श्रद्धानुसारी भव्य प्राणियों को उनके अनुरूप ही उपदेश देना योग्य है । परीक्षाप्रधानी तो पुनः आगम तथा अनुमान प्रमाण से प्रवचन में प्रवृत्ति करते हुए तत्त्व को प्राप्त करते हैं । उन बुद्धिमानों की प्रवचन में प्रवृत्ति केवल अनुमान से नहीं होती - क्योंकि केवल अनुमान से प्रवृत्ति मान लेने पर उनके प्रत्यक्षादि (प्रत्यक्ष, आगम, स्मरण) से अप्रवृत्ति का प्रसंग आता है - अर्थात् केवल अनुमान ज्ञान से ही शास्त्र में प्रवृत्ति होती है, ऐसा सर्वथा एकान्त स्वीकार करने पर प्रत्यक्षादि ज्ञान से प्रवृत्ति के अभाव का प्रसंग आता है । तथा केवल आगम ज्ञान से ही प्रवचन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि केवल आगम से शास्त्र में प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर अनेक विरुद्ध पदार्थों के प्रतिपादक शास्त्रों में प्रवृत्ति करने वालों में भी बुद्धिमत्ता का प्रसंग आयेगा अर्थात् अन्य मतों के पोषक ऐसे शास्त्रों (शास्त्राभासों) के बल पर विरुद्धार्थ में प्रवृत्ति करने वाले भी बुद्धिमान् कहलायेंगे । अतः केवल आगम से वा केवल अनुमान से बुद्धिमानों की प्रवृत्ति शास्त्रश्रवण में नहीं होती । देवागमस्तोत्र में कहा भी है -

“यदि सर्व पदार्थों की (वा शास्त्रकी) सिद्धि हेतु मात्र से (अनुमान से) ही मानी जावे तो प्रत्यक्षादि ज्ञान की प्रवृत्ति ही नहीं होगी अर्थात् प्रत्यक्ष, आगम आदि ज्ञान निरर्थक हो जायेंगे और यदि सर्व पदार्थों की सिद्धि आगम से ही सिद्ध की जावे तो विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वालों के मतों (सिद्धान्तों) की सिद्धि भी हो जायेगी । क्योंकि विरुद्ध का प्रतिपादन करने वाले भी अपने शास्त्र को आगम मानते ही हैं ।” इसलिए संप्रदाय के अव्यवच्छेद से वक्ता आप्त के (सर्वज्ञ के) सिद्ध हो जाने पर उसके वचनों से जो प्रवृत्ति होती है वह आगम से ही हुई प्रवृत्ति कही जाती है अर्थात् वक्ता के निर्दोष सिद्ध हो जाने पर उसके वचनों में श्रद्धा होती है और उसके वचन रूप आगम से हितकार्य में प्रवृत्ति होती है । तथा वक्ता के सत्य वक्तापना सिद्ध न होने पर उसके वचनों से जो प्रवृत्ति होती है, वह अनुमान से हुई कही जाती है । अर्थात् प्रथम उन वचनों को अनुमान ज्ञान से सिद्ध करके फिर उनमें प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार अनुमान से और आगम से जाने गए प्रमेय का भेद सिद्ध ही है ।

“वक्तव्यनामे यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितं।

आमे वक्तुरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितं॥” (समन्तभद्राचार्य)

न चैवं प्रमाणसंप्लववादविरोधः, क्वचिदुभाभ्यामागमानुमानाभ्यां प्रवर्तनस्येष्टत्वात्।
प्रवचनस्याहेतुहेतुमदात्मकत्वात्। स्वसमयप्रज्ञापकत्वस्य
तत्परिज्ञाननिबन्धनत्वादपरिज्ञाताहेतुहेतुवादागमस्य सिद्धान्तविरोधकत्वात्। तथा चाभ्यधायि।

“जो हेतुवादपरकम्पि हेतुओ आगमम्पि आगमओ।

सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविरोहओ अण्णोत्ति॥” ३/४५ सन्मत्तिसूत्रः सिद्धसेन

तत्रागममूलमिदमादिवाक्यं परापरगुरुप्रवाहमाध्याय प्रवचनस्य प्रवर्तकं
‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकं प्रवक्ष्यामीति’ वचनस्यागमपूर्वकागमार्थत्वात्। प्रामाण्यं

समन्तभद्राचार्य ने देवागमस्तोत्र में कहा भी है - “असर्वज्ञ वक्ता के होने पर उसके वचनों में हेतु से साध्य सिद्ध होने से वह हेतुसाधित (अनुमानसाधित) कहलाता है। और सर्वज्ञ वक्ता के निश्चय होने पर उसके वचनों से जो साध्य जाना जाता है वह आगमसाधित है।” इस प्रकार के कथन में प्रमाण संप्लव (बहुत से प्रमाणों का एक की सिद्धि में प्रवेश) का विरोध भी नहीं है - क्योंकि कहीं-कहीं पर अनुमान और आगम इन दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति भी इष्ट मानी गई है; प्रवचन के अहेतु तथा हेतु दोनों स्वरूप होने से; अर्थात् शास्त्र पढ़ने में दोनों प्रकार से प्रवृत्ति होती है, कोई विषय अनुमान से जाना जाता है और कोई अनुमान का विषय न होने से बिना हेतु ही आगम के बल पर स्वीकार किया जाता है। अतः स्वसमय (इन्द्रियानिन्द्रियग्राह्य विषयों से परिपूर्ण अपने सिद्धान्त) के परिज्ञान का कारण होने से अज्ञात हेतुवाद वाले आगम के सिद्धान्त का विरोधत्व है। अर्थात् हेतुओं के द्वारा अनिर्णीत तत्त्वों का निरूपण करने वाला आगम सिद्धान्त का विरोधी होने से आगम नहीं है। सो ही पूर्वाचार्यों ने कहा है -

पक्ष, दृष्टान्त, व्याप्ति और समर्थन ये हेतु के परिवार हैं। इस हेतुवाद से सिद्ध आगम ही सर्व आगमों में श्रेष्ठ आगम है और वही आगम स्व सिद्धान्तों का प्रज्ञापक (कथन करने वाला) है। और जो आगम हेतु से खण्डित है, अपने सिद्धान्त का पोषक नहीं है, वह स्वसिद्धान्त का विरोधी होने से आगम नहीं है।

अब आगम और अनुमान प्रमाण की नींव पर ‘श्रीवर्द्धमानमाध्याय’ इस आदि वाक्य की स्थिति सिद्ध करते हैं। इन दोनों मूल कारणों में प्रथम आगम को आदिवाक्य का मूलकारणपना सिद्ध करते हैं।

‘श्रीवर्द्धमानं’ इत्यादि वाक्य के मूल कारण पूर्वाचार्यों के आगम ही हैं क्योंकि ‘पर-अपर गुरुओं का ध्यान करके श्लोकवार्तिक कहूंगा’ ऐसे वचनों का प्रयोग आगमगम्य पदार्थों का आगम प्रमाण से निर्णय करने पर ही किया जाता है।

पुनरस्याभ्यस्तप्रवक्तृगुणान् प्रतिपाद्यान् प्रति स्वत एवाभ्यस्तकारणगुणान् प्रति प्रत्यक्षादिवत् । स्वयमनभ्यस्तवक्तृगुणांस्तु विनेयान् प्रति सुनिश्चितासंभवबाधकत्वादनुमानात्स्वयं प्रतिपन्नासांतरवचनाद्वा निश्चितप्रामाण्यात् । न चैवमनवस्था परस्पराश्रयदोषो वा । अभ्यस्तविषये प्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्यनिश्चयादनवस्थाया निवृत्तेः, पूर्वस्यानभ्यस्तविषयस्य परस्मादभ्यस्तविषयात्प्रमाणत्वप्रतिपत्तेः । तथानुमानमूलमेतद्वाक्यं, स्वयं स्वार्थानुमानेन निश्चितस्यार्थस्य परार्थानुमानरूपेण प्रयुक्तत्वात् ।

समर्थनापेक्षसाधनत्वाच्च प्रयोजनवाक्यं परार्थानुमानरूपमिति चेत्, न, स्वेष्टानुमानेन व्यभिचारात् । न हि तत्समर्थनापेक्षसाधनं न भवति प्रतिवादिविप्रतिपत्तौ तद्विनिवृत्तये

पुनः इस ग्रन्थ की प्रमाणता सच्चे वक्ता के गुणों को जानने का जिन श्रोताओं को अभ्यास हो चुका है ऐसे श्रोताओं के प्रति तो स्वतः ही है। अर्थात् आप के गुणज्ञ शिष्य प्रत्यक्ष में स्वतः ही अर्थात् उन ज्ञान के कारणों से ही प्रामाण्य जान लेते हैं, वा इस आगम में प्रमाणपना अपने आप सिद्ध हो जाता है प्रत्यक्षादि के समान, जैसे प्रत्यक्ष जाने हुए पदार्थों में दूसरे की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं में प्रमाण है। और जिन को वक्ता के गुणों को जानने का स्वयं अभ्यास नहीं है अर्थात् जो सर्वज्ञ के गुणों को नहीं जानते हैं उन शिष्यों के लिए सुनिश्चित असंभव बाधकत्व (यानी स्ववचन, आगम, लोक आदि बाधक प्रमाण के नहीं उत्पन्न होने का सुनिश्चय है) अनुमान से वा स्वयं निश्चित कर लिया है इस आगम के प्रामाण्य को जिन्होंने ऐसे दूसरे आपसों के वचनों से भी निश्चित प्रामाण्य होने से प्रमाणता आती है अर्थात् अभ्यस्त दशा में स्वतः और अनभ्यस्त दशा में परतः प्रमाणता होती है। इस कथन में अनवस्था और परस्पराश्रय दोष भी नहीं है। क्योंकि अभ्यस्त (परिचित) विषय में स्वतः प्रमाणता स्वीकार करने से अनवस्था दोष की निवृत्ति हो जाती है। तथा पूर्व में अनभ्यस्त (अपरिचित) विषय के प्रमाणत्व की प्रतिपत्ति (प्रमाणता) अभ्यस्त विषय वाले दूसरे से होती है। पूर्व के अनभ्यस्त (अपरिचित) विषय को जानने वाले ज्ञान का अभ्यस्त विषय को जानने वाले ज्ञानान्तर से प्रमाणपना आता है, अतः परस्पराश्रय दोष भी नहीं है।

यह 'श्रीवर्द्धमानमाध्याय' इत्यादि वाक्य अनुमानमूलक (अनुमान से भी सिद्ध) है। क्योंकि स्वयं व्याप्ति ग्रहण कर किये गये स्वार्थानुमान से निश्चित अर्थ का परार्थ अनुमान रूप से प्रयोग किया जाता है। अर्थात् जो स्वार्थानुमान से सिद्ध होता है, उसी को दूसरों को समझाने के लिए प्रयोग किया जाता है। इस ग्रन्थ में शिष्यों को समझाया गया है अतः यह अनुमान सिद्ध भी है। (विद्यानन्द स्वामी ने स्वयं व्याप्ति ग्रहण कर किये गये स्वार्थानुमान से निश्चित अर्थ को परार्थानुमानरूप बना कर प्रयोग कर दिया है।)

प्रश्न - "विद्यास्पदस्त्व" हेतु अपने समर्थन (दृष्टान्त) की अपेक्षा रखने वाला होने से परार्थानुमान नहीं है?

उत्तर - इस प्रकार कहना उचित नहीं है - क्योंकि परार्थानुमान को स्वीकार नहीं करने पर स्व अभिप्रेत अनुमान के द्वारा व्यभिचार आता है। तथा परार्थानुमान को समर्थन की अपेक्षा नहीं होती है, ऐसा नहीं है क्योंकि प्रतिवादी के विप्रतिपत्ति (विवाद) में उस विवाद की निवृत्ति करने के लिए साधन के समर्थन की

साधनसमर्थनस्यावश्यंभावित्वात्, केषांचिदसमर्थितसाधनवचने असाधनांगवचनस्येष्टेः । प्रकृतानुमानहेतोरशक्यसमर्थनत्वमपि नाशंकनीयं, तदुत्तरग्रंथेन तद्धेतोः समर्थननिश्चयात् । सकलशास्त्रव्याख्यानात्तद्धेतुसमर्थन-प्रवणान्तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकस्य प्रयोजनवत्त्वसिद्धेः ।

प्रागेवापार्थकं प्रयोजनवचनमिति चेत्, तर्हि स्वेष्टानुमाने हेत्वर्थसमर्थनप्रपञ्चाभिधानादेव साध्यार्थसिद्धेस्ततः पूर्वं हेतूपन्यासोपार्थकः किन्न भवेत् । साधनस्यानभिधाने समर्थनमनाश्रयमेवेति चेत्, प्रयोजनवत्त्वस्यावचने तत्समर्थनं कथमनाश्रयं न स्यात् । ये तु प्रतिज्ञामनभिधाय तत्साधनाय हेतूपन्यासं कुर्वाणाः साधनमभिहितमेव समर्थयन्ते ते कथं स्वस्थाः । पक्षस्य गम्यमानस्य साधनाददोष इति चेत्, प्रयोजनवत्साधनस्य गम्यमानस्य समर्थने को दोषः संभाव्यते । सर्वत्र गम्यमानस्यैव तस्य समर्थनसिद्धेः प्रयोगो न युक्तः इति चेत्, संक्षिप्तशास्त्रप्रवृत्तौ सविस्तरशास्त्रप्रवृत्तौ वा? प्रथमपक्षे

अत्यावश्यकता होती है । यदि कोई वादी बिना समर्थन किये हुए केवल साधन वचन (पंचमी विभक्त्यन्तवचन) कहते हैं - अर्थात् केवल साधन वचन कह देते हैं; उनका समर्थन नहीं करते हैं तब वह वचन 'असाधनांग' दोष दूषित है, ऐसा हमको इष्ट है ।

आध्यायघातिसंघातघातनं (चारों तरफ से बुद्धि का समागम और घातिया कर्मों के समूह का नाश) इन दोनों प्रयोजनों को अनुमान से सिद्ध करने वाले प्रकरण प्राप्त विद्यास्पदत्व हेतु का समर्थन हो ही नहीं सकता, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए - क्योंकि इस ग्रन्थ श्लोकवार्तिक के उत्तर भाग के द्वारा 'विद्यास्पदत्व' हेतु का समर्थन निश्चित है । सकल शास्त्र (सम्पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र) का व्याख्यान करने वाला तथा "विद्यास्पदत्व" हेतु का समर्थन करने में तत्पर होने से ही तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक के प्रयोजनत्व (फलवान) की सिद्धि है अर्थात् यह ग्रन्थ स्वयं हेतु का समर्थन करने वाला है, अन्यथा इस ग्रन्थ के प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती ।

ग्रंथ के प्रारम्भ में प्रयोजन का उल्लेख आवश्यक है

शंका - (बौद्ध शंकाकार कहता है कि) ग्रन्थ का पहले से ही प्रयोजन कह देना व्यर्थ है? उत्तर - यदि ऐसी शंका करोगे तो आपके अभिप्रेत अनुमान में हेतु के लिए समर्थन के प्रपञ्च (सामग्री) के कथन से ही साध्य रूप अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि हो जाने से आपके भी उसके पहले से ही हेतु का कथन करना व्यर्थ क्यों नहीं होगा? अर्थात् आपका हेतु भी व्यर्थ होगा ।

साधन के कथन बिना, समर्थन करना अनाश्रय होगा (आश्रयरहित होगा) । ऐसा भी कहना उचित नहीं है - क्योंकि ऐसा कहने पर प्रयोजन (फल बताने वाले) वचन का कथन नहीं करने पर प्रयोजन का समर्थन करना बिना अवलम्ब का क्यों नहीं हो जावेगा?

जो विद्वान् पक्ष में साध्य के रहने रूप प्रतिज्ञा को न कहकर केवल हेतु का कथन करते हुए, कहे हुए साधन का ही समर्थन करते हैं, वे स्वस्थ (ज्ञानी) कैसे हैं?

"गम्यमान (प्रकरण से जाने हुए) पक्ष का साधन से समर्थन करने में कोई दोष नहीं है" ऐसा कहोगे तो हम भी कह सकते हैं कि गम्यमान प्रयोजनवत्त्व साधन का समर्थन करने में कौनसा दोष संभावित है - अर्थात् कोई दोष नहीं है ।

न किंचिदनिष्टं, सूत्रकारेण तस्याप्रयोगात् सामर्थ्याद्रम्यमानस्यैव सूत्रसंदर्भेण समर्थनात् । द्वितीयपक्षे तु तस्याप्रयोगे प्रतिज्ञोपनयनिगमनप्रयोगविरोधः ।

प्रतिज्ञानिगमनयोरप्रयोग एवेति चेत्, तद्वत्पक्षधर्मोपसंहारस्यापि प्रयोगो मा भूत् । यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमित्युक्ते शब्दादौ सत्त्वस्य सामर्थ्याद्रम्यमानत्वात् । तस्यापि क्वचिदप्रयोगोऽभीष्ट एव “विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवल” इति वचनात् । तर्हि सविस्तरवचने गम्यमानस्यापि सिद्धः प्रयोगः, संक्षिप्तवचनप्रवृत्तावेव तस्याप्रयोगात् । ततः क्वचिद्रम्यमानं सप्रयोजनत्वसाधनमप्रयुक्तमपि सकलशास्त्रव्याख्यानेन समर्थ्यते क्वचित्प्रयुज्यमानमिति नैकांतः, स्याद्वादिनामविरोधात् । सर्वथैकांतवादिनां तु न प्रयोजनवाक्योपन्यासो युक्तस्तस्याप्रमाणत्वात् । तदागमः प्रमाणमिति चेत् ।

प्रश्न - सर्वत्र गम्यमान (बिना कहे, अर्थापत्ति से जाने गये) प्रयोजन वाक्य का समर्थन सिद्ध हो जाने से उसको सिद्ध करने के लिए क्या हेतु का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है ? उत्तर - संक्षिप्त (सूत्र रूप) से कथित शास्त्र की प्रवृत्ति में साधन के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है कि सविस्तर शास्त्र की प्रवृत्ति में ? यदि प्रथम पक्ष (संक्षिप्त शास्त्र की प्रवृत्ति में साधन के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है ऐसा) स्वीकार करते हो तो हमें कोई बाधा नहीं है (हमको इष्ट ही है) क्योंकि सामर्थ्य से गम्यमान प्रयोजन वाक्य का सूत्र के संदर्भ से समर्थन हो जाने से सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में कहीं पर भी प्रयोजनवाक्य का वचनों से प्रयोग नहीं किया है । परन्तु सविस्तर शास्त्र की प्रवृत्ति में यदि प्रयोजनवाक्य का प्रयोग नहीं किया जाता है तो उसमें प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन के प्रयोग की विधि का भी विरोध आता है ।

प्रश्न - (बौद्ध) यदि प्रतिज्ञा और निगमन का विरोध आता है, तो प्रतिज्ञा और निगमन का प्रयोग नहीं करना चाहिए ? उत्तर - यदि तुम अनुमान ज्ञान का अंग प्रतिज्ञा और निगमन नहीं मानते हो तो ‘प्रतिज्ञा और निगमन के समान पक्ष धर्म के उपसंहार (उपनय) का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए ।’ ‘जो सत् है वह सर्व क्षणिक है’ इस प्रकार के शब्दादि के उच्चारण करने पर सत्त्व हेतु के सामर्थ्य से सत्त्व के क्षणिकपने का ज्ञान हो जाने से ‘पुनः जो-जो सत्त्व होता है वह क्षणिक होता है, जैसे - विद्युत् आदि । इसमें विद्युत् आदि के द्वारा हेतु का उपसंहार क्यों किया जाता है । अर्थात् उपनय के कथन के बिना भी क्षणिकपना जाना जा सकता है ।

प्रश्न - (बौद्ध) कहीं-कहीं उपनय का भी अनुमान ज्ञान में प्रयोग नहीं करना इष्ट ही है ? क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि - ‘विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवल’ अनुमान के प्रयोग में विद्वानों के प्रति केवल हेतु का ही प्रयोग करना चाहिए ।

उत्तर - यदि विद्वानों के प्रति उपनय का कथन करना इष्ट नहीं है तो इस हेतु से सविस्तरित शास्त्र की प्रवृत्ति में गम्यमान प्रयोजन वाक्य का प्रयोग सिद्ध होता है और संक्षिप्त प्रवचन की प्रवृत्ति में उपनय के कथन का प्रयोग नहीं किया जाता है । यह हम (जैनधर्मावलम्बियों) को इष्ट ही है । अतः क्वचित् (संक्षिप्तग्रन्थ में) प्रकरण से गम्यमान (जाना हुआ) अकथित (मुख से नहीं कहे गये) सप्रयोजनत्व

सोऽपौरुषेयः पौरुषेयो वा? न तावदाद्यपक्षकक्षीकरणं “अथातो धर्मजिज्ञासा” इति प्रयोजनवाक्यस्यापौरुषेयत्वासिद्धेः। स्वरूपेऽर्थे तस्य प्रामाण्यानिष्टेश्चान्यथातिप्रसंगात्। पौरुषेय एवागमः प्रयोजनवाक्यमिति चेत्। कुतोऽस्य प्रामाण्यनिश्चयः। स्वत एवेति चेत्, न, स्वतः प्रामाण्यैकांतस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। परत एवागमस्य प्रामाण्यमित्यन्ये, तेषामपि नेदं प्रमाणं सिद्धयति। परतः प्रामाण्यस्याऽनवस्थादिदोषदूषितत्वेन प्रतिक्षेप्यमानत्वात् प्रतीतिविरोधात्।

साधन वाक्य का भी सकल शास्त्र के व्याख्यान द्वारा समर्थन किया जाता है और कहीं पर प्रयोजनवाक्य का कथन करके समर्थन किया जाता है। अतः एकान्त नहीं है कि उक्त प्रयोजन वाक्य का समर्थन किया जाय, अनुक्त का नहीं। इस अनेकान्तवाद के कथन में स्याद्वादियों का विरोध नहीं है। (एकान्त में ही विरोध है।)

परवादियों के यहाँ प्रयोजन-वाक्य की असिद्धि

प्रयोजनवाक्य को अप्रमाण मानने से सर्वथा एकान्तवादी बौद्ध, मीमांसक, नैयायिक आदि के शास्त्रों में प्रयोजन-वाक्य का कथन करना युक्त नहीं है।

प्रश्न - प्रयोजन कहने वाले वचन को हम आगम प्रमाण मानते हैं? **उत्तर -** यदि आप प्रयोजन कहने वाले वचन को आगम से प्रमाण मानते हैं तो वह आपका आगम अपुरुषकृत है कि पौरुषेय है (पुरुष का बनाया हुआ है?) इनमें आदिपक्ष स्वीकार करना तो कि “आगम किसी पुरुष विशेष का बनाया हुआ नहीं है” उचित नहीं है क्योंकि मीमांसा दर्शन में ‘अथातो धर्मजिज्ञासा’ यहाँ से धर्म जानने की इच्छा हुई यह सूत्र है। इसमें ‘अथ’ शब्द है - वह प्रयोजनवाक्य के अपौरुषेयत्व की असिद्धि का सूचक है अर्थात् अनादि वस्तु में ‘अथ’ शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। उन मीमांसकों की स्वरूप अर्थ में (अद्वैतस्वरूप अर्थ के अस्तित्व के सूचक) प्रयोजन को कहने वाले वाक्यों में ही प्रमाणता इष्ट नहीं है, क्योंकि अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् मीमांसक कर्मकाण्ड के प्रतिपादक वेदवाक्यों के सिवाय दूसरों को प्रमाण नहीं मानते हैं और अपौरुषेय भी नहीं मानते हैं। यदि और वाक्यों को भी प्रमाण मानेंगे तो सब वेदवाक्यों में प्रमाणता सिद्ध हो जायेगी अर्थात् अद्वैतवाद-सर्वज्ञवाद भी सिद्ध हो जायेगा।

यदि पुरुषकृत आगम से प्रयोजनवाक्य को प्रमाण मानते हो तो उस पुरुषकृत आगम में प्रमाणता का निश्चय किस से होता है? ‘स्वतः ही आगम की प्रमाणता का निश्चय होता है’ ऐसा तो कह नहीं सकते क्योंकि स्वतः प्रमाण के एकान्त का हम आगे निराकरण करेंगे। यदि प्रयोजनवाक्यों का कथन करने वाले पुरुषकृत आगम को पर से प्रमाण मानते हैं तो भी उनके प्रमाणसिद्धता नहीं हो सकती क्योंकि परतः प्रामाण्य के, अनवस्था-परस्पराश्रय-चक्रक आदि दोषों से दूषित होने से खण्डित होने और प्रतीति के विरुद्ध होने से प्रमाणता सिद्ध नहीं है।

परार्थानुमानमादौ प्रयोजनवचनमित्यपरे । तेऽपि न युक्तिवादिनः,
साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तौ तर्कस्य प्रमाणस्यानभ्युपगमात् । प्रत्यक्षस्यानुमानस्य वा
तत्रासमर्थत्वेन साधयिष्यमाणत्वात् । ये त्वप्रमाणकादेव विकल्पज्ञानात्तयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिमाहुस्तेषां
प्रत्यक्षानुमानप्रमाणत्वसमर्थनमनर्थकमेव, अप्रमाणादेव प्रत्यक्षानुमेयार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात् । ततो न
प्रयोजनवाक्यं स्याद्वादविद्विषां किञ्चित्प्रमाणं प्रमाणादिव्यवस्थानासंभवाच्च न तेषां तत्प्रमाणमिति
शास्त्रप्रणयनमेवासंभवि विभाव्यतां, किं पुनः प्रयोजनवाक्योपन्यसनं ? श्रद्धाकुतूहलोत्पादनार्थं

अर्थात् पुरुषकृत आगम की प्रमाणता एकान्तवादियों के न तो स्वतः सिद्ध है और न परतः ।
कोई (वैशेषिक) कहते हैं कि श्लोकवार्तिकग्रन्थ के प्रारम्भ में कथित विद्यास्पद हेतु से सज्ज्ञान की प्राप्ति
और कर्मों के नाश रूप साध्य का ज्ञान कराने वाला, प्रयोजन का प्रतिपादक वाक्य परार्थानुमान है ।
परन्तु उनका यह कथन युक्तिसिद्ध नहीं है अर्थात् ऐसा कहने वाले युक्तिवादी नहीं हैं क्योंकि साध्य और
साधन की व्याप्ति को ग्रहण करने में तर्कज्ञान को स्वीकार न करने से उस प्रयोजनवाक्य में प्रत्यक्ष एवं
अनुमान ज्ञान का समर्थन नहीं होता । उसका हम आगे खण्डन करेंगे । अर्थात् जो साध्य-साधन के व्याप्ति
ज्ञान को ग्रहण करने वाले तर्कज्ञान को नहीं मानते हैं उनके प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान में भी प्रमाणता
नहीं आ सकती ।

जो (बौद्ध) अप्रमाणभूत (साध्य और साधन के साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं रखने वाले)
सविकल्प व्याप्तिज्ञान से साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं उनके
प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के प्रमाणत्व का समर्थन करना व्यर्थ होता है क्योंकि जैसे अप्रामाणिक तर्कज्ञान
से साध्य-साधन में अविनाभाव का ज्ञान सिद्ध होता है, उसी प्रकार अप्रामाणिक प्रत्यक्ष एवं अनुमान
ज्ञान के द्वारा भी अनुमेय एवं प्रत्यक्ष पदार्थ के जानने का प्रसंग आयेगा । अतः प्रमाण आदि की व्यवस्था
की असंभवता होने से स्याद्वाद सिद्धान्त से द्वेष करने वालों (बौद्ध, मीमांसकादि) के प्रयोजनवाक्य
'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः' किसी भी प्रकार से प्रमाण रूप नहीं है तथा उन स्याद्वाद
सिद्धान्त से द्वेष करने के कारण प्रमाण प्रमेय आदि पदार्थ की सिद्धि न होने से प्रयोजन वाक्य भी प्रमाण
नहीं है अतः ऐसी अवस्था में शास्त्र की रचना ही असंभव है तो प्रयोजनवाक्य के कथन की तो बात
ही क्या, अर्थात् शास्त्र की रचना ही नहीं हो सकती, प्रयोजन का कथन तो दूर रहा ।

'शिष्यों को शास्त्र के प्रति श्रद्धा एवं कौतुक उत्पन्न कराने के लिए ग्रन्थ की आदि में प्रयोजन
वाक्य का प्रयोग किया जाता है' ऐसा कहने वालों का भी पूर्वोक्त कथन से खण्डन हो जाता है - क्योंकि
प्रयोजन वाक्य के प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व इन दोनों पक्षों में से किसी भी पक्ष को स्वीकार करने
पर प्रयोजनवाक्य में श्रद्धा एवं कौतुक का उत्पादकपना नहीं बन सकता है ।

तदित्येके। तदप्यनेनैव निरस्तं, तस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपक्षयोस्तदुत्पादकत्वायोगात्। अर्थसंशयोत्पादनार्थं तदित्यप्यसारं, कचिदर्थसंशयात् प्रवृत्तौ प्रमाणव्यवस्थापनानर्थक्यात्। प्रमाणपूर्वकोर्थसंशयः प्रवर्तक इति प्रमाणव्यवस्थापनस्य साफल्ये कथमप्रमाणकात् प्रयोजनवाक्यादुपजातोर्थसंशयः। प्रवृत्त्यंगं विरुद्धं च संशयफलस्य प्रमाणत्वं विपर्यासफलवत्, स्वार्थव्यवसायफलस्यैव ज्ञानस्य प्रमाणत्वप्रसिद्धेः। ये त्वाहुर्यन्निष्प्रयोजनं तन्नारंभणीयं यथा काकदंतपरीक्षाशास्त्रं निष्प्रयोजनं चेदं शास्त्रमिति। व्यापकानुपलब्ध्या प्रत्यवतिष्ठमानात्प्रतिव्यापकानुपलब्धेरसिद्धतोद्भावनार्थं प्रयोजनवाक्यमिति। तेषां न परीक्षकाः। स्वयमप्रमाणकेन वाक्येन तदसिद्धतोद्भावनाऽसंभवात्, तत्प्रमाणत्वस्य परैर्व्यवस्थापयितुमशक्तेः।

“वाच्यार्थ (प्रयोजन) में संशय उत्पन्न करने के लिए आचार्य ने शास्त्र की आदि में प्रयोजनवाक्य का कथन किया है” ऐसा भी कहना निस्सार है - क्योंकि अर्थ के संशय से ही कहीं शास्त्र में प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था मानना व्यर्थ हो जायेगा।

“प्रमाणपूर्वक (प्रामाणिक) ज्ञान से उत्पन्न अर्थ संशयगत वाक्य में प्रवृत्ति कराता है” ऐसा प्रतिपादन भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाणव्यवस्था की सफलता में अप्रामाणिक प्रयोजनवाक्य से उत्पन्न अर्थसंशय प्रयोजन वाक्य की प्रवृत्ति का कारण कैसे हो सकता है। अपना और अपने अर्थ-विषय के निश्चय रूप फल को करने वाले ज्ञान की ही प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर विपरीत फल वाले (विपरीत) ज्ञान की तरह संशय फल वाले (सांशयिक) ज्ञान के प्रमाणता मानना विरुद्ध है - अर्थात् जिस प्रकार विपरीत ज्ञान प्रामाणिक नहीं है, उसी प्रकार संशय ज्ञान भी प्रमाणभूत नहीं है।

प्रश्न - जिस प्रकार काकदन्त की परीक्षा करने वाला शास्त्र निष्प्रयोजनीय होने से अनारंभणीय (प्रारम्भ करने योग्य नहीं) है, उसी प्रकार यह श्लोकवार्तिकशास्त्र भी निष्प्रयोजनीय होने से अनारम्भणीय है। क्योंकि व्यापकानुपलब्धि के द्वारा (इसमें व्यापक की अनुपलब्धि है इस प्रकार के कथन द्वारा) प्रत्यवतिष्ठमानों (इसमें प्रयोजन की सिद्धिका ज्ञान न होने से यह शास्त्र आरम्भ करने योग्य नहीं है, ऐसा कहने वालों) के प्रति व्यापकानुपलब्धि से असिद्धता का उद्भावन करने के लिए प्रयोजनवाक्य कहा गया है - अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि नहीं होने से ग्रंथ के आरंभ में प्रयोजनवाक्य भी नहीं कहना चाहिए ऐसा कहने वालों के प्रति प्रयोजन के नहीं होने की असिद्धि को प्रकट करने के लिए प्रयोजनवाक्य कहा गया है; ऐसा जो कहते हैं, उनके प्रति आचार्य कहते हैं-

उत्तर - ऐसा कहने वाले भी परीक्षक नहीं हैं क्योंकि स्वयं अप्रमाणभूत प्रयोजनवाक्य के द्वारा जातिवाद दोष उठाने वालों के प्रति असिद्धता का उद्भावन असंभव है (अर्थात् अप्रामाणिक प्रयोजनवाक्य से जातिवादी के उठाये हुए दोष की असिद्धि कैसे हो सकती हैं?) तथा अभी तक प्रयोजन वाक्य की प्रमाणता को व्यवस्थित करने के लिए स्याद्वाद के विरोधी समर्थ नहीं हैं।

सकलशास्त्रार्थोद्देशकरणाथमादिवाक्यमित्यपि फलप्राप्यं, तदुद्देशस्याप्रमाणात् प्रतिपत्तुमशक्तेस्तल्लक्षणपरीक्षावत् । ततो नोद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिविधा व्याख्या व्यवतिष्ठते । समासतोऽर्थप्रतिपत्त्यर्थमादिवाक्यं, व्यासतस्तदुत्तरशास्त्रमित्यप्यनेनैव प्रतिक्रियामप्रमाणाद्व्यासत इव समासतोऽर्थप्रतिपत्तेरयोगात् । स्याद्वादिनां तु सर्वमनवद्यं तस्यागमानुमानरूपत्वसमर्थनादित्यलं प्रसंगेन ।

ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तुविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित् प्रतिपित्सायामसत्यामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह —

“सम्पूर्ण शास्त्र के प्रतिपाद्य-विषय का संक्षेप से नाम मात्र कथन करने के लिए आदिवाक्य लिखा जाता है” इस प्रकार कहना भी प्रायः व्यर्थ ही है- क्योंकि जैसे अप्रमाणभूत वाक्य से किसी वस्तु का लक्षण और परीक्षा नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार अप्रामाणिक वाक्य से संक्षिप्त अर्थ के कथन का निर्णय करना भी अशक्य है । अर्थात् उद्देश्य, लक्षण-निर्देश और परीक्षा तो प्रामाणिक वाक्य से ही करना सब दार्शनिकों को इष्ट है । अतः प्रमाणता के निर्णय के बिना उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा इस प्रकार तीन प्रकार से व्याख्या करना व्यवस्थित नहीं हो सकता है ।

“संक्षेप से अर्थ का ज्ञान कराने के लिए ‘श्रीवर्द्धमानं’ इत्यादि आदिवाक्य है, तथा विस्तार रूप से अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) कराने के लिए उत्तरशास्त्र (पूरा ग्रंथ) है,” इस प्रकार कहने वाले का भी पूर्वोक्त कथन से खण्डन हो जाता है । क्योंकि जैसे अप्रामाणिक ज्ञान से विस्तार रूप (पूर्ण) ग्रन्थ के अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही अप्रमाणभूत प्रथम वाक्य के द्वारा संक्षेप से भी पदार्थ का निर्णय नहीं हो सकता ।

स्याद्वाद सिद्धान्त के मानने वाले जैनधर्मावलम्बियों के तो सर्व पूर्वोक्त कथन निर्दोष सिद्ध हैं, क्योंकि इनके सिद्धान्त में आदि के प्रयोजन वाक्य ‘श्रीवर्द्धमानं’ के आगम एवं अनुमान रूपत्व का सम्यक् प्रकार से समर्थन किया गया है, अधिक विस्तार-कथन से क्या प्रयोजन है ।

तत्त्वार्थसूत्र की प्रामाणिकता

शंका - तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक के प्रयोजनवाक्य की प्रमाणता तो तब सिद्ध होगी, जब तत्त्वार्थ सूत्र की प्रमाणता सिद्ध होगी । अभी तो तत्त्वार्थशास्त्र का आदिसूत्र (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रिणि मोक्षमार्गः) ही सिद्ध नहीं है, क्योंकि विशिष्ट वक्ता तथा किसी विशिष्ट शिष्य के सुनने की इच्छा के अभाव में ही इस सूत्र की रचना हुई है । अर्थात् विशिष्ट वक्ता के द्वारा श्रद्धापूर्वक सुनने वाले प्रगाढ़ शिष्य की इच्छा होने पर जो वचन बोला जाता है वही प्रमाणभूत होता है । इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के आदिवाक्य की अनुपपत्ति की शंका करने वाले को आचार्य उत्तर देते हैं ।

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात् प्रक्षीणकल्मषे ।

सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥२॥

सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।

श्रेयसा धोक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥३॥

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यं । सिद्धे प्रणेतरि मोक्षमार्गस्य प्रकाशकं वचनं प्रवृत्तं तत्कार्यत्वादित्यथा प्रणेतृव्यापारानपेक्षत्वप्रसंगात् तदव्यंग्यत्वात्तत्तदपेक्षमिति चेत् । न । कूटस्थस्य सर्वथाभिव्यंग्यत्वविरोधात्तदभिव्यक्तेरव्यवस्थितेः । सा हि यदि वचनस्य संस्काराधानं तदा ततो भिन्नोऽन्यो वा संस्कारः प्रणेतृव्यापारेणाधीयते, यद्यभिन्नस्तदा वचनमेव तेनाधीयत इति कथं कूटस्थं नाम । भिन्नश्चेत्पूर्ववत् तस्य सर्वदाप्यश्रवणप्रसंगः । प्राक् पश्चाद्वा श्रवणानुषंगः

साक्षात् जान लिया है संपूर्ण तत्त्वार्थ को जिन्होंने (सर्वज्ञ), नष्ट कर दिया है ज्ञानावरणादिघातिया कर्मों को जिन्होंने, (वीतरागी) मुनियों (गणधरों) के द्वारा संस्तुत, मोक्षमार्ग के नेता (हितोपदेशी) जिनेन्द्र के सिद्ध हो जाने पर (मंगलाचरण में 'मोक्षमार्गस्य' इत्यादि वाक्य से वक्ता की सिद्धि हो जाने पर) ही उमास्वामी आचार्य ने कल्याण से भविष्य काल में युक्त (परिणत) होने वाले उपयोगात्मक शिष्य की मोक्षमार्ग को जानने की तीव्राभिलाषा होने पर "सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः" इस प्रथम सूत्र की रचना की है ॥२-३॥ इससे यह तात्पर्य निकला कि मोक्षमार्ग के प्रणेता सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर ही मोक्षमार्गप्रणेता का कार्य होने से मोक्षमार्ग के प्रकाशक वचनों की प्रवृत्ति हुई है । अन्यथा, यदि वचन का कारण वक्ता को नहीं माना जायेगा तो प्रणेता (वक्ता) के कण्ठ तालु आदि व्यापार की अनपेक्षा का प्रसंग आयेगा ।

शब्द-नित्यवाद का खण्डन

शंका - शब्द वक्ता के व्यापार से उत्पन्न नहीं हैं - अपितु पूर्व में ही स्वतः विद्यमान शब्द वक्ता के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं - अतः वक्ता के तालु, कण्ठ आदि के व्यापार की शब्द में अपेक्षा नहीं है ।

उत्तर - वक्ता के व्यापार से रहित शब्द की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है क्योंकि सर्वथा (एकान्ततः) अपरिणामी कूटस्थ नित्य शब्द के अभिव्यक्ति का विरोध आता है अतः कूटस्थ शब्द की अभिव्यक्ति की व्यवस्था ही नहीं बन सकती । अर्थात् कूटस्थ अपरिणामी का परिणमन नहीं हो सकता । अथवा उस अभिव्यक्ति का अर्थ क्या है - यदि कहो कि तालु आदि व्यापार के द्वारा वर्तमान में कुछ संस्कार धारण करा देना ही अभिव्यक्ति है तो वे प्रणेता के व्यापार से किये गये संस्कार शब्द से भिन्न हैं कि अभिन्न हैं? यदि शब्द से अभिन्न संस्कार प्रणेता के व्यापार से उत्पन्न होते हैं, वक्ता के व्यापार ने शब्द ही उत्पन्न किया अतः शब्द कूटस्थ नित्य कैसे हो सकते हैं? यदि कहो कि संस्काररूप शब्दों की अभिव्यक्ति शब्द से भिन्न है तो जैसे वक्ता के व्यापार से अभिव्यक्त संस्कार के पूर्व शब्द श्रवणगोचर

स्वस्वभावापरित्यागात्। संस्काराधानकाले प्राच्याश्रावणत्वस्वभावस्य परित्यागे
श्रावणस्वभावोपादाने च शब्दस्य परिणामित्वसिद्धिः,
पूर्वापरस्वभावपरिहारावामिस्थितिलक्षणत्वात्परिणामित्वस्य। तथा च वचनस्य
किमभिव्यक्तिपक्षकक्षीकरणेन, उत्पत्तिपक्षस्यैव सुघटत्वात्। शब्दाद्विभक्तोऽभिन्नश्च संस्कारः
प्रणेतृव्यापारेणाधीयत इति चेत्। न। सर्वथा भेदाभेदयोरेकव्यविरोधात्। यदि पुनः कथंचिदभिन्नो
भिन्नश्च शब्दात् संस्कारस्तस्य तेनाधीयत इति मतं, तदा स्यात्पौरुषेयं
तत्त्वार्थशासनमित्यायातमर्हन्मत्।

ननु च वर्णसंस्कारोऽभिव्यक्तिस्तदावारकवाट्वपनयनं घटाद्यावारकतमोपनयन-
वतिरोभावश्च तदावारकोत्पत्तिर्न चान्योत्पत्तिविनाशौ शब्दस्य तिरोभावाविर्भावौ कौटस्थ्यविरोधिनी
येन परमतप्रसिद्धिरिति चेत् तर्हि किं कुर्वन्नावारकः शब्दस्य वायुरुपेयते? न तावत्स्वरूपं

नहीं होते थे, उसी प्रकार सर्वकाल में ही उन शब्दों के अश्रवण का प्रसंग आयेगा अर्थात् सर्वथा
संस्कारभिन्न होने से कभी भी सुनाई नहीं देंगे। अथवा स्व-स्वभाव का अपरित्याग होने से वर्तमान के
समान उन शब्दों को भूत और भविष्यत्काल में भी सुनने का प्रसंग आएगा। अर्थात् संस्कार से सर्वथा
भिन्न शब्द हैं तो उनका हमेशा अस्तित्व होने से वक्ता के व्यापार के बिना भी वे श्रवणगोचर होते रहेंगे।

यदि कहो कि संस्कारों के धारण करते समय शब्द पूर्व की अश्रावण (सुनाई नहीं देने योग्य)
अवस्था का त्याग कर श्रवणगोचर अवस्था का वर्तमान में धारण करता है तो शब्द के परिणामीपना
सिद्ध होता है। क्योंकि पूर्व अवस्था (पर्याय) का छोड़ना, उत्तर स्वभाव (पर्याय) को ग्रहण करना और
मूलभूत द्रव्य स्वभाव का अवस्थित रहना ही परिणामित्व का लक्षण है। तथा 'च' शब्द की अभिव्यक्ति
के पक्ष को स्वीकार करने से क्या लाभ है - वक्ता के व्यापार से शब्द की उत्पत्ति ही सुघट है। अर्थात्
वक्ता के व्यापार से ही शब्द की उत्पत्ति माननी चाहिए।

प्रश्न- वक्ता के व्यापार से होने वाले संस्कार शब्द से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। उत्तर-
ऐसा कथन करना उचित नहीं है क्योंकि सर्वथा भेद और अभेद मानने पर शब्द और संस्कार में एकत्व
का विरोध आता है। अर्थात् भेद और अभेद में एकपना नहीं हो सकता। यदि वक्ता के व्यापार से
उत्पन्न हुआ शब्द-संस्कार शब्द से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है, ऐसा मानते हो तो
“तत्त्वार्थ शास्त्र भी कथंचित् (पद, वाक्य आदि की अपेक्षा) पुरुषकृत है” इससे अर्हन्मत की सिद्धि
होती है। शंकाकार (मीमांसक) कहता है कि जैसे घटादि के आवारक (आच्छादक) अन्धकार के दूर
हो जाने पर घट की अभिव्यक्ति होती है, इससे घट का उत्पाद और विनाश नहीं है, उसी प्रकार शब्द
को आवृत करने वाली वायु का दूर हो जाना ही शब्द का संस्कार है और वे वर्ण संस्कार ही शब्द
की अभिव्यक्ति हैं तथा शब्द के आवरण की उत्पत्ति ही शब्द का तिरोभाव है अतः शब्द से भिन्न
आवारक वायु की उत्पत्ति शब्द का तिरोभाव (आवरण) और आवारक वायु का विनाश, शब्द का

खंडयन्निवैकांतत्वविरोधात्। तदुद्धिं प्रतिघ्नन्निति चेत्, तत्प्रतिघाते शब्दस्योपलभ्यता प्रतिहन्यते वा न वा? प्रतिहन्यते चेत् सा शब्दादभिन्ना प्रतिहन्यते न पुनः शब्द इति प्रलापमात्रं। ततोऽसौ भिन्नैवेति चेत्, सर्वदानुपलभ्यतास्वभावः शब्दः स्यात्। तत्संबंधादुपलभ्यः स इति चेत् कस्तया तस्य संबंधः।

धर्मधर्मिभाव इति चेत्, नात्यंतं भिन्नयोस्तयोस्तद्भावविरोधात्। भेदाभेदोपगमादविरुद्धस्तद्भाव इति चेत्, तर्हि येनांशेनाभिन्नोपलभ्यता ततः प्रतिहन्यते तेन शब्दोऽपीति नैकांतनित्योऽसौ। द्वितीयविकल्पे सत्यप्यावारके शब्दस्योपलब्धिप्रसंगस्तदुपलभ्यतायाः प्रतिघाताभावात्। तथा च न तदुद्धिप्रतिघाती

आविर्भाव, शब्द के कूटस्थ अपरिणामित्व का विरोधी नहीं होने से मीमांसक दर्शन की सिद्धि होती है। आचार्य कहते हैं कि - वायु क्या करती हुई शब्द का आवरण करती है? (स्वरूप का घात करती हुई कि शब्द का प्रतिबन्ध करती हुई?) यदि आवारक वायु शब्द के स्वरूप का घात कर देती है तो शब्द के एकान्त से कूटस्थ नित्यपने का विरोध आता है अर्थात् शब्द का स्वरूप सर्वथा नष्ट हो जाने पर शब्द कूटस्थ नित्य नहीं रह सकता। वायु, शब्द के स्वरूप की घातक तो है नहीं। यदि शब्द का आवरण करने वाली वायु शब्द के ज्ञान की प्रतिबन्धक है तो शब्दज्ञान के प्रतिघात के समय शब्द की उपलभ्यता का घात होता है कि नहीं? यदि शब्द की उपलभ्यता रूप स्वभाव का नाश होता है तो उपलभ्यता से अभिन्न होने से 'वायु के द्वारा शब्द की जानने की योग्यता (उपलभ्यता) का घात होता है, शब्द का नहीं' ऐसा कहना प्रलाप मात्र है। यदि कहो कि शब्द से शब्द की योग्यता भिन्न ही है तो शब्द का स्वभाव सर्वदा ज्ञान से नहीं जानने योग्य ही रहेगा।

यदि कहो कि भिन्न उपलभ्यता का शब्द के साथ संबंध होने से शब्द उपलभ्य (ज्ञान का विषय) हो जायेगा तो वह सम्बन्ध कौन सा है? धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि अत्यन्त भिन्न शब्दरूप धर्मी और उपलभ्यता रूप धर्म में तद्भाव (वह उसका भाव है ऐसे कथन) का विरोध आता है। यदि कहो कि भेद और अभेद इन दोनों पक्षों को स्वीकार करने पर अविरुद्ध होने से तद्भाव उनमें सिद्ध होगा तो अभेद पक्ष में जिस अंश से अभिन्न उपलभ्यता का उस वायु के द्वारा नाश होगा, उस स्वभावपने से तो शब्द का भी नाश हो ही जायेगा, ऐसी दशा में शब्द एकान्त रूप से नित्य कैसे माना जा सकता है? अर्थात् शब्द एकान्त रूप से नित्य नहीं है। तथा शब्द से सर्वथा भिन्न और उपलभ्यता के आवारक वायु के द्वारा उसका नाश होता है, यह भी सिद्ध नहीं होता।

यदि द्वितीय विकल्प (वायु के द्वारा शब्द की उपलभ्यता का नाश नहीं होता है इस विकल्प) को स्वीकार करते हो तो "शब्द की उपलभ्यता के प्रतिघात का अभाव होने से आवरण करने वाली

कश्चिदावारकः कूटस्थस्य युक्तो यतस्तदपनयनमभिव्यक्तिः सिद्ध्येत्। एतेन शब्दस्योपलब्ध्युत्पत्तिरभिव्यक्तिरिति ब्रुवन् प्रतिक्षिप्तः, तस्यां तदुपलभ्यतोत्पत्त्यनुत्पत्त्योः शब्दस्योत्पत्त्यप्रतिपत्तिप्रसंगात्। न हि शब्दस्योपलब्धेरुत्पत्तौ तदभिन्नोपलभ्यतोत्पद्यते न पुनः शब्द इति ब्रुवाणः स्वस्थः, तस्याः ततो भेदे सदानुपलभ्यस्वभावतापत्तेर्धर्मधर्मिभावसंबंधायोगात्तत्संबंधादप्युपलभ्यत्वासंभवात्। भेदाभेदोपगमे कथंचिदुत्पत्तिप्रसिद्धेरेकांतनित्यताविरोधात्। शब्दस्योपलब्ध्युत्पत्तावप्युपलभ्यतानुत्पत्तौ।

वायु के होने पर भी शब्द की उपलब्धि का प्रसंग आयेगा तथा च (ऐसा होने पर) 'शब्दज्ञान को नष्ट करने वाला कोई विशिष्ट वायु कूटस्थ नित्य शब्द का आवरण करने वाला है।' यह भी युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता। जिससे कि शब्द के आवारक वायु को दूर करने रूप शब्द की अभिव्यक्ति सिद्ध कर सके। अर्थात् वायु के अपनयन से शब्द की अभिव्यक्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती। तथा इस हेतु से 'शब्द की उपलब्धि की उत्पत्ति ही शब्द की अभिव्यक्ति है' इस प्रकार कहने वालों का भी निराकरण कर दिया गया है क्योंकि शब्द की उपलब्धि की उत्पत्ति में यदि शब्द के उपलभ्यता स्वभाव का उत्पाद होगा तो उपलभ्यता से अभिन्न शब्द के उत्पाद का तथा शब्द में उपलभ्यता की उत्पत्ति नहीं मानने पर शब्दज्ञान के अभाव का प्रसंग आयेगा। जो शब्द की उपलब्धि की उत्पत्ति में शब्द से अभिन्न उपलभ्यता की उत्पत्ति को तो मानता है परन्तु शब्द की उत्पत्ति को नहीं मानता है ऐसा कहने वाला (यानी ऐसी युक्तिरहित बात करने वाला व्यक्ति) स्वस्थ नहीं है।

शब्द की उपलब्धि को शब्द से सर्वथा भिन्न मान लेने पर धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध का सर्वथा अयोग (अभाव) होने से शब्द की सदा अनुपलभ्य-स्वभावता बनी रहेगी। अर्थात् शब्द का कभी भी आविर्भाव नहीं होगा। शब्द की उपलभ्यता की असंभवता होने से भेदाभेद (कथंचित् शब्द से, शब्द की उपलब्धि भिन्न है और कथंचित् अभिन्न) पक्ष को स्वीकार कर लेने पर तो कथंचित् शब्द की उत्पत्ति सिद्ध हो जाने से "सर्वदा सर्वथा शब्द नित्य कूटस्थ एवं अपरिणामी है" इस कथन में विरोध आता है। तथा शब्द की उपलब्धि की उत्पत्ति होने पर भी यदि शब्द के उपलभ्यता की उत्पत्ति नहीं होगी तो शब्द का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। अतः मीमांसक मत में शब्द की उपलब्धि की उत्पत्ति रूप अभिव्यक्ति मानना निरर्थक है।

स्यादप्रतिपत्तिरिति व्यर्थाभिव्यक्तिः। श्रोत्रसंस्कारोऽभिव्यक्तिरित्यन्ये; तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयनं संस्कारः; शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा। तदा तद्भावे तस्योपलभ्यतोत्पत्त्यनुत्पत्त्योः स एव दोषः। तदुभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिरित्ययं पक्षोऽनेनैव प्रतिक्षेप्यः प्रवाहनित्यतोपगमादभिधानस्याभिव्यक्तौ नोक्तो दोष इति चेत् न, पुरुषव्यापारात् प्राक् तत्प्रवाहसद्भावे प्रमाणाभावात्। प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमिति चेत्, तत्सादृश्यनिबन्धनमेकत्वनिबन्धनं वा? न तावदाद्यः पक्षः सादृश्यनिबन्धनात्प्रत्यभिज्ञानादेकशब्दप्रवाहासिद्धेः। द्वितीयपक्षे तु कुतस्तदेकत्वनिबन्धनत्वसिद्धिः।

‘कर्णेन्द्रिय का संस्कार हो जाना ही नित्य व्यापक शब्द की अभिव्यक्ति है’ ऐसा कोई (मीमांसक) कहते हैं। उनके भी कर्णों को सुनाई देने में आवरण करने वाले आवारकों का दूर करना श्रोत्र इन्द्रिय का संस्कार है? या शब्द के ग्रहण करने की योग्यता का उत्पन्न हो जाना कर्णेन्द्रिय का संस्कार है? इन दोनों पक्षों में भी जब कर्णेन्द्रिय का संस्कार हो जाता है, तब शब्द में उपलभ्यता की उत्पत्ति एवं अनुत्पत्ति मानने से दोनों में ही पूर्वोक्त दोष आते हैं - अर्थात् या तो शब्द की उपलब्धि के प्रादुर्भाव में उपलब्धि से शब्द से अपृथक् होने से शब्द की उत्पत्ति माननी पड़ेगी या शब्द की उत्पत्ति न होने से शब्द कभी सुनाई भी नहीं पड़ेगा अथवा कर्णेन्द्रिय भी आकाश रूप होने से (मीमांसकों की मान्यतानुसार) उसका कोई आवारक भी नहीं होगा। (अतः श्रोत्र के संस्कार को शब्द की अभिव्यक्ति मानना भी ठीक नहीं।)

“कर्ण और वर्ण (क ख ग घ आदि) इन दोनों का संस्कार शब्द की अभिव्यक्ति है” ऐसा कहने वालों (प्रभाकर) का पक्ष भी पूर्वोक्त कथन से ही निराकृत हुआ समझ लेना चाहिए।

प्रश्न - कूटस्थ नित्य न मानकर प्रवाह रूप से शब्द की नित्यता स्वीकार कर लेने पर शब्द की अभिव्यक्ति में पूर्वोक्त दोष नहीं आते हैं।

उत्तर - ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पुरुष के कण्ठ तालु आदि व्यापार के पूर्व भी प्रवाह रूप (बीजांकुर रूप) शब्द के सद्भाव में प्रमाण का अभाव है अर्थात् पुरुष के बोलने के प्रयत्न के पूर्व ‘शब्द प्रवाह रूप में विद्यमान है’ इसको बताने वाला कोई प्रमाण है ही नहीं।

यदि कहो कि ‘पुरुष व्यापार के पूर्व शब्द प्रवाहरूप से विद्यमान है’ इसको सिद्ध करने वाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है तो शब्द के प्रवाह रूप से नित्यता सिद्ध करने में कारण सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है कि एकत्व प्रत्यभिज्ञान है? सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से तो पुरुष के व्यापार के पूर्व में शब्द प्रवाह रूप से विद्यमान है इसकी सिद्धि नहीं हो सकती - क्योंकि सदृशता का अवलम्बन करने वाले प्रत्यभिज्ञान से तो ‘यह वही शब्द है’ ऐसी एकता को पुष्ट करने वाली शब्द की प्रवाह-नित्यता की सिद्धि नहीं होती। अर्थात् सदृशता तो भिन्न-भिन्न पदार्थों में पाई जाती है। एकत्व प्रत्यभिज्ञान से शब्द की प्रवाहनित्यता को स्वीकार करने पर ‘एकत्व प्रत्यभिज्ञान पूर्व और पश्चात् शब्द के एकपने के कारण से उत्पन्न हुआ है’, यह निर्णय कैसे किया जायेगा। अर्थात् यह वही शब्द है ऐसा कहना सत्य है, ऐसा कैसे कहा जायेगा?

स एवायं शब्द इत्येकशब्दपरामर्शिप्रत्ययस्य बाधकाभावात्तन्निबन्धनत्वसिद्धिस्तत एव नीलज्ञानस्य नीलनिबन्धनत्वसिद्धिवदिति चेत् । स्यादेवं यदि तदेकत्वपरामर्शिनः प्रत्ययस्य बाधकं न स्यात्, स एवायं देवदत्त इत्याद्येकत्वपरामर्शिप्रत्ययवत् । अस्ति च बाधकं नाना गोशब्दो बाधकाभावे सति युगपद्विभ्रदेशतयोपलभ्यमानत्वाद् ब्रह्मवृक्षादिवदिति । न तावदिदमेकेन पुरुषेण क्रमशोऽनेकदेशतयोपलभ्यमानेनानैकांतिकं, युगपद्ग्रहणात् ।

मीमांसकों का कथन है कि 'यह वही शब्द है' इस प्रकार पूर्व और पश्चात् उच्चारित शब्दों में एकपने का विचार करने वाले ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा न होने से 'प्रवाह रूप से शब्द की नित्यता को ग्रहण करने वाले एकत्व प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि हो जाती है जैसे नील के (नीले रंग के) ज्ञान में उसी पूर्व की नील वस्तु का कारणपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात् किसी नीली वस्तु को पूर्व में देखा था पश्चात् उसको देख कर यह वही नीली वस्तु है जिसको मैंने पूर्व में देखा था, ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है - उसी प्रकार कर्णेन्द्रिय से शब्द को सुनकर पश्चात् किसी शब्द के सुनने पर 'यह वही शब्द है, जिसको मैंने पूर्व में सुना था', ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है और इसी ज्ञान के बल पर शब्दों में प्रवाह रूप से नित्यता सिद्ध होती है।

विद्यानंद आचार्य का उत्तर - "यह वही देवदत्त है (जिसको कल देखा था) इस प्रकार एकत्व-परामर्शिज्ञान में जैसे बाधा का अभाव है उसी प्रकार यदि शब्द की प्रवाह नित्यता सिद्ध करने वाले एकत्वपरामर्शि (एकत्वप्रत्यभि) ज्ञान में किसी प्रमाण से बाधा नहीं आती हो तो 'एकत्व प्रत्यभिज्ञान शब्द की प्रवाहनित्यता सिद्ध करने वाला हो सकता है,' परन्तु शब्द की प्रवाह नित्यता सिद्ध करने वाले एकत्वप्रत्यभिज्ञान में अनुमान ज्ञान से बाधा आती है। अनुमान का प्रयोग - जैसे "नाना व्यक्तियों के द्वारा उच्चारित गोशब्द, बाधक कारणों के अभाव में, एक साथ भिन्न-भिन्न देशों में उपलब्ध होता है, इसलिए अनेक है। जैसे भिन्न-भिन्न देशों में एक काल में उपलब्ध होने वाले वट-वृक्षादि अनेक हैं। अतः इस अनुमान ज्ञान से बाधित होने से एकत्वप्रत्यभिज्ञान से शब्द में एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

एक ही पुरुष क्रमशः अनेक देशों में उपलभ्यमान है अतः अनेक देशों में दृष्टिगोचर होने वाले अनेक होते हैं, यह हेतु व्यभिचारी अनैकान्तिक दोष से दूषित है, ऐसा स्याद्वादियों के इस हेतु में नहीं है, क्योंकि हमने 'युगपद्' यह विशेषण दिया है। जो एक साथ नाना देशों में दिखाई देता है, या सुनाई देता है, वह एक नहीं हो सकता। अतः नाना देशों में 'युगपत्' उपलब्ध होने वाली वस्तु एक नहीं हो सकती। इस हेतु में 'नाना देशों में भिन्न कालों में एक के दृष्टिगोचर होने से' बाधा नहीं आ सकती।

नाप्येकेनादित्येन नानापुरुषैः सकृद्विभक्तदेशतयोपलभ्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेकपुरुषेण वा नानाजलपात्रसंक्रान्तादित्यबिम्बेन प्रत्यक्षतो दृश्यमानेनेति युक्तं वक्तुं, बाधकाभावे सतीति विशेषणात्। न ह्येकस्मिन्नादित्ये सर्वथा भिन्नदेशतयोपलभ्यमाने बाधकाभावः, प्रतिपुरुषमादित्यमालानुपलम्भस्य बाधकस्य सद्भावात्। पर्वतादिनैकेन व्यभिचारीदमनुमानमिति चेत्। न। तस्य नानावयवात्मकस्य सतो बाधकाभावे सति युगपद्विभक्तदेशतयोपलभ्यमानत्वं व्यवतिष्ठते। निरवयवत्वे तथाभावविरोधादेकपरमाणुवत्। व्योमादिना तदनैकांतिकत्वमनेन प्रत्युक्तं, तस्याप्यनेकप्रदेशत्वसिद्धेः। खादेरनेकप्रदेशत्वादेकद्रव्यविरोध इति चेत्। न। नानादेशस्यापि

शंका - एक ही सूर्य एक साथ नाना देशों में स्थित नाना पुरुषों के द्वारा भिन्न उपलब्ध होता है। वा एक ही पुरुष प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान से पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होता है। अथवा एक ही सूर्य जलपात्रों में संक्रान्त होकर अनेक प्रकार का दिखता है अतः “नाना देशों में दृष्टिगोचर होनेवाले एक नहीं हैं, अनेक हैं” यह हेतु बाधित है।

उत्तर - इन दृष्टान्तों से हमारे हेतु में अनैकान्तिक दोष देना युक्त नहीं है। क्योंकि स्वाद्यादियों ने हेतु में ‘बाधकाभाव’ विशेषण को ग्रहण किया है। परन्तु एक सूर्य के भिन्न-भिन्न देश से उपलब्ध होने में सर्व प्रकार से बाधा का अभाव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक मानव को अनेक सूर्यों की पंक्ति का न दिखना ही सूर्यों की अनेकता का बाधक प्रमाण विद्यमान है अतः बाधक प्रमाण से रहित होकर जो अनेक देशों में विद्यमान दिखाई देगा, वह अनेक अवश्य है।

शंका - एक पर्वत आदि के द्वारा यह तुम्हारा अनुमान व्यभिचारी है अर्थात् एक ही पर्वत नदी आदि अनेक देशों में स्थित पुरुषों को भिन्न-भिन्न दीखते हैं अतः एक भी अनेक रूप से दृष्टिगोचर होने से ‘एक होता है वह अनेक रूप से ग्राह्य नहीं होता’ यह हेतु व्यभिचारी है।

उत्तर - इस प्रकार अनैकान्तिक दोष देना उचित नहीं है क्योंकि बाधक कारणों के अभाव में नाना अवयवात्मक उन नदी पर्वत आदि की युगपद् विभक्तदेशता से उपलभ्यता व्यवस्थित है। उनको निरंश मान लेने पर तो परमाणु के समान तथाभाव (एक की अनेक देशों में उपलभ्यता) का विरोध आता है, अर्थात् अवयवरहित एक का एक साथ अनेक देशों में रहने में विरोध है। अतः पर्वतादि से भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकता।

आकाश आदि के द्वारा दिया गया अनैकान्तिक दोष भी इस पूर्वोक्त हेतु से खण्डित हो जाता है। क्योंकि आकाश आदि द्रव्यों के अनेकप्रदेशीपना सिद्ध ही है।

आकाश आदि द्रव्यों को अनेकप्रदेशी मान लेने पर उनमें एकद्रव्यत्व का विरोध आयेगा, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि नाना प्रदेशों में रहने वाले घटादि में एकद्रव्यत्व की प्रतीति होती है। अतः जो एक ही प्रदेश में रहता है, वही एक द्रव्य है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है जिससे कि परमाणु

घटादेरेकद्रव्यत्वप्रतीतेः । न ह्येकप्रदेशत्वेनैकद्रव्यत्वं व्याप्तं येन परमाणोरेकद्रव्यता । नापि नानाप्रदेशत्वेनैव यतो घटादेरेवेति व्यवतिष्ठते, एकद्रव्यत्वपरिणामेन तस्याः व्याप्तत्वदर्शनात् । सकललोकप्रसिद्धा ह्येकद्रव्यत्वपरिणतस्यैकद्रव्यता, नानाद्रव्यत्वपरिणतानामर्थानां नानाद्रव्यतावत् । स्यादेतद्बाधकाभावे सतीति हेतुविशेषणं सिद्धं गौरित्यादिशब्दस्य सर्वगतस्य युगपद्व्यञ्जकस्य देशभेदाद्विभ्रदेशतयोपलभ्यमानस्य स्वतो देशविच्छिन्नतयोपलम्भासंभवादिति । तदयुक्तं । तस्य सर्वगतत्वासिद्धेः कूटस्थत्वेनाभिव्यङ्ग्यत्वप्रतिषेधाच्च । सर्वगतः शब्दो नित्यद्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्येतदपि न शब्दसर्वगतत्वसाधनायात्, जीवद्रव्येणानैकान्तिकत्वात् ।

के एकद्रव्यपने की सिद्धि हो सके। (अर्थात् परमाणु एकप्रदेशी होने से एक द्रव्य है ऐसा भी सिद्ध नहीं हो सकता। और यह भी व्याप्ति नहीं है कि जो-जो अनेक प्रदेशों में रहते हैं, वे ही एक द्रव्य हैं जिससे घट आदि द्रव्यों के एकद्रव्यपना व्यवस्थित हो। एकद्रव्यत्व परिणमन के साथ ही उसकी व्याप्ति देखी जाती है अतः चाहे एक प्रदेश में रहने वाला पदार्थ हो, वा अनेक देशों में स्थित हो, यह सकल लोकप्रसिद्ध है कि यदि उसकी एकद्रव्यत्व (अखण्डसम्बन्ध) से परिणति (परिणमन) है तो उसके एकद्रव्यता है, जैसे अनेक द्रव्यत्व से भिन्न-भिन्न परिणमन करने वाले पदार्थों में नानाद्रव्यता है। जैसे एकद्रव्यत्व से परिणत होने से कालाणु, आत्मा, आकाश आदि में एकद्रव्यत्व है और पृथक्-पृथक् परिणमन करने वाले देवदत्त जिनदत्त गो महिषी आदि में नानापना है। अतः भिन्न-भिन्न होने से शब्दों में पृथक्ता सिद्ध ही है।

शंका - 'बाधकाभाव होने पर' यह हेतु का विशेषण असिद्ध है क्योंकि सर्वगत, युगपत् व्यञ्जक (एक साथ प्रगट करने वाली वायु) के भिन्न-भिन्न देशों में रहने से भिन्न देशों में उपलभ्यमान 'गो' इत्यादि शब्द के स्वतः खण्ड-खण्ड होकर देशभिन्नता से उपलब्ध होना (सुनाई देना) संभव नहीं है। उत्तर - ऐसा कथन करना उचित नहीं है क्योंकि शब्द के सर्वगतत्व की असिद्धि है तथा वायु के द्वारा अभिव्यक्ति होती है शब्द की, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि कूटस्थ नित्य के अभिव्यक्ति का निषेध है।

शब्द सर्वगत नहीं है

'आकाशवत् नित्य द्रव्य और अमूर्तिक होने से शब्द सर्वगत है,' यह हेतु भी शब्द का सर्वगतत्व सिद्ध करने में समर्थ नहीं है क्योंकि जीव द्रव्य के साथ इस हेतु में व्यभिचार दोष आता है अर्थात् अमूर्तिक और नित्य द्रव्यत्व होने पर भी जीवद्रव्य सर्वगत नहीं है।

शंका - जीव द्रव्य को भी सर्वगत मान लेने पर अनैकान्तिक दोष नहीं होगा। उत्तर - ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा का व्यापकत्व, प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान से बाधित है वा प्रत्यक्षादि ज्ञान से विरोध आता है - श्रोत्र इन्द्रिय से होने वाला प्रत्यक्ष शब्द नियतदेशता से ही उपलब्ध

‘तस्यापि पक्षीकरणान्न तेनानेकांत’ इति चेत् न, प्रत्यक्षादिविरोधात्। श्रोत्रं हि प्रत्यक्षं नियतदेशतया शब्दमुपलभते, स्वसंवेदनाध्यक्षं चात्मानं शरीरपरिमाणानुविधायितयेति कालात्ययापदिष्टो हेतुस्तेजोनुष्णत्वे द्रव्यत्ववत्। स्वरूपासिद्धश्च सर्वथा नित्यद्रव्यत्वामूर्तत्वयोर्धर्मिण्यसंभवात्। तथा हि। परिणामी शब्दो वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः, न वस्तुनः प्रतिक्षणविवर्तनेकेन व्यभिचारस्तस्य वस्त्वेकदेशतया वस्तुत्वव्यवस्थितेः। न च तस्या वस्तुत्वं वस्त्वेकदेशत्वाभावप्रसंगात्। वस्तुत्वस्यान्यथानुपपत्तिरसिद्धेति चेत्। न। एकान्तनित्यत्वादौ पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणपरिणामाभावे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधा -

होता है और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मा की उपलब्धि शरीर परिमाण के द्वारा ही होती है अर्थात् शब्द कर्णेन्द्रिय स्थान से सुना जाता है और आत्मा शरीर-परिमाण से अनुभव में आता है, सर्वगत से नहीं है। अतः जैसे द्रव्यत्व होने से अग्नि में ठंडापना सिद्ध करना कालात्ययापदिष्ट (प्रत्यक्षबाधित हेत्वाभास) है उसी प्रकार अमूर्तिक एवं नित्य होने से आत्मा और शब्द को सर्वगत (व्यापकत्व) सिद्ध करना प्रत्यक्षबाधित है। अर्थात् अग्नि के ठंडापन सिद्ध करने में दिया द्रव्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है उसी प्रकार आत्मा और शब्द का व्यापकत्व सिद्ध करने के लिए दिया गया ‘नित्य द्रव्यत्व’ हेतु प्रत्यक्षबाधित है।

किञ्च - शब्द को सर्वगत सिद्ध करने के लिए दिया गया नित्यद्रव्यत्व और अमूर्तत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है - क्योंकि शब्दरूप धर्मी (पक्ष) में नित्यद्रव्यता और अमूर्तत्व धर्म की सर्वथा असंभवता है। अर्थात् नियत इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द में अमूर्तत्व और नित्यत्व सर्वथा स्वरूप से ही असिद्ध है।

शब्द परिणामी, पौद्गलिक और क्रियावान् है

इसी बात को आचार्य अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हैं - ‘शब्द परिणामी है क्योंकि परिणामी के बिना शब्द में वस्तुपना सिद्ध नहीं हो सकता’। वस्तु की प्रतिक्षण में होने वाली एक पर्याय के द्वारा इस हेतु में व्यभिचार भी नहीं आ सकता (अर्थात् वस्तु के प्रतिक्षण में होने वाली पर्यायों में वस्तुत्व तो है परन्तु वह एकसमयवर्ती होने से दूसरे समय में परिणमन नहीं करती है अतः वस्तु के साथ परिणमन की अनिवार्यता न होने से यह हेतु व्यभिचारी है, ऐसा भी नहीं कह सकते।) क्योंकि प्रतिक्षण होने वाली वस्तु की एकदेश पर्याय से वस्तुत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती। तथा वस्तु के एकदेशत्व के अभाव का प्रसंग आने से वस्तु की क्षणवर्ती पर्याय के अवस्तुपना भी नहीं है।

‘परिणामी के बिना वस्तुत्व नहीं रहता’ वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः। यह हेतु असिद्ध है, ऐसा भी कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो पदार्थ को सर्वथा नित्य, अनित्य वा उभय मानते हैं उनके ही सर्वथा नित्य आदि में पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर पर्याय का ग्रहण (उत्पाद) और कालान्तर स्थायी पर्याय से स्थित रहने रूप परिणाम का अभाव होने पर युगपत् (एक साथ) और क्रम से होने वाली वस्तु की अर्थक्रिया का विरोध होने से वस्तुत्व की असंभवता है (अनेकान्तवाद में नहीं) अर्थात् अर्थक्रिया करने में वस्तु की पूर्व पर्याय का त्याग नवीन पर्याय का ग्रहण और द्रव्य के साथ अन्वय

द्वस्तुत्वासंभवादिति नैकांतनित्यः शब्दो, नापि सर्वथा द्रव्यं पर्यायात्मतास्वीकरणात् । स हि पुद्गलस्य पर्यायः क्रमशस्तत्रोद्भवत्वात् छायातपादिवत् कथंचिद्द्रव्यं शब्दः क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत् । धात्वर्थलक्षणया क्रियया क्रियावता गुणादिनानैकांत इति चेत् । न । परिस्पंदरूपया क्रियया क्रियावत्त्वस्य हेतुत्ववचनात् । क्रियावत्त्वमसिद्धमिति चेत् । न । देशान्तरप्राप्त्या तस्य तत्सिद्धेरन्यथा बाणादेरपि निःक्रियत्वप्रसंगान्मतांतरप्रवेशाच्च । ततो द्रव्यपर्यायात्मकत्वाच्छब्दस्यैकांतेन द्रव्यत्वासिद्धिः । अमूर्तत्वं चासिद्धं तस्य मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायत्वात् । मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायोऽसौ

रूप से स्थित रहना पड़ता है अन्यथा नित्य आदि एकान्त में अर्थक्रिया नहीं होती । अतः शब्द सर्वथा नित्य नहीं है ।

पर्यायात्मक स्वीकार करने से शब्द एकान्त से द्रव्य भी नहीं है क्योंकि छाया, धूप आदि के समान क्रमशः पुद्गल में ही उपादेय रूप से उत्पन्न होने से शब्द पुद्गल की पर्याय है । अर्थात् जैसे धूप छाया पुद्गल की पर्याय हैं, पुद्गल से उत्पन्न होने से, वैसे पुद्गल से उत्पन्न होने से शब्द भी पुद्गल की पर्याय है ।

बाणादि के समान क्रियावान होने से शब्द कथंचित् द्रव्य भी है अर्थात् उच्चारण करने के बाद शब्द बाण के समान देशान्तर में जाता है ।

शंका - धातु (पठ् गच्छ आदि) लक्षण क्रिया के द्वारा क्रियावान गुणादि (गुणकर्मादि) के साथ हेतु व्यभिचारी होगा । अर्थात् धातु अर्थ-लक्षण क्रिया के द्वारा काला पीला आदि गुण वा, भ्रमण आदि कर्म, क्रियावान होने से द्रव्य हो जायेंगे । उत्तर - ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि (यहाँ पर धातु अर्थक्रिया से प्रयोजन नहीं है अपितु) देश से देशान्तर करने वाली हलन-चलनादि परिस्पन्द रूप क्रिया के द्वारा क्रियावत्त्व के हेतुत्व वचन हैं (अर्थात् परिस्पन्द रूप क्रिया हेतु से शब्द द्रव्य हैं, ऐसा कहा गया है, धात्वर्थ क्रिया की अपेक्षा नहीं) । शब्द में क्रियावत्त्व (क्रियापना) असिद्ध है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि शब्दों के देशान्तर प्राप्ति (उच्चरित शब्दों का दूर तक सुनाई देने) से क्रियावत्त्व सिद्ध ही है । यदि वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दों का कानों तक पहुँचने आदि से भी शब्दों में क्रियापना नहीं मानोगे या क्रिया के बिना ही शब्द देशान्तर में पहुँच जायेंगे तो बाण आदि के भी निष्क्रियत्व का प्रसंग आयेगा अर्थात् बाणादि भी निष्क्रिय होकर देशान्तर में पहुँच जायेंगे । वा मतान्तर (बौद्धमत) का प्रवेश होगा अर्थात् बौद्ध चिरस्थायी क्रिया के साथ अनुस्यूत रहने वाले द्रव्य को न मानकर क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली पर्याय को ही स्वीकार करते हैं । अतः द्रव्य-पर्यायात्मक शब्द के एकान्त से द्रव्यत्व की असिद्धि है । अर्थात् शब्द कथंचित् पुद्गल द्रव्य है, और कथंचित् पर्याय है । मूर्त (पुद्गल) द्रव्य की पर्याय होने से शब्दों के अमूर्तिपना भी असिद्ध है, क्योंकि यह शब्द धूप आदि के समान सामान्य विशेषत्व होकर बाह्य इन्द्रियों का विषय होने से मूर्त द्रव्य की पर्याय है । अर्थात् जो सामान्य (सत्ता

सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियविषयत्वादातपादिवत् । न घटत्वादिसामान्येन व्यभिचारः, सामान्यविशेषवत्त्वे सतीति विशेषणात् । परमतापेक्षं चेदं विशेषणं । स्वमते घटत्वादिसामान्यस्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वेन स्थितेस्तेन व्यभिचाराभावात् । कर्मणानैकांत इति चेत् न, तस्यापि द्रव्यपर्यायात्मकत्वेनेष्टेः । स्पर्शादिना गुणेन व्यभिचारचोदनमनेनापास्तं ।

ततो हेतोरसिद्धिरेवेति नातोभिलापस्य सर्वगतत्वसाधनं यतो युगपद्विन्नदेशतथोपलभ्यमानता अस्याबाधिता न भवेत् । प्रत्यभिज्ञानस्य वा तदेकत्वपरामर्शिनोनुमानबाधितत्वेन पुरुषव्यापारात्प्राक्

से व्यापक) अल्प देश में रहने वाले गुणकर्मादि विशेष (व्याप्य) से सहित होकर इन्द्रियों का विषय होता है, वह मूर्त द्रव्य की पर्याय है। 'सामान्यविशेषे सति' इस विशेषण को ग्रहण करने से 'जो इन्द्रियग्राह्य होता है वह मूर्तिक होता है' यह हेतु घट सामान्य से व्यभिचार (अनेकान्त दोष) से दूषित नहीं होता। और यह 'सामान्यविशेषे सति' विशेषण परमत का खण्डन करने के लिए है। अर्थात् जो घट में रहने वाली घटत्व जाति (घटत्व, रूपत्व, रसत्व आदि) रूप पर्यायें इन्द्रियों के द्वारा जानी जाती हैं परन्तु वे पुद्गल की पर्यायें नहीं हैं ऐसा मानते हैं, उनके प्रति, शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करने के लिए दिये गये हेतु में 'सामान्यविशेषे सति' यह विशेषण दिया गया है क्योंकि जैन मत में तो अनेक सामान्य व्यक्तियों में रहने वाले घटत्वादि सदृश परिणामरूप तिर्यग् सामान्य और अनेक काल में एक व्यक्ति में रहने वाले घट आदि की पूर्वापर काल व्यापक सदृशता रूप उर्ध्वता सामान्य की द्रव्य-पर्यायात्मक से स्थिति होने से घटत्वादि सामान्य से व्यभिचार का अभाव है। अर्थात् सामान्य भी द्रव्य की पर्याय रूप से अवस्थिति है।

कर्म के द्वारा भी अनैकान्तिक दोष नहीं है। अर्थात् भ्रमण-गमन, आकुंचन, विसर्पण आदि कर्म भी सामान्य से व्याप्यकर्मत्व जाति से सहित हैं, इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य भी हैं परन्तु परिस्पन्दन क्रिया से रहित होने से पुद्गल की पर्याय नहीं हैं - अतः "जो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हैं वह पुद्गल की पर्याय है।" यह हेतु कर्म सामान्य से अनैकान्तिक है - क्योंकि कर्म इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य तो हैं परन्तु पौद्गलिक नहीं हैं। परन्तु जैनमत में कर्म को पौद्गलिक माना है अतः कर्म से हेतु में व्यभिचार नहीं आता। उक्त कथन के द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध आदि गुणोत्कर से दिये गये व्यभिचार दोष का भी खण्डन कर दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि स्पर्श, रस आदि गुण भी स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं अपितु पुद्गल के ही विकार हैं।

उपसंहार - तत्त्वार्थसूत्र के अर्थकर्ता सर्वज्ञ हैं अतः यह सूत्रग्रंथ है

नैयायिक और वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन इन पाँचों को भिन्न द्रव्य मानते हैं और मूर्तिक कहते हैं परन्तु शब्द को अमूर्तिक और आकाश का गुण मानते हैं। जैनाचार्यों ने शब्द को पुद्गल की पर्याय माना है क्योंकि प्रतिकूल वायु से शब्द का अवरोध होता है और अनुकूल वायु से वह शब्द प्रेरित होता है। अतः शब्द के सर्वगतत्व सिद्ध करने के लिए दिया गया नित्य द्रव्यत्व

सद्भावावेदकत्वाभावात्तद-भिव्यंग्यत्वाभाव इति तज्जन्यमेव वचनं सिद्धं पर्यायार्थतः पौरुषेयं। वचनसामान्यस्य पौरुषेयत्वसिद्धौ विशिष्टं सूत्रवचनं सत्प्रणेतृकं प्रसिद्ध्यत्येवेति सूक्तं “सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रबंधेन वृत्तं सूत्रमादिमं शास्त्रस्येति।” तथाप्यनाप्तमूलमिदं वक्तृसामान्ये सति प्रवृत्तत्वादुष्टपुरुषवचनवदिति न मन्तव्यं, साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे प्रक्षीणकल्मषे चेति विशेषणात्। सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते ‘हेतुमत्तथ्यमिति’ सूत्रलक्षणवचनात्। तच्च कथमसर्वज्ञे दोषवति च वक्तुरि प्रवर्तते? सूत्राभासत्वप्रसंगाद्वृहस्पत्यादिसूत्रवत्ततोर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकमिदं सूत्रं

और अमूर्तत्व हेतु की असिद्धि ही है। यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि यह अमूर्तत्व हेतु शब्द के सर्वगतत्व का साधन नहीं है, जिससे शब्द के नानात्व को सिद्ध करने के लिए दिया गया ‘युगपत् (एकसाथ) भिन्न-भिन्न देशों में उपलभ्यमानता’ यह हेतु अबाधित न हो - अर्थात् एक साथ भिन्न-भिन्न देशों में सुनाई देने से शब्द में नानात्व है, यह निर्दोष सिद्ध है। तथा पुरुष के व्यापार के पहले शब्द के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले एकत्वपरामर्शी प्रत्यभिज्ञान के अनुमानबाधित हो जाने से, पुरुष व्यापार के पूर्व शब्द के सद्भाव का कथन करने वाले ज्ञानत्व का अभाव होने से “शब्द अपने व्यञ्जकों के द्वारा अभिव्यक्त होता है, -इसका भी अभाव हो जाता है। अतः शब्द का पुरुष के प्रयत्न (कण्ठ तालु) से उत्पन्न होना सिद्ध होता है इसलिए शब्द पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पुरुषकृत है, यह निर्बाध सिद्ध है। इस प्रकार शब्द सामान्य (अक्षरात्मक सभी वचनों)के पुरुषकृत सिद्ध हो जाने पर ‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः’ इत्यादि विशिष्ट सूत्र वचन सत्पुरुष आप्त कृत है, यह सिद्ध हो ही जाता है। इसलिए ‘सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि’ इत्यादि मोक्षमार्ग के नेता सर्वज्ञ के सिद्ध हो जाने पर तत्त्वार्थसूत्र के आदिसूत्र की रचना हुई है, यह कथन समीचीन है। उपर्युक्त कथन से शब्द के अनित्य और पुरुषकृत सिद्ध हो जाने पर भी दुष्ट पुरुष के वचन के समान सामान्य वक्ता का कहा हुआ होने से यह तत्त्वार्थसूत्र अनाप्तमूल है अर्थात् यह तत्त्वार्थसूत्र आप्त का कहा हुआ नहीं है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इस तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के साक्षात् सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ), प्रक्षीणशेषकल्मष (घातिया कर्मों के नाशक), ये दो विशेषण होने से यह सूत्र सत्य और युक्तियुक्त है अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान से सिद्ध है। तथा सूत्र का लक्षण है ‘हेतुमत्तथ्य’ जो युक्तिसहित सत्य अर्थ का निरूपण करता है वह सूत्र कहलाता है। इस लक्षण वाले सूत्र की रचना करने में ‘असर्वज्ञ, रागीद्वेषी वक्ता के होने पर’ प्रवृत्ति कैसे होती है अर्थात् अल्पज्ञानी रागद्वेषादि दोषों से युक्त वक्ता इस सूत्र की रचना कैसे कर सकता है। क्योंकि असर्वज्ञ, दोषी, उत्सूत्रभाषी वक्ता के द्वारा कहे हुए सूत्र में वृहस्पति आदि के द्वारा कहे हुए सूत्र के समान सूत्राभासत्व का प्रसंग आता है। अतः यद्यपि यह तत्त्वार्थसूत्र पद और वाक्यों की रचना से गृह्यपिच्छ का रचा हुआ है तथापि अर्थतः (इसके वाच्य-प्रमेय की अपेक्षा) यह सूत्र सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत ही है (इसके अर्थरूपप्रणेतृ सर्वज्ञ ही हैं)। यदि यह सर्वज्ञ प्रणीत नहीं होता तो इसमें सूत्रत्व नहीं होता, यह सूत्राभास हो जाता।

सूत्रत्वान्यथानुपपत्तेः । गणाधिपप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवल्य-भिन्नदशपूर्वधरसूत्रेण स्वयं संमतेन व्यभिचार इति चेत् न, तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितमिति वचनात् । एतेन गृह्यपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता । प्रकृतसूत्रे सूत्रत्वमसिद्धमिति चेत् न, सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वेन तथास्य सूत्रत्वप्रसिद्धेः सकलशास्त्रार्थाधिकरणाच्च । न हि मोक्षमार्गविशेषप्रतिपादकं सूत्रमस्मदादिप्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वात् यद्धि यदविषयं न तत्तद्वचसो बाधकं, यथा रूपाविषयं रसनज्ञानं रूपवचसः श्रेयोमार्गविशेषाविषयं चास्मदादिप्रत्यक्षमिति ।

शंका - स्वयं जैन धर्मावलम्बियों के द्वारा माने हुए गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली, अभिन्नदशपूर्वधारी ऋषियों के द्वारा रचित सूत्र से तुम्हारे कथन में व्यभिचार आता है - अथवा जैनों ने गणधर आदि के द्वारा रचित ग्रन्थ को सूत्र माना है अतः सर्वज्ञ के द्वारा कथित ही सूत्र होता है, इसमें व्यभिचार आता है। उत्तर - ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गणधरादि रचित ग्रन्थ में भी अर्थ की अपेक्षा सर्वज्ञ वीतराग प्रणेतृकत्व की सिद्धि है अर्थात् अर्थ की अपेक्षा गणधरादि रचित ग्रन्थ भी सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहे हुए हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है कि 'अर्हन्त देव के द्वारा भाषित अर्थ को ही गणधर देवों ने द्वादशशांग रूप से गूँथा है।' इस पूर्वोक्त कथन से गृह्यपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों के द्वारा रचित सूत्रों से भी व्यभिचार दोष दूर हो गया है। अर्थात् अर्थ रूप से यह तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ गुरु परिपाटी से चला आ रहा है और अक्षरात्मक ग्रन्थ रूप में गृह्यपिच्छाचार्य ने रचा है।

सूत्र के वाच्यार्थ में बाधक प्रमाणों का अभाव

इस तत्त्वार्थसूत्र में सूत्रत्व असिद्ध है अर्थात् इसमें सूत्रत्व का लक्षण घटित नहीं होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि इसके वाच्य अर्थ में बाधक प्रमाणों के अभाव का भले प्रकार निश्चय होने से और सकल शास्त्रों के प्रतिपाद्य अर्थ का मूल आधार होने से, इस तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के सूत्रपना प्रसिद्ध ही है। यह मोक्षमार्ग विशेष का प्रतिपादक तत्त्वार्थ सूत्र हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं है। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से इस सूत्र के अर्थ की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि इस सूत्र का प्रतिपाद्य अर्थ हमारे मतिज्ञान रूप प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। जो ज्ञान, जिस प्रमेय को विषय नहीं करता वह ज्ञान उस प्रमेय के प्रतिपादन करने वाले वचन का बाधक नहीं होता, जैसे रूप को विषय नहीं करने वाला रसनेन्द्रियजन्य मतिज्ञान रूप को कहने वाले वचन का बाधक नहीं होता। इसी प्रकार मोक्षमार्ग को विषय नहीं करने वाला हम लोगों का प्रत्यक्ष ज्ञान (इन्द्रियजन्यमतिज्ञान) सूत्र के वाच्यार्थ का बाधक नहीं हो सकता।

एतेनानुमानं तद्बाधकमिति प्रत्युक्तं, तस्याननुमानविषयत्वात्। श्रेयोमार्गसामान्यं हि तद्विषयो न पुनस्तद्विशेषः प्रवचनविशेषसमधिगम्यः। प्रवचनैकदेशस्तद्बाधक इति चेत् न, तस्यातिसंक्षेपविस्ताराभ्यां प्रवृत्तस्याप्येतदर्थानतिक्रमस्तद्बाधकत्वायोगात् पूर्वापरप्रवचनैकदेशयोरन्योन्यमनुग्राहकत्वसिद्धेश्च।

यथा वाधुनात्र चास्मदादीनां प्रत्यक्षादि न तद्बाधकं तथान्यत्रान्यदान्येषां च विशेषाभावादिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वमस्य तथ्यतां साधयति। सा च सूत्रत्वं, तत्सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वमिति निरवद्यं प्रणेतुः साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थतया प्रक्षीणकल्मषतया च विशेषणं। मुनीन्द्रसंस्तुत्यत्वविशेषणं च विनेयमुख्यसेव्यतामन्तरेण सतोपि सर्वज्ञवीतरागस्य मोक्षमार्गप्रणेतृत्वानुपपत्तेः, प्रतिग्राहकाभावेपि तस्य तत्प्रणयने अधुना यावत्तत्प्रवर्तनानुपपत्तेः।

इस पूर्वोक्त कथन से 'यह अनुमान बाधक है' इसका भी खण्डन कर दिया गया है, क्योंकि अनुमान (उस अतीन्द्रिय मोक्षमार्ग को) विषय नहीं कर सकता है। सामान्य मोक्षमार्ग को विषय अनुमान करता है, विशेष को नहीं। विशेष मोक्षमार्ग तो प्रवचन के द्वारा (आगम से) ही अधिगम्य (जानने योग्य) है। प्रवचन का एकदेश इसका बाधक है। (अर्थात् किसी ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के निरूपण की मुख्यता है, किसी में सम्यग्ज्ञान की और किसी में चारित्र को ही मोक्षमार्ग माना है अतः परस्पर प्रवचन में विरोध आयेगा) ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि संक्षेप से वा विस्तार से प्रवृत्त होने वाले प्रवचन के इस अर्थ (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है) का उल्लंघन नहीं है अर्थात् संक्षेप में वर्णन करने पर कहीं पर दर्शन की मुख्यता से वर्णन किया है, और कहीं पर ज्ञान आदि की मुख्यता से और विस्तार से करने पर तीनों का एक साथ वर्णन किया गया है। इसलिए इन एकदेश ग्रन्थों से इस आदिसूत्र में बाधा का अयोग है अपितु पूर्वापर (आगे-पीछे के) एक-एकदेश विषय का निरूपण करने पर परस्पर अनुग्राहकत्व की ही सिद्धि होती है अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः यह पहला सूत्र प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम बाधित नहीं है।

सर्वज्ञ वीतराग प्रभु इस सूत्र के अर्थ रूप से प्रतिपादक हैं

जिस प्रकार इस देश में इस काल में हम लोगों के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से इस सूत्र के बाधकपना नहीं है, उसी प्रकार भिन्न देश, भिन्न काल में भिन्नजनों के प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा भी तत्त्वार्थसूत्र का यह प्रथम सूत्र बाधित नहीं है- क्योंकि इस देश-काल में स्थित हम लोगों में और भिन्न देश-काल में स्थित अन्य लोगों में मोक्षमार्ग के जानने में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार इस सूत्र के सुनिश्चित बाधक प्रमाणों के असंभव हो जाने का निश्चय सिद्ध होता हुआ इस सूत्र को सत्यपने की सिद्धि करा देता है। और इस आदिसूत्र की सत्यता से वह सूत्र सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत है, यह भी ज्ञात हो जाता है। आदि सूत्र को बनाने वाले मोक्षमार्ग के नेता का केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रत्यक्ष जान चुकना और घातिया कर्मों का नाश कर चुकना, ये दोनों विशेषण निर्दोष सिद्ध हैं। तथा प्रधान शिष्य के द्वारा सेवनीय न होने से सर्वज्ञ और वीतराग भी परम गुरु मोक्षमार्ग का प्रणयन (प्रतिपादन) नहीं कर सकते हैं। अतः गम्भीर अर्थ के प्रतिपादक सूत्र को बनाने वाले सर्वज्ञ का 'मुनीन्द्रों के द्वारा सेवनीय है' यह विशेषण भी निर्दोष सिद्ध है। क्योंकि उपदेश को ग्रहण करने वाले सुविनीत बुद्धिमान् शिष्य के अभाव में मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाले सूत्र का उपदेश देने पर आज तक

तत् एवोपयोगात्मकस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य विनेयमुख्यस्य प्रतिपित्सायां सत्यां सूत्रं प्रवृत्तमित्युच्यते। सतोपि विनेयमुख्यस्य यथोक्तस्य प्रतिपित्साभावे श्रेयोधर्मप्रतिपत्तेरयोगात् प्रतिग्राहकत्वासिद्धेरिदानीं यावत्तत्सूत्रप्रवर्तनाघटनात्। प्रवृत्तं चेदं प्रमाणभूतं सूत्रं। तस्मात्सिद्धे यथोक्ते प्रणेतरि यथोदितप्रतिपित्सायां च सत्यामिति प्रत्येयम्।

नन्वपौरुषेयाम्नायमूलत्वेपि जैमिन्यादिसूत्रस्य प्रमाणभूतत्वसिद्धेर्नंदं सर्वज्ञवीतदोषपुरुषप्रणेतृकं सिद्धयतीत्यारेकायामाह;-

नैकांताकृत्रिमाम्नायमूलत्वेस्य प्रमाणता।

तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञे रागित्वे विप्रलंभनात् ॥४॥

धाराप्रवाह से उस उपदेश के प्रवर्तन की अनुपपत्ति होती अर्थात् ग्रहण करने वाले शिष्य के अभाव में वह धाराप्रवाह से आज तक उपलब्ध नहीं हो सकती थी। इसलिए ही पूर्व वार्तिक में कहा गया है कि "ज्ञानदर्शन उपयोगात्मक आत्मा की कैवल्य प्राप्ति रूप श्रेय (मोक्ष) से भविष्य में संयुक्त होने वाले शिष्यजनों में प्रधान (गणधरदेव) की तत्त्वों को वा मोक्षमार्ग को जानने की इच्छा होने पर ही यह सूत्र (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) प्रवृत्त हुआ है अर्थात् इस सूत्र की रचना हुई है।

यथोक्त (भविष्य में कल्याण से युक्त होने वाले ज्ञानदर्शनोपयोगात्मक) प्रधान शिष्यों के विद्यमान होने पर भी, उनके मोक्षमार्ग को जानने की इच्छा के अभाव में कल्याणकारी धर्म की प्रतिपत्ति (श्रद्धान और ज्ञान) का अयोग (अभाव) होने से उसके ग्रहण करने वाले की भी सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् श्रद्धान के अभाव में उपदिष्ट तत्त्व का ग्रहण भी नहीं हो सकता। तथा वीतराग सर्वज्ञ उपदिष्ट मोक्षमार्ग के ग्रहण करने वाले का अभाव होने से आजतक धाराप्रवाह से सूत्र की प्रवर्तना भी नहीं हो सकती परन्तु यह सत्य एवं प्रमाणभूत सूत्र धाराप्रवाह से आजतक चला आ रहा है। इसलिए भविष्य में कल्याण से संयुक्त होने वाले प्रधान शिष्यों के मोक्षमार्ग को जानने की प्रबल इच्छा होने पर सर्वज्ञ वीतराग मुनीन्द्रों से पूज्य प्रभु ने इस सूत्र का अर्थ रूप से प्रतिपादन किया है; ऐसा वृद्ध विश्वास करना चाहिए।

अपौरुषेय वेद के वचन प्रमाण नहीं हैं

अपौरुषेय आम्नाय है मूल जिसका ऐसे वेदादि को आधार मान कर 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इत्यादि जैमिनीय आदि ऋषियों के सूत्र के भी प्रमाणभूतता सिद्ध हो जाने से "यह सर्वज्ञ वीतराग पुरुष का कहा हुआ होने से निर्दोष है ऐसा सिद्ध नहीं होता" ऐसी शंका होने पर आचार्य विद्यानन्दी कहते हैं-

एकान्त रूप से अकृत्रिम माने गये ऋग्वेद आदि आम्नाय को मूलपना मानने पर भी 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' आदि सूत्रों के प्रमाणपना नहीं है- क्योंकि इन सूत्रों का वक्ता असर्वज्ञ और रागी- द्वेषी होने से विपरीत प्रकार से तत्त्व का प्रतिपादन कर सकता है ॥४॥

संभवत्रपि ह्यकृत्रिमाप्नायो न स्वयं स्वार्थं प्रकाशयितुमीशस्तदर्थविप्रतिपत्त्यभावानुषंगादिति तद्व्याख्यातानुमंतव्यः। स च यदि सर्वज्ञो वीतरागश्च स्यात्तदाप्नायस्य तत्परतंत्रतया प्रवृत्तेः किमकृत्रिमत्वमकारणं पोष्यते। तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञत्वे रागित्वे वाश्रीयमाणे तन्मूलस्य सूत्रस्य नैव प्रमाणता युक्ता, तस्य विप्रलम्भनात्।

दोषवद्व्याख्यातुकस्यापि प्रमाणत्वे किमर्थमदुष्टकारणजन्यत्वं प्रमाणस्य विशेषणं। यथैव हि खारपटिकशास्त्रं दुष्टकारणजन्यं तथाप्नायव्याख्यानमपीति तद्विसंवादकत्वसिद्धेर्न तन्मूलं वचः प्रमाणभूतं सत्यं। सर्वज्ञवीतरागे च वक्तरि सिद्धे श्रेयोमार्गस्याभिधायकं वचनं प्रवृत्तं न तु कस्यचित्प्रतिपित्सायां सत्याम्।

चेतनारहितस्य चात्मनः प्रधानस्य वा बुभुत्सायां तत्प्रवृत्तमिति कश्चित्तं प्रत्याहः-

यद्यपि वर्णपदवाक्यात्मक वेद नित्य सिद्ध नहीं है फिर भी वेद को संभवतः अकृत्रिम मान लिया जाये तो भी वह स्वयं अपने अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि स्वयं वेद अपने अर्थ को प्रकाशित करता तो परस्पर विवाद के अभाव का प्रसंग आता है। अर्थात् भावनावादी, नियोगवादी, विधिवादी आदि अनेक प्रकार का विवाद करते हैं, वेदवाक्यों में वह नहीं होता। वेदवाक्य में विवाद है। अतः वेदवाक्यों का व्याख्यान करने वाला कोई पुरुष अवश्य मानना पड़ेगा।

यदि उस वेद का व्याख्याता सर्वज्ञ और वीतराग है तब तो वेद उस व्याख्याता के आधीन होकर ही प्रवृत्त होगा तो फिर बिना कारण उन वेदवाक्यों की 'अकृत्रिम एवं अपौरुषेय' है, ऐसी पुष्टि क्यों की जा रही है। यदि उस वेद के व्याख्याता को असर्वज्ञ रागी-द्वेषी स्वीकार करते हो तो उस मूल सूत्र के प्रमाणता नहीं आसकती- क्योंकि मीमांसकों के दर्शनसूत्र विपरीत अर्थ का वर्णन करने वाले होंगे। अज्ञानी, रागी-द्वेषी कथित ग्रन्थ विपरीत अर्थ का प्रतिपादक भी हो सकता है।

यदि रागी-द्वेषी, अल्पज्ञ व्याख्याता के द्वारा कथित ग्रन्थ को भी प्रमाण स्वीकार कर लोगे तो "तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्" ये अदुष्ट कारण- जन्य आदि विशेषण प्रमाण के क्यों दिये गये हैं। जिस प्रकार खारपटिक शास्त्र दुष्ट कारणजन्य है अतः अप्रमाण है, उसी प्रकार वेद व्याख्यान के भी विसंवादित्व सिद्ध होने से उस वेद के वचन प्रमाण भूत और सत्य नहीं हैं।

वीतराग सर्वज्ञ वक्ता की वचन प्रवृत्ति क्यों?

इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञवक्ता की सिद्धि हो जाने पर ही मोक्षमार्ग का कथन करने वाले वचनों की प्रवृत्ति होती है यह बात सिद्ध हुई। किन्तु किसी शिष्य विशेष की इच्छा न होने पर भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हुई है (ऐसा बौद्ध का कथन है) अथवा चेतनारहित आत्मा की तत्त्व जानने की इच्छा होने पर तत्त्वदेशना प्रवृत्त हुई है, ऐसा कोई (नैयायिक) कहते हैं। (कपिल मतानुयायी कहते हैं कि) सत्त्व रज तमो गुण की साम्य अवस्था रूप प्रकृति की जिज्ञासा होने पर सूत्र बनाया गया है। इस प्रकार का कथन करने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं-

नाप्यसत्यां बुभुत्सायामात्मनोऽचेतनात्मनः ।

खस्येव मुक्तिमार्गोपदेशायोग्यत्वनिश्चयात् ॥५॥

नैव विनेयजनस्य संसारदुःखाभिभूतस्य बुभुत्सायामप्यसत्यां श्रेयोमार्गे परमकारुणिकस्य करुणामात्रात्तत्प्रकाशकं वचनं प्रवृत्तिमदिति युक्तं, तस्योपदेशायोग्यत्वनिर्णीतेः । न हि तत्प्रतिपित्सारहितस्तदुपदेशाय योग्यो नामातिप्रसंगात्, तदुपदेशकस्य च कारुणिकत्वायोगात् । ज्ञात्वा हि बुभुत्सां परेषामनुग्रहे प्रवर्तमानः कारुणिकः स्यात् । क्वचिदप्रतिपित्सावति परप्रतिपित्सावति वा तत्प्रतिपादनाय प्रयतमानस्तु न स्वस्थः ।

परस्य प्रतिपित्सामन्तरेणोपदेशप्रवृत्तौ तत्प्रश्नानुरूपप्रतिवचनविरोधश्च । योऽपि चाज्ञत्वात्र स्वहितं प्रतिपित्सते तस्य हि तत् प्रतिपित्सा करणीया । न च कश्चिदात्मनः प्रतिकूलं बुभुत्सते मिथ्याज्ञानादपि स्वप्रतिकूले अनुकूलाभिमानादनुकूलमहं प्रतिपित्से सर्वदेति प्रत्ययात् । तत्र नेदं भवतानुकूलं किंत्विदमित्यनुकूलं प्रतिपित्सोत्पाद्यते । समुत्पन्नानुकूलप्रतिपित्सस्तदुपदेशयोग्यतामात्मसात् कुरुते । ततः श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावानेवाधिकृतस्तत्प्रतिपादने नान्य इति सूक्तं ।

इच्छारहित, अचेतन आकाश के मुक्तिमार्ग के उपदेश की अयोग्यता का निश्चय होने से, न तो किसी की जानने की इच्छा न होने पर सूत्र की प्रवृत्ति हुई है, न चेतना रहित जड़स्वरूप आत्मा की इच्छा होने पर यह सूत्र प्रवर्तित हुआ है और न प्रधान की इच्छा से सूत्र की रचना हुई है । अर्थात् उक्त तीनों प्रकारों में भी मोक्षमार्ग का उपदेश प्राप्त करने की अयोग्यता का निश्चय है । ॥५॥

संसार-दुःख से अभिभूत शिष्यजन की मोक्षमार्ग के विषय में जानने की इच्छा न होने पर भी परम कारुणिक भगवान् के केवल कारुण्य भाव से ही श्रेयोमार्ग के प्रकाशक वचन प्रवर्तित होते हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि तत्त्व को जानने के अनिच्छुक पुरुष के उपदेशग्रहण करने की अयोग्यता का निर्णय है अर्थात् अनिच्छुक को उपदेश देना व्यर्थ है, (जैसे भैंस के आगे बीन बजाना) । तत्त्वज्ञान को समझने की अभिलाषा से रहित पुरुष को उपदेश देना योग्य नहीं है, इससे अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् तत्त्व सुनने के अनाकांक्षी पुरुष को यदि उपदेश दिया जायेगा तो कीट-पतंग, उन्मत्त आदि को भी उपदेश देना चाहिए यह अतिप्रसंग दोष होगा । और ऐसे उपदेश देने वाले को करुणायुक्त नहीं कहना चाहिए । (अर्थात् वह कारुणिक नहीं कहलायेगा) क्योंकि दूसरों की तत्त्वग्रहण करने की इच्छा को जानकर परोपकार में प्रवृत्ति करने वाला ही कारुणिक कहलाता है । किसी की जानने की इच्छा न होने पर भी वा (आत्मा को छोड़) पर (प्रकृति) की इच्छा होने पर तत्त्व का प्रतिपादन करने में प्रवृत्ति करने वाला उपदेश स्वस्थ (विचारशील) नहीं है । क्योंकि श्रोता के सुनने की इच्छा के बिना उपदेश में प्रवृत्ति करने पर श्रोता के 'प्रश्नानुसार उत्तर देना' यह बात विरुद्ध होगी ।

जो पुरुष मूर्खता के कारण अपने हित को नहीं समझता है, उसके लिए प्रथम तत्त्वज्ञान जानने की इच्छा उत्पन्न कराने का प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि मिथ्याज्ञान के कारण अपने प्रतिकूल कार्य में सर्वदा अनुकूल के अभिमान से "मैं अनुकूल ही कर रहा हूँ" ऐसा विश्वास होने से कोई भी प्राणी अपने प्रतिकूल पदार्थ को जानना नहीं चाहता है । ऐसी दशा में "यह आपके अनुकूल नहीं है, यह अनुकूल है" यह इच्छा उत्पन्न करानी चाहिए । क्योंकि समुत्पन्न अनुकूल प्रतिपित्सा (जानने की इच्छा) वाला प्राणी ही वक्ता के उपदेश की योग्यता को आत्मसात् करता है । अतः श्रेयोमार्ग के जानने का इच्छुक शिष्य ही तत्त्व के प्रतिपादन को सुनने का अधिकारी है, अनाकांक्षी सुनने का अधिकारी नहीं है, यह ठीक ही कहा है ।

प्रधानस्यात्मनो वा चेतनारहितस्य बुभुत्सायां न प्रथमं सूत्रं प्रवृत्तं तस्याप्युपदेशायोग्यत्वनिश्चयात्खादिवत्। चैतन्यसंबन्धात्तस्य चेतनतोपगमादुपदेशयोग्यत्वनिश्चय इति चेन्न। तस्य चेतनासंबन्धेऽपि परमार्थतश्चेतनतानुपपत्तेः शरीरादिवत्। उपचारात्तु चेतनस्योपदेशयोग्यतायामतिप्रसंगः शरीरादिषु तन्निवारणाघटनात्।

तत्संबन्धविशेषात्परमार्थतः कस्यचिच्चेतनत्वमितिचेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचिच्चेतनातादात्म्यात्। ततो ज्ञानाद्युपयोगस्वभावस्यैव श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य श्रेयोमार्गप्रतिपित्सायां सत्यामिदं प्रकृतं सूत्रं प्रवृत्तमिति निश्चयः। प्रमाणभूतस्य प्रबंधेन वृत्तेः श्रोतृविशेषाभावे वक्तृविशेषासिद्धौ विधानानुपपद्यमानत्वात्।

किं पुनः प्रमाणमिदमित्याह:-

प्रधान (प्रकृति) की वा चेतना रहित आत्मा की तत्त्व जानने की इच्छा होने पर यह प्रथम सूत्र (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) प्रवृत्त नहीं हुआ है, क्योंकि आकाश, पत्थर आदि के समान स्वयं जड़ स्वरूप प्रकृति और अचेतन आत्मा के उपदेश प्राप्त करने की अयोग्यता का निश्चय है, अर्थात् जैसे अचेतन आकाशादि उपदेश नहीं ग्रहण कर सकते, उसी प्रकार अचेतन आत्मा और प्रकृति भी।

“चैतन्य गुण के संबंध से आत्मा के चेतनता स्वीकार करने पर उस अचेतन आत्मा और प्रकृति के उपदेश सुनने की योग्यता का निश्चय होगा” ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि स्वतः जड़स्वरूप प्रकृति और आत्मा के चेतना का संबंध होने पर भी शरीर के समान उनमें परमार्थ (वास्तविक) चेतनता की अनुपपत्ति है। अर्थात् जैसे शरीर चेतना के सम्बन्ध से चेतन नहीं हो सकता, उसी प्रकार चेतना के सम्बन्ध से प्रकृति और आत्मा वास्तविक चेतन नहीं बन सकते। तथा उपचार से चेतन के भी उपदेश सुनने की योग्यता है, ऐसा माननेपर शरीरादि में उस उपदेश सुनने की योग्यता का निवारण (निषेध) करने की अशक्यता होने से, अतिप्रसंग दोष आयेगा- अर्थात् उपचार से चेतन शरीर भी है, उसमें भी उपदेश सुनने की योग्यता होगी।

यदि “शरीर आदि में नहीं रहने वाली चेतना के सम्बन्ध विशेष से किसी (आत्मा और प्रधान) के परमार्थतः चेतनता है”,^१ ऐसा मानते हो तो वह चेतना का विशेष सम्बन्ध कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध के सिवाय आत्मा को छोड़कर दूसरे में क्या हो सकता है? इसलिए भविष्य काल में श्रेय के साथ संयुक्त होने वाले, ज्ञानादि उपयोग स्वभाव वाले शिष्य की मोक्षमार्ग को जानने की अभिलाषा होने पर ही यह प्रकरणप्राप्त प्रथम सूत्र प्रवृत्त हुआ है, यह निश्चित है। क्योंकि श्रोता विशेष के अभाव में वक्ता विशेष की असिद्धि होने पर विधिपूर्वक प्रबन्ध (प्रवाहरूप) से प्रमाणभूत सूत्र की रचना नहीं हो सकती।

आदिसूत्र की प्रामाणिकता

यह सूत्र प्रमाणभूत क्यों है, ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं-

१. सांख्य प्रधान को और नैयायिक आत्मा को चैतन्य के संयोग से चेतन मानता है।

संप्रदायाव्यवच्छेदाविरोधादधुना नृणाम् ।

सद्गोत्राद्युपदेशोऽत्र यद्वत्तद्विचारतः ॥६॥

प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः ।

लैंगिकं चाविनाभाविलिंगात्साध्यस्य निर्णयात् ॥७॥

प्रमाणमिदं सूत्रमागमस्तावदामूलत्वसिद्धेः सद्गोत्राद्युपदेशवत् । कुतस्तदाप्तमूलत्वसिद्धिरिति चेत् संप्रदायाव्यवच्छेदस्याविरोधात् तद्वदेवेति ब्रूमः । कथमधुनातनानां नृणां तत्संप्रदायाव्यवच्छेदाविरोधः सिद्ध इति चेत्? सद्गोत्राद्युपदेशस्य कथं? विचारादिति चेत् मोक्षमार्गोपदेशस्यापि तत एव । कः पुनरत्र विचारः? सद्गोत्राद्युपदेशे कः?

प्रत्यक्षानुमानागमैः परीक्षणमत्र विचारोऽभिधीयते सोमवंशः क्षत्रियोऽयमिति हि कश्चित्प्रत्यक्षतोऽतीन्द्रियादध्यवस्यति तदुच्चैर्गोत्रोदयस्य सद्गोत्रव्यवहारनिमित्तस्य साक्षात्करणात् ।

जिस प्रकार विचार से आजतक सम्प्रदाय के अव्यवच्छेद (गुरु परिपाटी के अनुसार) और विरोध रहित आया हुआ मनुष्यों के सद्गोत्र आदि का उपदेश है- अर्थात् वृद्ध परम्परा से चले आये मनुष्यों के गोत्र जाति आदि का उपदेश निर्दोष है, उसी प्रकार समीचीन विच्छेद रहित प्राचीन धारा से आजतक आया हुआ यह सूत्र है, इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा यह सूत्र प्रामाणिक सत्य वक्ता को आधार मान कर प्रसिद्ध होने से आगम प्रमाण भी है, तथा अविनाभावी लिंग (समीचीन व्याप्ति को रखने वाले मोक्षमार्गत्व हेतु) से साध्य (सम्यग्दर्शनादि तीनों की एकतारूप) का निर्णय कस्ने वाला होने से यह सूत्र अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है। ॥६-७॥

यह सूत्र आगमप्रमाण है- क्योंकि आप्त पुरुषों को मूल कारण मानकर आजतक प्रवाह रूप से सिद्ध हो रहा है, जैसे कि सद्गोत्र-वर्ण आदि का उपदेश आगमप्रमाण रूप है।

शंका- इस सूत्र को आगमप्रमाण मानने में आप्तमूलत्व (आप्त का कहा हुआ है यह) कैसे सिद्ध होता है? उत्तर- जिस प्रकार आज तक अव्यवच्छेद रूप से चले आये “सद्गोत्र-वर्ण जाति आदि वही हैं, जो पूर्व काल में थे” इसके मानने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार यह सूत्र भी अर्थतः सर्वज्ञ से लेकर आजतक अव्यवधान रूप धारा-प्रवाह से चला आ रहा है, इसमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा हम कहते हैं अर्थात् यह सूत्र अर्थतः सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित है।

शंका- आज पर्यन्त के मनुष्यों तक उस आचार्य परम्परा का सम्प्रदायाव्यवच्छेद (धाराप्रवाह) का अविरोध कैसे सिद्ध हो सकता है, अर्थात् यह सूत्र धाराप्रवाह से सर्वज्ञकथित ही आ रहा है, यह कैसे सिद्ध होता है? उत्तर- सद्गोत्र आदि का उपदेश आजतक धाराप्रवाह से कैसे आ रहा है? यदि कहो कि श्रेष्ठ गोत्र आदि का उपदेश प्राचीन पुरुषों की सम्मति से, निर्णयात्मक विचार से चला आ रहा है- तो मोक्षमार्ग का उपदेश भी प्राचीन आचार्यों की परम्परा से निर्णयात्मक होने से धाराप्रवाह रूप से चला आ रहा है। यदि कहो कि मोक्षमार्ग में विचार क्या है, तो बताओ सद्गोत्र आदि के उपदेश

कश्चित् कार्यविशेषदर्शनादनुमिनोति । तथाऽऽगमादपरः प्रतिपद्यते ततोऽप्यपरस्तदुपदेशादिति संप्रदायस्याव्यवच्छेदः सर्वदा तदन्यथोपदेशाभावात् । तस्याविरोधः पुनः प्रत्यक्षादिविरोधस्यासंभवादिति तदेतन्मोक्षमार्गोपदेशोऽपि समानं ।

तत्राप्येवंविधविशेषाक्रान्तानि सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्ग इत्यशेषतोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षतो भगवान् परममुनिः साक्षात्कुरुते, तदुपदेशाद्रणाधिपः प्रत्येति, तदुपदेशादप्यन्यस्तदुपदेशाच्चापर इति संप्रदायस्याव्यवच्छेदः सदा तदन्यथोपदेशाभावात् । तस्याविरोधश्च प्रत्यक्षादिविरोधस्याभावादिति ।

सद्गोत्राद्युपदेशस्य यत्र यदा यथा यस्याव्यवच्छेदस्तत्र तदा तथा तस्य प्रमाणत्वमपीष्टमिति चेत्, मोक्षमार्गोपदेशस्य किमनिष्टं ? केवलमत्रेदानीमेवमस्मदादेस्तद्व्यवच्छेदाभावात्प्रमाणता साध्यते ।

में भी विचार क्या है? यदि कहो कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों के द्वारा समीचीन परीक्षण करना यहाँ विचार कहा जाता है। क्योंकि 'यह सोमवंशीय क्षत्रिय है' ऐसा कोई अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा निर्णय करते हैं, उस सद्गोत्र के व्यवहार के निमित्त उस ऊँच गोत्र के उदय का प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ही साक्षात्कार होता है। और जो कोई प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, वे उन गोत्रादि के अविनाभावी कार्यविशेष को देखकर सद्गोत्र आदि का अनुमान कर लेते हैं। अर्थात् भिन्न-भिन्न कुलों में कुछ-न-कुछ विलक्षणता पाई जाती है, उसी से उनके गोत्रादि का अनुमान कर लिया जाता है। कोई आगम के द्वारा सद्गोत्र आदि को जानते हैं, उसके उपदेश से दूसरा जानता है, इस प्रकार सर्वदा सम्प्रदाय का व्यवच्छेद नहीं होता है। अर्थात् सद्गोत्र आदि का उपदेश धाराप्रवाह रूप से चला आ रहा है। यदि सद्गोत्रादि के उपदेश की धारा टूट गयी होती तो आज तक सर्वदा उनके उपदेश का अभाव हो जाता। इस प्रकार जब उक्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण उस उपदेश के साधक हैं बाधक नहीं हैं तो फिर सम्प्रदाय के न टूटने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा विरोध की असंभवता है। उसी प्रकार मोक्षमार्ग के उपदेश में भी यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण कथन सामान्य रूप से घट जाता है, अर्थात् भिन्न-भिन्न मोक्षमार्ग को भी तीनों प्रमाणों से जान सकते हैं।

इस मोक्षमार्ग में भी सद्गोत्र आदि की विशेषताओं के समान विशेषता (प्रशम संवेग आस्तिक्य अनुकम्पा आदि) से आक्रान्त सम्यग्दर्शनादि से मोक्षमार्ग का अनुमान कर लेते हैं। तथा परम मुनि भगवान् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा अशेष रूप से 'सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग है।' ऐसा साक्षात् जान लेते हैं।

तथा तीर्थंकर जिनेन्द्र के उपदेश द्वारा गणधरदेव आगमप्रमाण के द्वारा 'सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग है' ऐसा निर्णय कर लेते हैं और गणधरों के उपदेश से अन्य आचार्य आगमज्ञान कर लेते हैं और उनसे अन्य आचार्य। इस प्रकार सम्प्रदाय (परम्परा) अखण्ड धाराप्रवाह अद्यावधि चले आ रहे हैं। अन्यथा (इस प्रकार स्वीकार किए बिना) आज तक सच्चे वक्ताओं के उपदेश का अभाव हो जाता। परन्तु मोक्षमार्ग का उपदेश प्रवर्तित हो रहा है, इसमें कोई विरोध नहीं है तथा इस प्रकार संप्रदाय को अव्यवच्छेद मानने में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा विरोध की असंभवता है।

यदि कहो कि सद्गोत्र आदि के उपदेश का जिस क्षेत्र में जिस काल में और जिस प्रकार से जिस गोत्रादि का सम्प्रदायाव्यवच्छेद (धाराप्रवाह का घात नहीं हुआ) है, उस क्षेत्र में उस काल में उस प्रकार से, उस गोत्र आदि को अखण्ड रूप से मानना हमको इष्ट है तो मोक्षमार्ग के उपदेश की प्रमाणता इष्ट क्यों नहीं

कपिलाद्युपदेशस्थैवं प्रमाणता स्यादिति चेत् न, तस्य प्रत्यक्षादिविरोधसद्भावात्। नन्वाप्तमूलस्याप्युपदेशस्य कुतोर्थनिश्चयोऽस्मदादीनां? न तावत्स्वत एव वैदिकवचनादिवत्पुरुषव्याख्यानादिति चेत्। स पुरुषोऽसर्वज्ञो रागादिमांश्च यदि तदा तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयानुपपत्तिरयथार्थाभिधानशङ्कनात्। सर्वज्ञो वीतरागश्च न सोत्रेदानीमिष्टो यतस्तदर्थनिश्चयः स्यादिति कश्चित्। तदसत्। प्रकृतार्थपरिज्ञाने तद्विषयरोगद्वेषाभावे च सति तद्व्याख्यातुर्विप्रलम्भनासंभवात्तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयोपपत्तेः।

है, अर्थात् जिस काल में जिस क्षेत्र में जिस प्रकार से मोक्षमार्ग का उपदेश धाराप्रवाह से चला आ रहा है उसकी प्रमाणता इष्ट ही है। आप्तमूलत्व हेतु से सूत्र को आगमप्रमाण रूप सिद्ध करने वाले अनुमान से हम केवल इतना ही सिद्ध करते हैं कि इस भरत क्षेत्र में आज इस पंचम काल में हम लोगों को भी गुरुपरम्परा से चला आ रहा मोक्षमार्ग का उपदेश आगम प्रमाण रूप है। (अन्य क्षेत्रों में आज भी साक्षात् मोक्षमार्ग को अतीन्द्रिय ज्ञान से जानने वाले उपस्थित हैं।)

अन्य उपदेश प्रामाणिक नहीं हैं

यहाँ भीमांसक कहते हैं कि इस प्रकार गुरुओं की परम्परा का व्यवच्छेद न होने से मोक्षमार्ग के उपदेश को प्रमाण स्वरूप मानोगे तो कपिल, जैमिनी, कणाद आदि के उपदेश के भी प्रमाणता माननी पड़ेगी क्योंकि कपिल आदि का उपदेश भी परम्परा से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि कपिलादि के उपदेश को प्रमाणभूत मानना उचित नहीं है क्योंकि कपिलादि के उपदेश में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि प्रमाणों से विरोध का सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् उनका नित्य एकान्त आदि कथन प्रत्यक्षादि ज्ञान से बाधित है।

यहाँ प्रतिवादी प्रश्न करता है कि आप्तमूल सूत्ररूप उपदेश का अर्थनिर्णय हम लोगों को कैसे होगा? वैदिक वचन के समान स्वतः तो सूत्र के अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता। अर्थात् जिस प्रकार, “हमारा अर्थ भावना है, नियोग या विधि नहीं” आदि वेदवाक्य स्वयं कहते नहीं, उसी प्रकार ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ यह सूत्र भी स्वयं अपने अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता। यदि कहो कि विद्वान् पुरुषों के व्याख्यान से प्राचीन उपदेश रूप इस सूत्र के अर्थ का निर्णय किया जाता है तो इस सूत्र का व्याख्याता पुरुष यदि असर्वज्ञ और रागी द्वेषी है, तब तो उसके व्याख्यान से अर्थ का निश्चय होना असिद्ध है। क्योंकि रागी द्वेषी और अज्ञानी के कथन में अयथार्थ (असत्य अर्थ) के कथन की शंका बनी रहती है। यदि सूत्र का व्याख्याता सर्वज्ञ और वीतराग है तो वह इस समय इस क्षेत्र में इष्ट नहीं है, जिससे इस सूत्र के अर्थ का निश्चय हो सके। आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकार कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रकरण में प्राप्त मोक्षमार्ग रूपी अर्थ के परिज्ञान में, उसे बताने में रागद्वेष का अभाव होने के कारण, इस सूत्र का व्याख्यान करने वाले के विप्रलम्भना (धोखा देने) की असंभवा होने से, उस पुरुष के व्याख्यान से अर्थ का निश्चय होता है।

अपौरुषेयायमार्थनिश्चयस्तद्वदस्तु । मन्वादेस्तद्व्याख्यातुस्तदर्थपरिज्ञानस्य तद्विषयरागद्वेषाभावस्य च प्रसिद्धत्वादिति चेत् न, प्रथमतः कस्यचिदतीन्द्रियवेदार्थपरिच्छेदिनो ऽनिष्टेऽन्वर्थपरंपरातोर्थनिर्णयानुपपत्तेः । ननु च व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदार्थनिश्चये तद्विशिष्टवैदिकपदार्थनिश्चयस्य स्वतः सिद्धेः पदार्थप्रतिपत्तौ च तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिसंभवादश्रुतकाव्यादिवन्न वेदार्थनिश्चयेतीन्द्रियार्थदर्शी कश्चिदपेक्ष्यते, नाप्यंधपरंपरा यतस्तदर्थनिर्णयानुपपत्तिरिति चेत् । न ।

लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि नानार्थत्वावस्थितरेकार्थपरिहारेण व्याख्यांगमिति तस्यार्थस्य निगमयितुमशक्यत्वात् । प्रकरणादिभ्यस्तन्नियम इति चेन्न, तेषामप्यनेकधा

पुनः मीमांसक कहते हैं कि जिस प्रकार मोक्षमार्ग के उपदेष्टा के द्वारा इस सूत्र के अर्थ का निश्चय होता है, उसी प्रकार अपौरुषेय आगम के अर्थ का निर्णय भी व्याख्याताओं से हो जायेगा क्योंकि उस अपौरुषेय वेद के अर्थ के व्याख्याता मनु आदि ऋषियों को उस वेद के अर्थ का पूर्ण परिज्ञान था और वेद के विषय में उनके रागद्वेष का अभाव प्रसिद्ध ही है?

ग्रन्थकार कहते हैं कि आपका इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्रथमतः अतीन्द्रिय वेदार्थ का ज्ञाता कोई (सर्वज्ञ) है, ऐसा आपको इष्ट नहीं है अतः अन्ध परम्परा से अर्थ के निर्णय की अनुपपत्ति है, अर्थात् सर्वज्ञ व्याख्याता के अभाव में कपोलकल्पित परम्परा से अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता ।

यहाँ मीमांसक का कहना है कि जिस प्रकार व्याकरण, छन्द, न्याय आदि के अभ्यास से लौकिक पदों के (गौ, घटः, गजः आदि पदों के) अर्थ का निश्चय होता है, उसी प्रकार लौकिक वाक्यों से वेदवाक्यों में विशिष्टता न होने से वैदिक वाक्यों के अर्थ का निर्णय भी स्वतः सिद्ध है । क्योंकि जिस प्रकार नहीं सुने हुए काव्यादि के पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाने पर उसके वाक्यों के अर्थज्ञान की संभवता है- अर्थात् जैसे मानव एक-दो काव्य पढ़कर व्याकरण और कोश ज्ञान के अभ्यास से नहीं सुने हुए और नहीं पढ़े हुए अन्य काव्यों के अर्थ को अपने आप लगा लेता है, उसी प्रकार व्याकरण छन्द आदि के अभ्यास से ज्ञानी वेदवाक्यार्थ स्वयं जान लेता है अतः वेदार्थ का निश्चय करने के लिए अतीन्द्रियदर्शी (सर्वज्ञ) की कोई अपेक्षा नहीं है । अर्थात् सर्वज्ञ ही वेद के वाक्यों का ज्ञाता होता है, ऐसा नहीं है । और विद्वानों के द्वारा वेदवाक्यों के अर्थ का निर्णय होना मानने पर अन्धों की परम्परा भी नहीं है, जिससे वेदवाक्यार्थ का निर्णय न हो ।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वेदवाक्यों को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिए दिये गये उदाहरण ठीक नहीं हैं- क्योंकि लौकिक (लोक व्यवहार में आने वाले गौ घट आदि पदों में) और वैदिक पदों (अग्निमीडे पुरोहितं यजेत) में एकत्व (समानता) होने पर भी वेदवाक्यों में नाना (अनेक) अर्थों की व्यवस्था होने से एक अर्थ को छोड़कर दूसरे इष्ट अर्थ में ही कारण बताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिए, अन्य अर्थ में नहीं । अर्थात् 'सैन्धव' शब्द का 'सैन्धव देश का घोड़ा' 'नमक' आदि अनेक अर्थों में प्रयोग होने से इसका अर्थ घोड़ा ही होना चाहिए, ऐसी एकार्थ में अवधारणा करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार वेदवाक्यों के भी अनेक अर्थ होने से 'इस शब्द का यही अर्थ है' ऐसी अवधारणा करना शक्य नहीं है ।

प्रवृत्तेः पंचसंधानादिवदेकार्थस्य व्यवस्थानायोगात् । यदि पुनर्वेदवाक्यानि सनिबंधनान्येवानादिकालप्रवृत्तानि न व्याख्यानांतरापेक्षाणि देशभाषावदिति मतं, तदा कुतो व्याख्याविप्रतिपत्तयस्तत्र भवेयुः । प्रतिपत्तुर्माद्यादिति चेत् । केयं तदर्थसंप्रतिपत्तिरमंदस्य प्रतिपत्तुर्जातुचिदसंभवात् । सातिशयप्रज्ञो मन्वादितत्प्रतिपत्ता संप्रतिपत्तिहेतुरस्त्येवेति चेत् । कुतस्तस्य तादृशः प्रज्ञातिशयः ? श्रुत्यर्थस्मृत्यतिशयादिति चेत् । सोपि कुतः ।

पूर्वजन्मनि श्रुत्यभ्यासादिति चेत्, स तस्य स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत् सर्वस्य स्यात् तस्यादृष्टविशेषाद्वेदाभ्यासः स्वतो युक्तो न सर्वस्य तदभावादिति चेत् कुतोस्यैवादृष्टविशेषस्तादृग्वेदार्थानुष्ठानादिति चेत् । तर्हि स वेदार्थस्य स्वयं ज्ञातस्यानुष्ठाना

प्रकरण, बुद्धि आदि से एकार्थ की (विवक्षित अर्थ की) अवधारणा हो जाती है; ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि प्रकरण आदि की भी पंच संधान^१ आदि के समान अनेक अर्थों में प्रवृत्ति होने से प्रकरण आदि के द्वारा अनेक अर्थों के प्रतिपादक वैदिक शब्दों की एक ही अर्थ में व्यवस्था करने का अयोग्य है अर्थात् एक ही अर्थ में व्यवस्था नहीं हो सकती ।

यदि पुनः देशभाषा^२ के समान अनादि काल से प्रवृत्त अपने निरुक्त, कल्प, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, शिक्षा आदि अंगों से सन्निबद्ध वेदवाक्य व्याख्यानान्तर (भिन्न-भिन्न अर्थों) की अपेक्षा नहीं करते हैं, ऐसा मानते हो तो उन वेदवाक्यों में व्याख्याओं का विवाद क्यों है । चार्वाक “अन्नाद्वै पुरुषः” आदि श्रुतियों से अपना मत पुष्ट कर रहा है । अद्वैतवादी उन ही मंत्रों का अर्थ परम ब्रह्म करते हैं । मीमांसक भावनारूप और नियोग अर्थ में परस्पर विवाद करते हैं । अतः व्याख्याताओं का परस्पर विवाद होने से वेदवाक्यों का अर्थ एक नियत नहीं है ।

यदि कहो कि वेद के अर्थ को जानने वाले पुरुषों के ज्ञान की मन्दता से परस्पर विवाद होता है तो वह ज्ञान की अमन्दता (परिपूर्णता) वा वेदवाक्यों के अर्थ का निर्णय किसमें है, कहाँ है ? क्योंकि ऐसा सर्वज्ञ किसी समय हो सकता है, यह तो आपने असम्भव माना है । अर्थात् आप वास्तविक अर्थ को पूर्ण रूप से जानने वाले सर्वज्ञ को तो मानते नहीं हैं ।

यदि कहो कि वेदवाक्यों को जानने वाले सातिशय बुद्धिमान मनु आदि ऋषि हैं अर्थात् वेद वाक्यों के अर्थ का निर्णय मनु आदि ऋषियों ने किया है, वे ही समीचीन अर्थनिर्णय में कारण हैं तो हम पूछते हैं कि उन मनु आदि ऋषियों की बुद्धि में वैसा सूक्ष्म एवं त्रैकालिक पदार्थों को जानने का अतिशय कहाँ से आया ?

यदि कहो कि वेद के अर्थों का पूर्ण स्मरण रखने के अतिशय से उनकी प्रज्ञा का अतिशय हुआ है तो वेदों के अर्थ को स्मरण रखने का अतिशय भी उन ऋषियों में कैसे आया ?

यदि कहो कि मनु आदि को श्रुति के अर्थ-स्मरण की विशिष्टता पूर्व जन्म में किये हुए श्रुति के अभ्यास से आई है तो प्रश्न है कि वह मनु आदि के पूर्व जन्म का श्रुताभ्यास स्वयं अपने आप किया हुआ है कि अन्य किसी (गुरु) की सहायता से- यदि स्वतः वेद का अभ्यास करने से प्रज्ञातिशय प्राप्त हुआ है ऐसा मानते हो

१. एक श्लोक के पाँच अर्थ होते हैं । उसको पंचसंधान कहते हैं, इसी प्रकार द्विसंधान, सप्तसंधान, चतुर्विंशति संधान इत्यादि ।

२. इंगलिश, संस्कृत आदि भाषाएँ अनादि काल से अपने-अपने विषयों में निबद्ध हैं । जैसे इंगलिश में सन=सूर्य और हिन्दी में सन=रस्सी बनाने योग्य पाट आदि ।

स्यादज्ञातस्य वापि । न तावदुत्तरः पक्षोतिप्रसंगात् । स्वयं ज्ञातस्य चेत् परस्पराश्रयः, सति वेदार्थस्य ज्ञाने तदनुष्ठानाददृष्टविशेषः सति वादृष्टविशेषे स्वयं वेदार्थस्य परिज्ञानमिति । मन्वादेर्वेदाभ्यासोन्यत एवेति चेत् । स कोऽन्यः? ब्रह्मेति चेत् ।

तस्य कुतो वेदार्थज्ञानं धर्मविशेषादिति चेत् स एवान्योन्याश्रयः । वेदार्थपरिज्ञानाभावे तत्पूर्वकानुष्ठानजनितधर्मविशेषानुत्पत्तौ वेदार्थपरिज्ञानायोगादिति ।

स्यान्मतं । सहस्रशाखो वेदः स्वर्गलोके ब्रह्मणाधीयते चिरं पुनस्ततोवतीर्य मर्त्यं मन्वादिभ्यः प्रकाश्यते पुनः स्वर्गं गत्वा चिरमधीयते पुनर्मर्त्यावतीर्णोभ्यो मन्वादिभ्योऽवतीर्य प्रकाश्यते इत्यनाद्यनंतो ब्रह्ममन्वादिसंतानो वेदार्थविप्रतिपत्तिनिराकरणसमर्थोऽधपरंपरामपि परिहरतीति वेदे

तो सभी मनुष्यों को वेद का स्मरण मानना पड़ेगा । यदि कहो कि मनु आदि ऋषियों को पूर्वोपार्जित अदृष्ट (पुण्य) विशेष से वेदवाक्यों का अभ्यास स्वतः होता है ऐसा कहना ठीक है, अन्य सभी प्राणियों को स्वतः वेद का अभ्यास नहीं होता- क्योंकि उनमें पुण्यविशेष का अभाव है तो इन मनु आदि ऋषियों को ही वेदवाक्यों के अभ्यास का कारणभूत विशिष्ट पुण्य कैसे प्राप्त हुआ? यदि कहो कि पूर्व जन्म में उस प्रकार के वेद का अनुष्ठान (आचरण) करने से वैसा पुण्य प्राप्त हुआ है तो हम पूछते हैं कि पूर्वजन्म में उन मनु आदि ऋषियों ने स्वयं (वेद के अर्थ को जानकर के) कर्मों का अनुष्ठान (वेदविहित ज्योतिष्टोम अग्निहोत्र आदि) किया था कि वेदार्थ को बिना जाने ही अनुष्ठान किया? अतिप्रसंग दोष (चाहे जैसी क्रिया से पुण्यप्राप्ति का प्रसंग आने) से उत्तर पक्ष बिना जाने वेद के अर्थ का अनुष्ठान करना तो ठीक नहीं है । यदि कहो कि स्वयं वेद के अर्थ को जानकर ही मनु आदि ऋषियों ने वेदविहित क्रियाओं का अनुष्ठान किया है और उससे विशिष्ट पुण्योपार्जन किया है तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है कि जब वेद के अर्थ का ज्ञान हो जाय तब तो वेद को जानकर वेदविहित अनुष्ठान से विशिष्ट पुण्य प्राप्त करें और जब विशिष्ट पुण्य का उपार्जन हो जाय तब उस विशिष्ट पुण्य से मनु आदि ऋषि स्वयं वेद के अर्थ का परिज्ञान करें, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

यदि यह कहो कि मनु आदि ऋषियों को पूर्वजन्म में वेद का अभ्यास अन्य महात्माओं से हुआ है, तो वे अन्य महात्मा कौन हैं? यदि कहो कि मनु आदि को श्रुति का अभ्यास ब्रह्मा से हुआ है, तो उस ब्रह्मा को अनादिकालीन वेदों के अर्थ का ज्ञान किससे हुआ?

यदि कहो कि ब्रह्मा को अतिशययुक्त पुण्य से गुरु के बिना ही स्वतः अनादिकालीन वेदों के अर्थ का परिज्ञान हो जाता है तो वही पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष आता है- क्योंकि वेदार्थ के परिज्ञान के अभाव में उस ज्ञानपूर्वक किये हुए अनुष्ठानजनित धर्मविशेष (पुण्य) की उत्पत्ति नहीं हो सकती और वेदविहित अनुष्ठान से उपार्जित पुण्योदय के बिना वेदार्थ के परिज्ञान का अयोग (अभाव) होगा ।

मीमांसक कथन- वेद हजार शाखा वाला है । स्वर्ग लोक में ब्रह्मा चिर काल तक उस वेद का अध्ययन करते हैं, पश्चात् स्वर्ग से मर्त्य लोक में अवतार लेकर मनु आदि ऋषियों के लिए वेद के अर्थ का प्रकाशन करते हैं, पुनः स्वर्ग में जाकर चिर काल तक वेद के अर्थ का अध्ययन करते हैं, पुनः ब्रह्मा स्वर्ग से उतर कर मनुष्य में अवतार लेकर उन्हीं मनु आदि ऋषियों के लिए वेदार्थ का प्रकाशन करते हैं । इस प्रकार अनादि अनन्त ब्रह्मा और मनु आदि की परम्परा वेदार्थ के विवाद का निराकरण करने में समर्थ है और ब्रह्मा एवं मनु की परम्परा को मान लेने पर वेद में अन्ध-परम्परा दोष का निवारण भी हो जाता है ।

तदव्याहृतं, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थज्ञान-विकलत्वोपगमाद्ब्रह्मादेरतीन्द्रियार्थज्ञानायोगात् ।
चोदनाजनितमतीन्द्रियार्थज्ञानं पुंसोभ्युपेयते चेत्, योगिप्रत्यक्षेण कोऽपराधः कृतः ।

तदन्तरेणापि हेयोपादेयतत्त्वनिश्चयात् किमस्यादृष्टस्य कल्पनयेति चेत्
ब्रह्मादेरतीन्द्रियार्थज्ञानस्य किमिति दृष्टस्य कल्पना । संभाव्यमानस्येति चेत् योगिप्रत्यक्षस्य
किमसंभावना । यथैव हि शास्त्रार्थस्याक्षाद्यगोचरस्य परिज्ञानं केषांचिददृष्टमिति ब्रह्मादेर्वेदार्थस्य
ज्ञानं तादृशस्य संभाव्यते तथा केवलज्ञानमपीति निवेदयिष्यते ।

ततः सकलागमार्थविदामिव सर्वविदां प्रमाणसिद्धत्वानुपलभ्यमानानां परिकल्पना । नापि
तैर्विनैव हेयोपादेयतत्त्वनिर्णयः सकलार्थविशेषसाक्षात्करणमन्तरेण

जैनाचार्य मीमांसकों के इस कथन का खण्डन करते हैं- मीमांसकों के द्वारा सर्व ही पुरुषों को अतीन्द्रिय
पदार्थों के ज्ञान से रहित माना गया है अतः ब्रह्मा के भी अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञान की अयोग्यता है- अर्थात्
ब्रह्मादि को भी अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं हो सकता ।

यदि याज्ञिक कहे कि (जुहुयात् पचेत् यजेत् इत्यादि) प्रेरणा करने वाले (विधिलिङ्ग) वेदवाक्यों से जनित
(उत्पन्न) अतीन्द्रिय अर्थ (इन्द्रियों से नहीं जानने योग्य पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष आदि अर्थ) का ज्ञान पुरुष को
आगम से होता है, ऐसा हम मानते हैं तो फिर योगिप्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ अतीन्द्रिय पदार्थों को जानते हैं इसमें
क्या अपराध है अर्थात् योगिप्रत्यक्ष ने क्या अपराध किया है । अर्थात् ज्ञान में आगम द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों
के जानने का अतिशय मान लेने पर यह मानने में कोई बाधा नहीं रहती कि सर्वज्ञ भी अपने केवलज्ञानरूपी
प्रत्यक्ष में अतीन्द्रिय अर्थों को जान लेते हैं ।

मीमांसक पूछते हैं कि सर्वज्ञ को स्वीकार किये बिना भी हेयोपादेय तत्त्व का निश्चय हो जाने से अदृष्ट
(दृष्टिगोचर नहीं होने वाले) सर्वज्ञ की कल्पना से क्या प्रयोजन है? मीमांसकों के इस कथन के सन्दर्भ में ग्रन्थकार
कहते हैं कि अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञाता ब्रह्मा आदि की आपकी कल्पना क्या दृष्ट की है? अर्थात् आगम के द्वारा
अतीन्द्रिय अर्थ को जानने वाला ब्रह्मा क्या तुम को दीख रहा है, यह भी तो अदृष्टपदार्थ की ही कल्पना है ।

यदि कहो कि अर्थापत्ति प्रमाण से उस अतीन्द्रिय ज्ञान की संभावना की जाती है तो योगि- प्रत्यक्ष
(सर्वज्ञ) की संभावना क्यों नहीं है? क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रियों के अगोचर शास्त्र के अर्थ का ज्ञान किन्हीं
विद्वानों में देखा गया है, वैसा ही ब्रह्मादि के वेदार्थ का ज्ञान है अर्थात् जैसे मनु आदि के ज्ञान में आगम के
द्वारा परोक्ष अर्थ के जानने का अतिशय है, उसी प्रकार केवलज्ञान में भी है । इस बात को हम आगे निवेदन
करेंगे । इसलिए आगम प्रमाण के द्वारा संपूर्ण पदार्थों को जानने वाले ब्रह्मा, मनु आदि ऋषियों की सिद्धि के
समान सर्वज्ञ केवली भगवान की प्रमाण (आगम एवं अनुमान प्रमाण) के द्वारा सिद्धि हो जाने से अनुपलभ्यमान
(सर्वज्ञ दृष्टिगोचर नहीं होता है, इसलिए नहीं है) की कल्पना युक्त नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ प्रमाणसिद्ध नहीं है,
परिकल्पित है, ऐसा कहना उचित नहीं है । तथा सर्वज्ञ के बिना हेयोपादेय तत्त्व का निर्णय भी नहीं होता है,
क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का विशेष विशद रूप से साक्षात् किये (प्रत्यक्ष देखे) बिना आत्मा, परमात्मा, परमाणु
आदि किसी भी पदार्थ के निर्दोष रूप से विधान (कथन) का अयोग है अर्थात् वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी
के बिना अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय नहीं हो सकता ।

कस्यचिदर्थस्यांक्षूणविधानायोगात् । सामान्यतस्तत्त्वोपदेशस्याक्षूणविधानमाम्नायादेवेति चेत्
तर्ह्यनुमानादेव तत्तथास्त्विति किमागमप्रामाण्यसाधनायासेन ।

प्रत्यक्षानुमानाविषयत्वनिर्णयो नागमाद्विनेति तत्प्रामाण्यसाधने
प्रत्यक्षानुमानागमाविषयत्वविशेषनिश्चयोपि न केवलज्ञानाद्विनेति तत्प्रामाण्यं किं न साध्यते । न
हि तृतीयस्थानसंक्रांतार्थभेदनिर्णयासंभवेनुमेयार्थनिर्णयो नोपपद्यत
इत्यागमगम्यार्थनिश्चयस्तत्त्वोपदेशहेतुर्न पुनश्चतुर्थस्थानसंक्रांतार्थनिश्चयोऽपीति युक्तं वक्तुं । तदा
केवलज्ञानासंभवे तदर्थनिश्चयायोगात् । न च चोदनाविषयत्वमतिक्रांतश्चतुर्थस्थानसंक्रांतः
कश्चिदर्थविशेषो न विद्यत एवेति युक्तं, सर्वार्थविशेषाणां चोदनया विषयीकर्तुमशक्तेस्तस्याः
सामान्यभेदविषयत्वात् ।

यदि कहो कि अनुमान और आगम प्रमाण से पदार्थों का ज्ञान विशद रूप से तो नहीं होता है परन्तु
अनादिकालीन वेदवाक्य रूप आगम के द्वारा सामान्य रूप से अतीन्द्रिय तत्त्वों के उपदेश का सम्पूर्ण विधि-विधान
निर्दोष होता है तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो अनुमान से उन अतीन्द्रिय पदार्थों का सामान्य ज्ञान हो जायेगा ।
(सम्पूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं सत्स्वरूप होने से, सर्व चराचर वस्तुएँ प्रकृति और पुरुष स्वरूप हैं प्रमेय होने
से, इत्यादि अनुमान ज्ञान के द्वारा जीवादि पदार्थों का ज्ञान हो ही जायेगा) तब वेद को आगम प्रमाण रूप साधन
सिद्ध करने के परिश्रम से भी क्या प्रयोजन है ।

मीमांसक^१ कहता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के द्वारा नहीं जानने योग्य विषय का निर्णय आगम
ज्ञान के बिना नहीं हो सकता इसलिए वेद रूप आगम का प्रमाणपना सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तो ग्रन्थकार
कहते हैं कि प्रत्यक्ष (संव्यवहारिक प्रत्यक्ष) अनुमान और आगम ज्ञान के अविषयभूत (आगम अनुमान और
संव्यवहारिक प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जानने योग्य) विषयों का विशेष निर्णय भी केवलज्ञान के बिना नहीं हो सकता
है । अतः उस केवलज्ञान को प्रमाणपना क्यों नहीं सिद्ध किया जायेगा (यानी अवश्य ही सिद्ध किया जायेगा ।
अर्थात् सूक्ष्म, विप्रकृष्ट और अन्तरित पदार्थ केवलज्ञान के द्वारा ही जाने जाते हैं ।)

तृतीय स्थान में संक्रान्त पदार्थ (इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के द्वारा नहीं जानने योग्य पदार्थ को
तृतीय स्थान संक्रान्त पदार्थ कहते हैं) के भेद के निर्णय की असंभवता (निर्णय न) होने पर अनुमान से जानने
लायक उन अतीन्द्रिय अर्थों का निर्णय नहीं हो सकता अतः (वेद रूप) आगम से जानने योग्य अर्थों का निश्चय
करना तो तत्त्वों के उपदेश की प्राप्ति में हेतु है इसलिए आगम प्रमाण को मानना तो अत्यावश्यक है । परन्तु चतुर्थ
स्थान संक्रान्त (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से अतिरिक्त केवलज्ञान से जानने योग्य) पदार्थ का निर्णय
करना तत्त्वोपदेश की प्राप्ति में कारण नहीं है, इस प्रकार मीमांसकों का कहना उचित युक्तिसहित नहीं है- क्योंकि
जिस प्रकार तृतीय आगम प्रमाण के द्वारा अर्थ का निर्णय किये बिना परमाणु आदि अनुमेय पदार्थों का निश्चय
नहीं हो सकता है उसी प्रकार चतुर्थ केवलज्ञान के असंभव में (यानी उसे स्वीकार न करने पर) पुण्य, पाप,
स्वर्ग, मोक्ष आदि आगम के द्वारा जानने योग्य पदार्थों का निर्णय भी नहीं हो सकता ।

१. मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं । उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान
और आगम ये तीन प्रधान हैं । इनमें तीसरा आगम है ।

ततोऽशेषार्थविशेषाणां साक्षात्करणक्षमः प्रवचनस्याद्यो व्याख्याताभ्युपेयस्तद्विनेयमुख्यश्च सकलागमार्थस्य परिच्छेदीति तत्संप्रदायाव्यवच्छेदादविरुद्धात्सिद्धोऽस्मदादेरागमार्थनिश्चयो न पुनरपौरुषेयागमसंप्रदायाव्यवच्छेदात्तत्सूक्तमागमः प्रमाणमिदं सूत्रमिति । ननु च सन्नप्याप्तः प्रवचनस्य प्रणेतास्येति ज्ञातुमशक्यस्तद्व्यापारादेर्व्यभिचारित्वात् सरागा अपि हि वीतरागा इव चेष्टन्ते वीतरागाश्च सरागा इवेति कश्चित् । सोप्यसंबद्धप्रलापी । सरागत्ववीतरागत्वनिश्चयस्य क्वचिदसंभवे तथा वक्तुमशक्तेः । सोऽयं वीतरागं सरागवच्चेष्टमानं कथंचिन्निश्चिन्वन् वीतरागनिश्चयं प्रतिक्षिपतीति कथमप्रमत्तः स्वयमात्मानं कदाचिद्वीतरागं सरागवच्चेष्टमानं संवेदयते न पुनः परमिति चेत् । कुतः

सम्पूर्ण पदार्थों के प्रेरक वेद के लिङ्गन्त वाक्यों के विषय से अतिक्रान्त, (वेदवाक्य के विधि लिङ्ग धातु सर्व पदार्थों को विषय करते हैं। अतः उस विधिवाक्य से अतिरिक्त) चतुर्थ स्थान (केवल-ज्ञान) में संक्रान्त (केवलज्ञान के द्वारा जानने योग्य) कोई पदार्थ विशेष है ही नहीं, इस प्रकार का मीमांसकों का प्रतिवाद भी युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि विधि लिङ्गलकार की क्रियावाले वेदवाक्यों से अतीन्द्रिय पदार्थों का सामान्य रूप से भिन्न-भिन्न ज्ञान होने से, सम्पूर्ण पदार्थों के विशेष विशेषांशों का वेदवाक्यों के द्वारा विशद रूप से निश्चय करना शक्य नहीं है। अर्थात् सम्पूर्ण अर्थपर्यायों सहित पदार्थों का विशद ज्ञान वेदवाक्यों से नहीं हो सकता। इसलिए सम्पूर्ण पदार्थों और उनके विशेषों (सम्पूर्ण पर्यायों) को साक्षात् करने में (जानने में) समर्थ सर्वज्ञ भगवान को ही इस प्रवचन के आद्य (प्रथम) व्याख्याता स्वीकार करना चाहिए। और गणधर आदि उनके मुख्य शिष्य सकल आगमार्थ के ज्ञाता होते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ की आम्नाय (परम्परा) का व्यवच्छेद नहीं होने से हम लोगों (जैन लोगों) के आगम के अर्थ का निर्णय निर्बाध सिद्ध होता है परन्तु मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत अपौरुषेय आगम (वेद वाक्य) की आम्नाय का व्यवच्छेद न होने पर भी अन्ध परम्परा के समान विज्ञ पुरुषों को आज तक अर्थ का निर्णय नहीं हो सका। इसलिए सुष्ठु कहा है कि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भोक्षमार्गः यह सूत्र आगमप्रमाण स्वरूप है।

बौद्ध कहता है कि आप्त की सिद्धि हो जाने पर भी आप्त 'इस शास्त्र का प्रणेता है' यह जानना शक्य नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाले व्यापार (वचन, काय की चेष्टा) आदि हेतुओं में व्यभिचार देखा जाता है। कोई सराग भी वीतराग के समान और कोई वीतराग भी सराग के समान चेष्टा करते हैं (इसलिए वीतराग को जानने का कोई साधन नहीं है।)

उत्तर- इस प्रकार कहने वाला बौद्ध भी बिना सम्बन्ध के बकवाद करने वाला है अर्थात् इस प्रकार कथन करने वाले को अपने वक्तव्य के पूर्वापरविरोध का विचार नहीं है। जिसे सरागत्व और वीतरागत्व का कहीं भी निश्चय संभव नहीं है, उसका 'यह सराग वीतराग के समान और यह वीतराग सराग के समान चेष्टा करता है।' ऐसा कहना भी अशक्य होगा। क्योंकि सराग के समान चेष्टा करते हुए तथा वीतराग का कथञ्चित् निश्चय करते हुए भी बौद्ध वीतराग के निश्चय का खण्डन करता है, तो वह बौद्ध अप्रमत्त कैसे है?

सुगतसंवित्तिः कार्यानुमानादिति चेत् न, तत्कार्यस्य व्याहारादेर्व्यभिचारित्ववचनात् । विप्रकृष्टस्वभावस्य सुगतस्य नास्तित्वं प्रतिक्षिप्यते बाधकाभावात् तु तदस्तित्वनिश्चयः क्रियत इति चेत् कथमनिश्चितसत्ताकः स्तुत्यः प्रेक्षावतामिति साश्चर्यं नश्येत् । कथं वा संतानान्तरक्षणस्थितिस्वर्गप्रापणशक्त्यादेः सत्तानिश्चयः स्वभावविप्रकृष्टस्य क्रियेत? तदकरणे सर्वत्र संशयान्नाभिमततत्त्वनिश्चयः । संवेदनाद्वैतमत एव श्रेयस्तस्यैव सुगतत्वात् संस्तुत्यतोपपत्तेरित्यपरः । सोऽपि यदि संवेद्याद्याकाररहितं निरंशक्षणिकवेदनं विप्रकृष्टस्वभावं क्रियात्तदा न तत्सत्तासिद्धिः स्वयमुपलब्ध्यस्वभावं चेन्न तत्र विभ्रमः स्वयमुपलब्ध्यस्यापि निश्चयाभावाद्विभ्रमः स्यादिति चेत् ।

यदि बौद्ध कहें कि कभी-कभी रागरहित अवस्थाओं में स्वयं को सराग के समान चेष्टा करते हुए अनुभव होता है, दूसरे की आत्मा का नहीं (अर्थात् दूसरे की अतीन्द्रिय आत्मा को हम नहीं जान सकते।) तो तुम सुगत का ज्ञान कैसे करते हो? (अर्थात् सुगत की आत्मा पर है फिर उस इष्ट देवता बुद्ध का ज्ञान तुमको कैसे होता है?)

ज्ञानसंतान रूप बुद्ध के उपदेश देना, भावना भाना, आदि कार्य रूप ज्ञापक हेतु के द्वारा अनुमान से बुद्धरूप साध्य का ज्ञान होता है। यदि ऐसा कहोगे तो यह भी उचित नहीं है- क्योंकि वचन बोलना, उपदेश देना आदि कार्य के व्यवहारादि से व्यभिचार आता है- अर्थात् उपदेश देना आदि बुद्ध की चेष्टा रूप क्रियाएँ अज्ञानी भूखों में भी पाई जाती हैं।

यदि कहो कि बाधक प्रमाण का अभाव होने से न तो विप्रकृष्ट स्वभाव वाले (अतीन्द्रिय) सुगत (बुद्ध) के अस्तित्व का खण्डन किया जाता है और न सुगत के अस्तित्व का अनुमान के द्वारा निश्चय ही किया जाता है तो जिस सुगत की सत्ता का ही निश्चय नहीं है, विद्वान् पुरुष ऐसे असत् पदार्थ की स्तुति कैसे करते हैं? यह हमारे चित्त में आश्चर्य हो रहा है। और स्वभाव से विप्रकृष्ट ज्ञानसंतान तथा पदार्थों की क्षणिकत्व शक्ति एवं अहिंसा दानादि स्वर्ग-प्रापण शक्ति आदि की सत्ता का निश्चय भी कैसे किया जाता है। तथा उस अतीन्द्रिय क्षणिकादि शक्ति के सत्ता का निश्चय न होने पर सम्पूर्ण पदार्थों में संशय होने से सौत्रान्तिक को इष्ट स्वलक्षण, विज्ञान, क्षणिकत्व आदि तत्त्वों का निश्चय भी कैसे हो सकेगा? अर्थात् नहीं हो सकेगा।

कोई (योगाचार) कहता है कि- अंतरंग बहिरंग घट, पट, स्वलक्षण, सन्तानान्तर आदि पदार्थों की सिद्धि नहीं होती इसलिए संवेदनाद्वैत मानना ही श्रेयस्कर है, (अर्थात् संवेदन के अतिरिक्त संसार में कोई वस्तु नहीं है) वही वास्तव में सुगत होने से स्तुति करने योग्य है? संवेदन ही सुगत है और वही स्तुत्य है।

उत्तर- संवेदनाद्वैत मानने वाला भी यदि ज्ञान को संवेद्यादि आकार रहित (संवेद्य आकार, संवेदक आकार और संवित्ति आकार इन तीनों से रहित) मानेगा और ऐसा क्षण में नष्ट होने वाला अंशों से रहित वह संवेदन, प्रत्यक्ष, अनुमान से जानने योग्य स्वभावों से दूरवर्ती रहता हुआ यदि किया जावेगा तो उस समय उस (संवेदनाद्वैत) संवेदन की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि कहो कि संवेदन अपने आप उपलब्धमान स्वभाव वाला है तो उसमें फिर (उसके ज्ञान में) किसी को भी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए।

१. वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, और माध्यमिक बौद्धों के ये चार सम्प्रदाय हैं। इनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक अन्तरंग और बहिरंग दोनों पदार्थों को स्वीकार करते हैं। योगाचार केवल अन्तरंग पदार्थ को स्वीकार करते हैं और माध्यमिकों के अनुसार पदार्थ मात्र ही शून्य है।

कथमनिश्चितं स्वतः सिद्धं नाम येन स्वरूपस्य स्वतो गतिर्व्यवतिष्ठेतेति क्वायं तिष्ठेद्विप्रकृष्टसंशयवादी ।

अनाद्यविद्यातृष्णाक्षयादद्वयसंवेदने विभ्रमाभावो न निश्चयोत्पादात् सकलकल्पनाविकल्पत्वात्तस्येति चेत्, सा तर्ह्यविद्या तृष्णा च यद्युपलभ्यस्वभावा तदा न संवेदनाद्वैतं तस्यास्ततो न्यस्याः प्रसिद्धेः । सानुपलभ्यस्वभावा चेत्, कुतस्तद्भावाभावनिश्चयो यतो ह्यद्वयसंवेदने विभ्रमाविभ्रमव्यवस्था ।

निरंशसंवेदनसिद्धिरेवाविद्यातृष्णानिवृत्तिसिद्धिरित्यपि न सम्यक् । विप्रकृष्टेतरस्वभावयोरर्थयोरेकतरसिद्धावन्यतरसद्भावासद्भावसिद्धेरयोगात् । कथमन्यथा व्याहारादिविशेषोपलंभात्कस्यचिद्विज्ञानाद्यतिशयसद्भावा न सिद्धयेत् ।

यदि योगाचार कहे कि स्वयं जानने योग्य पदार्थ के भी निश्चयात्मक ज्ञान के अभाव से विभ्रम होता है, तो जिस वस्तु का निश्चय नहीं है वह वस्तु स्वतः ज्ञात होकर सिद्ध हो सकती है यह कैसे कहा जाय? जिससे कि स्वरूप (संवेदन के स्वरूप) का स्वतः ज्ञान व्यवस्थित हो सके अतः विप्रकृष्ट पदार्थों में संशय का कथन करने वाले बौद्ध की स्थिति कहाँ रह सकती है?

यदि (बौद्ध) कहे कि ज्ञानाद्वैत के ज्ञान में अनाद्य अविद्या (मिथ्याज्ञान) और तृष्णा के क्षय हो जाने से विभ्रम का अभाव होता है, सकल कल्पनाओं से रहित (निर्विकल्प) होने से उस ज्ञानाद्वैत संवेदन का निश्चय के उत्पन्न हो जाने से विभ्रम का अभाव नहीं होता (अर्थात् अद्वैत संवेदन कल्पनाओं से रहित है अतः उसका निश्चय नहीं हो सकता) तो हम पूछते हैं कि वह तृष्णा (वाञ्छा) और अविद्या उपलभ्य स्वभाव है कि अनुपलभ्य स्वभाव है? यदि वह अविद्या और तृष्णा उपलभ्य स्वभाव है तो संवेदनाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि संवेदनाद्वैत से भिन्न अविद्या एवं तृष्णा की प्रसिद्धि है। अर्थात् तृष्णा और अविद्या का भी अनुभव हो रहा है। यदि कहो कि अविद्या और तृष्णा अनुपलभ्य स्वभाव (जानने योग्य नहीं) है, तो उस अविद्या और तृष्णा के सद्भाव तथा अभाव का निर्णय कैसे होगा? जिससे अद्वैतसंवेदन में अविभ्रम (सत्य) और विभ्रम (असत्य) की व्यवस्था की जावे।

बौद्ध कहते हैं कि “निरंश (प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति, वा ग्राह्य, ग्राहक, ज्ञप्ति इन तीनों अंशों से रहित) शुद्ध संवेदन की सिद्धि हो जाने पर अविद्या और तृष्णा की निवृत्ति की सिद्धि होती है” सो उनका यह कहना भी उचित नहीं है—(सम्यक् नहीं है) क्योंकि विप्रकृष्ट (अत्यन्त परोक्ष) और प्रत्यक्ष स्वभाव वाले दो पदार्थों में से किसी एक पदार्थ की सिद्धि हो जाने पर दूसरे पदार्थ की सत्ता या असत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। अन्यथा यदि संवेदनाद्वैत की सिद्धि हो जाने से अविद्या और तृष्णा के अभाव की सिद्धि हो जायेगी तो व्यवहारादि (विशिष्ट वचनों का उच्चारण, चेष्टादि) विशेष कारणों की उपलब्धि से किसी आत्मा के विज्ञानादि (वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशीपन) अतिशयों के सद्भावा की सिद्धि क्यों नहीं होगी? अवश्य ही होगी।

तदर्थं प्रतिपत्ता स्वस्मिन् व्याहारादिकार्यं रागित्वारागित्वयोः संकीर्णमुपलभ्य परत्र रागित्वनियमभावं साधयति न पुनररागित्वं । रागित्वं चेति ब्रूयाणः परीक्षकत्वमभिमन्यत इति किमपि महाद्भुतं । यर्थेव हि रागित्वाद्यतीन्द्रियं तथा तदनियतत्वमपीति । कुतश्चित्तत्साधने वीतरागित्वाद्यतिशयसाधनं साधीयः । ततोयमस्य प्रवचनस्य प्रणेतास्य इति ज्ञातुं शक्यत्वादाप्तमूलत्वं तत्प्रामाण्यनिबन्धनं सिद्ध्यत्येव ।

अथवानुमानमिदं सूत्रमविनाभाविनो मोक्षमार्गत्वलिङ्गान्मोक्षमार्गधर्मिणि सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वस्य साध्यस्य निर्णयात् । तथाहि, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गो मोक्षमार्गत्वान्यथानुपपत्तेः, न तावदत्राप्रसिद्धो धर्मी हेतुर्वा मोक्षवादिनामशेषाणामविप्रतिपत्तेः । मोक्षाभाववादिनस्तु प्रति तत्सिद्धेः प्रमाणतः करिष्यमाणत्वात् ।

यह वह संवेदन सत्ता का ज्ञाता अपने आप में रागसहितपने और वीतरागसहितपने से मिले हुए व्यवहारादि कार्य को जानकर दूसरे पुरुषों में केवल रागीपने के नियम का अभाव तो सिद्ध करता है परन्तु रागित्व एवं वीतरागित्व के अस्तित्व का नियम नहीं मानता है, ऐसा कहने वाला बौद्ध अपने परीक्षकपने का अभिमान करता है, यह भी एक बड़ा भारी आश्चर्य है । क्योंकि जिस प्रकार रागित्व और वीतरागित्व बहिरंग इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य नहीं है उसी प्रकार उनके अभाव का नियम करना भी अतीन्द्रिय है, अर्थात् जो पदार्थ इन्द्रियों के अगोचर है उनका अभाव भी इन्द्रियों का विषय नहीं है । फिर भी यदि किसी साधन से अतीन्द्रिय अभाव की सिद्धि की जाती है तो वीतरागित्व आदि अतिशयों का साधन करना भी सिद्ध होता है । इसलिए इस प्रवचन के प्रणेता आप्त हैं, ऐसा जानना शक्य होने से, आप्तमूल के होने से आगमप्रमाणपना सिद्ध हो ही जाता है, जो इसकी प्रमाणता का कारण है- अर्थात् यह तत्त्वार्थ सूत्र आप्तमूलक होने से इसके आगमप्रमाणपना सिद्ध है ।

अथवा- यह सूत्र अनुमान ज्ञान से भी प्रमाणभूत है, क्योंकि अविनाभावी मोक्षमार्गत्व हेतु से साध्यरूप मोक्षमार्ग रूप धर्मी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रूप साध्य का निश्चय किया जाता है । तथाहि-मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप है, अन्यथा उसके मोक्षमार्गपना नहीं बन सकता; इस अनुमान में मोक्षमार्ग पने रूप हेतु अप्रसिद्ध भी नहीं हैं क्योंकि इस हेतु में (मोक्षमार्गपने में) मोक्ष को मानने वाले दार्शनिकों का विवाद नहीं है और जो मोक्ष को सर्वथा मानने वाले नहीं हैं, उनके प्रति तो मोक्ष की सिद्धि प्रमाणपूर्वक आगे करेंगे ।

प्रतिज्ञार्थकदेशो हेतुरिति चेत्। कः पुनः प्रतिज्ञार्थस्तदेकदेशो वा? साध्यधर्मधर्मिसमुदायः प्रतिज्ञार्थस्तदेकदेशः साध्यं धर्मो यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यत्वादिति, धर्मी वा तदेकदेशो यथा नश्वरः शब्दः शब्दत्वादिति, सोऽयं हेतुत्वेनोपादीयमानो न साध्यसाधनायात्वं स्वयमसिद्धमिति चेत्। कथं धर्मिणोऽसिद्धता 'प्रसिद्धो धर्माति' वचनव्याघातात्।

सत्यं। प्रसिद्ध एव धर्माति चेत् स तर्हि हेतुत्वेनोपादीयमानोऽपि न स्वयमसिद्धो यतो न साध्यं साधयेत्। स हेतुस्तदन्वयः स्यात् धर्मिणोऽन्यत्रानुगमनाभावादिति चेत् सर्वमनित्यं सत्त्वादिति धर्मः किमन्वयी येन स्वसाध्यसाधने हेतुरिष्यते? सत्त्वादिधर्मसामान्यमशेषधर्मव्यक्तिष्वन्वयीति चेत् तथा धर्मिसामान्यमपि, दृष्टान्तधर्मिण्यनन्वयः पुनरुभयत्रेति यत्किंचिदेतत्।

जैन- 'प्रतिज्ञा अर्थ का एकदेश हेतु है अतः असिद्ध है, ऐसा कहो तो उस प्रतिज्ञा के वचन का वाच्य अर्थ क्या है? और क्या है उस प्रतिज्ञा के अर्थ (विषय) का एकदेश? बौद्ध - साध्य रूप धर्म और पक्ष रूपी धर्मी का समुदाय ही प्रतिज्ञावाक्य का विषय है।' और उसका एकदेश है साध्य धर्म जैसे शब्द अनित्य है, अनित्य होने से इसमें साध्य को ही हेतु मान लिया गया है अतः प्रतिज्ञा अर्थ का एकदेश हेतु है। कहीं पर प्रतिज्ञा के एकदेश माने गये धर्मी को हेतु बताने पर भी साध्य की सिद्धि नहीं होती है। जैसे कि शब्द नश्वर है शब्द होने से, इस अनुमान में स्वयं शब्दत्व ही जब असिद्ध है तो वह हेतुपने से अनुमान में ग्रहण किया गया होकर साध्य को सिद्ध करने के लिये समर्थ नहीं हो सकता है। जैन- 'प्रसिद्धो धर्मी' धर्मी प्रसिद्ध होता है, इस वचन का व्याघात होने से धर्मी की असिद्धता कैसे हो सकती है? बौद्ध- उत्तर देता है कि- 'धर्मी प्रसिद्ध है' यह कथन सत्य है। जैनाचार्य कहते हैं कि जब धर्मी प्रसिद्ध है तो हेतु स्वरूप से स्वीकार किया हुआ धर्मी भी स्वयं असिद्ध नहीं है जिससे कि साध्य की सिद्धि न कर पावे अर्थात् वह साध्य को अवश्य सिद्ध कर सकेगा।

शंका करने वाला बौद्ध कहता है कि धर्मी के सिवाय अन्यत्र अनुगम का अभाव (नहीं पाया जाने वाला हेतु) होने से वह धर्मी हेतु (जहाँ मोक्षमार्गपना है, वहाँ रत्नत्रय का समुदाय है- इसमें धर्मी हेतु) अनन्वय (अन्वय दृष्टान्त से रहित है) दोष से दूषित है।

जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो 'सर्व पदार्थ क्षणिक हैं सत्त्व होने से?' सब पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने में दिया गया सत्त्वत्व हेतु भी अन्वय दृष्टान्त से रहित होने से अनन्वय दोष से दूषित है। इसका भी अन्वयी धर्म क्या है जिससे यह हेतु साध्य धर्म के साधन में स्वीकार किया जावे।

यदि कहो कि सत्त्वादि सामान्य धर्म तो हेतु हैं और सम्पूर्ण धर्मी व्यक्ति अन्वयी है। (जैसे जो सत्त्व है, वह अनित्य है कृतकत्व घट पट आदि) तो इस प्रकार धर्मी सामान्य हेतु में भी विशेष धर्मी अन्वयी हो जायेंगे (अर्थात् मोक्षमार्ग रूपत्व हेतु सामान्य रूप से दृष्टान्त धर्मी में पाया जाता है) यदि कहो कि दृष्टान्त धर्मी में उसका अन्वय नहीं है अर्थात् पक्ष से भिन्न दृष्टान्त नहीं पाया जाता है) तो हमारे और आपके दोनों अनुमानों में समानता ही है- फिर आपका अनित्य को सिद्ध करने में दिया गया सत्त्वत्व हेतु निर्दोष है और हमारे रत्नत्रय के समुदायात्मक में दिया गया मोक्षमार्गत्व हेतु (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक ही मोक्षमार्ग है; अन्यथा मोक्षमार्गत्व

साध्यधर्मः पुनः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् हेतुधर्मिणा व्यभिचारात् । किं तर्हि स्वरूपासिद्धत्वादेवेति न प्रतिज्ञार्थैकदेशो नाम हेत्वाभासोऽस्ति योऽत्राशङ्क्यते ।

श्रावणत्वादिवदसाधारणत्वादनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेन्न असाधारणत्वस्यानैकान्तिकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः ।

सपक्षविपक्षयोर्हि हेतुरसत्त्वेन निश्चितोऽसाधारणः संशयितो वा? निश्चितश्चेत् कथमनैकान्तिकः? पक्षे साध्यासंभवे अनुपपद्यमानतयास्तित्वेन निश्चितत्वात् संशयहेतुत्वाभावात् । न च सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन निश्चिते पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यः सर्वानित्यत्वादौ नहीं हो सकता) अन्वयी नहीं होने से सदोष है ऐसा कहना प्रलाप मात्र है वा अकिंचित्कर है । (अर्थात् इससे कुछ फल की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि अन्वय दृष्टान्त के बिना भी हेतु से साध्य की सिद्धि होती है जैसे कृतिका उदय रूप हेतु मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र के उदय को सिद्ध करता ही है ।)

यदि प्रतिज्ञार्थ का एकदेश होने से साध्य धर्म हेतु नहीं हो सकता, इस कथन में पक्ष के साथ व्यभिचार आता है- अर्थात् जैसे साध्य धर्महेतु प्रतिज्ञा के एकदेश है उसी प्रकार पक्षहेतु भी प्रतिज्ञा का एकदेश हेतु है ।

प्रश्न- तो फिर यहाँ क्या करना चाहिए? उत्तर- यदि प्रतिज्ञा के विषय असिद्ध हैं तो वहाँ स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास से असिद्धता उठानी चाहिए । (पक्ष में हेतु के न रहने को स्वरूपासिद्ध कहते हैं ।) असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर ये चार हेत्वाभास हैं, यहाँ पर जिस हेत्वाभास की शंका कर रहे हैं, वह 'प्रतिज्ञार्थैकदेश- असिद्ध' नामका तो कोई हेत्वाभास है ही नहीं ।

शंका- जैसे शब्द का अनित्य सिद्ध करने के लिए दिया गया श्रावणत्व हेतु अनित्य घटादि सपक्ष में और नित्य आकाश आदि विपक्ष में नहीं रहने से असाधारण^१ है, उसी प्रकार यह भोक्षमार्गत्व हेतु सपक्ष और विपक्ष में न रहने से असाधारण हेत्वाभास है? उत्तर- नैयायिकों का ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि जो-जो असाधारण होता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है, यह व्याप्ति सिद्ध नहीं है ।

जैन, नैयायिकों का पक्ष लेने वाले बौद्धों से पूछते हैं कि आप सपक्ष और विपक्ष में निश्चयरूप में नहीं रहने वाले हेतु को असाधारण कहते हो कि संशय रूप से नहीं रहने वाले हेतु को असाधारण कहते हो?

यदि सपक्ष और विपक्ष में नहीं रहने का निश्चय होने से निश्चितासाधारण हेत्वाभास होता है, तब तो असाधारण को अनैकान्तिक हेत्वाभास कैसे कह सकते हैं क्योंकि साध्य के अभाव में निश्चित रूप से अनुपपद्यमान और केवल पक्ष में रहने वाला हेतु संशयित नहीं हो सकता, अर्थात् उस हेतु में संशय का अभाव है । तथा जो सपक्ष और विपक्ष में नहीं रहता है उस हेतु का पक्ष में साध्य के साथ अविनाभाव होने से रहता है, ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता; ऐसा भी कहना उचित नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर तो (सर्व क्षणिकं सत्त्वात्) सर्व वस्तु को अनित्यपना सिद्ध करने के लिए दिया गया सत्त्वादि हेतुओं के भी असिद्धत्व का (अहेतुत्व) प्रसंग

१. नैयायिकों ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के तीन भेद किये हैं । साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी । सपक्ष विपक्ष दोनों में रहने वाले हेतु को साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । सपक्ष, विपक्ष दोनों में नहीं रहने वाले को असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । केवलान्वयी दृष्टान्त वाले हेतु को अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । जैनाचार्य 'असाधारण' हेत्वाभास मानते ही नहीं है ।

सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसंगात्, न हि सत्त्वादिर्विपक्ष एवासत्त्वेन निश्चितः सपक्षेऽपि तदसत्त्वनिश्रयात्। सपक्षस्याभावात्तत्र सर्वानित्यत्वाद् साध्यं सत्त्वादेरसत्त्वनिश्रयान्निश्चयहेतुत्वं न पुनः श्रावणत्वादेस्तद्भावेपीति चेत्। ननु श्रावणत्वादिरपि यदि सपक्षे स्यात्तदा तं व्याप्नुयादेवेति समानांतर्व्याप्तिः।

सति विपक्षे धूमादिश्चासत्त्वेन निश्चितो निश्चयहेतुर्माभूत्। विपक्षे सत्यसति वाऽसत्त्वेन निश्चितः साध्याविनाभाववित्त्वाद्धेतुरेवेति चेत्, सपक्षे सत्यसति वा सत्त्वेन निर्णीतो हेतुरस्तु ततएव ऽसपक्षे तदेकदेशे वाऽसन् कथं हेतुरिति चेत्; सपक्षे असत्त्वेन हेतुरित्यनवधारणात्। विपक्षे तदसत्त्वानवधारणमस्त्वित्ययुक्तं साध्याविनाभाववित्त्वव्याघातात्।

आयेगा, क्योंकि सत्त्व आदि हेतु विपक्ष में नहीं रहते हैं, यह निश्चित है। इतना ही नहीं, ये सत्त्व कृतकत्व आदि हेतु सपक्ष में भी नहीं रहते हैं यह भी निश्चित है। (अर्थात् सर्व पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने के लिए दिये गये सत्त्वादि हेतु भी सपक्ष और विपक्ष में नहीं रहने से असाधारण हैं, ऐसा हम कह सकते हैं।)

बौद्ध कहते हैं कि सर्व पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने में दिये गए सत्त्वादि हेतु के सपक्ष का अभाव होने से सपक्ष में नहीं रहना निश्चित ही है, परन्तु शब्द को अनित्य सिद्ध करने में दिये गये श्रावणत्व हेतु के तो सपक्ष का सद्भाव होने पर भी सपक्ष में नहीं रहने से असाधारणत्व है?

जैन कहते हैं यदि सपक्ष का सद्भाव न होने से सत्त्व हेतु सपक्ष में नहीं रहता है तो शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए दिये गये श्रावणत्व आदि हेतु भी यदि सपक्ष में रहते होते तो उस समय अवश्य सपक्ष में रहने वाले साध्य को व्याप्त कर लेते परन्तु उस समय पक्ष के अन्तर्गत सपक्ष व्याप्त है। अर्थात् जिस प्रकार बौद्धों ने सर्व पदार्थों को पक्ष बनाकर सपक्ष को उसके अन्तर्गत व्याप्त किया है, उसी प्रकार सर्व शब्दों को पक्ष बना कर सपक्ष को उसमें अन्तर्व्याप्ति करके श्रावणत्व को हेतु बना लेते हैं। इसलिए हमारी और तुम्हारी अन्तर्व्याप्ति समान है। यदि सपक्ष के सर्वथा न होने पर तो सपक्ष में हेतु का नहीं रहना गुण हो और सपक्ष के रहने पर सपक्ष में हेतु का नहीं रहना दोष हो तब तो धूमादि हेतु के विपक्ष में न रहने का निश्चय भी निश्चय रूप से धूमादि के हेतुत्व की सिद्धि नहीं कर सकेगा। अर्थात् जिस प्रकार सब को पक्ष स्वीकार कर लेने पर विपक्ष नहीं है उसी प्रकार “सर्व क्षणिकं सत्त्वात्” इस हेतु में विपक्ष भी कोई नहीं है अतः यह हेतु सदोष होना चाहिए।

बौद्ध कहती हैं- विपक्ष का अस्तित्व हो या न हो “साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला होने से हेतु का विपक्ष में नहीं रहना ही सद्धेतुपना है।”

जैन कहते हैं- जिसप्रकार साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने से विपक्ष में नहीं जाने से हेतु समीचीन है, विपक्ष होवे चाहे न होवे उसी प्रकार, साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला होने से सपक्ष में सत्त्व का निश्चय है ही, सपक्ष होवे चाहे न होवे, वह हेतु समीचीन है।

बौद्ध कहते हैं- सारे सपक्ष और सपक्ष के एकदेश (दृष्टान्तादि) में नहीं रहने वाला हेतु समीचीन कैसे हो सकता है?

जैनाचार्य कहते हैं- “सपक्ष में हेतु नहीं ही रहना चाहिए” ऐसी अवधारणा (नियम) नहीं है अर्थात् सपक्ष में हेतु रहे तो अच्छा है और नहीं रहे तो कोई हानि नहीं है।

नैवं सपक्षे तदसत्त्वानवधारणे व्याधातः कश्चिदिति । तत्र सन्नसन् वा साध्याविनाभावी हेतुरेव श्रावणत्वादिः सत्त्वादिवत् । तद्वन्मोक्षमार्गत्वादिति हेतुर्नासाधारणत्वादगमकः, साध्यस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकत्वस्याभावे ज्ञानमात्रात्मकत्वादौ सर्वथानुपपन्नत्वसाधनात् ।

यदि पुनः सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन संशयितोऽसाधारण इति मतं तदा पक्षत्रयवृत्तितया निश्चितया संशयितया वानैकान्तिकत्वं हेतोरित्याधातं । न च प्रकृतहेतोः सास्तीति गमकत्वमेव । विरुद्धतानेन प्रत्युक्ता विपक्षे बाधकस्य भावाच्च ।

इस प्रकार साध्य के अभाव वाले विपक्ष में नहीं रहने वाला हेतु है ऐसा नियम मत करो; यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि विपक्ष में नहीं रहने का यदि नियम नहीं किया जायेगा तो "साध्याविनाभावि निश्चितो हेतुः" साध्य के बिना नहीं रहने रूप हेतु के लक्षण का विनाश होगा, अर्थात् "विपक्ष में हेतु नहीं रहना चाहिए" यह अवधारणा नहीं होगी तो हेतु के लक्षण का ही नाश हो जायेगा, परन्तु सपक्ष में हेतु के रहने की अवधारणा न करने से हेतु का कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। अतः सपक्ष में रहते हुए वा नहीं रहते हुए भी साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले श्रावणत्वादि हेतु जैसे सत्त्वादि हेतु के समान समीचीन हेतु हैं, उसी प्रकार सपक्ष में न रहने पर भी मोक्षमार्गत्वादि हेतु सत्त्वादि हेतु के समान सद्हेतु हैं। तथा असाधारण होने से मोक्षमार्गत्व हेतु साध्य का अगमक नहीं है - क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रात्मकत्व साध्य के अभाव में मोक्षमार्गत्व हेतु ज्ञानमात्रात्मक (सम्यग्दर्शन रहित ज्ञानादि) में सर्वथा नहीं रहता है। अर्थात् जहाँ इन तीनों की तादात्म्यक एकता नहीं है ऐसे अकेले ज्ञान या श्रद्धा भक्ति, कुज्ञान आदि में मोक्षमार्गत्व हेतु नहीं रहता है।

यदि पुनः सपक्ष और विपक्ष में हेतु के न रहने से संशय को प्राप्त हुआ असाधारण हेत्वाभास है ऐसा मानोगे तब तो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में निश्चित रूप से विद्यमान रहने वाला और संशय रूप से रहने वाला हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है, ऐसा सिद्ध होगा। परन्तु प्रकरण में प्राप्त हुए मोक्षमार्गत्व हेतु में पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में संशय रूप से रहनापन तथा तीनों पक्षों में निश्चित रूप से विद्यमानपन नहीं है इसलिए मोक्षमार्गत्व हेतु निर्दोष होने से अपने साध्य का ज्ञापक ही है, अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं है।

इस कथन से विरुद्ध हेत्वाभास का भी खण्डन कर दिया है, विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से। अर्थात् मोक्षमार्गत्व हेतु विपक्ष सिर्फ ज्ञान, दर्शन, कुज्ञान आदि में नहीं रहता है। यह मोक्ष-मार्गत्व हेतु न विपक्ष में जाता है और न सपक्ष, विपक्ष दोनों में रहता है इसलिए न विरुद्ध^१ है और न अनैकान्तिक^२ है।

इसलिए विधि मुख्य से साध्य की सिद्धि होने से, इस प्रकार यह हेतु आनर्थक्य भी नहीं है। अर्थात् विपक्ष में हेतु के न रहने से साध्य की सिद्धि निषेधात्मक होती है और हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि विधिमुख से होती है अतः विपक्ष में हेतु के न रहने से साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी हेतु का कथन करना व्यर्थ नहीं है। अन्यथा हेतु के गमकत्व ज्ञान में ही साध्य का ज्ञान हो जाता है, (परन्तु अविनाभावी हेतु का ज्ञान हो जाने पर भी बाद में व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्ति ज्ञान वा दृष्टान्त, समर्थन और उपनय के अनन्तर साध्य का निर्णय होता है)

१. विपक्ष में रहने वाले को विरुद्ध कहते हैं।
२. सपक्ष और विपक्ष में रहने वाले हेतु अनैकान्तिक हैं।

न चैवं हेतोरानर्थक्यं ततो विधिमुखेन साध्यस्य सिद्धेरन्यथा गमकत्ववित्तौ तदापत्तेस्ततः सूक्तं लैंगिकं वा प्रमाणमिदं सूत्रमविनाभावविलिङ्गात्साध्यस्य निर्णयादिति । प्रमाणत्वाच्च साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे प्रक्षीणकल्मषे सिद्धे प्रवृत्तमन्यथा प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः ।

“नेदं सर्वज्ञे सिद्धे प्रवृत्तं तस्य ज्ञापकानुपलंभादभावसिद्धेरिति” परस्य महामोहविचेष्टितमाचष्टे:-

तत्र नास्त्येव सर्वज्ञो ज्ञापकानुपलंभनात् ।

व्योमांभोजवदित्येतत्तमस्तमविजृम्भितम् ॥८॥

नास्ति सर्वज्ञो ज्ञापकानुलब्धेः खपुष्पवदिति ब्रुवन्नात्मनो महामोहविलासमावेदयति ।

यस्मादिदं ज्ञापकमुपलभ्यत इत्याह:-

अतः साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले मोक्षमार्गात्त्व हेतु के द्वारा रत्नत्रय की एकतारूप साध्य का निर्णय हो जाने से यह सूत्र तो लिङ्गजन्य अनुमान प्रमाण रूप है। अर्थात् ‘यह सूत्र आगम और अनुमान प्रमाण से सिद्ध है’ यह कहना ठीक ही है।

इस प्रकार प्रथम सूत्र को आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाण रूप सिद्ध करने का प्रकरण समाप्त हुआ ।

सर्वज्ञ सिद्धि के प्रमाण

यह सूत्र प्रमाणभूत है, इसलिए साक्षात् सम्पूर्ण तत्त्वार्थों को जान लेने और सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने की सिद्धि हो जाने पर इस सूत्र की रचना हुई है, अर्थात् यह सर्वज्ञ, वीतराग, देव प्रणीत है, अन्यथा इसमें प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती ।

“यह सूत्र सर्वज्ञ की सिद्धि होने पर प्रवृत्त नहीं हुआ है क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः ज्ञापक प्रमाण का अभाव होने से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध है।” इस प्रकार सर्वज्ञ देव का अभाव मानने वाले मीमांसक का कथन अत्यन्त गाढ़ मोह से प्रेरित होकर चेष्टा करने को सूचित करता है। आचार्य कहते हैं-

“आकाश के कमल के समान सर्वज्ञ का ज्ञापक प्रमाण न होने से कोई भी सर्वज्ञ नहीं है।” इस प्रकार यह अयुक्त कथन वृद्धिगत कुज्ञान और मिथ्यात्व नामक अन्धकार की कुचेष्टा है ॥८॥

“सर्वज्ञ नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उसको सिद्ध करने वाले ज्ञापक प्रमाण की अनुपलब्धि है, (हेतु) जैसे आकाश का फूल (अन्वय दृष्टान्त)” इस प्रकार कहने वाला अपने महामोह के विलास को प्रगट कर रहा है। क्योंकि सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाण की उपलब्धि है। इसी बात को आचार्य कहते हैं-

सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः ।

परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षावितथत्वतः ॥९॥

शीतं जलमित्याद्युपदेशेनाक्षापेक्षणावितथेन व्यभिचारोऽनुपचरिततत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वस्य साध्यस्याभावेपि भावादवितथत्वस्य हेतोरुपचारतस्तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वसाधने स्वसिद्धान्तविरोधात् । तत्सामान्यस्य साधने स्वाभिमतविशेषसिद्धौ प्रमाणांतरापेक्षणात्प्रकृतानुमानवैयर्थ्यापत्तिरिति न मंतव्यमक्षानपेक्षत्वविशेषणात् ।

सूक्ष्म आदि (सूक्ष्म - आकाश, परमाणु, धर्म द्रव्य आदि । देशव्यवहित - क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर द्वीप, मेरु आदि । कालविप्रकृष्ट - राम, रावण, चतुर्विंशति तीर्थंकर आदि । यह सूक्ष्म, विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थ इन्द्रियों का विषय नहीं है, ज्ञेय है इसलिए केवलज्ञान का विषय है ।) पदार्थों का उपदेश साक्षात् पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाले सर्वज्ञदेव के द्वारा ही प्रवृत्त हुआ है, क्योंकि दूसरों के उपदेश, अविनाभावी हेतु और इन्द्रियों की अपेक्षा न करता हुआ यह उपदेश (इनका कथन) सत्यार्थ है । अर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थ किसी-न-किसी के ज्ञान का विषय अवश्य हैं ज्ञेय होने से, और उनका विषय करने वाला केवलज्ञान है ॥९॥

शंका - जल ठंडा है, पुष्प सुगन्धित है-इत्यादि उपदेश भी इन्द्रियों की अपेक्षा रखते हुए सत्य हैं किन्तु मुख्य प्रत्यक्ष रूप केवलज्ञान से जानकर, उनको उपदेश नहीं दिया गया है । क्योंकि मुख्य प्रत्यक्ष केवलज्ञान के द्वारा साक्षात् करके पुनः उपदेश देने रूप साध्य के अभाव में भी निर्दोष हेतु का सद्भाव पाया जाता है । तथा यदि इस व्यभिचार को दूर करने के लिए सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान से जानने वाले वक्ता को प्रमाण मान कर 'पानी ठंडा है' इत्यादि- उपदेशों में साध्य की सिद्धि करोगे तो स्व सिद्धान्त (जैन सिद्धान्त) का विरोध हो जाएगा, क्योंकि इस अनुमान में साध्य कोटि में मुख्य प्रत्यक्ष के द्वारा जानकर सूक्ष्म आदि पदार्थों के उपदेश देने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है ।

यदि साध्य कोटि में स्थित प्रत्यक्ष का सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष एवं मुख्य प्रत्यक्ष यह भेद न करके सामान्य प्रत्यक्ष से जानकर उपदेश देने की सिद्धि करोगे तो सामान्य वक्ता की सिद्धि होगी अतः स्वाभिमत (केवलज्ञानी वक्ता) की सिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा करनी पड़ेगी और सामान्य प्रत्यक्ष से जानकर उपदेश करने को साधने वाला प्रकरण-प्राप्त अनुमान व्यर्थ होगा ।

उत्तर- इन्द्रिय प्रत्यक्षजन्य उपदेश में निर्दोष हेतु को मानकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में हेतु को अनैकान्तिक कहना उपयुक्त नहीं है । क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की अपेक्षा है और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियनिरपेक्ष है । अतः इन्द्रिय अनपेक्ष विशेषण होने से हेतु व्यभिचारी नहीं है ।

सर्वज्ञविज्ञानस्थाप्यक्षजत्वादसिद्धं विशेषणमित्यपरः । सोप्यपरीक्षकः ।
सकलार्थसाक्षात्करणस्याक्षजज्ञानेनासंभवात्, धर्मादीनामक्षैरसंबंधात् ।

स हि साक्षात् युक्तः पृथिव्याद्यवयविवत् । नापि परंपरया
रूपरूपित्वादिवत् स्वयमनुमेयत्ववचनात् ।

योगजधर्मानुगृहीतान्यक्षाणि सूक्ष्माद्यर्थे धर्मादौ प्रवर्तन्ते महेश्वरस्येत्यप्यसारं स्वविषये
प्रवर्तमानानामतिशयाधानस्यानुग्रहत्वेन व्यवस्थितेः, सूक्ष्माद्यर्थेऽक्षाणामप्रवर्तनात्तदघटनात् । यदि
पुनस्तेषामविषयेऽपि प्रवर्तनमनुग्रहस्तदैकमेवेंद्रियं सर्वार्थं ग्रहीष्यतां । सत्यमंतःकरणमेकं

नैयायिक कहता है- सर्वज्ञ विज्ञान के भी इन्द्रियजन्यत्व होने से 'इन्द्रियानपेक्ष' यह विशेषण
असिद्ध है। जैनाचार्य कहते हैं कि - सर्वज्ञ के ज्ञान को इन्द्रियजन्य कहने वाला नैयायिक परीक्षक नहीं
है- क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा सकल पदार्थों का साक्षात् करने की असंभवता है- क्योंकि धर्मादि
द्रव्यों का इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

नैयायिकों ने सम्बन्ध दो प्रकार का माना है, साक्षात् सम्बन्ध (जिसके साथ इन्द्रियों का
व्यवधान रहित सम्बन्ध होता है, वह साक्षात् सम्बन्ध है। जैसे घट-पट आदि के जानने में इन्द्रियों का
सम्बन्ध।) और परम्परा सम्बन्ध (व्यवधान डाल कर जो सम्बन्ध होता है- वह परम्परा सम्बन्ध है जैसे-
चक्षु का सम्बन्ध घट से, फिर घट में रहने वाले रूप के साथ सम्बन्ध।) । जैसे पृथ्वी आदि अवयवी
द्रव्यों में इन्द्रियों का साक्षात् सम्बन्ध होता है, उस प्रकार धर्म (पुण्य पाप), विप्रकृष्ट, व्यवहित आदि
पदार्थों के साथ इन्द्रियों का साक्षात् सम्बन्ध तो युक्त नहीं है (क्योंकि आधुनिक पुरुषों की इन्द्रियों का
सम्बन्ध धर्मादिक के साथ नहीं है) रूप तथा रूपत्व के समान धर्मादिक के साथ इन्द्रियों का परम्परा
से भी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि नैयायिकों ने पुण्य-पाप, परमाणु आदि को अनुमान प्रमाण से जानने योग्य
स्वीकार किया है। वे बहिरंग इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं।

वैशेषिक का कथन - "योगज धर्म (समाधि) से अनुगृहीत महेश्वर की चक्षु आदि इन्द्रियाँ
सूक्ष्म परमाणु आदि, विप्रकृष्ट राम रावण आदि, व्यवहित मेरु आदि पदार्थों में और पुण्य-पाप आदि
धर्म में प्रवृत्ति करती है, अर्थात् इनको जानती है? जैनाचार्य का उत्तर : इस प्रकार वैशेषिक का कहना
सारभूत नहीं है- क्योंकि अनुग्रह करने वाले सहकारी कारण अपने विषय में प्रवृत्ति करने वाले कारणों
में विशेषताओं की स्थापना करते हैं। परन्तु सूक्ष्मादि पदार्थों में प्रवृत्ति नहीं होती अतः योगज धर्म से
अनुगृहीत इन्द्रियाँ सूक्ष्मादि पदार्थों में प्रवृत्ति नहीं कर सकतीं। यदि फिर भी योगज धर्म से अनुगृहीत
महेश्वर की इन्द्रियाँ भविष्य में प्रवृत्ति करेंगी- तब तो एक ही इन्द्रिय सर्व पदार्थों को ग्रहण कर लेगी,
भिन्न-भिन्न रूपादि विषयों को ग्रहण करने वाली भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को मानने की आवश्यकता नहीं
रहेगी। नैयायिक कहते हैं कि "एक इन्द्रिय सर्व पदार्थों को ग्रहण कर लेगी" यह-जैनों का कहना
ठीक ही है, क्योंकि योगज धर्म से अनुगृहीत अन्तःकरण (मन) एक साथ सर्व पदार्थों को साक्षात् करने
में समर्थ है, यह इष्ट ही है।

योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सर्वार्थसाक्षात्करणक्षममिष्टमिति चेत् । कथमणोर्मनसः सर्वार्थसंबंधः सकृदुपपद्यते? दीर्घशङ्कुलीभक्षणादौ सकृच्चक्षुरादिभिस्तत्संबंधप्रसक्तेः, रूपादिज्ञानपंचकस्य क्रमोत्पत्तिविरोधात् । क्रमशोऽन्यत्र तस्य दर्शनादिह क्रमपरिकल्पनायां सर्वार्थेषु योगिमनःसंबंधस्य क्रमकल्पनास्तु ।

सर्वार्थानां साक्षात्करणसमर्थस्येश्वरविज्ञानस्यानुमानसिद्धत्वात्तैरीशमनसः सकृत्संबंधसिद्धिरिति चेत् । रूपादिज्ञानपंचकस्य क्वचिद्योगपद्येनानुभवादनीशमनसोऽपि सकृच्चक्षुरादिभिः संबन्धोऽस्तु कुतश्चिद्धर्मविशेषात्तथोपपत्तेः । तादृशो धर्मविशेषः कुतोऽनीशस्य सिद्ध इति चेत्, ईशस्य कुतः? सकृत्सर्वार्थज्ञानात्तत्कार्यविशेषादिति चेत्, तर्हि सकृद्रूपादिज्ञानपंचकात्

जैनाचार्य कहते हैं- अणु प्रमाण लघु मन का एक साथ सर्व पदार्थों से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? तथा एक साथ सर्व पदार्थों के साथ मन का सम्बन्ध मान लेने पर कचौरी आदि के खाते समय एक साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध का प्रसंग आयेगा । अर्थात् कचौरी खाते समय उसका रूप आँखों से, स्वाद जिह्वा से, गन्ध नाक से, स्पर्श शरीर से और शब्द कानों से इस प्रकार एक साथ पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान का प्रसंग आयेगा और ऐसी दशा में पाँचों इन्द्रियों का ज्ञान क्रम से उत्पन्न होता है, इस मान्यता का विरोध आयेगा । अर्थात् जैन और नैयायिक दोनों पाँचों इन्द्रियों का ज्ञान एक साथ न मानकर क्रम से ही मानते हैं ।

“यदि अन्यत्र (घट-पट आम्नादि में) उस ज्ञान का क्रम से दर्शन होने से (दृष्टिगोचर होने से) कचौरी आदि के खाने के समय भी क्रम से कल्पना करने पर तो योगियों के मन का भी सर्व पदार्थों के साथ सम्बन्ध क्रम से होता है ऐसा मानना पड़ेगा ।”

यदि कहो कि सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने में समर्थ ईश्वरज्ञान की अनुमान से सिद्धि हो जाने से, उस अनुमान के द्वारा, ईश्वर के मन का सर्व पदार्थों के साथ एक समय में सम्बन्ध सिद्ध होता है तो कहीं पर रूपादि पाँचों का एक साथ अनुभव होने से ईश्वर को छोड़कर सामान्य पुरुषों के मन का भी एक साथ चक्षु आदि पाँचों ज्ञानों से सम्बन्ध होगा । साधारण मनुष्यों के भी कुतश्चित् धर्मविशेष की इस प्रकार की उत्पत्ति होने से ।

नैयायिक कहता है - एक समय में पाँचों इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध का कारणभूत धर्म (पुण्य) विशेष अनीश (साधारण मनुष्य) के कैसे सिद्ध हो सकता है? जैन इस प्रकार कहने वाले नैयायिक से पूछते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थों से एक साथ सम्बन्ध रखने में कारणभूत पुण्य विशेष ईश्वर के पास है, यह कैसे जाना जा सकता है (अर्थात् ईश्वर के पास ऐसा पुण्य विशेष है जिससे इन्द्रियाँ सम्पूर्ण पदार्थों के साथ एक समय में सम्बन्ध कर लेती हैं, यह कैसे जाना जा सकता है) । यदि नैयायिक कहे कि “ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थों को एक समय में जानता है, इस कार्यविशेष से उस ईश्वर के कारण विशेष पुण्य का ज्ञान हो जाता है तो हम भी कह सकते हैं कि एक साथ रूपादि पाँच ज्ञान रूप कार्य विशेष (कचौड़ी खाते समय रूपादि पाँचों ज्ञान रूप कार्यविशेष) से अनीश के भी पाँचों ज्ञान होने में कारणभूत कुछ धर्म (पुण्य) विशेष है- यह बात अनुमान से सिद्ध क्यों नहीं होगी ।

कार्यविशेषादनीशस्य तद्वेतुधर्मविशेषोऽस्तीति किं न सिद्ध्येत्? तथा सति तस्य रूपादिज्ञानपंचकं नैन्द्रियजं स्यात्। किं तर्हि धर्मविशेषजमेवेति चेत्, सर्वार्थज्ञानमप्येवमीशस्यांतःकरणजं माभूत् समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषजत्वात्।

तस्य मनोऽपेक्षस्य ज्ञानस्यादर्शनाददृष्टकल्पना स्यादिति चेत्। मनोऽपेक्षस्य वेदनस्य सकृत्सर्वार्थसाक्षात्कारिणः क्वचिद्दर्शनं किमस्ति येनादृष्टस्य कल्पना न स्यात्? सर्वार्थज्ञानं मनोऽपेक्षं ज्ञानत्वादस्मदादिज्ञानवदिति चेत् न, हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् पक्षस्यानुमानबाधितत्वात्। तथाहि-सर्वज्ञविज्ञानं मनोऽक्षानपेक्षं सकृत्सर्वार्थपरिच्छेदकत्वात् यन्मनोऽक्षापेक्षं तत्तु न सकृत्सर्वार्थपरिच्छेदकं दृष्टं यथास्मदादिज्ञानं न च तथेदमिति मनोऽपेक्षत्वस्य निराकरणात्।

नैयायिक कहता है कि यदि अनीश के कुछ धर्मविशेष से उत्पन्न पाँचों ज्ञान एक समय में मानोगे तो वह ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं कहलायेगा- अपितु धर्मविशेषजन्य कहलायेगा। इसके उत्तर में जैन लोग कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो एक समय में सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले ईश्वर का ज्ञान भी मन और इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ नहीं कहलायेगा, अपितु चित्त की एकाग्रतारूप समाधिविशेष से उत्पन्न हुए पुण्यविशेष से उत्पन्न हुआ कहलायेगा।

शंका - मन की अपेक्षा के बिना उत्पन्न ज्ञान दृष्टिगोचर नहीं होता है- अतः मननिरपेक्ष ज्ञान मानना अदृष्ट कल्पना करना है?

उत्तर - यदि ईश्वर के ज्ञान को मननिरपेक्ष मानना अदृष्ट कल्पना है तो मनसापेक्ष एक समय में सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् (प्रत्यक्ष) करने वाले ज्ञान का कहीं दर्शन हो रहा है- जिससे ऐसे ज्ञान की अदृष्ट (मनगढंत) कल्पना न समझी जावे।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि- सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान (केवलज्ञान) मन की अपेक्षा रखता है (मनोजन्य है); ज्ञान होने से, हम लोगों (संसारियों) के ज्ञान के समान (पक्ष में बाधित हेतु को कालात्ययापदिष्टहेतु कहते हैं) यह ज्ञानत्व हेतु पक्ष के अनुमान से बाधित होने से कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। तथाहि जैसे सर्वज्ञ का ज्ञान मन और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है- अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से नहीं होता- क्योंकि वह सर्वज्ञ का ज्ञान एक समय में सर्व पदार्थों को जानने वाला है- जो ज्ञान मन और इन्द्रियों की अपेक्षा से होता है-वा इन्द्रियमनोजन्य है- वह एक समय में सम्पूर्ण पदार्थों को जान सकता है ऐसा नहीं देखा जाता- जैसे हम लोगों का ज्ञान। परन्तु सर्वज्ञ का ज्ञान एक समय में सर्व पदार्थों को जानता है, इसलिए सर्वज्ञ के ज्ञान में मन की अपेक्षा का निराकरण (निषेध) किया गया है।

नन्वेवं “शङ्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपंचकं मनोऽक्षानपेक्षं सकृद्रूपादिपंचकपरिच्छेदकत्वाद्यत्रैवं तत्रैवं दृष्टं यथान्यत्र क्रमशो रूपादिज्ञानं, न च तथेदमतोऽक्षमनोनपेक्षम्” इत्यप्यनिष्टं सिद्धेयमिति मा मंस्थाः साधनस्यासिद्धत्वात्, परस्यापि हि नैकांतेन शङ्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपंचकस्य सकृद्रूपादिपंचकपरिच्छेदकत्वं सिद्धं। सोपयोगस्यानेकज्ञानस्यैकत्रात्मनि क्रमभावित्ववचनात्। शक्तितोऽनुपयुक्तस्य यौगपद्यस्य प्रसिद्धेः।

प्रतीतिविरुद्धं चास्याक्षमनोऽनपेक्षत्वसाधनं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायितया तदपेक्षत्वसिद्धेरन्यथा कस्यचित्तदपेक्षत्वायोगात्। ततः कस्यचित् सकृत्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणमिच्छता मनोऽक्षानपेक्षमेवितव्यमिति नाक्षानपेक्षत्वविशेषणं

प्रश्न - जिस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान मन की अपेक्षा बिना एक समय में सर्व पदार्थों को जानता है, ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है- वैसे ही एक समय में रूप-रसादि पाँचों का परिच्छेदक (ज्ञायक) होने से पूड़ी कचौड़ी आदि को भक्षण करते समय होने वाले रूपादि ज्ञान पंचक भी इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं रखते हैं- क्योंकि जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहित नहीं है- वह ज्ञान एक समय में रूपादि पाँचों को नहीं जान सकता- जैसे अन्य स्थलों में होने वाला ज्ञान क्रमशः रूपादि को जानता है, परन्तु पूड़ी आदि का भक्षण करते समय होने वाला रूपादि (पंच) का ज्ञान क्रम से नहीं होता है- इसलिए यह रूपादि पंच का एक साथ होने वाला ज्ञान इन्द्रिय मन की अपेक्षा रखने वाला नहीं है।

उत्तर - इस प्रकार का हेतु अनिष्ट को सिद्ध करने वाला है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि रूपादि पाँचों को एक साथ विषय करने वाला हेतु पक्ष में नहीं रहने से असिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि जैनधर्म में एकान्त से शङ्कुली (पूड़ी) आदि के भक्षण करते समय रूपादि ज्ञान पंचक के एक ही समय में रूपादि पाँचों के परिच्छेदकत्व (ज्ञायकत्व) सिद्ध नहीं है। जैन सिद्धान्त में उपयोग-आत्मक ज्ञान एक आत्मा में क्रम से ही होता है। अर्थात् उपयोग में एक समय में एक ही ज्ञान रहता है और इन्द्रियाँ भी एक समय में एक ही विषय को ग्रहण करती हैं- पाँचों इन्द्रियाँ एक साथ विषयों में प्रवृत्ति नहीं कर सकती। परन्तु उपयोग रहित लब्धि-आत्मक रूपादि पाँच ज्ञान अनेक व्यक्तियों के जानने की शक्ति की अपेक्षा युगपत् हो सकते हैं। अर्थात् रूपादि पाँचों ज्ञान एक साथ होते हैं- इसमें अनेकान्त है, उपयोगात्मक की अपेक्षा नहीं होते, शक्ति की अपेक्षा होते हैं। उपयोग रहित ज्ञानों का शक्तिरूप से युगपत् हो जाना प्रसिद्ध है।

(नैयायिक जो यह कहते हैं कि) कचौड़ी आदि को खाते समय होने वाले ज्ञान के इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहना प्रतीति (लोक) विरुद्ध है। क्योंकि इन्द्रियों के होने पर पाँच ज्ञान (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) होते हैं, इन्द्रियों के नहीं होने पर नहीं होते हैं- अतः इन्द्रियों के साथ अन्वय-व्यतिरेक है। जैसे कचौड़ी आदि खाते समय होने वाले रूपादि ज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा सिद्ध ही है। यदि इन्द्रियों के साथ अन्वय-व्यतिरेक होते हुए भी कचौरी आदि खाते समय रूपादि पाँच ज्ञानों

सूक्ष्माद्यर्थोपदेशस्यासिद्धं। सिद्धमप्येतदनर्थकं तत् साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वसामान्यस्य साधयितुमभिप्रेतत्वात् न वा सर्वज्ञवादिनः सिद्धसाध्यता, नापि साध्याविकलत्वादुदाहरण-स्यानुपपत्तिरित्यन्ये। तेऽपि स्वमतानपेक्षं ब्रुवाणा न प्रतिषिध्यन्ते परानुरोधात्तथाभिधानात्। स्वसिद्धांतानुसारिणां तु सफलमक्षानपेक्षत्वविशेषणमित्युक्तमेव। तदनुमातृपूर्वकसूक्ष्माद्यर्थोपदेशे-नाक्षानपेक्षावितथत्वमनैकान्तिकमित्यपि न शङ्कनीयं। लिंगानपेक्षत्वविशेषणात्। न चेदमसिद्धं परोपदेशपूर्वके सूक्ष्माद्यर्थोपदेशे लिंगानपेक्षावितथत्वप्रसिद्धेः।

में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं मानेंगे तो किसी भी रूपादि ज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा का अयोग होगा अर्थात् किसी भी समय में होने वाला रूपादि का ज्ञान इन्द्रियनिरपेक्ष ही होगा। अतः किसी पुरुष के एक समय में सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट अर्थों का प्रत्यक्ष जानना इष्ट है तो वह ज्ञान आपको इन्द्रिय-मन-निरपेक्ष ही मानना पड़ेगा, इसलिए सूक्ष्मादि पदार्थों के उपदेशक (जानने वाले) के इन्द्रियनिरपेक्ष विशेषण असिद्ध भी नहीं है। अर्थात् सर्वज्ञ भगवान् इन्द्रिय और मन के बिना सर्व पदार्थों को एक साथ जानते हैं, यह सिद्ध होता है।

कोई (मीमांसक) कहता है कि पूर्वोक्त अनुमान द्वारा सूक्ष्म आदि पदार्थों का सामान्य रूप से साक्षात् करने वाले को सिद्ध करना अभिप्रेत (इष्ट) होने से सर्वज्ञदेव के अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि भी निष्फल है। अथवा सर्वज्ञवादियों के सिद्धसाध्यता भी नहीं है।^१ और साध्याविकल (साध्य से रहित न) होने से उदाहरण की अनुत्पत्ति भी नहीं है। ऐसा कोई अन्य कहते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि जैन सिद्धान्त के अनुसार कथन करने वाले होने से अपने सिद्धान्त की अपेक्षा न करके बोलने वाले मीमांसकों का हम खण्डन नहीं कर रहे हैं। अर्थात् योग, वेदाध्ययन आदि संस्कारों से संस्कारित इन्द्रियों के द्वारा ही सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान हो जाता है- ऐसे अन्य वादियों के अनुरोध करने पर ही सूक्ष्म आदि के उपदेश में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती, यह विशेषण हमने दिया है। जो मीमांसक परमाणु आदि का प्रत्यक्ष होना ही नहीं मानते हैं और अपने वैदिक सिद्धान्त के अनुसार चलते हैं, उनके प्रति (अक्षानपेक्षत्वविशेषणं सूक्ष्माद्यर्थोपदेशस्यासिद्धं न) इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखना रूप विशेषण अवश्य ही सफल है। इसीलिए इन्द्रियानपेक्ष विशेषण हेतु में कह दिया है।

अनुमानपूर्वक सूक्ष्मादि पदार्थों का उपदेश देने वाले होने से इन्द्रियों की अपेक्षा न रखना, यह हेतु सत्य होने से यह अनैकान्तिक है यह शंका भी नहीं करनी चाहिए। “अर्थात्- परमाणु, पुण्य, पाप आदि का अनुमान करने वाले वक्ता भी इन्द्रियों की अपेक्षा (सहायता) के बिना परमाणु आदि का सत्य उपदेश देते हैं- अतः आपका सर्वज्ञ के ज्ञान को सिद्ध करने के लिए दिया गया इन्द्रियानपेक्षत्व हेतु अनैकान्तिक है- क्योंकि मुख्य प्रत्यक्ष में और अनुमान इन दोनों में जाता है। आचार्य कहते हैं- हमारा इन्द्रियानपेक्ष हेतु अनैकान्तिक नहीं है।” क्योंकि लिंग (अनुमान) की अपेक्षा नहीं रखना यह विशेषण दिया गया है। सर्वज्ञ के ज्ञान में लिंग की भी अपेक्षा नहीं है। लिंग और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखना, यह हेतु असिद्ध भी नहीं है- क्योंकि परोपदेशपूर्वक आगम से ज्ञात सूक्ष्मादि पदार्थों के उपदेश में लिंग की अपेक्षा नहीं होने पर भी उनमें सत्यपने की प्रसिद्धि है।

१. अनुमान वा किसी ज्ञान के द्वारा सिद्ध हुए को सिद्ध करना सिद्धसाध्यता है।

तेनैव व्यभिचारीदमिति चेत्, न परोपदेशानपेक्षत्वविशेषणात्। तदसिद्धं धर्माद्युपदेशस्य सर्वदा परोपदेशपूर्वकत्वात्। तदुक्तं। धर्मे चोदनैव प्रमाणं नान्यत्। किं च। नेन्द्रियमिति कश्चित्। तत्र केयं चोदना नाम? क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमिति चेत् तत् पुरुषेण व्याख्यातं स्वतो वा क्रियायाः प्रवर्तकं श्रोतुः स्यात्? न तावत्स्वत एवाचार्यचोदितः करोमीति हि दृश्यते न वचनचोदित इति। नन्वपौरुषेयाद्वचनात्प्रवर्तमानो वचनचोदितः करोमीति प्रतिपद्यते, पौरुषेयादाचार्यचोदित इति विशेषोऽस्त्येवेति चेत्। स्यादेवं यदि मेघध्वानवदपौरुषेयं वचनं पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षं प्रवर्तकं क्रियायाः प्रतीयेत, न च प्रतीयते। सर्वदा पुरुषव्यापारापेक्षत्वात्तत्स्वरूपलाभस्य। पुरुषप्रयत्नोभिव्यञ्जकस्तस्येति चेन्नैकांतनित्यस्याभिव्यक्त्यसंभवस्य समर्थितत्वात्।

शंका - किसी विद्वान् के द्वारा उपदिष्ट पदार्थ के ज्ञान में हेतु और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है अतः सामान्य विद्वान् के उपदेश में इन्द्रिय और हेतु की अपेक्षा न होने से यह व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हो जाता है- अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान में और सामान्य विद्वान् में, इन दोनों में जाता है।

उत्तर - सर्वज्ञ के ज्ञान में परोपदेश की भी अपेक्षा नहीं है, यह विशेषण दिया गया है।

अर्थात् निष्णात विद्वान् के उपदेश में मूल कारण सर्वज्ञ का उपदेश है क्योंकि सर्वज्ञ के द्वारा कथित पदार्थों का ही आगमदर्शी अनुभवी विद्वान् कथन करते हैं। अतः परोपदेश, लिंगाक्षादि से रहित साक्षात् सूक्ष्मादि पदार्थों को जानकर कहने वाले सर्वज्ञ के वचन ही सत्य हैं।

कोई (मीमांसक) कहता है— सर्वज्ञ का ज्ञान परोपदेश की अपेक्षा से रहित है, यह परोपदेश- रहितत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास है क्योंकि “धर्मोपदेश (सदा परोपदेशपूर्वक ही होते हैं, हमारे ग्रन्थ में भी लिखा है कि धर्मोपदेश) में चोदना (वेद का प्रेरणा वाक्य) ही प्रमाण है, इन्द्रिय हेतु अतीन्द्रिय आदि ज्ञान प्रमाण नहीं है। (ज्ञापक नहीं है)”

जैनाचार्य पूछते हैं- धर्मोपदेश में वेद का प्रेरणा वाक्य क्या है? यदि क्रिया- यज्ञ, भावना, पूजा आदि में प्रवर्तक (प्रवृत्ति कराने वाले) वचन को प्रेरणा वाक्य कहते हो तो पुरुष के द्वारा कथित प्रेरणा वाक्य श्रोता को क्रियाओं में प्रवृत्ति कराता है- कि पुरुष के द्वारा अकथित स्वतः ही प्रेरणा वाक्य श्रोता को क्रियाओं में प्रवृत्त कराता है। पुरुष के द्वारा अव्याख्यात उच्चारण मात्र से ही वेदवाक्य स्वयमेव श्रोता को यज्ञादि क्रियाओं में प्रवृत्त कराता है, ऐसा कहना तो उचित नहीं है- क्योंकि “आचार्य के द्वारा प्रेरित होकर मैं पूजा कर रहा हूँ, अनुष्ठान कर रहा हूँ, सर्व स्थानों पर देखा जाता है-” केवल वचन सुनकर ही इस कार्य में प्रवृत्त होता हूँ- ऐसा नहीं देखा जाता है।

मीमांसक कहता है- अपौरुषेय वेदवचनों को सुनकर प्रवृत्ति करने वाला यह समझता है कि मैं वचनों से प्रेरित होकर वेदविहित क्रिया कर रहा हूँ और पुरुष के द्वारा रचित वचनों को सुनकर क्रिया में प्रवृत्ति करने वाला श्रोता जानता है कि मैं आचार्य के वचनों से प्रेरित होकर दान आदि क्रिया कर रहा हूँ। लौकिक वचन और वैदिक वचनों के उपदेश में यह विशेषता है ही। जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसक का यह कथन तब घटित हो सकता है जब मेघध्वनि के समान किसी पुरुष के द्वारा बिना रचित वचनों में, पुरुषों के प्रयत्न बिना ही क्रिया में प्रवर्तक की प्रतीति हो। परन्तु बिना प्रयत्न, वचनों में प्रवृत्ति होती हुई प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि पदार्थों को कहने वाले उन वचनों की उत्पत्ति (अपने स्वरूप की प्राप्ति) सदैव पुरुष के व्यापार की अपेक्षा रखती है।

प्रश्न - शब्द नित्य है, अतः पुरुष का प्रयत्न वचन का अभिव्यञ्जक है- अर्थात् पुरुष का प्रयत्न शब्द का उत्पादक नहीं है- क्योंकि शब्द नित्य है किन्तु पुरुष का प्रयत्न शब्द का अभिव्यञ्जक है। उत्तर - जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसक का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि एकान्त से कूटस्थ नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होना संभव नहीं है, इसका समर्थन पूर्व में किया है।

पुरुषेण व्याख्यातमपौरुषेयं वचः क्रियायाः प्रवर्तकमिति चेत्, स पुरुषः प्रत्ययितोऽप्रत्ययितो वा? न तावत्प्रत्ययितोऽतीन्द्रियार्थज्ञानविकलस्य रागद्वेषवतः सत्यवादितया प्रत्येतुमशक्तेः।

स्यादर्पीन्द्रियगोचरेऽर्थेऽनुमानगोचरे वा पुरुषस्य प्रत्ययिता न तु तृतीयस्थानं संक्रान्ते जात्यंधस्येव रूपविशेषेषु। न च ब्रह्मा मन्वादिर्वातीन्द्रियार्थदर्शी रागद्वेषविकलो वा सर्वदोषगतो यतोऽस्मात्प्रत्ययिताच्चोदनाव्याख्यानं प्रामाण्यमुपेयादित्युक्तं प्राक्। स्वयमप्रत्ययितानु पुरुषात् तद्व्याख्यानं प्रवर्तमानमसत्यमेव नद्यास्तीरे फलानि संतीति लौकिकवचनवत्। न चापौरुषेयं वचनमतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयादिति विप्रतिषिद्धं यतस्तद्व्याख्यानमसत्यं न स्यात्।

पुरुष के द्वारा व्याख्यात (कथित) अपौरुषेय वचन क्रिया का प्रवर्तक है ऐसा मानते हो तो वह वेदवचन का व्याख्याता पुरुष विश्वास करने योग्य है कि नहीं? अपौरुषेय वेदवचन का व्याख्याता पुरुष विश्वास करने योग्य है, ऐसा कहना ठीक नहीं है- क्योंकि इन्द्रियों के अगोचर अर्थज्ञान से रहित (अतीन्द्रिय ज्ञान से विकल) रागीद्वेषी व्याख्याता का सत्यवादित्व (वह सत्यवादी है) रूप से विश्वास करना अशक्य है।

इन्द्रियगोचर और अनुमानगोचर पदार्थ में व्याख्याता पुरुष का विश्वास किया जा सकता है। परन्तु तृतीय स्थान में संक्रान्त (आगम से जानने योग्य) पदार्थों का व्याख्यान करने वाले अज्ञानी रागी-द्वेषी का विश्वास कैसे किया जा सकता है? जैसे जन्म से अन्धे पुरुष का रूप विशेषों के वर्णन करने में विश्वास नहीं किया जा सकता है। अर्थात् रागी-द्वेषी, तत्त्व को नहीं जानने वाले व्याख्याता का विश्वास नहीं किया जा सकता है। अतीन्द्रिय अर्थ को जानने वाले मनु, ब्रह्मा आदि भी राग-द्वेष से रहित नहीं हैं, सर्वद्रो दोषों से युक्त हैं। अतः विश्वासी होने से ब्रह्मा, मनु आदि के द्वारा कथित वेद का व्याख्यान प्रमाणीभूत हो, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि इनका पूर्व में खण्डन किया है।

अविश्वसनीय पुरुष के व्याख्यान में प्रवृत्ति करना असत्य ही है। जैसे- नदी के तीर पर फल हैं। ऐसा लौकिक वचन असत्य है। अर्थात् जैसे कोई लौकिक अविश्वसनीय पुरुष कहता है कि नदी के तीर पर फल हैं, उस पुरुष का कोई विश्वास नहीं करता है, उसी प्रकार अविश्वसनीय पुरुष का वेद का व्याख्यान विश्वास करने योग्य नहीं है।

अपौरुषेय वेद का वाक्य असत्य अर्थ को कैसे भी नहीं कहता है- इस प्रकार का विप्रतिषेध भीमांसक दे रहे हैं^१ जिससे अपौरुषेय वेदवाक्य असत्य नहीं हो सके। इस पर आचार्य कहते हैं कि यहाँ विप्रतिषेध नाम का विरोध नहीं है अर्थात् अपौरुषेय वचन भी असत्य अर्थ को कह सकते हैं। क्योंकि एक शब्द के अनेक अर्थ होने से अज्ञानी उसका विपरीत अर्थ कर सकते हैं। जैसे 'स्वर्गकामा अग्निहोत्रं जुह्यात्' इस का अर्थ- अग्निहः (कुत्ता) ओत्रं (मांस) जुह्यात् (खावे)। स्वर्ग का इच्छुक प्राणी कुत्ते का मांस खावे, ऐसा विपरीत अर्थ भी हो सकता है।

१. पूरी-पूरी शक्तिवाले अनेक विरुद्ध पदार्थों के विरोध करने को विप्रतिषेध कहते हैं। विप्रतिषेध वाले दो पदार्थ एक जगह रह नहीं सकते हैं। जहाँ घट है वहाँ घटाभाव नहीं, और जहाँ घटाभाव है वहाँ घट नहीं। एक की विधि से दूसरे का निषेध, दूसरे की विधि से एक का निषेध।

लौकिकमपि हि वचनमर्थं ब्रवीति, बोधयति, बुध्यमानस्य निमित्तं भवतीत्युच्यते वितथार्थाभ्यधायि च दृष्टमविप्रतिषेधात्। तद्यथार्थं ब्रवीति न तदा वितथार्थाभिधायि। यदा तु बाधकप्रत्ययोत्पत्तौ वितथार्थाभिधायि न तदा यथार्थं ब्रवीत्यविप्रतिषेधे वेदवचनेऽपि तथा विप्रतिषेधो मा भूत्, तत्र बाधकप्रत्ययोत्पत्तेरसंभवाद्विप्रतिषेध एवेति चेत्, नाग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति चोदनायां बाधकसद्भावात्। तथाहि “नाग्निहोत्रं स्वर्गसाधनं हिंसाहेतुत्वात्सधनवधवत् सधनवधो वा न स्वर्गसाधनस्तत एवाग्निहोत्रवत्।”

इस लोक में लौकिक जनों के वचन भी अर्थ को कहते हैं अर्थात् उन लौकिक शब्दों के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। अर्थ को जानने वाले के लौकिक वचन निमित्त कारण होते हैं। अर्थात् उच्चारण किये गये शब्द श्रोता के अर्थज्ञान में निमित्तकारण होते हैं। अतः शब्द की सत्यार्थ वाचकता को निमित्तपने के नियम का व्यवहार है, तभी तो वे शब्द असत्यार्थ को कहने वाले भी देखे जाते हैं। अतः जैसे लौकिक वचनों में सत्यार्थ का नियम नहीं है, उसी प्रकार वेदवाक्यों में भी सत्यार्थ का नियम नहीं है।

जिस समय लौकिक जन यथार्थ कहते हैं, उस समय उनके वचन असत्य अर्थ को कहने वाले नहीं हैं और जिस समय लौकिक वचनों में बाधक कारणों की उत्पत्ति हो जाती है तब वे लौकिक वचन असत्य अर्थ को कहने वाले होते हैं, उस समय सत्य अर्थ को नहीं कहते हैं। इस प्रकार यदि विप्रतिषेध दोष का वारण किया जाय तो वेदवचन में भी उसी प्रकार विप्रतिषेध नहीं होगा अर्थात् वेदवाक्यों में भी लौकिक वचन के अनुसार वक्ता के कारण सत्यार्थपना और असत्यार्थपना होगा।

लौकिक वचनों के समान वेदवाक्यों में बाधक कारणों की उत्पत्ति की असंभवता होने से वेदवाक्य असत्य अर्थ के वाचक हैं इसका विप्रतिषेध (निषेध) ही है (वेदवाक्य सत्यार्थ ही हैं) ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ‘अग्निहोत्र नामक यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है’ इस प्रेरक वेदवाक्य में बाधक प्रमाण का सद्भाव है- अर्थात् यह वेदवाक्य अनुमानबाधित है। ‘तथाहि’ जैसे- धनवान का वध (घात) करने के समान हिंसा का कारण होने से अग्निहोत्र नामक यज्ञ स्वर्ग का साधन नहीं है। अथवा अग्निहोत्र के समान हिंसा का कारण होने से धनवान का वध करना स्वर्ग का कारण नहीं है।

अर्थात् वेदवाक्य में अग्नि में पशुओं का होम करना स्वर्ग का कारण बताया है और खारपटिक मत में धनवानों का वध करना स्वर्ग का कारण लिखा है- परन्तु यह कथन अनुमानबाधित है क्योंकि हिंसा से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है जैसे धनवानों को मारने से। अग्निहोत्र हिंसा का कारण है। उसमें हिंसा होती है- अतः हिंसा के कारणों को स्वर्ग का साधन बताने वाला वेदवाक्य अनुमान से बाधित है।

विधिपूर्वकस्य पश्चादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं माभूदिति सधनवधात्स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु । तस्याप्यैहिकप्रत्यवायपरिहारसमर्थेति कर्तव्यतालक्षणविधिपूर्वकत्वाविशेषात् ।

न हि वेदविहितमेव विहितानुष्ठानं, न पुनः खारपटशास्त्रविहितमित्यत्र प्रमाणमस्ति । यागः श्रेयोऽर्थिनां विहितानुष्ठानं श्रेयस्करत्वान्न सधनवधस्तद्विपरीतत्वादिति चेत् । कुतो यागस्य श्रेयस्करत्वं? धर्मशब्देनोच्यमानत्वात् । यो हि यागमनुतिष्ठति तं 'धार्मिक' इति समाचक्षते । यश्च यस्य कर्ता स तेन समाख्यायते यथा याचको लावक इति । तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति

वेदविहित अनुष्ठान के द्वारा विधिपूर्वक किये गये पशु के वध में हिंसा के कारण का अभाव है- अतः 'अग्निहोत्र हिंसा का साधन होने से स्वर्ग का कारण नहीं है' यह हिंसा हेतुत्व साधन असिद्ध हेत्वाभास है, ऐसा कहने पर तो खारपटिकों के मत में कथित विहित अनुष्ठान के द्वारा विधिपूर्वक धनवान के वध में भी हिंसा नहीं होगी-वह हिंसा का कारण नहीं होगा अतः 'विधिपूर्वक धनवान को मारनेपर स्वर्ग होता है' यह वचन भी प्रमाणीभूत हो जायेगा ।

अनेक पुरुषों का यह कथन है कि धनवान पुरुष ही अनर्थ करते हैं- अतः खारपटिक मत के अनुसार धनिकों (धनवानों) का वध करना (मारना) इन लौकिक पापाचारों को दूर करने में समर्थ है । इस प्रकार कर्तव्यता लक्षण विधिपूर्वकता अग्निहोत्र में और धनवानों के वध करने में समान ही है । अर्थात् अग्निहोत्र में पशुवध करना और धनवानों को मारना दोनों समान ही है- क्योंकि धनवानों को मारने में भी कर्तव्यता लक्षण विधि का पालन है, अतः धनवानों को मारना भी स्वर्ग का कारण होगा ।

वेदवाक्य में कथित ही विहित अनुष्ठान है- अर्थात् 'अग्निहोत्र वेदविहित शास्त्रोक्त क्रिया है' - उसमें पशुवध हिंसा का कारण नहीं है- किन्तु खारपटिक शास्त्र विहित धनवान का वध वेदविहित नहीं है अतः धनवान का वध हिंसा का कारण है । इस प्रकार के कथन में कोई प्रमाण नहीं है । क्योंकि दोनों ही समान रूप से हिंसा के कारण हैं । या तो दोनों प्रमाण होंगे या फिर दोनों अप्रमाण ।

'अग्निहोत्र आदि कार्य वेदविहित कर्म हैं । वे कल्याण चाहने वाले के लिए श्रेयस्कर (कल्याण-कारक) हैं । परन्तु धनवानों का वध करना वेदविहित अनुष्ठान नहीं होने से विपरीत है अर्थात् दुःख का कारण है ।' इस प्रकार कहने वाले मीमांसक के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि याग (अग्निहोत्र आदि क्रिया) कल्याणकारी क्यों है?

जो धर्म शब्द से कथित याग (अग्निहोत्र ज्योतिष्टोम) का अनुष्ठान करता है, उस अनुष्ठान को 'धार्मिक' ऐसा कहते हैं । अर्थात् जो पुरुष यज्ञ करता है- वह भी धार्मिक कहलाता है । क्योंकि जो जिसका कर्ता है- वह उस क्रिया के योग से उसी नाम वाला कहा जाता है । जैसे याचना करने वाला याचक और लूनने (काटने) वाला लावक कहलाता है । इसलिए जो यज्ञ आत्मा को स्वर्ग-मोक्ष रूप कल्याण के मार्ग से संयुक्त करता है, जोड़ता है- वह धर्म शब्द से कहा जाता है । यह नियम केवल लौकिक शब्दों में ही नहीं है, अपितु वेदवाक्यों में भी यही नियम है ।

स धर्मशब्देनोच्यते । न केवलं लोके, वेदेऽपि “यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति” यजतिशब्दवाच्य एवार्थे धर्मशब्दं समामनंतीति ‘शबरः’ ।

सोऽयं यथार्थनामा शिष्टविचारबहिर्भूतत्वात् । न हि शिष्टाः कचिद् धर्माधर्मव्यपदेशमात्रादेव श्रेयस्करत्वमश्रेयस्करत्वं वा प्रतियंति, तस्य व्यभिचारात् । क्वचिदश्रेयस्करोऽपि हि धर्मव्यपदेशो दृष्टो यथा मांसविक्रयिणां मांसदाने । श्रेयस्करोऽपि वाऽधर्मव्यपदेशो, यथा संन्यासे स्वघाती पापकमेति तद्विधायिनि कैश्चिद्भाषणात् । सर्वैर्यस्य धर्मव्यपदेशः प्रतिपद्यते स श्रेयस्करो नान्य इति चेत् । तर्हि न यागः श्रेयस्करस्तस्य सौगतादिभिरधर्मत्वेन व्यपदिश्यमानत्वात् ।

सकलैर्वेदवादिभिर्यागस्य धर्मत्वेन व्यपदिश्यमानत्वाच्छ्रेयस्करत्वे सर्वैः खारपटिकैः सधनवधस्य धर्मत्वेन व्यपदिश्यमानतया श्रेयस्करत्वं किं न भवेत्, यतः श्रेयोर्थिनां संविहितानुष्ठानं

‘अनेक देवता यज्ञ की विधि से यज्ञ की पूजा करते थे, अतः वह यज्ञ ही सर्व प्रथम (प्रधान) धर्म है।’ इस प्रकार लोक और वेद का नियम सिद्ध है। यज्ञ धातु के यज्ञ रूप वाच्य अर्थ में ही धर्म शब्द अनादिकालीन प्राचीन ऋषिधारा से प्रयुक्त किया हुआ चला आ रहा है अतः यज्ञ ही धर्म है। ऐसा शबर ऋषि का मत है।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाला शबर शिष्टविचार से बहिर्भूत होने से यथार्थ नाम वाला शबर है। क्योंकि जो शिष्ट पुरुष हैं, वे धर्म और अधर्म के नाम मात्र से ही कल्याणकारी है या अकल्याणकारी है- ऐसा विश्वास नहीं करते हैं। अर्थात् ‘धर्म’ ऐसा नाम सुनकर ही यह कल्याणकारी है, इसका विश्वास नहीं करते हैं। क्योंकि अविचारी अज्ञानी पुरुषों के द्वारा उच्चरित धर्म शब्द की श्रेयस्करत्व के साथ और अधर्म शब्द की अश्रेयस्करत्व के साथ व्याप्ति नहीं है क्योंकि इसमें व्यभिचार है। क्योंकि कहीं-कहीं पाप करने वाले कर्म में भी धर्म शब्द का प्रयोग देखा जाता है; जैसे मांस, मद्य बेचनेवालों के यहाँ महापाप के कारण मांस के आदान-प्रदान को भी धर्म कह दिया जाता है। अर्थात् मांस बेचना इसका धर्म (कार्य) है ऐसा कहा जाता है। कहीं पर कल्याणकारी कार्य में भी अधर्म शब्द का व्यपदेश होता है। जैसे समाधिमरण करने में आत्मघातीपना एवं पाप है, ऐसा कोई कहते हैं। अर्थात् अच्छे कार्यों को पाप और बुरे कार्यों को पुण्यवर्द्धक कहते हैं। अतः हिंसाजन्य यज्ञ को श्रेयस्कर कहने वाला शबर ऋषि सज्जन नहीं है।

‘जिसको सर्व लोग धर्म कहते हैं- वह श्रेयस्कर है, जिसको सब लोग धर्म नहीं कहते हैं- वह श्रेयस्कर नहीं है’ ऐसा कहने पर तो याग (अग्निहोत्रादि कार्य) श्रेयस्कर नहीं हो सकता क्योंकि सौगत आदि अग्निहोत्रादि यज्ञ को अधर्म कहते हैं। अर्थात् बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि मतों में यज्ञ को धर्म नहीं माना है।

यदि वेद के अनुसार चलने वाले सर्व मीमांसक आदि यज्ञ को धर्म मानते हैं क्योंकि यज्ञ कल्याणकारी है तब तो सर्व खारपटिक मतानुयायी धनवान के वध करने को धर्म कहते हैं अतः धनिकों

न स्यात् । लोकगर्हितत्वमुभयत्र समानम् । केषांचिदगर्हितत्वं चेति । ततो न सधनवधाग्निहोत्रयोः प्रत्यवायेतरसाधनत्वव्यवस्था । प्रत्यक्षादिप्रमाणबलात् न अग्निहोत्रस्य श्रेयस्करत्वसिद्धिरिति नास्यैव विहितानुष्ठानत्वं, यतो हिंसाहेतुत्वाभावादसिद्धो हेतुः स्यात् । तत्र प्रकृतचोदनायां बाधकभावनिश्रयादर्थतस्तथाभावे संशयानुदयः पुरुषवचनविशेषवदिति न तदुपदेशपूर्वक एव सर्वदा धर्माद्युपदेशो येनास्य परोपदेशानपेक्षत्वविशेषणमसिद्धं नाम । न च परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षा वितथत्वेऽपि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वं सूक्ष्माद्यर्थोपदेशस्य प्रसिद्धस्यनोपपद्यते तथाविनाभाव संदेहायोगादित्यनवद्यं सर्वविदो ज्ञापकम् तत् ।

का वध श्रेयस्करी क्यों नहीं होगा? जिससे धनिकों का वध कल्याणकारी नहीं होता और यज्ञ में जीवों का वध कल्याणकारी हो ऐसा कथन युक्तियुक्त कैसे हो सकता है, क्योंकि लोकनिन्दा दोनों में समान है। जैसे लोक में धनिकों का घात करना निन्दनीय है, वैसे अग्निहोत्र आदि यज्ञ में जीवों का वध करना भी निन्दनीय है।

तथा- खारपटिक मत वाले धनवानों के वध की निन्दा नहीं करते हैं, तो वेदमतवाले यज्ञ में पशुवध की निन्दा नहीं करते हैं अतः किन्हीं की प्रशंसा भी दोनों में समान है। इसीलिए धनिकों का वध करना और यज्ञ में पशुओं का घात करना, दोनों में यज्ञ में पशुवध को धर्म मानना और धनिकों के वध को पाप मानना, यह व्यवस्था नहीं हो सकती। दोनों ही क्रिया हिंसायुक्त होने से पापमय और दुःख देने वाली हैं। अर्थात्-धनिकों का वध यदि सदोष है तो यज्ञ में पशुवध भी सदोष है।

प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के बल से भी अग्निहोत्र के श्रेयस्करत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार वेदविहित यज्ञादि अनुष्ठान शास्त्रोक्त नहीं हैं। अतः अग्निहोत्र में हिंसाहेतुत्व का अभाव होने से जैनाचार्य के द्वारा कथित हिंसाहेतुत्व हेतु असिद्ध नहीं है। अर्थात् यज्ञ में पशुवध करने में हिंसा होती ही है। अतः यज्ञ स्वर्ग का साधन नहीं है।

अतः प्रकरण में प्राप्त वेद के लिट्, लोट्, तव्य, प्रत्ययान्त प्रेरणा वाक्य में बाधक प्रमाण की सत्ता का निश्चय है। अर्थात् वेदवाक्य का खण्डन करने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाण स्थित हैं। अतः वेदवाक्य में संशय का अनुदय नहीं है। वेदवाक्य संशय रहित नहीं है। जैसे साधारण पुरुषों के वचन विशेष में संशय होता है, वैसे वेदवाक्य में भी संशय होता है। अतः अपौरुषेय वेदवाक्य के उपदेश पूर्वक ही सदा धर्म आदि का उपदेश होता है, जिससे सर्वज्ञ के परोपदेश अनपेक्षत्व विशेषण असिद्ध हो जाता हो अर्थात् सर्वज्ञ के द्वारा दिये गये सूक्ष्म आदि पदार्थों के उपदेश में छद्मस्थों के उपदेश की अपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं है।

परोपदेश, लिंग और इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित सत्यार्थ उपदेश में भी प्रसिद्ध सूक्ष्मादि अर्थ के उपदेश का सर्वज्ञ के साक्षात् करने पूर्वक हेतु का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् सर्वज्ञ भगवान्

अथवा-

सूक्ष्माद्यर्थोपि वाध्यक्षः कस्यचित्सकलः स्फुटम्।

श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपाद्विदेशवत् ॥१०॥

धर्माधर्मावेव सोपायहेयोपादेयतत्त्वमेव वा कस्यचिदध्यक्षं साधनीयं न तु सकलोऽर्थ इति न साधीयः, सकलार्थप्रत्यक्षत्वासाधने तदध्यक्षासिद्धेः। संवृत्या सकलार्थः प्रत्यक्षः साध्य इत्युन्मत्तभाषितं स्फुटं तस्य तथाभावासिद्धौ कस्यचित्प्रमाणतानुपपत्तेः।

न हेतोः सर्वथैकांतैरनेकांतः कथंचन।

श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात्तेषां दृष्टेष्टबाधनात् ॥११॥

इन्द्रियों के बिना ही सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार करते हैं विशद ज्ञान होने से, इसमें विशद ज्ञान रूप हेतु का इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखने रूप साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है-ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञ इन्द्रियों की अपेक्षा बिना विशद ज्ञान के द्वारा सूक्ष्म पदार्थों का उपदेश देते हैं; इसमें संशय का अयोग (संशय नहीं) है। अतः सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला ज्ञापक हेतु निर्दोष है।

अथवा—दूसरे अनुमान के द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं- सूक्ष्म (परमाणु, आकाश आदि) और देश-काल से व्यवहित (मेरु, द्वीप, राम-रावणादि) सम्पूर्ण पदार्थ किसी-न-किसी आत्मा के पूर्ण स्पष्ट रूप से होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं। क्योंकि वे पदार्थ श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं। जो-जो पदार्थ श्रुतज्ञानगम्य हैं वे-वे पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं-जैसे नदी, द्वीप, पर्वत, देश आदि श्रुत में कथित हैं, अतः किसी के प्रत्यक्ष हैं ॥१०॥

धर्म और अधर्म अथवा उपाय सहित छोड़ने योग्य एवं ग्रहण करने योग्य तत्त्व ही किसी के प्रत्यक्ष है, ऐसा सिद्ध करना चाहिए-सकल पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, ऐसा सिद्ध नहीं करना चाहिए। ऐसा कहना भी उचित नहीं है- क्योंकि सूक्ष्मादि सकल पदार्थों के प्रत्यक्ष जानने की सिद्धि नहीं होने पर हेयोपादेय तत्त्व वा पुण्य-पाप को प्रत्यक्ष जानने की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् जो सकल पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जानता है, वह पुण्य, पाप आदि पदार्थों को भी प्रत्यक्ष नहीं जान सकता।

“वस्तुतः सकल पदार्थों को जानने वाला कोई नहीं है। केवल संवृत्ति (कल्पना) से सकल पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाला कोई है” ऐसा कहना भी पागलों का कथन है क्योंकि सकल पदार्थों का केवलज्ञान द्वारा विशद रूप से प्रत्यक्ष करना यदि सिद्ध नहीं होगा (उसकी सिद्धि का इस प्रकार अभाव होगा) तो सूक्ष्म आदि किसी भी पदार्थ के अस्तित्व में प्रमाणता की अनुपपत्ति होगी अर्थात् कोई भी पदार्थ प्रमाण नहीं होंगे।

सर्वथा एकान्त के द्वारा श्रुतज्ञान अधिगम्य हेतु में किसी भी प्रकार से अनेकान्त (व्यभिचार) दोष नहीं आता है। क्योंकि नित्य आदि एकान्त प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा बाधित हैं। अर्थात् मीमांसक कहता है- कि सर्वथा एकान्त श्रुतिगम्य तो है- परन्तु किसी के प्रत्यक्ष नहीं है अतः जो श्रुतिगम्य है वह किसी के प्रत्यक्ष है, इसमें श्रुतज्ञानगम्य हेतु अनैकान्तिक है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि वह एकान्त प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के द्वारा बाधित है। अतः वह एकान्त वस्तुभूत पदार्थ नहीं है ॥११॥

स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते।

तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥१२॥

ततः प्रकृतहेतोरव्यभिचारिता पक्षव्यापकता च सामान्यतो बोद्धव्या। यतश्चैवं सर्वज्ञसाधनमनवद्यम्।

ततोऽसिद्धं परस्यात्र ज्ञापकानुपलम्भनम्।

नाभावसाधनायात्वं सर्वतत्त्वार्थवेदिनः ॥१३॥

स्वयं सिद्धं हि किञ्चित्कस्यचित्साधकं नान्यथाऽतिप्रसंगात्। सिद्धमपि-

स्वसंबन्धि यदीदं स्यादव्यभिचारिपयोनिधेः।

अंभः कुंभादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥१४॥

तथा- प्रत्यक्ष, अनुमान और स्वानुभव इन तीनों स्थानों (ज्ञान) में अविस्वादी को ही श्रुतज्ञान कहते हैं। जो अनुमान, प्रत्यक्ष और अनुभव प्रमाण से बाधित है वह श्रुतज्ञान वास्तविक नहीं है। उस श्रुतज्ञान के द्वारा गम्यमानत्व हेतु सम्पूर्ण वस्तुभूत पदार्थ में सिद्ध है। अर्थात् श्रुताधिगम्यमानत्व हेतु अपरमार्थभूत सर्वथा एकान्त धर्मों में नहीं रहता है अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं है ॥१२॥

इसलिये श्रुतज्ञानगम्यत्व हेतु की अव्यभिचारिता, पक्षव्यापकता सामान्य रूप से जान लेनी चाहिए। इसलिए सर्वज्ञ को सिद्ध करना निर्दोष है।

अतः सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने के लिए मीमांसकों का ज्ञापकानुपलम्भन (सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाणों की उपलब्धि नहीं होने रूप) हेतु (सर्वज्ञ पक्ष में नहीं रहता है अतः) असिद्ध है। वह असिद्ध हेतु सर्वतत्त्वार्थवेदी (सर्वज्ञ) के अभाव को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है ॥१३॥

जो हेतु स्वयं सिद्ध है, वही किसी-न-किसी साध्य का साधक हो सकता है। जो हेतु सिद्ध नहीं है वह किसी साध्य का साधक नहीं हो सकता है। अन्यथा (असिद्ध हेतु यदि साध्य का साधक होगा तो) अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् आकाश के पुष्प आदि भी साध्य को सिद्ध करने लगेंगे।

थोड़ी देर के लिए 'ज्ञापकानुपलम्भन' हेतु को सिद्ध मान भी लेवें तो जो दोष आते हैं, उनको कहते हैं-

यदि स्वसम्बन्धी यह हेतु अपनी ही आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले ज्ञापक प्रमाणों के अनुपलम्भन हेतु सर्वज्ञ के अभाव का साधक होगा तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है। क्योंकि समुद्र के सम्पूर्ण जल की सत्ता रूप जलकुंभ की संख्या का ज्ञापकानुपलम्भ होने से व्यभिचार आता है। अर्थात् समुद्र के जल में घड़ों की संख्या का परिमाण है- किन्तु आपके पास उसका ज्ञापक प्रमाण नहीं है- तो क्या उसमें घड़ों का परिमाण नहीं है, उसी प्रकार आपके पास सर्वज्ञ को जानने का ज्ञापक प्रमाण नहीं है, तो क्या किसी के पास नहीं है। अतः ज्ञापकानुपलम्भ हेतु अनैकान्ताभास है ॥१४॥

न हि पयोनिधेरंभःकुंभादिसंख्यानानि स्वयं परैरज्ञानमानतयोपगतानि न सन्ति येन तैर्व्यभिचारि ज्ञापकानुपलम्भनं न स्यात्। समुद्रांभः कुम्भादिसंख्यानं बह्वंभस्स्वात् कूपांभोवदित्यनुमानात्। न तेषामज्ञायमानतेतिचेत्,

नातो विशेषेणासिद्धेस्तत्संख्यातमात्रेण व्यभिचाराचोदनात्। एतेनार्थापत्त्युपमानाभ्यां ज्ञायमानता प्रत्युक्ता। चोदनातस्तत्प्रसिद्धिरितिचेत्। न। तस्याः कार्यार्थादन्यत्र प्रमाणतानिष्टेः। परेषां तु तानि संतीत्यागमात्प्रतिपत्तेर्युक्तं तैर्व्यभिचाराचोदनम्।

समुद्र के जल की घड़ों से मापने की संख्या को मीमांसकों ने स्वयं नहीं जानने योग्य स्वीकार किया है। इतने स्वीकार करने मात्र से समुद्र के जल के घड़ों की संख्या नहीं है जिससे ज्ञापकानुपलम्भन हेतु व्यभिचारी न हो, ऐसा नहीं है, अर्थात् आपका न जानना हेतु वस्तु के अभाव का साधक नहीं हो सकता।

कुए के पानी के समान बहुत सा पानी होने से समुद्र का जल घड़े आदि से मापा जा सकता है। इस अनुमान से समुद्र के जल का ज्ञापकानुपलम्भन हेतु है। अतः यह उनका हेतु अज्ञायमान नहीं है। इस प्रकार बौद्धों का कथन उचित नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त अनुमान से विशेष रूप से संख्या की असिद्धि होने से संख्यातमात्र से व्यभिचार नहीं आता है।

भावार्थ - पूर्वोक्त अनुमान से केवल समुद्रजल के घड़ों की सामान्य संख्या सिद्ध हो सकती है, विशेष रूप से संख्या सिद्ध नहीं होती है। अतः ज्ञापकानुपलम्भन हेतु समुद्र के जल की विशेष घड़ों की संख्या में चले जाने से और नास्तिरूप साध्य के न रहने से अनैकान्त हेत्वाभास है।

“अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से समुद्र के जल के घड़ों की संख्याओं का ज्ञान हो सकता है, अतः ज्ञापक प्रमाण का उपलम्भ है” इस प्रकार के मीमांसक के कथन का भी पूर्वोक्त हेतु से खण्डन हो जाता है- क्योंकि अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से समुद्र के जल को घड़ों से मापना शक्य नहीं है।

विधिलिङ्ग वाले आगम प्रमाण रूप वेदवाक्यों से समुद्र के जल का घड़ों के द्वारा माप सिद्ध हो जायेगा, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि मीमांसक दर्शन में अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डरूप अर्थ के सिवाय वेद के वाक्यों को प्रमाण स्वीकार नहीं किया है। परन्तु स्याद्वाद सिद्धान्त में तो आगम प्रमाण से समुद्र के जल, गहराई आदि का निश्चय कर लिया जाता है- अर्थात् सर्वज्ञकथित आगम प्रमाण से समुद्र जल कितना है, उसकी गहराई कितनी है, आदि का ज्ञान कर लिया जाता है। इसलिए सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने के लिए मीमांसक के द्वारा प्रयुक्त ज्ञापकानुपलम्भन हेतु समुद्र के जलघड़ों की संख्याओं के द्वारा व्यभिचार की प्रेरणा करना (अनैकान्त हेत्वाभास कहना) ठीक ही है।

सर्वसंबंधि तद्बोद्धुं किंचिद्बोधैर्न शक्यते ।

सर्वबोद्धास्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥१५॥

सर्वसंबंधि तद्ज्ञातासिद्धं, किंचिदज्ञैर्ज्ञातुमशक्यत्वात् । न च सर्वज्ञस्तद्बोद्धास्ति तत्प्रतिषेध
विरोधात् । षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञो न वार्यत इति चायुक्तं । यस्मात्-

सर्वसंबंधिसर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् ।

न चक्षुरादिभिर्वैद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥१६॥

अथवा- थोड़े से ज्ञान वाले पुरुषों के द्वारा सर्वज्ञ सम्बन्धी (सर्वज्ञ है इस को) जानना शक्य नहीं है। यदि मीमांसक कहे कि सर्व जीवों को प्रत्यक्ष जानकर कोई सर्व बोद्धा जान लेता है कि सब के पास सर्वज्ञ का ज्ञापक प्रमाण नहीं है तो उस सर्व जीवों को प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञाता (सर्वज्ञ) का आप निषेध कैसे कर सकते हैं क्योंकि सबको जानने वाला ही तो सर्वज्ञ होता है ॥१५॥

सर्व जीव सम्बन्धी ज्ञापकानुपलम्भन हेतु अज्ञात होकर असिद्ध हेत्वाभास है। अर्थात् सर्वज्ञ नहीं है, जानने योग्य हेतु का अभाव होने से यह ज्ञापकानुपलम्भन सर्व के द्वारा जाना नहीं जा सकता है- अतः अज्ञात असिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि अल्पज्ञ संसारी जीवों के द्वारा सर्व जीवों के साथ सम्बन्ध रखने वाला ज्ञापकानुपलम्भन हेतु जाना नहीं जा सकता है।

यदि मीमांसक मत में 'सब जीवों के प्रमाणों को प्रत्यक्ष करने वाला कोई ज्ञाता माना गया है' तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन से (सर्व जीवों को प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञाता को मान लेने से) सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है। सर्वज्ञ को मानकर फिर उसका निषेध करना विरोधयुक्त होगा। अर्थात् मीमांसक के वचन पूर्वापरविरोध सहित होंगे।

यदि मीमांसक कहे कि "प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, उपमान और अभाव इन छह प्रमाणों से सर्वज्ञ का हम खण्डन नहीं करते हैं, परन्तु मुख्य प्रत्यक्ष के द्वारा सर्व पदार्थों को एक साथ जानने वाले सर्वज्ञ को हम नहीं मानते हैं" तो मीमांसक का इस प्रकार कहना भी युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि-

केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सर्व पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाले सर्वज्ञ का नास्तिपन सिद्ध करने के लिए दिया गया ज्ञापकानुपलम्भन हेतु चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा गम्य नहीं है, जाना नहीं जाता है। क्योंकि सर्वज्ञ हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं है। जैसे पुण्य-पाप हमारी इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। अतः मीमांसकों के ज्ञापकानुपलम्भन हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं ॥१६॥

- नानुमानादलिंगत्वात्कार्थापत्त्युपमागतिः ।
 सर्वस्यानन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥१७॥
 सर्वप्रमातृसंबन्धि-प्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
 केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत् ? ॥१८॥
 कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य संमतम् ।
 तस्य स्वरूपसत्तायां तन्नैवातिप्रसंगतः ॥१९॥
 तज्ज्ञापकोपलंभस्याभावोऽभावप्रमाणतः ।
 साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तिः ॥२०॥
 गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम् ।
 मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥२१॥

ज्ञापकानुपलंभन हेतु अनुमान के द्वारा भी गम्य नहीं है। क्योंकि उस हेतु को साध्य बनाकर जानने के लिए अविनाभाव रखने वाला कोई दूसरा हेतु नहीं है। जब ज्ञापकानुपलम्भन हेतु अनुमान और इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही नहीं जाना गया तो अर्थापत्ति^१ और उपमान^२ प्रमाण से कैसे जाना जा सकता है। तथा-सम्पूर्ण जीवों के अन्यथा न होने वाले और सदृशता रखने वाले पदार्थों की सिद्धि नहीं है। अतः अतीन्द्रिय ज्ञापकानुपलंभ हेतु को जानने के लिए अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥१७॥

‘ज्ञापकानुपलम्भन’ हेतु के जानने में सम्पूर्ण प्रमाताओं के सम्बन्धी हो रहे प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणों की प्रवृत्ति का निवारण हो जाने से मीमांसकों के यहाँ केवल आगम से ‘ज्ञापकानुपलम्भ’ हेतु को जानना कैसे सिद्ध हो सकेगा ॥१८॥

जिसके कार्य (कर्मकाण्ड के प्रतिपादन करने रूप) अर्थ में वेदवाक्य को ही प्रमाण माना है- उन मीमांसकों के स्वरूप की सत्ता रूप परब्रह्म को कहने वाले वेदवाक्यों को प्रमाण नहीं माना है। अतः अतिप्रसंग दोष आता है ॥१९॥

यदि अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों के उपलंभ का अभाव सिद्ध किया जाता है तो ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि उस अभाव प्रमाण की भी सर्वत्र प्रवृत्ति नहीं होती है ॥२०॥

वस्तु के सद्भावं को ग्रहण करके (जान करके) और उसके प्रतियोगी का स्मरण करके तथा बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा न करके केवल मानसिक इन्द्रियों के द्वारा नास्तिपने का ज्ञान होता है, वह अभाव ज्ञान है ॥२१॥

१. जिसके बिना जो न हो ऐसे अदृष्ट पदार्थ के जानने को अर्थापत्ति कहते हैं।

२. एक दूसरे के साथ तुलना करना उपमान ज्ञान है।

तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे ।
जायते नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥२२॥
न वाशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते ।
न क्रमादन्यसंतानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः ॥२३॥
यदा च क्वचिदेकत्र तदेतन्नास्तितामतिः ।
नैवान्यत्र तदा सास्ति कैवं सर्वत्र नास्तिता? ॥२४॥
प्रमाणांतरतोऽप्येषां न सर्वपुरुषग्रहः ।
तल्लिगादेरसिद्धत्वात् सहोदीरितदूषणात् ॥२५॥
तज्ज्ञापकोपलंभोऽपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित् ।
यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमंजसा ॥२६॥

इस अभाव ज्ञान को मानने वाले मीमांसकों के सर्वज्ञज्ञापक प्रमाणों के (उपलम्भ का नास्तित्व) अनुपलम्भ मन इन्द्रिय के द्वारा तभी ज्ञात हो सकता है जबकि अभाव के आधारभूत सम्पूर्ण मनुष्यों का ज्ञान किया जाय, और उस समय ज्ञापक प्रमाणों का स्मरण किया जाये। अन्यथा ज्ञापक प्रमाणों की नास्तिताका ज्ञान कैसे भी नहीं हो सकता है। अर्थात् अभाव ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥२२॥

अभाव के आधारभूत सम्पूर्ण नरज्ञान (आत्माओं का ज्ञान) एक साथ एक समय में प्रत्यक्ष हो जाना तो मीमांसक स्वीकार नहीं करते हैं। और क्रम-क्रम से भी अन्य सम्पूर्ण आत्माओं का प्रत्यक्ष होना भी आपको अभीष्ट नहीं है। अर्थात् क्रम से भी अन्य संतान (आत्मा) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है ॥२३॥

अतः सर्वज्ञ के अभाव में अन्य आत्माओं को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिस समय किसी एक आत्मा में ज्ञापकोपलंभ की नास्तिता का ज्ञान होगा, उस समय अन्यत्र (दूसरी आत्माओं में) उसके नास्तित्व का ज्ञान आपको कैसे हो सकेगा। अतः सर्वत्र ज्ञापकोपलंभ का नास्तिपना कहाँ सिद्ध हो सकता है? ॥२४॥

इन मीमांसकों के ज्ञापकोपलंभ रूप निषेध्य के आधारभूत सम्पूर्ण पुरुषों का ग्रहण अन्य अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भी नहीं हो सकता है। क्योंकि उन अनुमान आदि ज्ञान के साथ अविनाभाव रखने वाले लिंग (हेतु) सादृश्य आदि की असिद्धि है। अर्थात् अनुमान ज्ञान को सिद्ध करने वाले हेतु का अभाव है। अतः जैसे अनेक पुरुषों को क्रम से प्रत्यक्ष जानने में जो दूषण आते हैं, वे ही दोष अनुमान आदि के द्वारा उन पुरुषों को जानने में आते हैं ॥२५॥

सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का उपलंभ होना पहले कभी सिद्ध नहीं हुआ है, जिसका स्मरण करने पर ज्ञापकोपलंभ की नास्तिता का निर्दोष ज्ञान हो सके ॥२६॥

तदेवं सदुपलंभकप्रमाणपंचकवदभावप्रमाणमपि न सर्वज्ञज्ञापकोपलंभस्य सर्वप्रमातृसंबन्धितो संभवसाधनं तत्र तस्योत्थानसामग्र्यभावात् ।

ननु च विवादापन्नेष्वशेषप्रमातृषु तदुपगमादेव सिद्धः सर्वज्ञज्ञापकोपलंभो नास्तीति साध्यते ततो नाभावप्रमाणस्य तत्रोत्थानसामग्र्यभाव इत्यारेकायां परोपगमस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोर्दूषणमाह:-

परोपगमतः सिद्धस्स चेन्नास्तीति गम्यते ।

व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योऽन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥२७॥

अर्थात् मीमांसकों को ज्ञापक प्रमाण ज्ञात ही नहीं है तो अभाव जानते समय उनका स्मरण भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार जैसे पदार्थों की सत्ता जानने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों के द्वारा ज्ञापकानुपलंभ सिद्ध नहीं है, उसी प्रकार अभाव प्रमाण भी सर्व प्रमाताओं से सम्बन्धित सर्वज्ञ ज्ञापकोपलंभ के अभाव का असंभव साधन है। अर्थात् अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञ ज्ञापकोपलंभ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि अभाव प्रमाण के उत्पन्न होने में आधारभूत प्रत्यक्ष और प्रतियोगी का स्मरण आवश्यक है- उसकी सामग्री अभाव में नहीं है। अर्थात् अभाव प्रमाण में सम्पूर्ण मनुष्यों का ज्ञान और सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का स्मरण है नहीं, बिना कारण के कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

मीमांसक दर्शन - विवादापन्न सर्व प्रमाता (सर्वज्ञ भगवान्) में सर्वज्ञ-ज्ञापकोपलंभ नहीं है, यह उस अभाव प्रमाण से ही जाना जाता है, ऐसा सिद्ध है। इसीलिए वहाँ अभाव प्रमाण की उत्पत्ति कराने वाली सामग्री का अभाव नहीं है। इस प्रकार मीमांसक की शंका वा कथन होने पर अन्य सर्वज्ञवादियों का मन्तव्य प्रमाण है या अप्रमाण है? ऐसा पक्ष उठाकर जैनार्च्य दूषण देते हैं-

पर (सर्वज्ञवादी) के स्वीकार करने से सर्वज्ञज्ञापकप्रमाण सिद्ध हैं। तथा ज्ञापकोपलंभ का नास्तिपना अभाव प्रमाण से जान लेते हैं, ऐसा कहने पर यदि सर्वज्ञवादियों के ज्ञापकोपलंभ का स्वीकार करना यदि आपको प्रमाण है तब तो मीमांसक के कथन में परस्पर में व्याघात दोष है। अर्थात् सर्वज्ञवादी के मत को प्रमाण मानने पर तो ज्ञापकोपलंभ का नास्तिपना सिद्ध नहीं कर सकते और यदि ज्ञापकोपलंभ का नास्तिपना सिद्ध करते हो तो सर्वज्ञवादी के अभ्युपगम (कथन) को प्रमाण नहीं मान सकते, दोनों के मानने में व्याघात दोष आता है और स्ववचन बाधित भी होता है।

यदि सर्वज्ञवादियों के कथन को प्रमाण नहीं मानते हो- तो सम्पूर्ण आत्माओं का ज्ञान और ज्ञापकोपलंभन के स्मरण रूप सामग्री का अभाव होने से अभाव प्रमाण का उत्थान नहीं हो सकता। तथा अभाव प्रमाण से ज्ञापकानुपलंभन हेतु जब जान नहीं सकते तो सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि अनुमान से नहीं कर सकते ॥२७॥

नहि प्रमाणात्सिद्धे सर्वज्ञज्ञापकोपलंभे परोपगमोऽसिद्धो नाम यतस्तन्नास्तितासाधनेऽन्योन्यं व्याघातो न स्यात्। प्रमाणमन्तरेण तु स न सिद्ध्यत्येवेति तत्सामग्र्यभाव एव।

नन्वेवं सर्वथैकांतः परोपगमतः कथम्।

सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम् ॥२८॥

न हि स्वोपगमतः स्याद्वादिनां सर्वथैकांतः सिद्धोऽस्तीति निषेधो न स्यात् सर्वज्ञज्ञापकोपलंभवत्, तदेतदचोद्यम्।

प्रतीतेऽनंतधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते।

को दोषः सुनयैस्तत्रैकांतोपप्लवबाधने ॥२९॥

सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणेऽपि ह्यनेकांतात्मनि वस्तुनि दृष्टिमोहोदयात्सर्वथैकांताभिप्रायः कस्यचिदुपजायते। स चोपप्लवः सध्यग्रयैर्बाध्यते इति न कश्चिदोषः। प्रतिषेध्याधिकरणं प्रतिपत्तिलक्षणः प्रतिषेध्यासिद्धिलक्षणो वा ?

इस प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों की प्रमाण से सिद्धि हो जाने पर सर्वज्ञवादियों के द्वारा स्वीकृत सर्वज्ञ, मीमांसकों के दर्शन में कैसे भी असिद्ध नहीं है। जिससे कि उस सर्वज्ञ का नास्तिकता सिद्ध करने में मीमांसकों के मत में परस्पर विरुद्ध वचनों में व्याघात दोष न हो सके।

प्रमाण के बिना सर्वज्ञ के ज्ञापकों का उपलंभ सिद्ध नहीं होता है। अतः मीमांसकों के यहाँ अभाव प्रमाण के उत्पन्न होने की सामग्री का अभाव ही है। अर्थात् सर्वज्ञ का अभाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। अनेकान्त प्रमाणसिद्ध है

पर के द्वारा (सांख्य मत में सर्वथा नित्य और बौद्ध मत में सर्वथा क्षणिक) स्वीकृत सर्वथा एकान्त जैन दर्शन में कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि जैन सिद्धान्त में एकान्त का निषेध है। बुद्धिमानों को इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए ॥२८॥

मीमांसक का कथन - स्वयं स्याद्वादियों द्वारा स्वीकृत सर्वथा एकान्त सिद्ध नहीं है तो फिर उसका निषेध कैसे हो सकता है अर्थात् जो स्वयं सिद्ध नहीं है, वह निषेध करने योग्य नहीं है। जैसे सर्वज्ञ ज्ञापकोपलंभ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होने से नास्तित्व सिद्ध नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसकों को इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। अर्थात् अश्व विषाण के समान एकान्तों का निषेध करना हमको आवश्यक नहीं है। अतः जैनमत में यह कुशंका रूपी दोष नहीं है। सुनयों से स्वयं अबाधित अनेक धर्मात्मक पदार्थ की प्रतीति हो जाने पर उस सिद्ध वस्तु में सर्वथा एकान्तों के तुच्छ उपद्रवों को बाधा देने में क्या दोष संभव है? अर्थात् कोई भी दोष नहीं है ॥२९॥

अनेक धर्मात्मक वस्तु के निश्चय में सुनिश्चित असंभव बाधक प्रमाण के अर्थात् अनेकान्त धर्मात्मक वस्तु के समीचीन प्रमाण के द्वारा सिद्ध हो जाने पर भी दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से सर्वथा एकान्त अधिप्राय किसी के उत्पन्न होता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि के जीवादि पदार्थ नित्य ही हैं वा अनित्य ही हैं- इस प्रकार का कदाग्रह उत्पन्न होता है। वह उपप्लव (कदाग्रह) समीचीन नयों के द्वारा बाधित होता है इसलिए अनेकान्त में कोई दूषण नहीं आता है। यदि सर्वथा एकान्तों के अभावरूप अनेकान्त माना जाता तब तो एकान्तों के अभाव जानने में निषेध करने योग्य, एकान्तों के अधिकरणों का न जानना स्वरूप अथवा प्रतियोगी के स्मरण करने योग्य सर्वथा एकान्तों की असिद्धि स्वरूप दोष संभव है। अर्थात् एकान्त स्वरूप की सिद्धि न होने से असिद्ध है। परन्तु अनेकान्त में असिद्ध दोष नहीं है- क्योंकि अनेकान्त प्रमाणसिद्ध है।

मिथ्यादृष्टस्तदधिकरणस्य वचनाद्यनुमानात्सिद्धिसद्भावात्तदभिप्रायस्य च
तदनुपलंभनान्निषेधे साध्ये कुतो न दोष इति न वाच्यम्।

अनेकांते हि विज्ञानमेकांतानुपलंभनम्।

तद्विधिस्तन्निषेधश्च यतो नैवान्यथा मतिः ॥३०॥

अनेकांतोपलब्धिरेव हि प्रतिपत्तुरेकांतानुपलब्धिः प्रसिद्धैव स्वसंबन्धिनी सा
चैकांतभावमंतरेणानुपपद्यमाना तत्साधनीया। न चानेकांतोपलंभादेवानेकांतविधिरभिमतः स एव
चैकांतप्रतिषेध इति नानुमानतः साधनीयस्तस्य तत्र वैयर्थ्यात्। सत्यमेतत्। कस्यचित्तु
कुतश्चित्साक्षात्कृतेऽप्यनेकांते विपरीतारोपदर्शनात्तद्व्यवच्छेदोऽनुपलब्धिः साध्यते। ततोऽस्याः
साफल्यमेव। प्रमाणसंप्लवोपगमाद्वा न दोषः।

एकान्त के दुराग्रह का अधिकरण (आधार) मिथ्यादृष्टि के वचन से वा अनुमान से, एकान्त
का सद्भाव होने से, मिथ्यादृष्टि के अभिप्राय (एकान्त दुराग्रह) का अनुपलम्भन होने से साध्य के निषेध
में दोष कैसे नहीं है? एकान्त के अनुपलम्भन से एकान्त के अभाव को सिद्ध करने पर जैनदर्शन में दोष
क्यों नहीं आता है? जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसक को ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि-

जैनदर्शन में तुच्छाभाव के समान एकान्त का अभाव नहीं मानते हैं। अपितु अनेकान्त धर्म की
उपलब्धि ही (अनेकान्त का विज्ञान ही) एकान्त का अनुपलंभ है। इसलिए अनेकान्त का विधान ही
एकान्त का निषेध है। अन्यथा (मीमांसक और नैयायिकों के समान सर्वथा) अभाव का ज्ञान होना हम
नहीं मानते हैं ॥३०॥

प्रतिपत्ता (ज्ञाता) को वस्तु में तादात्म्य सम्बन्ध से रहने वाले अनेक धर्मों-अनेकान्त की
उपलब्धि ही एकान्त की अनुपलब्धि के लिए प्रसिद्ध है। क्योंकि एकान्त के अभाव के बिना नहीं होने
वाली अनेकान्त की उपलब्धि को सिद्ध करना चाहिए। अर्थात् अनेकान्त की उपलब्धि ही एकान्त का
निषेध है, ऐसा समझना चाहिए। व्यर्थ में निषेध्य के आधार का ज्ञान या निषेध्य के स्मरण की
आवश्यकता नहीं है।

अनेकान्त के उपलंभ (उपलब्धि) से ही अनेकान्त की विधि मानी गई, वही एकान्त का प्रतिषेध
है। इस प्रकार अनुमान से सिद्ध नहीं करना चाहिए। क्योंकि अनेकान्त की उपलब्धि और एकान्त का
प्रतिषेध ये दोनों एक ही हैं तब एकान्त के निषेध का अनुमान करना व्यर्थ है। यह तुम्हारा कथन सत्य
है। किन्तु किसी मनुष्य के कुतश्चित् (किन्हीं) अनेक अर्थक्रियाओं के द्वारा अनेक धर्मात्मक वस्तु का
साक्षात् निर्णय हो जाने पर भी अनेक धर्म के विपरीत आरोप (एकान्त की कल्पना) देखा जाता है।
अतः उस विपरीत एकान्त की कल्पना का व्यवच्छेद करने के लिए अनुमान के द्वारा एकान्त की
अनुपलब्धि सिद्ध की जाती है। अतः एकान्त की अनुपलब्धि को सिद्ध करने वाले अनुमान ज्ञान की
सफलता ही है। एक वस्तु को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि अनेक प्रमाणों का
संप्लव (एकत्रता) भी जैनधर्म में स्वीकृत है, इसलिए अनुमान के द्वारा एकान्त की अनुपलब्धि सिद्ध
करना दोषयुक्त नहीं है।

परस्याप्ययं न्यायः समान इति चेत्-

नैवं सर्वस्य सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम्।

सिद्धं तद्वर्णनारोपो येन तत्र निषिध्यते ॥३१॥

सर्वसंबन्धिनि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भे हि प्रतिपत्तुः स्वयं सिद्धे कुतश्चित्कस्यचित्सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भसमारोपो यदि व्यवच्छेद्येत तदा समानो न्यायः स्यान्न चैवं सर्वज्ञाभाववादिनां तदसिद्धेः।

आसन् संति भविष्यन्ति बोद्धारो विश्वदृश्यनः।

मदन्येऽपीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः ॥३२॥

किञ्चिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे तेनैवेति विनिश्चयः।

इत्ययुक्तमशेषज्ञसाधनोपायसंभवात् ॥३३॥

जिस प्रकार एकान्त की अनुपलब्धि जैनाचार्यों के द्वारा साध्य है, वैसे हम सर्वज्ञ की अनुपलब्धि (अभाव) को भी सिद्ध कर सकते हैं- क्योंकि दोनों के अभाव में समानता है। मीमांसक के द्वारा ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि-

मीमांसक का यह कथन ठीक नहीं है- क्योंकि जैसे सर्वत्र अनेकान्त की उपलब्धि रूप एकान्तों का अदर्शन (नहीं दिखना) सिद्ध है वैसे ही सर्वत्र सर्वज्ञ की अनुपदर्शन (अनुपलब्धि) सिद्ध होती है, तो उसके दर्शन का आरोप करके सर्वज्ञ का निषेध किया जा सकता है। परन्तु सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का अभाव सिद्ध नहीं है। इसलिए सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि और एकान्त के अभाव की सिद्धि समान नहीं हैं ॥३१॥

यदि ज्ञाता मीमांसक को सर्वसम्बन्धि-सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का अनुपलम्भ अपने आप सिद्ध होता और बाद में कहीं पर किसी सर्वज्ञवादी व्यक्ति को किसी कारण से उसके विपरीत सर्वज्ञ के ज्ञापक का उपलम्भरूप आरोप होता, और उस आरोप का व्यवच्छेद किया जाता, तब तो हमारे एकान्ताभाव का और आप द्वारा कथित सर्वज्ञाभाव का न्याय समान होता। परन्तु इस प्रकार सर्वज्ञ-अभाववादियों के मत में सम्पूर्ण आत्माओं में सर्वज्ञ के उन ज्ञापक प्रमाणों का अभाव सिद्ध नहीं है। इसलिए स्याद्वादियों का और मीमांसकों का न्याय सदृश नहीं है।

भूतकाल में भी विश्वदृशी (सर्वज्ञ) को जानने वाले मेरे अलावा दूसरे पुरुष थे। वर्तमान काल में भी किसी क्षेत्र में सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष जानने वाले हैं और इस क्षेत्र में आगम, अनुमान से सर्वज्ञ को जानने वाले पुरुष विद्यमान हैं। और भविष्यत् काल में भी सर्वज्ञ को जानने वाले होंगे। इस प्रकार से जैसे सर्वज्ञवादियों के सर्वज्ञ का निर्णय है, उसी प्रकार पूर्वकाल में सभी मानव अल्पज्ञ थे, वर्तमान में अल्पज्ञ हैं और भविष्यत् काल में अल्पज्ञ होंगे। अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वज्ञ को जानने वाले कोई नहीं होंगे। यह भी निर्णीत है, निश्चित है। जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले समीचीन उपाय सम्भव हैं अर्थात् सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का सद्भाव है ॥३२-३३॥

स्वयमसर्वज्ञस्यापि सर्वविदो बोद्धारो वृत्ता वर्तन्ते वर्तिष्यन्ते मत्तोऽन्येपीति युक्तं वक्तुं, तत्सिद्ध्युपायघटनात्। तत्पुनरसर्वज्ञवादिनस्ते पूर्वं नासन्न संति, न भविष्यन्तीति प्रमाणाभावात्।
कथम्-

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्यं तत्त्वतः।

तथान्येऽपि नराः संतस्तद्वोद्धारो निरंकुशाः॥३४॥

संतः प्रशस्याः प्रेक्षावंतः पुरुषास्ते मदन्येऽप्यनुमानादिना सर्वज्ञस्य बोद्धारः प्रेक्षावत्वात् यथाहमिति ब्रुवतो न किञ्चिद्बाधकमस्ति। न च प्रेक्षावत्त्वं ममासिद्धं निरवद्यं सर्वविद्यावेदकप्रमाणवादित्वात्। यो हि यत्र निरवद्यं प्रमाणं वक्ति स तत्र प्रेक्षावानिति सुप्रसिद्धम्।

यथा मम न तज्ज्ञातेरुपलंभोऽस्ति जातुचित्।

तथा सर्वनृणामित्यज्ञानस्यैव विचेष्टितम्॥३५॥

हेतोर्नरत्वकायादिमत्त्वादेर्व्यभिचारतः।

स्याद्वादिनैव विश्वज्ञमनुमानेन जानता॥३६॥

इस समय स्वयं अल्पज्ञ होकर भी स्याद्वादी इस बात को युक्तिसहित कह सकते हैं कि हम से अतिरिक्त पुरुष भी भूतकाल में सर्वज्ञ को जानने वाले थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे। क्योंकि उस सर्वज्ञ की सिद्धि का उपाय अनुमान प्रमाण से घटित है (सुसिद्ध है) किन्तु असर्वज्ञवादी (मीमांसक) के भूतकाल में सर्वज्ञ नहीं थे, वर्तमान में नहीं है और भविष्य काल में नहीं होंगे, इस की सिद्धि में प्रमाण का अभाव है।

सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण

सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण कैसे हैं? सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे होती है? उसी को कहते हैं-

जिस प्रकार मैं अनुमान और आगम आदि प्रमाणों से वास्तविक रूप से सर्वज्ञ को जानता हूँ, उसी प्रकार दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी निरंकुश (अबाधित) प्रमाणों से सर्वज्ञ को जानते हैं॥३४॥

मुझ से अतिरिक्त सन्त (सज्जन), प्रशस्य (प्रशंसनीय), प्रेक्षावान् (बुद्धिमान) पुरुष अनुमानादि प्रमाणों से सर्वज्ञ को जानने वाले हैं, विचारशील होने से जैसे मैं। अर्थात् जैसे विचारशील बुद्धिमान होने से मैं सर्वज्ञ को जानने वाला हूँ, वैसे विचारशील अन्य पुरुष भी सर्वज्ञ को जानने वाले हैं। इस प्रकार मुझ सर्वज्ञवादी के कथन में किञ्चिदपि बाधक प्रमाण नहीं है। मेरे में विचारशीलत्व या बुद्धिमत्त्व असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि मैं निर्दोष सम्पूर्ण विद्याओं के वेदक (ज्ञान कराने वाले) प्रमाण को स्वीकार करने वाला हूँ। (समीचीन ज्ञान का कथन करने वाला हूँ) क्योंकि जो जिस विषय में निर्दोष प्रमाण को कहता है, वह उस विषय में प्रेक्षावान् वा विचारशील है। यह कथन लोकप्रसिद्ध है।

जैसे मुझको सर्वज्ञ की ज्ञप्ति (ज्ञान) की उपलब्धि कभी नहीं होती है, उसी प्रकार सभी मनुष्यों को भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है; ऐसा मीमांसक का कहना मूर्ख की चेष्टा के समान है। अज्ञानी की चेष्टा है क्योंकि नरत्व, कायत्व आदि हेतुओं का अनुमान से सर्वज्ञ को जानने वाले स्याद्वादी से ही व्यभिचार है॥३५-३६॥

मदन्ये पुरुषाः सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भशून्याः पुरुषत्वात्कायादिमत्त्वाद् यथाहमिति वचस्तमोविलसितमेव । हेतोः स्याद्वादिनानैकांतात् ।

तस्य पक्षीकरणाददोष इति चेत् । न । पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानबाधप्रसक्तेः । सर्वज्ञवादिनो हि सर्वज्ञज्ञापकमनुमानादिस्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रतिवादिनश्च तद्वचनविशेषोत्थानुमानसिद्धं सर्वपुरुषाणां सकलवित्साधनानुभवनशून्यत्वं बाधते हेतुशास्त्रीतकालः स्यादिति नासर्वज्ञवादिनां सर्वविदो बोद्धारो न केचिदिति वक्तुं युक्तम् ।

भावार्थ — मीमांसक ऐसा अनुमान कहेंगे कि कोई भी मानव सर्वज्ञ को जानने वाला नहीं है, क्योंकि सभी मानव हैं- शरीर, इन्द्रिय आदि से विशिष्ट हैं तथा वक्ता हैं। जो-जो पुरुष है, इन्द्रिय और शरीर से विशिष्ट है (इन्द्रिय और शरीर से युक्त है) और व्याख्याता है, वह सर्वज्ञ को जानने वाला नहीं हो सकता। जैसे सशरीरी, व्याख्याता, पंचेन्द्रिय मानव होने से मैं सर्वज्ञ को जानने वाला नहीं हूँ इस अनुमान में कथित सशरीरत्व आदि हेतु अनुमान ज्ञान के द्वारा और अप्राम ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ को जानने वाले स्याद्वादी विद्वान् से व्यभिचार को प्राप्त होता है। क्योंकि स्याद्वादी पुरुष है, शरीरधारी है और वक्ता भी है। किन्तु अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ को जानता है। अतः यह हेतु अनेकान्त हेत्वाभास है।

“मेरे से अतिरिक्त सर्व मानव सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण से शून्य (रहित) हैं पुरुष होने से, या सशरीरी होने से, जैसे मैं” इस प्रकार का मीमांसकों का वचन (कथन) महान् अज्ञान रूपी अन्धकार का खिलवाड़ है। क्योंकि उन हेतुओं का स्याद्वादी विद्वान् से व्यभिचार है। अर्थात् यह हेतु सर्वज्ञ को जानने वाले विपक्षी स्याद्वादियों में भी जाता है। वे सशरीरी व्याख्याता पुरुष होते हुए भी सर्वज्ञ को जानते हैं।

स्याद्वादी को पक्षकोटि में रखने से दोष नहीं आता है अर्थात् स्याद्वादी को भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं है, ऐसा कहने पर हमारे हेतु व्यभिचारी नहीं होगा। ऐसा भी कहना उचित नहीं है- क्योंकि स्याद्वादी सर्वज्ञ को नहीं जानते हैं। इस पक्ष के प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से बाधा आने का प्रसंग आता है। अर्थात् यह पक्ष अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। क्योंकि सर्वज्ञवादी के सर्वज्ञ के ज्ञापक अनुमान आदि प्रमाण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हैं और प्रतिवादी को पूर्वापर अविरुद्ध वचनों से उत्पन्न अनुमान के द्वारा सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का ज्ञान करा देना सिद्ध ही है। अतः स्वसंवेदन और अनुमान ज्ञान के द्वारा सिद्ध सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण मीमांसक के द्वारा कथित अनुमान को बाधित करते हैं। इसलिये “सभी मानव सर्वज्ञ के साधक अनुभव से रहित हैं,” यह हेतुबाधित हेत्वाभास है। क्योंकि सर्वज्ञ के साधक अनुभव की सिद्धि होने के पश्चात् यह हेतु दिया गया है। इसलिए ‘सर्वज्ञ के ज्ञाता कोई नहीं है’ ऐसा असर्वज्ञवादी मीमांसकों का कथन युक्तिसंगत नहीं है।

ज्ञापकानुपलंभोऽस्ति तत्र तत्प्रतिषेधतः ।
कारकानुपलंभस्तु प्रतिघातीष्यतेऽग्रतः ॥३७॥

तदेवं सिद्धो विश्वतत्त्वानां ज्ञाता, तदभावसाधनस्य ज्ञापकानुपलंभस्य कारकानुपलंभस्य च निराकरणात् ।

कल्मषप्रक्षयश्चास्य विश्वज्ञत्वात्प्रतीयते ।
तमंतरेण तद्भावानुपपत्तिप्रसिद्धितः ॥३८॥

सर्वतत्त्वार्थज्ञानं च कस्यचित्स्यात् कल्मषप्रक्षयश्च न स्यादिति न शङ्कनीयं तद्भाव एव तस्य सद्भावोपपत्तिसिद्धेः ।

जायते तद्विधं ज्ञानं स्वेऽसति प्रतिबंधरि ।
स्पष्टस्वार्थावभासित्वान्निर्दोषनयनादिवत् ॥३९॥

कारक हेतु और ज्ञापक हेतु के भेद से हेतु दो प्रकार के होते हैं। अग्नि धूम की कारक (उत्पादक) हेतु है और धूम अग्नि का ज्ञापक हेतु है। सर्वज्ञ के ज्ञापक (जानने वाले) हेतु का अनुपलंभ है, ज्ञापक हेतु नहीं है, ऐसा तो नहीं कह सकते- क्योंकि इसका निषेध कर दिया है। अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञापक अनुमान आदि हेतु हैं। और सर्वज्ञ के कारकानुपलंभ का आगे खण्डन करेंगे। अर्थात् सर्वज्ञ के कारक तपश्चरण, ध्यान, सम्यग्दर्शनादि कारणों की प्रसिद्धि है। सम्यग्दर्शनादि के द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान उत्पन्न होता है अतः कारक हेतुओं का अनुपलंभ नहीं है ॥३७॥

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विश्वतत्त्वों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) अवश्य है। क्योंकि उस सर्वज्ञ के अभाव के साधक ज्ञापक हेतु और कारकानुपलंभ का निराकरण कर दिया गया है।

विश्वतत्त्व के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ भगवान के सर्व कल्मष (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्म रूपी पापों) का क्षय निश्चित होता है। क्योंकि इन घातिया कर्मों का क्षय किये बिना सर्वज्ञता के सद्भाव की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥३८॥

किसी प्राणी (ईश्वरविशेष) को सर्व तत्त्वार्थों का ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु सम्पूर्ण कर्मों का क्षय नहीं हो सकता है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि कर्मों का सद्भाव ही असर्वज्ञता के सद्भाव की उपपत्ति है। अर्थात् घातिया कर्मों का सद्भाव ही असर्वज्ञ के सद्भाव का द्योतक है। क्योंकि बिना कारण कार्य नहीं हो सकता। अतः घातिया कर्मों के नाश से सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

सर्वज्ञता के प्रतिबन्धक अपने घातिया कर्मों का अभाव होने पर सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् ज्ञाता केवलज्ञान उत्पन्न होता है। वह केवलज्ञान निर्दोष नयन के समान स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है। अर्थात् जैसे निर्दोष आँख सही पदार्थ को जानती है, उसी प्रकार केवलज्ञान सही पदार्थों को जानता है ॥३९॥

सर्वज्ञविज्ञानस्य स्वं प्रतिबन्धकं कल्मषं तस्मिन्नसत्येव तद्वति स्पष्टस्वविषयावभासित्वात् निर्दोषचक्षुरादिवदित्यत्र नासिद्धं साधनं प्रमाणसद्भावात्।

नन्वामूलं कल्मषस्य क्षये किं प्रमाणमिति चेदिमे ब्रूमहे;-

क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम्।

समग्रक्षयहेतुत्वाल्लोचने तिमिरादिवत् ॥४०॥

समग्रक्षयहेतुकं हि चक्षुषि तिमिरादि न पुनरुद्भवदृष्टं तद्वत्सर्वविदो ज्ञानप्रतिबन्धकमिति। ननु क्षयमात्रसिद्धावप्यामूलक्षयोऽस्य न सिद्धयेत् पुनर्नयने तिमिरमुद्भवद दृष्टमेवेति चेन्न, तदा तस्य समग्रक्षयहेतुत्वाभावात्। समग्रक्षयहेतुकमेव हि तिमिरादिकमिहोदाहरणं नान्यत्। न चानेन हेतोरनैकान्तिकता तत्र तदभावात्।

सर्वज्ञविज्ञान का प्रतिबन्धक स्वकीय (आत्मा के द्वारा उपार्जित) पाप कर्म (घातिया कर्म) है। उन घातिया कर्म रूप प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने पर सब को जानने वाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है। वह स्पष्ट रूप से अपने विषयों का प्रकाशक है। जो स्पष्ट रूप से अपने विषयों के प्रकाशक होते हैं- वे अपने प्रतिबन्धकों के नष्ट होने पर ही उत्पन्न होते हैं। जैसे निर्दोष चक्षु अपने विषयभूत पदार्थों को स्पष्ट जानता है। इस अनुमान में दिया गया स्पष्ट भासित्व हेतु असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि इस की सिद्धि में भी प्रमाणों का सद्भाव पाया जाता है।

कर्मों के जड़ से ही पूरी तरह क्षय होने में क्या प्रमाण है? ऐसी शंका होने पर जैनाचार्य कहते हैं—

कर्मक्षय के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप सम्पूर्ण सामग्री के मिलने से किसी मानव के ज्ञान के प्रतिबन्धक कारण जड़ से नष्ट हो जाते हैं। जैसे अंजनादि के लगाने से नेत्रों के (तिमिर) रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥४०॥

जैसे कामला आदि रोगों के सर्वथा नाशक अंजन आदि के प्रयोग से नेत्र के कामला आदि रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और वे पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान के द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। प्रतिबन्धक कारणों का सर्वथा नाश हो जाने पर पुनः उनका प्रादुर्भाव नहीं होता है।

शंका - कर्मों का क्षयमात्र सिद्ध होने पर भी उनका निर्मूल नाश नहीं होता है तथा नेत्र के रोग का नाश होने पर भी तिमिरादि रोग पुनः उत्पन्न होते देखे जाते हैं अतः इस दृष्टान्त से ज्ञान के प्रतिबन्धक कारणों का सर्वथा अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। उत्तर - ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि संसारी जीव के सम्पूर्ण घातिया कर्मों का क्षय करने वाले कारणों का अभाव है। सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के कारण ही तिमिरादिक का यहाँ उदाहरण है, दूसरा उदाहरण नहीं है। और यह हेतु अनैकान्तिक दोष से दूषित भी नहीं है। क्योंकि इस अनुमान में अनैकान्तिकता का अभाव है।

किं पुनः केवलस्य प्रतिबन्धकं यस्यात्यन्तपरिक्षयः क्वचित्साध्यत इति नाक्षेपव्यम्।

मोहो ज्ञानदृगावृत्यन्तरायाः प्रतिबन्धकाः।

केवलस्य हि वक्ष्यन्ते तद्भावे तदनुद्भवात् ॥४१॥

यद्भावे नियमेन यस्यानुद्भवस्तत्तस्य प्रतिबन्धकं यथा तिमिरं नेत्रविज्ञानस्य मोहादिभावोऽस्मदादेशक्षुर्ज्ञानानुद्भवश्च केवलस्येति मोहादयस्तत्प्रतिबन्धकाः प्रवक्ष्यन्ते। ततो न धर्मिणोऽसिद्धिः। कः पुनरेतत्क्षयहेतुः समग्रो यद्भावाद्धेतुसिद्धिरिति चेत्:-

तेषां प्रक्षयहेतू च पूर्णो संवरनिर्जरी।

ते तपोतिशयात्साधोः कस्यचिद्भवतो ध्रुवम् ॥४२॥

तपो ह्यनागताघौघप्रवर्तननिरोधनम्।

तज्जन्महेतुसंघातप्रतिपक्षयतो यथा ॥४३॥

भविष्यत्कालकूटादिविकारौघनिरोधनम्।

मंत्रध्यानविधानादि स्फुटं लोके प्रतीयते ॥४४॥

केवलज्ञान के प्रतिबन्धक

“केवलज्ञान के प्रतिबन्धक क्या हैं? जिनका अत्यन्त क्षय कहीं (किसी एक आत्मा में) सिद्ध किया जा रहा है” ऐसा आक्षेप नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म केवलज्ञान के प्रतिबन्धक हैं। उनका वर्णन आगे करेंगे। उन कर्मों के सद्भावे में केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है ॥४१॥

जिसके सद्भावे में जिसकी उत्पत्ति नहीं होती है, वह उसका प्रतिबन्धक होता है। जैसे तिमिर रोग के सद्भावे में नेत्र सम्बन्धी निर्दोष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है- अतः वह तिमिर रोग नेत्र के निर्दोष ज्ञान का प्रतिबन्धक है। मोहनीय आदि चार घातिया कर्मों का सद्भाव हमारे केवलज्ञान का प्रतिबन्धक है। जैसे हमारे कामलादि रोग उत्पन्न होने पर चक्षुज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः केवलज्ञान के मोहादि चार घातिया कर्म प्रतिबन्धक हैं। इसका वर्णन आगे दसवें अध्याय में करेंगे। इसलिए केवलज्ञान के प्रतिबन्धक मोहादि धर्मों (पक्ष) की असिद्धि नहीं है।

कर्मक्षय में कारण

मोहनीय आदि कर्मों का सम्पूर्ण क्षय करने का कारण कौन है जिसके सद्भावे से स्याद्भाव में कथित हेतु सिद्ध होता है, ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

उन मोहनीयादि कर्मों के क्षय का परिपूर्ण कारण संवर और निर्जरा हैं। और वे संवर और निर्जरा तपश्चरण के अतिशय (माहात्म्य) से किसी साधु के निश्चय से होते हैं ॥४२॥

अनागत (भावी) पापों के समूह की प्रवृत्ति का निरोध करने वाला तप कहलाता है। अर्थात् तपश्चरण ही अनागत कर्मों के आने को रोकने वाले हैं। वह तप कर्मों की उत्पत्ति के कारण (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र) के संघात के क्षय से उत्पन्न होता है। अर्थात् तप संवर और निर्जरा दोनों का कारण है। जैसे भविष्य में होने वाले कालकूट (विष) आदि के विकारों के समूह का निरोध मंत्र और ध्यान के विधान आदि से होता है, स्पष्ट रूप से यह लोकप्रसिद्ध है। उसी प्रकार तपश्चरण के द्वारा कर्मों का संवर और निर्जरा होती है ॥४३-४४॥

नृणामप्यघसंबंधो रागद्वेषादिहेतुकः ।
 दुःखादिफलहेतुत्वादतिभुक्तिविषादिवत् ॥४५॥
 तद्विरोधिविरागादिरूपं तप इहोच्यते ।
 तदसिद्धावतज्जन्मकारणप्रतिपक्षता ॥४६॥
 तदा दुःखफलं कर्म संचितं प्रतिहन्यते ।
 कायक्लेशादिरूपेण तपसा तत्सजातिना ॥४७॥
 स्वाध्यायादिस्वभावेन परप्रशममूर्तिना ।
 बद्धं सातादिकृत्कर्म शक्रादिसुखजातिना ॥४८॥

केवलप्रतिबंधकस्यानागतस्य संचितस्य चात्यंतिकक्षयहेतू समग्रौ संवरनिर्जरी तपोऽतिशयात्
 कस्यचिदवश्यं भवत एवेति प्रमाणसिद्धं तस्य समग्रक्षयहेतुत्वसाधनं यतः ।

जैसे अधिक भोजन करने से या विष आदि भक्षण करने से आत्मा में अनेक रोग वा संक्लेश भाव उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आत्मा में रोग शोक आदि अनेक दुःखों-फलों के उत्पादक होने से मनुष्यों (प्राणियों) के पापों का सम्बन्ध रागद्वेषादि कारणों से होता है ॥४५॥

यहाँ जिन रागद्वेष अज्ञान आदि विभावों से कर्मों का बंध होता है, उन रागादिकों का विरोधी वैराग्य, आत्मज्ञान आदि रूप तप कहलाता है। उन वैराग्य आदि रूप तप की असिद्धि होने पर उनके विरोधी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि का विरोध भी नहीं होता है ॥४६॥ अतः वीतराग विज्ञान आदि ही ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों के और राग-द्वेष आदि भाव कर्मों के विरोधी वा निरोधक हैं।

कायक्लेशादि रूप तपश्चरण के द्वारा दुःख रूप फल देने वाले संचित कर्म (पापकर्म) नष्ट किये जाते हैं। अर्थात् अनशन आदि बाह्य तपश्चरण के द्वारा अशुभ कर्मों का नाश होता है। उस तप के परमप्रशम भाव रूप स्वाध्याय आदि अंतरंग तप के द्वारा इन्द्रपद आदि या उसी जाति के दूसरे सुख को देने वाले पूर्वबद्ध साता आदि प्रशस्त कर्मों का विनाश हो जाता है। अर्थात् तपश्चरण से शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा होती है ॥४७-४८॥

केवलज्ञान के प्रतिबन्धक अनागत (भविष्य के) और संचित पूर्वबद्ध कर्मों के अत्यन्त क्षय का कारण संवर और निर्जरा है। अर्थात् अनागत कर्मों का अभाव या निरोध संवर से होता है और संचित कर्मों का क्षय निर्जरा से होता है। किसी विशुद्ध परिणामी के तप के अतिशय से केवलज्ञान के प्रतिबन्धक अनागत और संचित कर्मों के संवर और निर्जरा अवश्य होते हैं। इस प्रकार प्रतिबन्धक कर्मों के सम्पूर्ण क्षय का कारणभूत साधन प्रमाणसिद्ध है।

ततो निःशेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः ।

श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स संस्तुत्यस्तदर्थिभिः ॥४९॥

ननु निःशेषतत्त्वार्थवेदित्वे प्रक्षीणकल्मषत्वे च चारित्राख्ये सम्यग्दर्शनाविनाभाविनि सिद्धेऽपि भगवतः शरीरित्वेनावस्थानासंभवान्न श्रेयोमार्गोपदेशित्वं, तथापि तदवस्थाने शरीरित्वाभावस्य रत्नत्रयनिबन्धनत्वविरोधात् तद्भावेऽप्यभावात् । कारणांतरापेक्षायां न रत्नत्रयमेव संसारक्षयनिमित्तमिति कश्चित् । सोऽपि न विपश्चित् । यस्मात्-

तस्य दर्शनशुद्ध्यादिभावनोपात्तमूर्तिना ।

पुण्यतीर्थकरत्वेन नाम्ना संपादितश्रियः ॥५०॥

स्थितस्य च चिरं स्वायुर्विशेषवशवर्तिनः ।

श्रेयोमार्गोपदेशित्वं कथंचिन्न विरुध्यते ॥५१॥

वीतराग, सर्वज्ञ हितोपदेशी ही वन्दनीय है

जिस कारण से कर्मों का क्षय करने वाला हेतु सिद्ध है उसी कारण से यह भी सिद्ध है कि- जिसके सम्पूर्ण पाप (चार घातिया कर्म) नष्ट हो गये हैं, ऐसा वीतरागी और सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) भगवान मोक्षमार्ग का नेता (मोक्षमार्ग का उपदेशक) है, वही मोक्ष के अभिलाषी भव्य जीवों के द्वारा स्तुति करने योग्य है (वन्दनीय, पूजनीय है) ॥४९॥

शंका - सम्यग्दर्शन के अविनाभावी सम्पूर्ण पदार्थों का जानलेनापन (सर्वज्ञत्व) चारित्र मोहनीय आदि चार घातिया कर्म रूपी कल्मष (पाप) के क्षीण हो जाने पर चारित्र गुण के सिद्ध हो जाने पर भी (रत्नत्रय वाले) भगवान के शरीर रूप से अवस्थान (रहने) की असंभवता होने से श्रेयोमार्ग (मोक्षमार्ग) का उपदेश देना घटित नहीं हो सकता । अर्थात् जिसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों गुण परिपूर्ण हो गये हैं, वह शीघ्र ही द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों का नाश कर मुक्त हो जाता है, शरीर सहित संसार में नहीं रह सकता- अतः उसके मोक्षमार्ग का उपदेश देना घटित नहीं हो सकता । यदि रत्नत्रय की पूर्णता हो जाने पर भी शरीर में रहना स्वीकार करते हैं तो शरीर के नाश का कारण रत्नत्रय को मानना विरोध युक्त होगा । क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में रत्नत्रय की पूर्णता हो जाने पर मोक्षमार्ग के उपदेशक भगवान के शरीर का अभाव नहीं है । यदि उस शरीर का नाश करने के लिए दूसरे कारणों को मानते हैं तो पूर्ण रत्नत्रय भी संसार के क्षय का निमित्त नहीं हो सकता । ऐसा कोई कहता है? उत्तर- जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाला विद्वान् नहीं हैं । क्योंकि—

दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओं के चिंतन से उपार्जित है शरीर जिसका तथा अत्यन्त पुण्यशालिनी तीर्थकरत्व नामकर्म प्रकृति के द्वारा सम्पादित (प्राप्त) समवसरण आदि लक्ष्मी वाले अपनी आयु विशेष के वशवर्ती (आयु के कारण) संसार में स्थित भगवान के चिरकाल तक (अधिक से अधिक आठ वर्ष कम एक कोटिपूर्व काल तक) मोक्षमार्ग का उपदेश देना किसी भी प्रकार से विरुद्ध नहीं है ॥५०-५१॥

तस्य निःशेषतत्त्वार्थवेदिनः समुद्भूतरत्नत्रयस्यापि शरीरित्वेनावस्थानं स्वायुर्विशेषवशवर्तित्वात्। न हि तदायुरपवर्तनीयं येनोपक्रमवशात् क्षीयेत, तदक्षये च तदविनाभाविनामादिकर्मत्रयोदयोऽपि तस्यावतिष्ठते। ततः स्थितस्य भगवतः श्रेयोमार्गोपदेशित्वं कथमपि न विरुध्यते। कुतस्तर्हि तस्यायुःक्षयः शेषाघातिकर्मक्षयश्च स्याद्यतो मुक्तिरिति चेत् फलोपभोगादायुषो निर्जरोपवर्णनादघातिकर्मत्रयस्य च शेषस्याधिकस्थितेर्दंडकपाटादिकरणविशेषादपकर्षणादिकर्मविशेषाद्वेति ब्रूमः। न चैवं रत्नत्रयहेतुता

समुद्भूत है रत्नत्रय जिनके ऐसे सर्वज्ञ भगवान का अपनी आयु के वश (आधीन) होने से शरीर सहित संसार में रहना घटित होता है। क्योंकि तीर्थंकर की आयु किन्हीं भी कारणों से अपवर्तनीय (क्षय करने योग्य) नहीं है। जिससे कि उपक्रम के आधीन आयु कर्म की उदीरणा करके उसका क्षय किया जा सके। और आयु का क्षय नहीं होने पर आयु के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मों का उदय भी केवली भगवान के रहता है। अतः चार अघातिया कर्मों के कारण संसार में स्थित केवली भगवान के मोक्षमार्ग का उपदेश देना किसी भी प्रकार से विरुद्ध नहीं पड़ता है। (अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म, सुस्वर नाम कर्म, मन, वचन, काय योग और भव्य जीवों के पुण्य विशेष का निमित्त पाकर तीर्थंकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है।)

अघातिया कर्मों के नाश के कारण -

यदि रत्नत्रय की पूर्णता होने पर भी भगवान् के चार अघातिया कर्म स्थित हैं, तो उस आयु कर्म और शेष तीन अघातिया कर्मों का नाश किन कारणों से होता है, जिससे वे संसार से छूट जाते हैं, ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं—

आयु कर्म की निर्जरा तो उसके फल के उपभोग से हो जाती है और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति की दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण आदि करण विशेष से और अपकर्षण आदि क्रियाविशेष से निर्जरा कर दी जाती है। ऐसा हम लोग कहते हैं।

भावार्थ - मूल शरीर को न छोड़कर आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। केवली का समुद्घात केवली समुद्घात कहलाता है। प्रयत्न और इच्छा के बिना ही आयु के समान शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति करने के लिए १३ वें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर केवली समुद्घात होता है- उसमें आठ समय लगते हैं। प्रथम समय में दण्ड, दूसरे में कपाट, तीसरे में प्रतर और चतुर्थ समय में लोकपूरण अवस्था होती है- यह प्रसरण विधि है, पुनः संकोच होता है, पाँचवें समय में प्रतर, छठे समय में कपाट, सातवें समय में दण्ड रूप और आठवें समय में आत्मप्रदेश पुनः स्वशरीर प्रमाण हो जाते हैं। इस समुद्घात क्रिया से नामादि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयु कर्म के बराबर हो जाती है।

मुक्तेर्व्याहन्यते निश्चयनयादयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य मुक्तिहेतुत्वव्यवस्थितेः । ननु स्थितस्याप्यमोहस्य मोहविशेषात्मकविवक्षानुपपत्तेः कुतः श्रेयोमार्गवचनप्रवृत्तिरिति च न मंतव्यं । तीर्थकरत्वनामकर्मणा पुण्यातिशयेन तस्यागमलक्षणतीर्थकरत्वश्रियः संपादनात्तीर्थकरत्वनामकर्म तु दर्शनविशुद्ध्यादिभावनाबलभावि विभावयिष्यते । न च मोहवति विवक्षानांतरीयकत्वं वचन-प्रवृत्तेरुपलभ्य प्रक्षीणमोहेऽपि तस्य तत्पूर्वकत्वसाधनं श्रेयः शरीरत्वादेः पूर्वसर्वज्ञत्वादिसाधनानुषंगात् वचोविवक्षानांतरीयकत्वासिद्धेः श्रेति निरवद्यं सम्यग्दर्शनादित्रयहेतुकमुक्तिवादिनां श्रेयोमार्गोपदेशित्वम् ।

ज्ञानमात्रात्तु यो नाम मुक्तिमभ्येति कश्चन ।

तस्य तत्र ततः पूर्वमज्ञत्वात्पामरादिवत् ॥५२॥

नापि पश्चादवस्थानाभावाद्वाग्वृत्त्ययोगतः ।

आकाशस्येव मुक्तस्य क्लोपदेशप्रवर्तनम् ॥५३॥

इस प्रकार मानने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के मोक्षमार्ग की कारणता का व्याघात भी नहीं होता है- क्योंकि निश्चय नय से अयोग केवली (१४ वें गुणस्थान) के चरम समय पर्यन्त रत्नत्रय के मुक्ति की हेतुता व्यवस्थित है। अर्थात् यद्यपि रत्नत्रय की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में हो जाती है- तथापि व्युपरातक्रिया नामक शुक्ल ध्यान रूप चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। अतः रत्नत्रय की पूर्णता ही मुक्ति का कारण है।

विगतमोह केवली के वचनप्रवृत्ति क्यों ?

शंका - जिनका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, संसार में स्थित ऐसे अमोही केवली भगवान के मोहविशेषात्मक बोलने की इच्छा न होने से श्रेयोमार्ग के वचन की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर- ऐसा कहना उचित नहीं है (ऐसा नहीं मानना चाहिए) क्योंकि तीर्थकरत्व नामकर्म रूप पुण्य के अतिशय से प्राप्त आगम (द्वादशांग) रूप तीर्थ बनाने की लक्ष्मी को प्राप्त किया है। उन भगवान के दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं से उपार्जित तीर्थकर नामकर्म है, उसके उदय से निर्मोही भगवान मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। (दर्शनविशुद्धि आदि षोडश भावनाओं के लक्षण और नाम छठे अध्याय में कहेंगे।)

मोहयुक्त संसारी जीवों में बोलने की इच्छा के बिना नहीं होने वाली (बोलने की इच्छा पूर्वक ही होने वाली) वचन प्रवृत्ति को देखकर क्षीणमोही केवली में भी वचनों की प्रवृत्ति को इच्छापूर्वक सिद्ध करना श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर शरीरधारित्व, वक्तृत्व आदि हेतुओं से पूर्व के समान केवली भगवान के असर्वज्ञता की भी सिद्धि का प्रसंग आयेगा। अर्थात् केवली भगवान् हमारे जैसे शरीरधारी होने से सर्वज्ञ भी नहीं हो सकेंगे। अर्हन्त भगवान् असर्वज्ञ हैं शरीरधारी होने से, वक्ता होने से, जैसे हम लोग हैं। परन्तु शरीरधारी होते हुए भी भगवान हमारे जैसे नहीं हैं अतः उनकी वचनप्रवृत्ति इच्छारहित होती है, यह सिद्ध है। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों कारणों से मुक्ति को मानने वाले (कहने वाले) स्याद्वादियों के मत में सर्वज्ञ भगवान का मोक्षमार्ग का उपदेष्टापना निर्दोष है। जो कोई (कपिलमतानुयायी) ज्ञान मात्र से मुक्ति मानते हैं उनके मत में भगवान के मोक्षमार्ग का उपदेश देना घटित नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्ण ज्ञान के उत्पन्न होने

साक्षादशेषतत्त्वज्ञानात्पूर्वभागमज्ञानबलाद्योगिनः श्रेयोमार्गोपदेशित्वम-
विरुद्धमज्ञत्वसिद्धेरिति न मंतव्यं । सर्वज्ञकल्पनानर्थक्यात्, परमतानुसरणप्रसक्तेः ।
योगिज्ञानसमकालं तस्य तदित्यप्यसारं तत्त्वज्ञानपूर्वत्वविरोधात्तदुपदेशस्य तत्त्वज्ञानात्पश्चात् मुक्तेः
स्वस्येव वाग्वृत्त्यघटनात् शरीरत्वेनावस्थानासंभवाद्देहे सन्मार्गोपदेशः ॥

संस्कारस्याक्षयात्तस्य यद्यवस्थानमिष्यते ।

तत्क्षये कारणं वाच्यं तत्त्वज्ञानात्परं त्वया ॥५४॥

के पूर्व वे भगवान् पामर (ग्रामीण पुरुष) के समान अज्ञानी ही होते हैं। पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर भी वे मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दे सकते- क्योंकि ज्ञान के उत्पन्न होते ही संसार में अवस्थान न होने से वचन की प्रवृत्ति नहीं होती (वे शीघ्र ही मोक्ष में चले जाते हैं)। तथा जैसे आकाश की वचन में प्रवृत्ति नहीं होती है- वैसे ही मुक्तात्मा की उपदेश-प्रवर्तना कैसे हो सकती है? अर्थात् मुक्तात्मा शरीर से रहित होने से मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दे सकते ॥५२-५३॥

(सांख्य मतानुसार) साक्षात् सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान की प्राप्ति के पूर्व आगमज्ञान के बल से योगी के मोक्षमार्ग का उपदेश देना घटित हो जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं है- क्योंकि ग्रामीण मानव को शास्त्रज्ञान नहीं है- वह मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दे सकता। योगी शास्त्रज्ञान के द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश दे सकता है। क्योंकि योगी में अज्ञानता की सिद्धि नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं- ऐसा भी नहीं मानना चाहिए। क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा मोक्षमार्ग के उपदेश की सिद्धि हो जाने पर सर्वज्ञ की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। तथा सर्वज्ञ को नहीं मानने वाले मीमांसक के मत के अनुसरण करने का प्रसंग आता है।

पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान के समान काल में ही वह योगी मोक्षमार्ग का उपदेश देता है, ऐसा कहना भी सार-रहित है (निष्प्रयोजन है) क्योंकि वह मोक्षमार्ग का उपदेश सर्वज्ञतापूर्वक होता है, इस कथन में विरोध आता है। यदि सर्वज्ञता के उत्पन्न होते ही उसी समय मोक्ष का उपदेश देना माँगे तो 'सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के पश्चात् मोक्ष का उपदेश होता है।' इस सिद्धान्त में विरोध आता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान के होते ही मुक्ति हो जाने से अशरीरी के आकाश के समान वचन की प्रवृत्ति नहीं घट सकती (अर्थात् अशरीरी के वचनप्रवृत्ति नहीं हो सकती)। शरीर के साथ संसार में अवस्थान नहीं होने से (अर्थात् शरीर के साथ तत्त्वज्ञानी के रहने की असंभवता है) सन्मार्ग का उपदेश कैसे हो सकता है? उपदेश की बात तो दूर रही, शरीरी रूप से उसका अवस्थान भी असंभव है।

यदि कपिल कहे कि पूर्व संस्कार के क्षय नहीं होने से तत्त्वज्ञानी का संसार में अवस्थान रहता है तो जैन कहते हैं कि तत्त्वज्ञान से अतिरिक्त संसार के क्षय का कारण क्या है? यह तुमको कहना चाहिए। अर्थात् तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है वह तत्त्वज्ञान तो परिपूर्ण हो गया। अब जिन संस्कारों के कारण योगी संसार में रहकर धर्म का उपदेश देता है, उन संस्कारों का क्षय किन कारणों से होता है ॥५४॥

न हि तत्त्वज्ञानमेव संस्कारक्षये कारणमवस्थानविरोधस्य तदवस्थत्वात् ।

संस्कारस्यायुराख्यस्य परिक्षयनिबन्धनम् ।

धर्ममेव समाधिः स्यादिति केचित्प्रचक्षते ॥५५॥

विज्ञानात्सोपि यद्यन्यः प्रतिज्ञाव्याहतिस्तदा ।

स चारित्रविशेषो हि मुक्तेर्मार्गः स्थितो भवेत् ॥५६॥

तत्त्वज्ञानादन्यत एव संप्रज्ञातयोगात्संसारक्षये मुक्तिसिद्धिस्तत्त्वज्ञानान्मुक्तिरिति प्रतिज्ञा हीयते । समाधिविशेषश्च चारित्रविशेषः स्याद्वादिनां मुक्तिमार्गो व्यवस्थितः स्यात् ।

तत्त्वज्ञान ही आयुनामक संस्कार के क्षय का कारण है, ऐसा आप (सांख्य) नहीं कह सकते । क्योंकि तत्त्वज्ञान के होते ही अतिशीघ्र मुक्त हो जाने से संसार में अवस्थान का विरोध तो वैसे का वैया ही बना रहेगा । अर्थात् उपदेश के लिए तत्त्वज्ञानी संसार में ठहर नहीं सकता ।

कोई (सांख्य) कहता है कि “यहाँ चित्त का एक अर्थ में कुछ देर तक स्थिर रहने रूप समाधि नामक धर्म ही आयु सञ्ज्ञक संस्कार के पूर्ण क्षय का कारण है ।” जैनाचार्य कहते हैं कि वह समाधि यदि प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान स्वरूप तत्त्वज्ञान से भिन्न है, तब तो ‘तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है’ इस प्रतिज्ञा का व्याघात होता है । क्योंकि एक तो तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान और दूसरा समाधि रूप विशेष चारित्र इन दो को मोक्षमार्ग का कारणपना प्राप्त होता है । एक तत्त्वज्ञान ही मोक्षमार्ग में स्थिति नहीं कराता है ॥५५-५६॥

सांख्य मत में दो प्रकार के योग माने हैं । एक संप्रज्ञात योग, दूसरा असंप्रज्ञात योग । तत्त्वज्ञान से भिन्न स्वरूप से संप्रज्ञात समाधि योग से संस्कार के (आयु कर्म के) क्षय हो जाने पर मुक्ति सिद्ध होती है । ऐसा मानने पर ‘तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी’ ।

स्याद्वादियों के समाधिविशेष (व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान) पूर्ण चारित्र है । वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है । उसी चारित्र की पूर्णता से मुक्तिमार्ग व्यवस्थित है । अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यगचारित्र की पूर्णता से मोक्षमार्ग निश्चित है ।

ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति चेन्मतम् ।
 तस्य प्रधानधर्मत्वे निवृत्तिस्तत्क्षयाद्यदि ॥५७॥
 तदा सोऽपि कुतो ज्ञानादुक्तदोषानुषंगतः ।
 समाध्यन्तरतश्चेन्न तुल्यपर्यनुयोगतः ॥५८॥
 तस्य पुंसः स्वरूपत्वे प्रागेव स्यात्परिक्षयः ।
 संस्कारस्यास्य नित्यत्वात् कदाचिदसंभवः ॥५९॥
 आविर्भावतिरोभावावपि नात्मस्वभावगौ ।
 परिणामो हि तस्य स्यात्तथा प्रकृतिवच्च तौ ॥६०॥
 ततः स्याद्वादिनां सिद्धं मतं नैकांतवादिनाम् ।
 बहिरंतश्च वस्तूनां परिणामव्यवस्थितेः ॥६१॥

रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है

बहुत समय तक एक से स्थिर रहने वाले ज्ञान को समाधि मानोगे तो हम पूछते हैं कि वह ज्ञान क्या सत्त्व, रज और तमो गुण की साम्यावस्था रूप प्रकृति का धर्म है? यदि उस स्थिर ज्ञान स्वरूप प्रकृति के विकार से आयु नामक संस्कार रूप प्रकृति का नाश होता है तो उस स्थिर ज्ञानरूप प्रकृति का नाश करना भी आवश्यक है, वह किस ज्ञान से होगा? और उस स्थिरीभूत प्राकृतिक ज्ञान के संसर्ग का भी नाश करने के लिए अन्य तीसरे आदि समाधिरूप धर्म का अवलम्बन लेना पड़ेगा। उस समाधि का किस ज्ञान से नाश होता है? उसमें भी पूर्वोक्त दोषों का प्रसंग आता है। “स्थिररूप ज्ञान का समाधि अन्तर से नाश होता है” ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि उसमें उपर्युक्त प्रश्नों का अनुयोग रहेगा। अर्थात्- समाधि प्रकृति का धर्म है तो प्रधान का क्षय करना मान नहीं सकते। यदि उस ज्ञान रूप प्रकृति का नाश अन्य ज्ञान रूप से माना जायेगा तो उस अन्य ज्ञान रूप प्रकृति का नाश किससे होगा-इत्यादि प्रश्न उठते ही रहेंगे; अनवस्था दोष आयेगा। यदि उस स्थिर ज्ञान को प्राकृतिक न मानकर आत्मा का स्वरूप मानोगे तब तो आयु नामक संस्कार का क्षय पहले से ही हो जाना चाहिये था। क्योंकि आत्मा अनादि काल से नित्य है। उस आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले इस स्थिर ज्ञान रूप विरोधी के सदा उपस्थित रहने पर कभी भी आयु नाम का संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता है। और स्थिर ज्ञान की कभी असंभवता ही नहीं रहेगी। सदा स्थिर रूप ज्ञान बना रहेगा ॥५७-५८-५९॥

आविर्भाव और तिरोभाव भी आत्मगत स्वभाव नहीं हैं क्योंकि आविर्भाव और तिरोभाव को आत्मा का स्वभाव मान लेने पर प्रकृति के समान आत्मा के दो परिणाम होंगे-आविर्भाव, तिरोभाव। तथा आत्मा और प्रकृति को परिणामी मानने पर स्याद्वादियों के मत की ही सिद्धि होगी, एकान्तवादियों (कापिलों) के मत की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि वस्तुओं के बहिरंग (घट पट आदि) और अन्तरंग (ज्ञानादि) परिणामों की व्यवस्था अनेकान्त में ही होती है, एकान्त में नहीं। अर्थात् कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही परिणाम हो सकता है, एकान्त में नहीं ॥६०-६१॥

न स्थिरज्ञानात्मकः संप्रज्ञातो योगः संस्कारक्षयकारणमिष्यते यतस्तस्य प्रधानधर्मत्वात्तत्क्षयान्मुक्तिः स्यात्। सोऽपि च तत्क्षयो ज्ञानादज्ञानाद्वा समार्थेति पर्यनुयोगस्य समानत्वादनवस्थानमाशङ्क्यते। नापि पुरुषस्वरूपमात्रं समाधिर्येन तस्य नित्यत्वान्नित्यं मुक्तिरापाद्यते तदाविर्भावतिरोभावादन्यथा प्रधानवत्पुंसोऽपि परिणामसिद्धेः सर्वपरिणामीति स्याद्वादाश्रयणं प्रसज्येत, किं तर्हि? विशिष्टं पुरुषस्वरूपमसंप्रज्ञातयोगः संस्कारक्षयकारणं। न च प्रतिज्ञाव्याघातस्तत्त्वज्ञानाजीवन्मुक्तेरास्थानांतकाले तत्त्वोपदेशघटनात्परमनिःश्रेयसस्य समाधिविशेषात्संस्कारक्षये प्रतिज्ञानादिति वदन्नन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेन स्याद्वादिदर्शनं समाश्रयतीत्युपदर्श्यते।

कपिल कहता है कि हम स्थिर ज्ञान स्वरूप संप्रज्ञात योग को आयु नामक संस्कार के क्षय का कारण नहीं मानते हैं। जिससे कि उस संप्रज्ञात योग को प्रधान का धर्म (पर्याय) होने से उसके (संप्रज्ञात योग के) क्षय से मुक्ति मानी जावे। और प्रधान की पर्याय रूप उस संप्रज्ञात योग का क्षय भी प्रकृति के ज्ञान अथवा अज्ञान रूप समाधि परिणाम से क्षय होना स्वीकार करते-करते प्रश्न की समानता से अभिलाषायें बढ़ने पर अनवस्था दोष की शंका की जावे। तथा हम उस समाधि को केवल पुरुष स्वरूप भी नहीं मानते हैं जिससे कि पुरुष के कूटस्थ अनादि नित्य होने से मोक्ष के नित्य होने का प्रसंग आता हो। तथा हम आत्मा के तिरोभाव और आविर्भाव को भी नहीं मानते हैं। अन्यथा (यदि आविर्भाव और तिरोभाव को आत्मा का स्वभाव मानते तो) प्रकृति के समान आत्मा के भी पर्यायों का होना सिद्ध हो जाता तब “और सब पदार्थ परिणामी हैं” ऐसे स्याद्वादियों के कथन को स्वीकार या आश्रय करने का प्रसंग भी हमारे ऊपर जड़ दिया जाता।

जैनाचार्य पूछते हैं -तब तुम्हारा मन्तव्य क्या है?

उत्तर - पुरुष का विशिष्ट स्वरूप ही असंप्रज्ञात योग है। वही संसार के क्षय का कारण है। और ऐसा मानने पर ‘ज्ञान से ही मोक्ष होता है’ इस प्रतिज्ञा का व्याघात भी नहीं होता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान से जीवन्मुक्ति होना हमको नितान्त इष्ट है। और अवस्थान के अन्तकाल तक योगी के तत्त्वोपदेश भी घटित होता है। अन्त में अतिशययुक्त समाधि से आयु ज्ञानादि संस्कारों के क्षय हो जाने से परम मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। यही परम तत्त्वज्ञान से मोक्ष होने की प्रतिज्ञा है।

भावार्थ -- मोक्ष दो प्रकार का है- एक अपर मोक्ष और दूसरा पर मोक्ष। प्रथम- अपर मोक्ष जिसमें आयु के संस्कार क्षय नहीं होने से कुछ काल तक सर्वज्ञ संसार में रहते हैं और तत्त्व का उपदेश देते हैं और अन्त में असंप्रज्ञात योग से (परमसमाधि विशेष से) आयु कर्म रूप संस्कारों का क्षय कर परम मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतः तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है, यह सिद्ध होता है।

इसके प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाला (सांख्य) भी ‘अन्धसर्प-बिल प्रवेश’ न्याय से स्याद्वादियों के सिद्धान्त का ही आश्रय ले रहा है। इसी बात को दिखाते हैं—

मिथ्यार्थाभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन वर्जितम्।

यत्पुंरूपमुदासीनं तच्चेद्ध्यानं मतं तव ॥६२॥

हंत रत्नत्रयं किं न ततः परमिहेष्यते।

यतो न तन्निमित्तत्वं मुक्तेरास्थीयते त्वया ॥६३॥

ननु च मिथ्यार्थाभिनिवेशेन वर्जितं पुरुषस्य स्वरूपं न सम्यग्दर्शनं तस्य तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणत्वात्, नापि मिथ्याज्ञानेन वर्जितं तत्सम्यग्ज्ञानं तस्य स्वार्थावायलक्षणत्वात्, उदासीनं च न पुंरूपं सम्यक्चारित्रं तस्य गुप्तिसमितिव्रतभेदस्य बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमलक्षणत्वात् येन तथाभूतरत्नत्रयमेव मोक्षस्य कारणमस्माभिरास्थीयते। मिथ्याभिनिवेशमिथ्याज्ञानयोः प्रधानविवर्तितया समाधिविशेषकाले प्रधानसंसर्गाभावे पुरुषस्य तद्वर्जितत्वेऽपि स्वरूपमात्रावस्थानात्। तदुक्तं। “तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थान” मिति कश्चित्। तदसत्।

तुम्हारे (सांख्य) मत में मिथ्यार्थाभिनिवेश यानी मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान से रहित उपेक्षा-स्वरूप पुरुष की (आत्मा की) उदासीनता ही समाधि रूप ध्यान है। वह मोक्ष का कारण है। तब तो खेद के साथ कहना पड़ता है कि आप (सांख्य) रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग क्यों नहीं स्वीकार करते हो? जिससे कि आप को रत्नत्रय के निमित्त से मुक्ति की श्रद्धा स्वीकार न करनी पड़े। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है, ऐसा श्रद्धान करना चाहिए ॥६२-६३॥

शंका - जैनशास्त्रों में मिथ्यार्थाभिनिवेश रहित पुरुष का स्वरूप सम्यग्दर्शन नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान है। मिथ्याज्ञान से रहित सम्यग्ज्ञान नहीं है अपितु ‘अपने को और अर्थ को निश्चित कर लेने स्वरूप’ लक्षण वाला सम्यग्ज्ञान है। उदासीनता रूप पुरुष का स्वरूप सम्यक्चारित्र नहीं है अपितु गुप्त, समिति तथा महाव्रत भेद रूप और बाह्याभ्यन्तर विशेष रूप से उपरम (त्याग) को चारित्र का लक्षण माना है। जिससे कि इस प्रकार का रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण हमारे द्वारा श्रद्धान किया जाता, अर्थात् स्याद्वाद में स्वीकृत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र जब ये तीनों आत्मा के स्वरूप ही नहीं हैं तो इन तीनों को ही मोक्षकारणपना हम कैसे मान सकते हैं। ये तो प्रकृति के भाव हैं या परिणाम हैं। अतः हमारे द्वारा स्वीकृत मिथ्यार्थाभिनिवेश का अभाव, मिथ्याज्ञान का अभाव और पुरुष की उदासीनता पुरुष का स्वरूप है, चैतन्य स्वरूप है। अतः जैनग्रन्थों में कथित ‘रत्नत्रय’ मोक्षमार्ग है हमारे द्वारा कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

कपिलशास्त्र में मिथ्यादर्शन और उसके पर्युदास निषेधात्मक सम्यग्दर्शन, ये दोनों ही भाव प्रकृति के माने हैं। तथा मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान भी प्रधान (प्रकृति) के परिणाम (पर्याय) हैं। असंप्रज्ञात नामक विशेष समाधि के समय प्रकृति के संसर्ग का अभाव होने पर पुरुष (आत्मा) उन मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान से रहित होने पर भी अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप प्रकृति के परिणाम से रहित आत्मा मुक्त अवस्था में अपने स्वरूप में स्थित रहता है। हमारे ग्रन्थ में लिखा भी है कि ‘मुक्तावस्था में द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान हो जाता है।’ ऐसा कोई (कपिल मतानुयायी) कहता है।

संप्रज्ञातयोगकालेऽपि तादृशः पुंरूपस्याभावात्परमनिःश्रेयसप्रसक्तेः। तदा वैराग्यतत्त्वज्ञानाभिनिवेशात्मकप्रधानसंसर्गसद्भावात्संप्रज्ञातयोगोऽस्ति, यतः परममुक्तिरिति चेत्तर्हि रत्नत्रयाजीवन्मुक्तिरित्यायातः प्रतिज्ञाव्याघातः। परमतप्रवेशात् तत्त्वार्थश्रद्धानतत्त्वज्ञानवैराग्याणां रत्नत्रयत्वात्ततो जीवन्मुक्तेरार्हत्यरूपायाः परैरिष्टत्वात्। यदपि द्रष्टुरात्मनः स्वरूपेऽवस्थानं ध्यानं परममुक्तिनिबन्धनं तदपि न रत्नत्रयात्मकतां व्यभिचरति, सम्यग्ज्ञानस्य पुंरूपत्वात्, तस्य तत्त्वार्थश्रद्धानसहचरितत्वात्, परमोदासीन्यस्य च परमचारित्रत्वात्।

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि कपिल का यह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि संप्रज्ञातयोग काल (सर्वज्ञ अवस्था के समय) में भी मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान सहित पुरुष का अभाव होने से परम निश्रेयस् (मोक्ष) का प्रसंग आयेगा। अर्थात् संप्रज्ञातयोग काल में भी आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है, क्योंकि कूटस्थ नित्यात्मा सदा से ही मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान से रहित है। यद्यपि प्रकृति के संसर्ग से अनुषंगिक मिथ्यादर्शन ज्ञान सहितपना आत्मा में था किन्तु सर्वज्ञता होने पर प्रकृति सम्बन्धी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान आत्मा में नहीं आ सकते हैं। अतः संप्रज्ञातयोग काल में ही पुरुष के मिथ्यादर्शनादि का अभाव हो जाने से उसी समय मोक्ष हो जाना चाहिए था।

(यहाँ कापिल कहते हैं कि) सर्वज्ञ के संप्रज्ञात समाधि के समय में वैराग्य, तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धान स्वरूप प्रकृति के संसर्ग का सद्भाव हो रहा है। अतः उस समय (प्रकृति के उपयोग रहित अभिन्न ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र स्वरूप) असंप्रज्ञात योग नहीं है- जिससे कि परम मोक्ष प्राप्त हो अर्थात् असंप्रज्ञात योग परम मुक्ति का कारण है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कपिल के मतानुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय से जीवनमुक्ति होती है, यह सिद्ध होता है और केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष होता है, इस सिद्धान्त का व्याघात होता है। और परमत (जैनमत) में प्रवेश हो जाता है- क्योंकि जैनों ने तत्त्वार्थ श्रद्धा, तत्त्वज्ञान और रागद्वेष के अभाव रूप वैराग्य को रत्नत्रय माना है और उस रत्नत्रय से आर्हन्त्य अवस्था प्राप्त होना स्याद्वादियों को इष्ट है।

यद्यपि ज्ञाता द्रष्टा आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थानरूप ध्यान परम मुक्ति का कारण है, तथापि वह स्वरूपावस्थान रत्नत्रय स्वरूप का व्यभिचार नहीं करता है, अपितु अविनाभावी है। सूत्र में 'द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं' ये तीन पद हैं। उसमें स्वरूप (आत्मा का स्वरूप ज्ञान-चैतन्य है। द्रष्टा कहने से सम्यग्दृष्टिपना है और अवस्थान स्थिरता कहने से आत्मा में स्थिति रूप चारित्र है। अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान के साथ रहने वाला सम्यग्ज्ञान आत्मा का अभिन्न स्वरूप है और उत्कृष्ट उदासीनता ही परम चारित्र है तथा मोक्ष अवस्था में तीनों की अभिन्न रूप अवस्था रहती है।

पुरुषो न ज्ञानस्वभाव इति न शक्यव्यवस्थं । तथाहि;—

यद्यज्ञानस्वभावः स्यात्कपिलो नोपदेशकृत् ।

सुषुप्तवत्प्रधानं वाऽचेतनत्वाद् घटादिवत् ॥६४॥

यथैव हि सुषुप्तवत्तत्त्वज्ञानरहितः कपिलोऽन्यो वा नोपदेशकारी परस्य घटते तथा प्रधानमपि स्वयमचेतनत्वात्कुटादिवत् ।

तत्त्वज्ञानसंसर्गाद्योगी ज्ञानस्वभाव इति चेत्;—

ज्ञानसंसर्गतोऽप्येष नैव ज्ञानस्वभावकः ।

व्योमवत्तद्विशेषस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥६५॥

यस्य सर्वथा निरतिशयः पुरुषस्तस्य ज्ञानसंसर्गादपि न ज्ञानस्वभावोऽसौ गगनवत् । कथमन्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति न विरुध्यते? ततो न कपिलो मोक्षमार्गस्य प्रणेता येन संस्तुत्यः स्यात् ।

(सांख्य के अनुसार) आत्मा ज्ञानस्वभावी नहीं है, ऐसा कहना भी शक्य व्यवस्था (ठीक) नहीं है, उसी को कहते हैं—

यदि कपिल (ऋषि) अज्ञान स्वभाव वाला है तो गाढ़ निद्रा में सुप्त मानव के समान तत्त्व का उपदेश करने वाला नहीं हो सकता । तथा कपिल की आत्मा से सम्बन्ध प्राप्त प्रकृति भी घटादि के समान अचेतन होने से तत्त्वों का उपदेश देने वाली नहीं हो सकती ॥६४॥

जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में सुप्त मानव के समान तत्त्वज्ञान और वक्तृत्वकला से रहित होने से कपिल वा अन्य कोई ईश्वरभट्ट आदि मोक्ष का उपदेश देने वाले (सांख्य मत में) घटित नहीं होते, उसी प्रकार घट आदि के समान स्वयं अचेतन होने से प्रधान के भी मोक्षमार्ग का उपदेश देना घटित नहीं होता है । यदि कपिल यों कहे कि तत्त्वज्ञान के संसर्ग से योगी ज्ञानस्वभाव वाला होता है, तो ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं—

(आपका माना हुआ कूटस्थ आत्मा) ज्ञान के संसर्ग से भी ज्ञानस्वभाव वाला नहीं हो सकता है । जैसे प्रकृति से निर्मित ज्ञान के मात्र संसर्ग से आकाश ज्ञानी नहीं हो जाता है । कपिल के मत में प्रकृति व्यापक है, उसका सम्बन्ध जैसा आत्मा के साथ है वैसा आकाश के साथ है । इन दोनों में विशेष की सर्वथा अनुपपत्ति है । अतः जैसे ज्ञान के संसर्ग मात्र से आकाश ज्ञानी नहीं हो सकता, वैसे ही ज्ञान के संसर्ग से आत्मा भी ज्ञानी नहीं हो सकता ॥६५॥

जिस सांख्य के मत में आत्मा सर्वथा निरतिशय माना गया है अर्थात् वह कूटस्थ नित्य है, उसके मत में ज्ञान के संसर्ग से आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला नहीं हो सकता । जैसे ज्ञान के संसर्ग से जड़ स्वरूप आकाश ज्ञानी नहीं हो सकता है । यदि आत्मा को ज्ञानस्वरूप मान लेंगे तो 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' यह विरुद्ध कैसे नहीं होगा । इसलिए कपिल मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं है अतः वह स्तुति करने योग्य नहीं है ।

एतेनैवेश्वरः श्रेयःपथप्रख्यापनेऽप्रभुः ।

व्याख्यातोऽचेतनो ह्येष ज्ञानादर्थान्तरत्त्वतः ॥६६॥

नैश्वरः श्रेयोमार्गोपदेशी स्वयमचेतनत्वादाकाशवत् । स्वयमचेतनोऽसौ ज्ञानादर्थान्तरत्वात् तद्वत् । नात्राश्रयासिद्धो हेतुरीश्वरस्य पुरुषविशेषस्य स्याद्वादिभिरभिप्रेतत्वात् । नापि धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितः पक्षस्तद्ग्राहिणा प्रमाणेन तस्य श्रेयोमार्गोपदेशित्वेनाप्रतिपत्तेः । परोपगमतः साधनाभिधानाद्वा न प्रकृतचोद्यावतारः सर्वस्य तथा तद्वचनाप्रतिक्षेपात् ।

विज्ञानसमवायाच्चेतनोऽयमुपेयते ।

तत्संसर्गात्कथं न ज्ञः कपिलोऽपि प्रसिद्ध्यति ॥६७॥

यथेश्वरो ज्ञानसमवायाच्चेतनस्तथा ज्ञानसंसर्गात्कपिलोऽपि ज्ञोऽस्तु । तथापि तस्याज्ञत्वे कथमीश्वरश्चेतनो यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात् ।

इस हेतु से (अपने से भिन्न पड़े हुए प्राकृतिक ज्ञान के सम्बन्ध से ज्ञानी होकर भी) ईश्वर मोक्षमार्ग का उपदेश देने में समर्थ नहीं है । क्योंकि ज्ञान से सर्वथा भिन्न हो जाने के कारण ईश्वर भी अचेतन ही है ॥६६॥

आकाश के समान स्वयं अचेतन होने से ईश्वर श्रेयोमार्ग का उपदेशक नहीं है । ज्ञान से अर्थान्तर होने से स्वयं ईश्वर अचेतन है । जैसे आकाश स्वयं अचेतन होने से श्रेयोमार्ग का उपदेशक नहीं है ।

इसमें यह हेतु आश्रय असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि किसी पुरुष विशेष को स्याद्वादियों ने ईश्वर स्वीकार किया है ।

यह पक्ष, धर्मिग्राहक प्रमाण से बाधित भी नहीं है । क्योंकि श्रेयोमार्ग का उपदेश देने वाले उस ईश्वर का अद्यापि निर्णय नहीं हुआ है । अर्थात् ईश्वर मोक्षमार्ग का उपदेशक है, इसकी सिद्धि अभी तक नहीं हुई है ।

नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत साधन के अभिधान (कथन) से इस प्रकरण में कुत्सित दोषों का अवतार नहीं हो सकता है । क्योंकि सभी वादी वैसे ही उन प्रतिवादियों के वचन का खण्डन नहीं कर सकते । अतः दूसरों के मन्तव्य को लेकर ही सब लोग हेतु और पक्ष को बोल सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है ।

नैयायिक यदि विज्ञान के समवाय (भिन्न होने पर भी गुण-गुणी के समवाय सम्बन्ध) से ईश्वर को चेतन स्वीकार करते हैं- तो सांख्य के मत में भी प्रकृति की बनी हुई उस बुद्धि के संसर्ग से कपिल के भी ज्ञाता स्वभाव की प्रसिद्धि क्यों नहीं हो जाएगी? ॥६७॥

जिस प्रकार (नैयायिकों के मत में) ज्ञान के समवाय से ईश्वर चेतन माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के संसर्ग से (सांख्यों का) कपिल भी ज्ञाता हो जायेगा । यदि ज्ञान का संयोग होने पर भी कपिल को अज्ञानी मानोगे तो फिर ज्ञान के संयोग से ईश्वर चेतन (ज्ञानी) कैसे हो सकता है? जिससे कि हमारा हेतु असिद्ध हो जावे अर्थात् अतः ईश्वर के मोक्षमार्ग के उपदेशकत्व के अभाव को सिद्ध करने में दिया गया अचेतनत्व हेतु सिद्ध ही है ।

प्रधानाश्रयि विज्ञानं न पुंसो ज्ञत्वसाधनम् ।

यदि भिन्नं कथं पुंसस्तत्तथेष्टं जडात्मभिः ॥६८॥

प्रधानाश्रितं ज्ञानं नात्मनो ज्ञत्वसाधनं ततो भिन्नाश्रयत्वात्पुरुषान्तरसंसर्गिज्ञानवदिति चेत्? तर्हि न ज्ञानमीश्वरस्य ज्ञत्वसाधनं ततो भिन्नपदार्थत्वादनीश्वरज्ञानवदिति किं नानुमन्यसे ।

ज्ञानाश्रयत्वतो वेधा नित्यं ज्ञो यदि कथ्यते ।

तदेव किं कृतं तस्य ततो भेदेऽपि तत्त्वतः ॥६९॥

स्रष्टा ज्ञो नित्यं ज्ञानाश्रयत्वात् । यस्तु न ज्ञः स न नित्यं ज्ञानाश्रयो यथा व्योमादिः, न च तथा स्रष्टा ततो नित्यं ज्ञ इति चेत् । किं कृतं तदा स्रष्टृज्ञानाश्रयत्वं ज्ञानाद्भेदेऽपि वस्तुत इति चिंत्यम् । समवायकृतमिति चेत् । समवायः किमविशिष्टो विशिष्टो वा? प्रथमविकल्पोऽनुपपन्नः ।

यदि नैयायिक यह कहें कि सांख्यों के मत से आधारभूत प्रधान के आश्रित रहने वाला विज्ञान सर्वथा भिन्न होने से पुरुष-आत्मा को ज्ञातापना सिद्ध नहीं कर सकता है, तब तो स्वभाव से जड़ स्वरूप आत्मा को मानने वाले नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत पुरुष (आत्मा) से सर्वथा भिन्न ज्ञान आत्मा को चेतन कैसे कर सकता है? ॥६८॥

कपिलमत का खण्डन करने के लिए नैयायिक कहता है—

प्रकृति के आश्रित रहने वाला ज्ञान आत्मा को ज्ञाता नहीं बना सकता । क्योंकि वह ज्ञान उस आत्मा से सर्वथा भिन्न हो रही प्रकृति के आश्रित है । जो ज्ञान भिन्न पुरुषान्तर के आश्रित होता है, वह दूसरे को ज्ञाता नहीं बना सकता—जैसे ज्ञानचन्द का ज्ञान धर्मचन्द को ज्ञानी नहीं बना सकता । नैयायिक की इस स्थापना के उत्तर में जैनाचार्य कपिल की ओर से कहते हैं कि तब तो ईश्वर से भिन्न ज्ञान ईश्वर को भी ज्ञाता नहीं बना सकता । क्योंकि अनीश्वर (ईश्वर से न्यारे अन्य सा. जीव) के ज्ञान के समान ईश्वर का ज्ञान भी ईश्वर से सर्वथा भिन्न पदार्थ है । ऐसा आप क्यों नहीं मानते हैं । अर्थात् जैसे प्रकृति आश्रित ज्ञान आत्मा को (पुरुष को) ज्ञानी नहीं बना सकता वैसे ईश्वर से भिन्न ज्ञान ईश्वर को ज्ञाता नहीं बना सकता है । ऐसा नैयायिक क्यों नहीं मानते हैं ।

यदि नैयायिकों के अनुसार सृष्टि की रचना करने वाला ईश्वर अनादिकाल से ज्ञान का आश्रय होने से नित्य ज्ञाता कहा जाता है, तो वास्तव में उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न होने पर भी उस ईश्वर के वह नित्यज्ञातापना कैसे सिद्ध होता है? ॥६९॥

(अनादिकाल से) ज्ञान का आश्रय होने से स्रष्टा (ईश्वर) नित्य ज्ञाता है । क्योंकि जो नित्य ज्ञाता नहीं है वह सर्वदा से ज्ञान का आश्रय नहीं होता—जैसे आकाश । परन्तु आकाश आदि के समान सृष्टिकर्ता ईश्वर नित्यज्ञान से रहित नहीं है । वह ईश्वर नित्य ज्ञाता है । जैनाचार्य कहते हैं कि वास्तव में, ज्ञान से भिन्न होने पर भी सृष्टि का रचयिता ईश्वर ज्ञान का आश्रय कैसे कर दिया गया है, जिससे वह नित्य ज्ञाता है—इसका विचार करना चाहिए ।

कस्मात्—

समवायो हि सर्वत्र न विशेषकृदेककः ।

कथं खादीनि संत्यज्य पुंसि ज्ञानं नियोजयेत् ॥७०॥

यस्मात् “सर्वेषु समवायिष्वेक एव समवायस्तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्” इति वचनात् । तस्मात्तेषां विशेषकृत् नाम येन पुंस्येव ज्ञानं विनियोजयेदाकाशादिपरिहारेण इति बुद्ध्यामहे । सत्तावदेकत्वेऽपि समवायस्य प्रतिविशिष्टपदार्थविशेषणतया विशेषकारित्वमिति चेत्, तर्हि विशिष्टः समवायः प्रतिविशेष्यं सत्तावदेव इति प्राप्तो द्वितीयः पक्षः । तत्र च—

विशिष्टः समवायोऽयमीश्वरज्ञानयोर्यदि ।

तदा नानात्वमेतस्य प्राप्तं संयोगवन्न किम् ॥७१॥

संयोग और समवाय सम्बन्ध

यदि नैयायिक कहता है कि समवाय सम्बन्ध से ईश्वर के ज्ञानाश्रयता है? तो जैनाचार्य कहते हैं कि ईश्वर में ज्ञान का सम्बन्ध कराने वाला वह समवाय अविशिष्ट (सामान्य) है कि विशिष्ट (विशेष) है? प्रथम विकल्प (सामान्य समवाय) तो ईश्वर के साथ ज्ञान का आश्रय करा नहीं सकता क्योंकि समवाय तो सर्वत्र एक ही है विशेषकृत नहीं है अतः वह सामान्य समवाय आकाश पृथ्वी आदि को छोड़कर आत्मा में ही ज्ञान को कैसे नियुक्त करता है? ॥७०॥

यौगों ने सर्व आत्मा आदि समवायियों में एक ही तत्त्वरूप समवाय स्वीकार किया है। क्योंकि ‘सर्व समवायियों में तत्त्वरूप से एक ही समवाय है’ ऐसा कणाद ऋषि का (वैशेषिक दर्शन में) वचन है अतः समवाय में कोई अतिशय नहीं है, जिससे वह अतिशयधारी समवाय आकाश आदि पदार्थों को छोड़कर ज्ञान का आत्मा के साथ ही सम्बन्ध करा देता है। इस बात को हम समझते हैं।

सत्ता के समान समवाय के एकपना होने पर भी प्रत्येक विशिष्ट पदार्थ की विशेषणता से विशेषणता है। अर्थात् वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रकार भिन्न भिन्न द्रव्य, गुण कर्म में रहने वाली एक सत्ता द्रव्य की सत्ता, गुण की सत्ता, कर्म की सत्ता आदि विशेषता कर देती है, उसी प्रकार समवाय के एक होने पर भी विशिष्ट पदार्थों में रहने वाला समवाय “विशेष्य के भेद होने से विशेषण में भी भेद हो जाता है” इस नियम के अनुसार आकाश आदि को छोड़कर ज्ञान का आत्मा के साथ सम्बन्ध करा देता है। जैनाचार्य कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहते हैं तब तो सामान्य से समवाय मानना- यह पहला पक्ष गया। प्रत्येक विशेष्य में सत्ता जाति के समान विशिष्ट प्रकार का समवाय है, इस प्रकार नैयायिकों ने दूसरे पक्ष का आलम्बन लिया है, उसमें क्या दोष है, इसका कथन करते हैं—

यदि ईश्वर का और ज्ञान का विलक्षण विशिष्ट समवाय सम्बन्ध है तब तो संयोग सम्बन्ध के समान समवाय सम्बन्ध भी नानापने को प्राप्त क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा ॥७१॥

न हि, संयोगः प्रतिविशेष्यं विशिष्टो नाना न भवति दंडपुरुषसंयोगात् पटधूपसंयोगस्याभेदाप्रतीतिः। संयोगत्वेनाभेद एवेति चेत्, तदपि ततो यदि भिन्नमेव तदा कथमस्यैकत्वे संयोगयोरेकत्वं? तन्नाना संयोगोऽभ्युपेयोऽन्यथा स्वमतविरोधात्। तद्वत्समवायोऽनेकः प्रतिपद्यतां; ईश्वरज्ञानयोः समवायः, पटरूपयोः समवाय इति विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेः। समवायिविशेषात्समवाये विशिष्टः प्रत्यय इति चेत्, तर्हि संयोगिविशेषात्संयोगे विशिष्टप्रत्ययोऽस्तु। शिथिलः संयोगो, निबिडः संयोग इति प्रत्ययो यथा संयोगे तथा नित्यं समवायः कदाचित्समवाय इति समवायेऽपि।

प्रत्येक विशेष्य में विशिष्ट होकर रहने वाला संयोग सम्बन्ध अनेकरूप नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि दण्ड और पुरुष के संयोग से पट (कपड़ा) और धूप के संयोग में अभेद की प्रतीति नहीं हो रही है-अर्थात् वे भिन्न-भिन्न प्रतीति होते हैं।

यदि कहो कि संयोग में भेद होते हुए भी संयोग गुण में रहने वाली संयोग जाति की अपेक्षा अभेद ही है, तो जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर भी सम्पूर्ण संयोग एक नहीं है, क्योंकि उन संयोग नामक गुणों में रहने वाली वह संयोगत्व जाति भी यदि अपने आधारभूत संयोगों से सर्वथा भिन्न ही है तो उस भिन्न जाति के एक होने पर भी इन दो संयोगों में एकपना कैसे आ सकता है? इसलिए नाना संयोग स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा आपके सिद्धान्त में विरोध आता है।

इस संयोग सम्बन्ध के समान ही समवाय सम्बन्ध भी अनेक मानने चाहिए। अतः ईश्वर के साथ ज्ञान का समवाय सम्बन्ध भिन्न है और पट के साथ रूप आदि का समवाय सम्बन्ध भिन्न है। इत्यादि विशिष्ट ज्ञानों के होने से समवाय भी अनेक प्रकार का सिद्ध होता है।

नैयायिक कहता है कि समवायिविशेष से समवाय में भी विशिष्ट-विशिष्ट रूप के ज्ञान हो जाते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो संयोगी विशेष से संयोग में भी विलक्षणता को जानने वाला ज्ञान उत्पन्न हो जायेगा। जैसे संयोग में शिथिल संयोग, घट संयोग (निबिड संयोग) इत्यादि प्रत्यय (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार नित्य समवाय, कदाचित्समवाय इत्यादि समवाय में भी प्रत्यय होता है। अतः संयोग सम्बन्ध के समान समवाय सम्बन्ध को भी अनेक रूप मानना चाहिए।

समवाय सम्बन्ध के आधारभूत आत्मा आकाश आदि के नित्य होने से समवाय में भी वह नित्यपन कल्पित जान लिया जाता है और समवायी माने गये ज्ञान, काला, लाल, रूप के अनित्य होने से समवाय में भी अनित्यपने का ज्ञान उपज जाता है।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार समवायी के भेद से समवाय में भेद-कल्पना मानना वास्तविक नहीं। क्योंकि शिथिल, निबिडत्व आदि के द्वारा संयोगी के भेद से संयोग में भेद मानना वास्तविक नहीं। संयोग को एक ही मानो।

नैयायिक कहता है कि ऐसे तो स्वयं संयोगी पदार्थ के शिथिलता, निबिडत्व मानने पर संयोग मानना व्यर्थ हो जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर समवायी भी स्वयं नित्य और

समवायिनोर्नित्यत्वकादाचित्कत्वाभ्यां समवाये तत्प्रत्ययोत्पत्तौ संयोगिनोः शिथिलत्वनिबिडत्वाभ्यां संयोगे तथा प्रत्ययः स्यात्। स्वतः संयोगिनोर्निबिडत्वे संयोगोऽनर्थक इति चेत्, स्वतः समवायिनोर्नित्यत्वे समवायोऽनर्थकः किं न स्यात्। इहेदं समवेतमिति प्रतीतिः समवायस्यार्थ इति चेत्,

संयोगस्येहेदं संयुक्तमिति प्रतीतिरर्थोऽस्तु। ततो न संयोगसमवाययोर्विशेषोऽन्यत्र विष्वग्भावाविष्वग्भावस्वभावाभ्यामिति तयोर्नानात्वं कथंचित्सिद्धं। समवायस्य नानात्वे अनित्यत्वप्रसंगः संयोगवदिति चेत्। न। आत्मभिर्व्यभिचारात्, कथंचिदनित्यत्वस्येष्टत्वाच्च। किं च—

अनाश्रयः कथं चायमाश्रयैर्युज्यतेऽञ्जसा।

तद्विशेषणता येन समवायस्य गम्यते ॥७२॥

कादाचित्कत्व होने से उनका समवाय सम्बन्ध मानना व्यर्थ क्यों नहीं होगा। अर्थात् समवायियों को यदि स्वभाव से ही नित्यपना और अनित्यपना मानते हो तो समवाय सम्बन्ध व्यर्थ क्यों नहीं होगा।

(वैशेषिक कहते हैं- कि) “इसमें यह समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है। जैसे घट में रूप और आत्मा में ज्ञान है” इस प्रकार प्रतीति कराना ही समवाय का प्रयोजन है- अतः समवाय व्यर्थ नहीं है। तब तो संयोग की भी ‘इसमें यह संयुक्त है’ इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे इसमें शिथिलपना है, इसमें कठोरपना है, इत्यादि ज्ञान होता है। इसलिए संयोग सम्बन्ध में और समवाय सम्बन्ध में कोई विशेषता नहीं है- अतः संयोग अनेक होने से समवाय भी अनेक होने चाहिए।

पृथक्भूत पदार्थों का सम्बन्ध संयोग कहलाता है और अपृथक्भूत सम्बन्ध समवाय कहलाता है। जैसे पुरुष का दण्ड के साथ सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है। और अपृथक्भूत सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है- जैसे आत्मा में ज्ञान। इस प्रकार संयोग सम्बन्ध और समवाय सम्बन्ध में कथंचित् नानापना सिद्ध है।

समवाय के नानात्व स्वीकार करने पर संयोग के समान समवाय के भी अनित्यत्व का प्रसंग आयेगा, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि जो अनेक होते हैं- वे अनित्य होते हैं; ऐसा मानने पर आत्मा के साथ व्यभिचार आता है क्योंकि वैशेषिक ने आत्माएँ अनेक मानी हैं परन्तु उनको अनित्य नहीं माना है। परन्तु कथंचित् समवाय (तादात्म्य) सम्बन्ध को अनित्य मानना इष्ट भी है। जैसे आत्मा में घटज्ञान उत्पन्न होता है, वह पटज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। अतः कथंचित् समवाय सम्बन्ध अनित्य है। सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप हैं।

किंच- सम्बन्ध दो में होता है- परन्तु तुम्हारा स्वीकृत अनाश्रय (किसी के आश्रय नहीं रहने वाला) यह समवाय शीघ्र ही आश्रयों के साथ कैसे सम्बन्ध को प्राप्त हो जाता है; जिससे कि समवाय सम्बन्ध की समवायी में विशेषणता मानी जाती है ॥७२॥

येषामनाश्रयः समवाय इति मतं तेषामात्मज्ञानादिभिः समवायिभिः कथं संबध्यते? संयोगेनेति चेन्न। तस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात्। समवायेनेति चायुक्तं। स्वयं समवायांतरानिष्टेः। विशेषणभावेनेति चेत्, कथं समवायिभिरसंबद्धस्य तस्य तद्विशेषणभावो निश्चीयते? समवायिनो विशेष्यात्समवायो विशेषणमिति प्रतीतेर्विशेषणविशेष्यभाव एव संबंधः समवायिभिः समवायस्येति चेत्। स तर्हि ततो यद्यभिन्नस्तद्वद्वा समवायिनां तादात्म्यसिद्धिरभिन्नादभिन्नानां तेषां तद्वद्भेदविरोधात्।

जिन नैयायिक, वैशेषिकों के मत में समवाय सम्बन्ध को आश्रयरहित माना है उनके यहाँ आत्मा, ज्ञान और घट, रूप आदि के साथ समवाय किस तरह से सम्बन्धित होगा? आत्मा आदि के साथ ज्ञानादि का समवाय सम्बन्ध संयोग से होता है, ऐसा तो कह नहीं सकते हैं क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में संयोग सम्बन्ध से रहा करता है। जैसे दण्ड द्रव्य का संयोग सम्बन्ध पुरुष द्रव्य में होता है। परन्तु समवाय तो स्वयं द्रव्य नहीं है। अतः अद्रव्य समवाय के द्वारा संयोग का अनाश्रय होने से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अतः संयोग से सम्बन्ध मानना ठीक नहीं है। दूसरे, समवाय से इनका सम्बन्ध है, यह कथन इष्ट भी नहीं है।^१ वैशेषिक कहता है- विशेषण भाव से ज्ञान का आत्मा के साथ सम्बन्ध है (अर्थात् विशेष्य विशेषण सम्बन्ध है)। आचार्य कहते हैं कि यदि समवायियों के साथ समवाय का विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध मानोगे तो समवायी के द्वारा असम्बद्ध उस समवाय का विशेषण भाव कैसे निर्णीत किया जाता है। अर्थात् दूसरे सम्बन्ध से विशेष्य में विशेषण का सम्बन्ध निश्चय किये बिना विशेष्य विशेषण भाव नहीं बनता है। जैसे कि दण्ड और पुरुष का संयोग होने पर ही विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध माना जाता है, अन्यथा नहीं।

समवायी (समवायवाले द्रव्यादिक पाँच पदार्थ तो) विशेष्य हैं, और उनमें रहने वाला एक समवाय विशेषण है, इस प्रकार प्रतीति होने से समवायियों के साथ समवाय का सम्बन्ध विशेषण-विशेष्य भाव है। जैनाचार्य कहते हैं कि वह विशेष्य विशेषण सम्बन्ध अपने सम्बन्धी समवाय और समवाय वाले आत्मा, ज्ञान आदि से यदि अभिन्न है तब तो समवाय वाले उन ज्ञान, आत्मा आदि का भी उस विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध के समान तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। क्योंकि अभिन्न से जो अभिन्न है, उनका भेद होना विरुद्ध है। अर्थात् समवाय और समवाय वाले ज्ञान, आत्मा आदि पदार्थों के मध्य में स्थित विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धियों से अभिन्न है- तब तो उसके समान दोनों सम्बन्धियों का भी अभेद ही कहना चाहिए। क्योंकि अभिन्न विशेष्य विशेषण भाव से उसके सम्बन्धी अभिन्न ही होते हैं। अतः सम्बन्धियों में भी अभेद मानना पड़ेगा।

यदि विशेष्य-विशेषण भाव को सर्वथा सम्बन्धियों से भिन्न ही माना जाता है तो 'यह विशेष्य-विशेषण भाव उन सम्बन्धियों का है' यह व्यवहार कैसे होगा? क्योंकि सर्वथा भेद में 'यह उसका है,' यह व्यवहार नहीं हो सकता।

यदि दूसरे विशेष्य-विशेषण भाव से समवाय और समवायी में सम्बन्ध मानेंगे तो उपर्युक्त प्रश्न फिर

१. क्योंकि न्याय-वैशेषिक दर्शन में समवाय को एक माना गया है।

भिन्न एवेति चेत् कथं तैर्व्यपदिश्यते? परस्माद्विशेषणविशेष्यभावादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोऽनवस्थानं च। सुदूरमपि गत्वा स्वसंबन्धिभिः संबंधस्य तादात्म्योपगमे परमतप्रसिद्धेन समवायिविशेषणत्वं नाम।

विशेषणत्वे चैतस्य विचित्रसमवायिनाम्।

विशेषणत्वे नानात्वप्राप्तिर्दण्डकटादिवत् ॥७३॥

सत्यपि समवायस्य नानासमवायिनां विशेषणत्वे नानात्वप्राप्तिर्दण्डकटादिवत्।

न हि युगपन्नानार्थविशेषणमेकं दृष्टं। सत्त्वं दृष्टमिति चेन्न। तस्य कथंचिन्नानारूपत्वात्। तदेकत्वैकांते घटः सन्निति प्रत्ययोत्पत्तौ सर्वथा सत्त्वस्य प्रतीतत्वात् सर्वार्थसत्त्वप्रतीत्यनुषंगत्वात् क्वचित्सत्तासंदेहो न स्यात्। सत्त्वं सर्वात्मना प्रतिपन्नं न तु सर्वार्थास्तद्विशेष्या इति। तदा क्वचित्सत्तासंदेहे घटविशेषणत्वं

बना रहेगा कि पृथक्भूत दूसरे विशेष्य-विशेषण भाव में 'यह उसका है' यह व्यवहार कैसे होगा? और ऐसा होने पर अनवस्था दोष आयेगा। बहुत दूर जाकर स्वसम्बन्धी के साथ सम्बन्ध का तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर परमत (जैनमत) की सिद्धि हो जायेगी। अतः समवायी विशेषणता नहीं है। अर्थात् समवाय नामक सम्बन्ध ही नहीं है। गुण-गुणी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

यदि समवाय को विचित्र (नाना प्रकार के आत्मा आदि) समवायियों का विशेषण मान लिया जाता है तब तो दण्ड, चटाई आदि संयोगी विशेषण के समान समवाय विशेषण को भी अनेकपने की प्राप्ति होगी। अर्थात् समवाय भी अनेक होंगे, जैसे संयोग अनेक हैं ॥७३॥

सत्ता अनेकरूपा

समवाय को नाना समवायियों का विशेषण मान लेने पर दण्ड, कट (चटाई) नाना संयोग विशेषणों के समान समवाय विशेषण भी अनेक हो जायेंगे। क्योंकि युगपत् (एक साथ) अनेक पदार्थों का विशेषण एक दृष्टिगोचर नहीं होता है। (वह अनेक होता है।) (यदि यहाँ वैशेषिक यह कहें कि) सत्ता जाति रूप एक विशेषण एक साथ अनेक पदार्थों में रहता हुआ देखा गया है तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वह सत्ता भी कथंचित् नाना रूप है। क्योंकि सर्वथा एकान्त रूप से सत्ताजाति एक मान लेने पर 'घट है' इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति होने पर सर्वथा सत्त्व की (सर्वसत्ता की) प्रतीति हो जाने से सर्व सत्तारूप पदार्थों के ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा। कहीं पर भी सत्ता में संशय नहीं रहेगा- क्योंकि सत्ता सर्व एक है। परन्तु घट-पट आदि को जान लेने पर भी सर्व पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है। अतः कथंचित् सत्ता जाति अनेक है, एक नहीं है।

(यदि कोई कहे कि) विशेषण रूप सत्ता नाम की जाति को तो एक सत्त्व के जानने से जान लिया जाता है किन्तु उस जाति के आधारभूत सम्पूर्ण विशेष्य अर्थों को नहीं जान सकते हैं। अतः उस समय किसी-किसी पदार्थ में सत्ता का सन्देह हो जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो सत्ता अनेकरूप सिद्ध हो जाती है। क्योंकि घट में रहने वाली सत्ता का घट में विशेषणपना भिन्न है। और दूसरे पदार्थों में रहने वाली सत्ता का अर्थान्तर के साथ विशेषणत्व भिन्न है। इस प्रकार सत्ता में भी नानापना सिद्ध होता है।

सत्त्वस्यान्यदन्यदर्थान्तरविशेषणत्वमित्यायातमनेकरूपत्वं । नानार्थविशेषणत्वं नाना न पुनः सत्त्वं तस्य ततो भेदादिति चेत् । तर्हि घटविशेषणत्वाधारत्वेन सत्त्वस्य प्रतीतौ सर्वार्थविशेषणत्वाधारत्वेनापि प्रतिपत्तेः स एव संशयापायः सर्वार्थविशेषणत्वाधारत्वस्य ततोऽनर्थान्तरत्वात् । तस्यापि नानारूपस्य सत्त्वाद्भेदे नानार्थविशेषणत्वान्नानारूपादनर्थान्तरत्वसिद्धेः । सिद्धं नानास्वभावं सत्त्वं सकृन्नानार्थविशेषणं । तद्वत्समवायोऽस्तु । द्रव्यत्वादिसामान्यं द्वित्वादिसंख्यानं पृथक्त्वाद्यवयविद्रव्यमाकाशादि विभुद्रव्यं च स्वयमेकमपि पुरा

सत्ता में रहने वाले नाना अर्थों के विशेषणपन ही अनेक हैं किन्तु फिर सत्ता अनेक नहीं है, क्योंकि वह सत्ता अपने उन विशेषणों से सर्वथा भिन्न है। (धर्म धर्मों से भिन्न होता है) तब तो घट विशेषणत्व के आधार से (धर्म के आश्रयपने से) सत्ता को जान लेने पर सम्पूर्ण अर्थों के विशेषणत्व के आधार रूप से भी सत्ता की प्रतीति हो जाती है। (अर्थात् सत्ता तो एक ही है और निरंश है अतः एक सत्ता के जान लेने पर सम्पूर्ण पदार्थों का जानना सिद्ध हो गया तो वह का वही, कहीं भी संशय का न रहना रूप दोष तदवस्थ रहा) क्योंकि सत्ता के उस घट विशेषणत्व का आधारत्व धर्म से उन सर्वार्थों में विशेषणत्व का आधारपना धर्म भिन्न नहीं है, एक ही है।

यदि (वैशेषिक) सत्ता के उन अनेक धर्मों को भी सत्ता से भिन्न हो रहे स्वीकार करते हैं (सत्ता के धर्मों को सत्ता से भिन्न मानते हैं) तो नाना अर्थों के विशेषणत्व रूप होने से जो सत्ता नाना रूप है उन नाना रूपों के सत्ता से अभेदत्व की सिद्धि हो जाती है।

अतः एक साथ नाना पदार्थों का विशेषण होने से सत्ता में नाना स्वभाव सिद्ध है। उसी प्रकार समवाय भी नाना प्रकार का सिद्ध होता है।

जैसे द्रव्यत्व सामान्य एक जाति है किन्तु पहले से ही पृथ्वी, अप् तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन इन नौ द्रव्यों में रहती है। तथा एक गुणत्व जाति रूप, रस आदिक चौबीस गुणों में रहती है। कर्मत्व जाति भी उत्क्षेपण-अवक्षेपण आदि पाँच कर्मों में रहती है। यह एक सामान्य सत्ता है। तथा दो द्रव्यों में रहने वाली द्वित्व संख्या तथा तीन में रहने वाली त्रित्व संख्या, चार द्रव्यों में रहने वाली चतुष्टय संख्या आदि भी एक-एक होकर पर्याप्ति नामक सम्बन्ध से अनेक में रहती है।

पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण भी एक हो कर अनेक में रहते हैं। इसी प्रकार एक घट अवयवी द्रव्य दो कपालों में रहता है तथा एक पट अवयवी द्रव्य अनेक तन्तुओं में रहता है। तथा आकाश, काल, आत्मा, दिशा ये चार व्यापक द्रव्य स्वयं अकेले-अकेले होकर भी वृत्तिता के अनियामक

यदनेकार्थविशेषणमित्येतदनेन निरस्तं । सर्वथैकस्य तथाभावविरोधसिद्धेरिति न परपरिकल्पितस्वभावः समवायोऽस्ति, येनेश्वरस्य सदा ज्ञानसमवायितोपपत्तेर्ज्ञत्वं सिद्धयेत् ।

कीदृशस्तर्हि समवायोऽस्तु?

ततोऽर्थस्यैव पर्यायः समवायो गुणादिवत् ।

तादात्म्यपरिणामेन कथंचिदवभासनात् ॥७४॥

प्राप्तं कथंचिद्द्रव्यभेदेन प्रतिभासमानं समवायस्येति न मंतव्यं, तद्भेदैकांतस्य ग्राहकाभावात् । न हि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकं तत्रेदं द्रव्यमयं गुणादिरयं समवाय इति भेदप्रतिभासाभावात् । नाप्यनुमानं लिंगाभावात् । इहेदमिति प्रत्ययो लिंगमिति चेत् । न । तस्य समवायितादात्म्यस्वभावसमवायसाधकत्वेन विरुद्धत्वात् । नित्यसर्वगतैकरूपस्य समवायेनानांतरीयकत्वात् । गुणादीनां द्रव्यत्वात्कथंचित्तादात्म्याभासनस्य द्रव्यपरिणामत्वस्य

संयोग सम्बन्ध से घट, पट आदि अनेक देश-देशान्तरों के पदार्थों में विद्यमान रहते हैं । अतः एक होकर भी अनेक अर्थों के विशेषण होकर रहते हैं । जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के वैशेषिकों के कथन का भी इस हेतु से खण्डन कर दिया गया है । क्योंकि सर्वथा एक के तथाभाव को (इस प्रकार अनेक में रहने को) विरोध की सिद्धि है । इसलिये वैशेषिक द्वारा कल्पित स्वभाव वाला समवाय पदार्थ सिद्ध नहीं होता है । जिस समवाय सम्बन्ध से कि ईश्वर का ज्ञान के साथ सदा से ही समवायीपना सिद्ध हो जाता और ईश्वर को ज्ञान स्वभाव वाला सिद्ध किया जाता । अर्थात् उस असिद्ध समवाय से ईश्वर में विज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती है ।

(वैशेषिक कहते हैं कि) फिर समवाय कैसा है? आचार्य कहते हैं कि जैसे रूप, रस और चलना, फिरना आदि गुणक्रियाएँ अर्थ की ही पर्यायें हैं, उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध भी परिणामी द्रव्य की पर्यायविशेष है । क्योंकि कथंचित् तादात्म्य परिणाम से परिणमन करता हुआ प्रतिभासित होता है ॥७४॥

द्रव्य से समवाय पदार्थ सर्वथा भिन्न दिख रहा है अतः समवाय का द्रव्य से कथंचिद् भेदाभेद स्वरूप परिणाम करके जैनों का ज्ञान भ्रमपूर्ण है, ऐसा (वैशेषिकों को) नहीं कहना चाहिए क्योंकि द्रव्य से सर्वथा भिन्न उस समवाय (पर्याय) को एकान्त रूप से भिन्न ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव है । (पहला) प्रत्यक्ष प्रमाण तो समवाय और समवायी के भेद का ग्राहक नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा यह द्रव्य है, यह गुण है, यह क्रिया है, यह समवाय है, इत्यादि रूप से भेद के प्रतिभास का अभाव है । अर्थात् यह द्रव्य है, यह गुण है, द्रव्य गुण में सम्बन्ध कराने वाला समवाय भिन्न है, इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा नहीं होता है ।

(दूसरा) अनुमान ज्ञान भी अर्थ से भिन्न समवाय को नहीं जानता है, क्योंकि अनुमान के उत्पादक लिंग (अविनाभावी हेतु) का अभाव है ।

‘इस आत्मा में ज्ञान है, पुद्गल में रूप है’ इस प्रकार का ज्ञान अर्थ से भिन्न समवाय को सिद्ध करने वाला लिंग है, ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि वह हेतु समवायियों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्वरूप समवाय का साधक है, नित्य एक सर्वव्यापी समवाय का साधक नहीं है । इसलिए यह हेतु समवाय सम्बन्ध रूप साध्य से विरुद्ध के साथ व्याप्ति रखने वाला होने से विरुद्ध हेत्वाभास है । ‘इसमें यह है’ इत्याकारक प्रतीति रूप हेतु नित्य सर्वगत (व्यापक) एकरूप समवाय के साथ अनान्तरीयक (अविनाभाव सम्बन्ध को नहीं रखने वाला) है ।

भावात्साधनशून्यं साध्यशून्यं च निदर्शनमिति चेन्न, अत्यन्तभेदस्य ततस्तेषामनिश्चयात्तदसिद्धेः। गुणगुणिनौ, क्रियातद्वन्तौ, जातितद्वन्तौ च परस्परमत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटवदित्यनुमानमपि न तद्भेदैकांतसाधनं, कथंचिद्विन्नप्रतिभासत्वस्य हेतोः कथंचित्तद्भेदसाधनतया विरुद्धत्वात् सिद्ध्यभावात्। न हि गुणगुण्यादीनां सर्वथा भेदप्रतिभासोऽस्ति कथंचित्तादात्म्यप्रतिभासनात्। तथाहि— गुणादयस्तद्वन्तः कथंचिदभिन्नास्ततोऽशक्यविवेचनत्वान्यथानुपपत्तेः। किमिदमशक्यविवेचनत्वं नाम? विवेकेन ग्रहीतुमशक्यत्वमिति चेदसिद्धं गुणादीनां द्रव्याद्भेदेन ग्रहणात्। तद्वुद्धौ द्रव्यस्याप्रतिभासनात् द्रव्यबुद्धौ च गुणादीनामप्रतीतेः। देशभेदेन विवेचयितुमशक्यत्वं तदिति चेत्, कालाकाशादिभिरनैकांतिकं साधनमिति कश्चित्।

(वैशेषिक कहते हैं कि) गुणादि दृष्टान्त में द्रव्य से कथंचित् तदात्मक रूप से प्रकाशन होनेरूप हेतु का और द्रव्य का परिणाम होनेरूप साध्य का अस्तित्व नहीं है। अतः यह दृष्टान्त साध्य और साधन से रहित है, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि द्रव्य से उन गुणादिकों के अत्यन्त भेद का अभी तक निश्चय नहीं हुआ है। अतः गुण और गुणी में सर्वथा भेद की सिद्धि नहीं है।

गुण और गुणवान, क्रिया और क्रियावान, जाति और जातिवान परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि घट, पट, आदि के समान इनमें भी भेद प्रतिभासित होता है। यह उक्त अनुमान भी गुण-गुणी में, क्रिया-क्रियावान में, जाति-जातिवान में एकान्तभेद का साधक नहीं है। कथंचित् भिन्न प्रतिभासत्व हेतु का कथंचित् भेद साधक होने से सर्वथा भेद साधन के साथ विरोध है- अतः इस अनुमान से सर्वथा भेदसिद्धि का अभाव है। अर्थात् कथंचित् भेद प्रतिभासन रूप हेतु से गुण-गुणी आदि में कथंचित् भेद सिद्ध होता है। सर्वथा भेद की सिद्धि नहीं होती है।

निश्चय से गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान आदि में सर्वथा भेद प्रतिभास नहीं होता है- अपितु कथंचित् तादात्म्य प्रतिभास हो रहा है। तथाहि- अनुमान से सिद्ध करते हैं कि गुण, क्रिया आदि गुणी, क्रियावान आदि से कथंचित् अभिन्न हैं। अन्यथा (कथंचित् अभिन्न नहीं मानते हैं तो) उनका विवेचन करना शक्य हो जाता। किन्तु गुण, गुणी आदि को पृथक् करना अशक्य है।

शंका - यह अशक्य विवेचन क्या है? गुण-गुणी का भिन्न-भिन्न ग्रहण नहीं होता है, अतः अशक्य विवेचन है, ऐसा कहना असिद्ध है। क्योंकि गुणादिकों का द्रव्य के भेद से ग्रहण होता है। गुणादि बुद्धि में द्रव्य का प्रतिभास नहीं होता है और द्रव्य बुद्धि में गुणादिकों की प्रतीति नहीं होती है। गुण-गुणी का देशभेद करना शक्य नहीं होने से यह अशक्य विवेचन है तो यह तुम्हारा हेतु काल, आकाश, दिशा आदि से व्यभिचारी होता है। क्योंकि काल, आकाश आदि का भिन्न-भिन्न देश नहीं होते हुए भी परस्पर भेद है। अतः जो देश की अपेक्षा अभिन्न है- वह एक है, ऐसा कहना व्यभिचारी होता है। इस प्रकार कोई (वैशेषिक) कहता है।

तदनवबोधविजृम्भितं । स्वाश्रयद्रव्याद्द्रव्यांतरं नेतुमशक्यत्वस्याशक्यविवेचनत्वस्य कथनात् । न च तदसिद्धमनैकान्तिकत्वं साध्यधर्मिणि सद्भावाद्विपक्षादव्यावृत्तेश्च । तत्र गुणादीनां कथंचिद्द्रव्यतादात्म्यपरिणामेनावभासनमसिद्धं, नापि द्रव्यपरिणामत्वं, येन साध्यशून्यं साधनशून्यं वा निदर्शनमनुमन्यते । समवायो वार्थस्यैव पर्यायो न सिद्धयेत्, सिद्धेऽपि समवायस्य द्रव्यपरिणामत्वे नानात्वे च किं सिद्धमिति प्रदर्शयति;—

तदीश्वरस्य विज्ञानसमवायेन या ज्ञता ।

सा कथंचित्तदात्मत्वपरिणामेन नान्यथा ॥७५॥

तथानेकांतवादस्य प्रसिद्धिः केन वार्यते ।

प्रमाणबाधनाद्धिन्नसमवायस्य तद्वतः ॥७६॥

तदेवं समवायस्य तद्वतो भिन्नस्य सर्वथा प्रत्यक्षादिबाधनात्तदबाधितद्रव्यपरिणामविशेषस्य समवायप्रसिद्धेर्ज्ञानसमवायाद् ज्ञो महेश्वर इति कथंचित्तादात्म्यपरिणामादेवोक्तः स्यात् । स च मोक्षमार्गस्य प्रणेतेति भगवानर्हन्नेव नामांतरेण स्तूयमानः केनापि वारयितुमशक्यः । परस्तु कपिलादिवदज्ञो न तत्प्रणेता नाम ।

उत्तर — जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का कथन करना अज्ञान का विलास है । स्याद्वाद सिद्धान्त में एक द्रव्य के गुणों को द्रव्य से पृथक् करके दूसरे द्रव्य में ले जाना शक्य नहीं है, उसको अशक्य विवेचन कहते हैं । अतः अशक्य विवेचन रूप हेतु का अपने साध्य धर्मों में सद्भाव होने से यह हेतु असिद्ध नहीं है और विपक्ष व्यावृत्ति होने से यह हेतु अनेकान्तिक भी नहीं है । इसलिए गुणादिकों का कथंचित् द्रव्य के साथ तादात्म्य परिणाम से अवभासमान होने से कथंचित् गुण द्रव्य से अभिन्न हैं, यह असिद्ध नहीं है । और कथंचित् अभिन्न हेतु के द्वारा साध्य द्रव्य का परिणामी (पर्याय) पना भी असिद्ध नहीं है । जिससे साध्य शून्य दृष्टान्त माना जाता हो । समवाय अर्थ की पर्याय है, यह सिद्ध नहीं होता है— ऐसा नहीं है । समवाय अर्थ की पर्याय सिद्ध है ।

समवाय सम्बन्ध के द्रव्य की पर्याय और नानापना सिद्ध हो जाने पर भी इससे आपका क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, ऐसा वैशेषिक के द्वारा पूछने पर आचार्य अपना प्रयोजन दिखाते हैं—

यह ईश्वर की सर्वज्ञता कथंचित् तादात्म्य परिणाम वाले विज्ञान समवाय से सिद्ध हो सकती है । अन्यथा (ईश्वर से पृथक् ज्ञान का समवाय सम्बन्ध से ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने से) ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती । इस प्रकार ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर अनेकान्तवाद की प्रसिद्धि को कौन रोक सकता है । (अनेकान्त का खण्डन कैसे हो सकता है ।) अतः सर्वथा भिन्न समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आत्मा के साथ संयोग होना प्रमाण बाधित है ॥७५-७६॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अपने समवायियों से सर्वथा भिन्न (कल्पित) समवाय के मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा आती है, और उस द्रव्य के तदात्मक विशेष परिणाम को स्वीकार करने से कोई बाधा नहीं आती है । अतः तादात्म्य सम्बन्ध रूप समवाय की सिद्धि होने से 'ज्ञान के समवाय से महेश्वर ज्ञाता होता है' इसका अभिप्राय यह है कि कथंचित् तादात्म्य परिणाम स्वरूप ज्ञान के संयोग से आत्मा ज्ञाता है, अन्यथा नहीं ।

सुगतोऽपि न मार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते।

तृष्णाविद्याविनिर्मुक्तेस्तत्समाख्यातखड्गवत् ॥७७॥

योऽप्याह। 'अविद्यातृष्णाभ्यां विनिर्मुक्तत्वात्प्रमाणभूतो जगद्धितैषी सुगतो मार्गस्य शास्तेति।' सोऽपि न प्रेक्षावान्। तथा व्यवस्थित्यघटनात्। न हि शोभनं संपूर्णं वा गतः सुगतो व्यवतिष्ठते, क्षणिकनिरास्रवचित्तस्य प्रज्ञापारमितस्य शोभनत्वसंपूर्णत्वाभ्यामिष्टस्य सिद्ध्युपायापायात्।

वह मोक्षमार्ग का प्रणेता भगवान् अर्हन्त ही है, नामान्तर से स्तूयमान उस अर्हन्तदेव का किसी के द्वारा निवारण करना शक्य नहीं है। कपिल के समान सर्वव्यापक, सर्व शक्तिमान ईश्वर मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं हो सकता।^१ तृष्णा (सांसारिक सुखों की अभिलाषा) और अविद्या (अनात्मक, क्षणिक, अशुचि और दुःख स्वरूप पदार्थों को आत्मीय, नित्य, पवित्र और सुखरूप समझने का अभिमान करना) से रहित सुगत के भी मोक्षमार्ग का प्रणेता होना सिद्ध होता है सो यह सौगत मन्तव्य भी प्रमाणों से व्यवस्थित नहीं है। जैसे कि विचारप्राप्त खड्गी^२ मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं है ॥७७॥

सुगत मत समीक्षा

जो भी कोई वादी (बुद्धमतानुयायी) यह कहता है कि "अविद्या और तृष्णा से रहित होने से प्रमाणभूत, सारे जगत् के प्राणियों का हित चाहने वाला, सुगत ही मोक्षमार्ग का शास्ता उपदेष्टा है तो जैनाचार्य कहते हैं कि वह बौद्धमतानुयायी हिताहित का विचार करने वाला नहीं है। क्योंकि उसके कथनानुसार बुद्ध की व्यवस्था घटित नहीं होती है। क्योंकि सुगत शब्द के निरुक्तिपरक अर्थ तीन हैं—

प्रथम- 'सु' उपसर्ग के प्रकरण में शोभन, सम्पूर्ण, सुष्ठु ये तीन अर्थ होते हैं। उनमें प्रथम के दो अर्थ तो बुद्ध में घटित नहीं होते हैं। परिशेष न्याय से तीसरा अर्थ ही ग्रहण करना पड़ता है। सुगत अर्थात् भली प्रकार चला गया। वह बुद्ध या उसका चित्त पुनः उत्पन्न नहीं होगा अर्थात् शून्यता को प्राप्त हो गया, उसको सुगत कहते हैं, यह अर्थ होगा।

सुगत शब्द का अर्थ यदि यह किया जाय कि 'सु' शोभनयुक्त होकर 'गतः' प्राप्त हो गया। भावार्थ-संसारी प्राणियों की क्षणिक ज्ञान की संतानें अनेक पूर्ववासनाओं के कारण तृष्णा और अविद्या के साथ उत्पन्न होती हैं, और नष्ट होती हैं। किन्तु सुगत की ज्ञान सन्तान तो अविद्या और तृष्णा की वासनाओं के आस्रव से रहित होकर भी क्षणिक उत्पन्न होती रहती है और मोक्ष अवस्था में भी उस चित्त की सन्तान उत्पन्न होती रहती है। अथवा सुगत का दूसरा अर्थ है, सम्पूर्ण रूप से पदार्थों को जानने वाला। ये दोनों ही अर्थ घटित नहीं होते हैं। क्योंकि आस्रव रहित क्षणिक चित्तों के उत्पादकों को बौद्धों ने शोभन रूप से और सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाली प्रज्ञा के पारगामी 'गतः' शब्द से इष्ट किया (माना) है। परन्तु इन दोनों अर्थों की सिद्धि के उपाय का अपाय (अभाव) है। सुगत सर्वास्रवों से रहित क्षणिक चित्तों का उत्पादक है, और सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता है; इस अर्थ की सिद्धि करने वाले प्रमाण का अभाव है।

१. सांख्य कपिल को सर्वज्ञ मानते हैं। वैशेषिक और नैयायिक ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं और बौद्ध सुगत को सर्वज्ञ मानते हैं।

२. मुक्तावस्था में अवस्थित जीव को खड्गी कहते हैं।

भावनाप्रकर्षपर्यंतस्तत्सिद्ध्युपाय इति चेत् । न । भावनाया विकल्पात्मकत्वेनातत्त्वविषयायाः प्रकर्षपर्यंतप्राप्तायास्तत्त्वज्ञानवैतृष्ण्यस्वभावोदयविरोधात् । न हि सा श्रुतमयी तत्त्वविषया श्रुतस्य प्रमाणत्वानुसंगात् । तत्त्वविवक्षायां प्रमाणं सेति चेत् तर्हि चिन्तामयी स्यात् । तथा च न श्रुतमयी भावना नाम । परार्थानुमानरूपा श्रुतमयी, स्वार्थानुमानात्मिका चिन्तामयीति विभागोऽपि न श्रेयान् ।

सर्वथा भावनायास्तत्त्वविषयत्वायोगात् । तत्त्वप्रापकत्वाद्वास्तुविषयत्वमिति चेत्, कथमवस्त्वालंबना सा वस्तुनः प्रापिका? तदध्यवसायात्तत्र प्रवर्तकत्वादिति चेत् । किं पुनरध्यवसायो वस्तु विषयीकुरुते यतोऽस्य तत्र प्रवर्तकत्वं?

‘सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक है’, इस प्रकार की भावना की प्रकर्षता ही सुगत पद प्राप्त करने का उपाय है । (वा सुगत की सिद्धि का उपाय है) ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि बौद्धमत में श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाओं को विकल्पज्ञानात्मक माना है और विकल्पज्ञान वस्तु का स्पर्श करने वाला न होने से असत्य है । जब विकल्पात्मक भावनायें वस्तु स्वरूप तत्त्वों को विषय नहीं करती हैं, तब असत्य भावनाओं के अन्तिम उत्कर्ष को प्राप्त हो जाने पर भी समीचीन तत्त्वों का ज्ञान और तृष्णा का अभाव रूप वैराग्य, इन स्वभावों की उत्पत्ति होने का विरोध है । अर्थात् मिथ्याभावनाओं के उत्कर्ष से वीतराग विज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । (बौद्धों द्वारा मान्य) श्रुतमयी भावना वास्तविक तत्त्वों को विषय करने वाली नहीं है, क्योंकि श्रुतमयी भावना को तत्त्व का विषय करने वाली मानोगे तो श्रुतज्ञान (शास्त्र ज्ञान) को तीसरा प्रमाण मानने का प्रसंग आयेगा, जबकि बौद्ध मत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने गये हैं ।

यदि निर्विकल्प ज्ञान के विषयभूत वास्तविक तत्त्वों को शास्त्र के द्वारा कहने की इच्छा होने पर श्रुतमयी भावना को भी परार्थानुमान प्रमाण मानते हैं तब तो वह परार्थानुमान रूप श्रुतमयी भावना नहीं रही अपितु वह चिन्तामयी भावना हो गयी ।

‘परार्थानुमान रूपा श्रुतमयी भावना है और स्वार्थानुमान रूपा चिन्तामयी भावना है’ ऐसा विभाग करना भी श्रेयस्कर (ठीक) नहीं है । सर्वथा अवस्तु को विषय करने वाली भावनाओं के तत्त्व को विषय करने की अयोग्यता है । अर्थात् अतत्त्व को विषय करने वाली भावनाएँ तत्त्व को विषय करने वाली नहीं हो सकतीं ।

शंका - तत्त्व की प्रापक (अर्थ की प्राप्ति में कारण) होने से भावना वास्तविक वस्तु को विषय करती है, ऐसा कहा जाता है । अर्थात् पूर्व में वस्तुचिन्तन से अर्थ की ज्ञप्ति होती है, पुनः अर्थ में प्रवृत्ति होती है, पश्चात् अर्थ की प्राप्ति होती है । प्राप्ति काल तक क्षणिक निर्विकल्प ज्ञान तो रहता नहीं है, इच्छाओं की संतान चलती है अतः चिन्ता वस्तु के विषय की प्राप्ति में कारण है ।

उत्तर - अपरमार्थ भूत अवस्तु को विषय करने वाली मिथ्यारूप भावना वस्तु की प्राप्ति का आलम्बन (कारण) कैसे हो सकती है?

बौद्ध का कथन- भावना रूप ज्ञान परार्थानुमान रूप शास्त्र के विषय का निश्चय कराने वाला होने से वस्तु का प्रापक है । (अर्थात् वास्तवज्ञान के कराने में कारण है ।) जैनाचार्य का प्रश्न- क्या वह निश्चय रूप मिथ्याज्ञान (बौद्धों ने निश्चयात्मक ज्ञान को मिथ्या माना है) वास्तविक वस्तु का निश्चय कराता है जिससे इस निश्चयात्मक ज्ञान की वास्तव ज्ञान में प्रवृत्ति हो सके?

स्वलक्षणदर्शनवशाप्रभवोऽध्यवसायः प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वात्प्रवर्तक इति चेत्, प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पस्तथास्तु। समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानाध्यवसायस्य तथाभावे दर्शनोत्थाध्यवसायस्य किमतथाभावस्तदविशेषात् प्रवृत्तस्यारोपस्य व्यवच्छेदकोऽध्यवसायः प्रवर्तको न पुनः प्रवर्तिष्यमाणस्य व्यवच्छेदक इति ब्रुवाणः कथं परीक्षको नाम? तत्त्वार्थवासनाजनिताध्यवसायस्य वस्तुविषयतायामनुमानाध्यवसायस्यापि सेष्टेति तदात्मिका भावना न तत्त्वविषयतो नाविद्याप्रसूतिहेतुरविज्ञातो विद्योदयविरोधात्।

नन्वविद्यानुकूलाया एवाविद्याया विद्याप्रसवनहेतुत्वं विरुद्धं न पुनर्विद्यानुकूलायाः सर्वस्य तत एव विद्योदयोपगमादन्यथा विद्यानादित्वप्रसक्तेः संसारप्रवृत्त्ययोगादिति चेत्। न। स्याद्वादिनां

यदि वस्तुभूत स्वलक्षण दर्शन से उत्पन्न हुआ अध्यवसाय (निश्चय ज्ञान) प्रवृत्ति के विषय का उपदर्शक (दिखाने वाला) होने से प्रवर्तक माना जाता है तब तो प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे होने वाला विकल्प ज्ञान भी प्रवृत्ति के योग्य विषय का प्रदर्शक होने से वस्तुज्ञान का प्रवर्तक हो जायेगा। अर्थात् जैसे वस्तुभूत स्वलक्षण को जानने वाले दर्शन के पश्चात् उत्पन्न हुआ निश्चय ज्ञान प्रवर्तक है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला सविकल्प ज्ञान भी तत्त्वज्ञान का प्रवर्तक है, ऐसा मानने में क्या हानि है।

क्षणिक आदि विषय में उत्पन्न संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप समारोपों का व्यवच्छेदकत्व होने से अनुमान रूप निश्चय ज्ञान को वैसा होने पर प्रवर्तक मानते हैं। अर्थात् अनुमान का निश्चय समारोप का व्यवच्छेदक है- अतः वस्तुभूत तत्त्व में प्रवर्तक है। उसी प्रकार दर्शन, (निर्विकल्पस्वलक्षण) से उत्पन्न अध्यवसाय के (निश्चय रूप विकल्प) अनुमान के समान प्रवर्तकपना कैसे नहीं हो सकता है दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

(बौद्ध कहता है-) पूर्व काल से ही प्रवृत्त हुए समारोपों का व्यवच्छेद करने वाला होने से क्षणिकत्व का अनुमान रूप निश्चय ज्ञान प्रवर्तक कहा जाता है। किन्तु भावीकाल में उत्पन्न होने वाले संशय आदि को संभाव्य रूप से दूर करने वाले उन प्रत्यक्षों के बाद उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञानों को हम प्रवर्तक नहीं मानते हैं। जैनाचार्य कहते हैं- इस प्रकार (पक्षपातपूर्वक) कहने वाले बौद्ध, परीक्षक कैसे हो सकते हैं? नहीं, अर्थात् नहीं।

तत्त्वार्थ की वासना से उत्पन्न अध्यवसाय के वस्तुविषयता होने पर अनुमानाध्यवसाय के भी वह इष्ट है। इस प्रकार वह भावना स्वरूप ज्ञान भी वस्तुस्वरूप को ही विषय करने वाला मानना चाहिए। अपरमार्थभूत अतत्त्वों को जानने वाला अध्यवसायात्मक भावनाज्ञान ठीक नहीं है। अतः मिथ्याज्ञान रूप भावना सर्वज्ञता को उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि अविद्या से विद्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अविद्या से विद्या की उत्पत्ति नहीं होती

शंका - (बौद्ध) अविद्या दो प्रकार की है, एक सम्यग्ज्ञान की सहकारिणी और दूसरी मिथ्याज्ञान की सहकारिणी। जो अविद्या के अनुकूल (सहकारिणी) अविद्या है, उसके विद्या की उत्पत्ति के हेतुत्व का विरोध है। परन्तु जो विद्या (सम्यग्ज्ञान) के अनुकूल है- उस अविद्या से विद्या की उत्पत्ति में कोई

विद्याप्रतिबंधकाभावाद्विद्योदयस्येष्टेः। विद्यास्वभावो ह्यात्मा तदावरणोदये स्यादविद्याविवर्तः स्वप्रतिबंधकाभावे तु स्वरूपे व्यवतिष्ठत इति नाविद्यैवानादिर्विद्योदयनिमित्ता सकलविद्यामुपेयामपेक्ष्य देशविद्या तदुपायरूपा भवत्यविद्यैवेति चेत्। न। देशविद्याया देशतः प्रतिबंधकाभावादविद्यात्वविरोधात्। या तु केनचिदंशेन प्रतिबंधकस्य सद्भावादविद्यात्मनः, सापि न विद्योदयकारणं, तदभाव एव विद्याप्रसूतेरिति न विद्यात्मिका भावना गुरुणोपदिष्टा साध्यमाना

विरोध नहीं है। क्योंकि सर्व वादी अविद्यापूर्वक ही विद्या की उत्पत्ति मानते हैं। अन्यथा (यदि अविद्यापूर्वक विद्या की उत्पत्ति नहीं मानेंगे तो) विद्या के अनादिकालीनत्व का प्रसंग होने से संसार की प्रवृत्ति का अयोग होगा। अर्थात् अविद्यापूर्वक विद्या नहीं होगी तो संसार में प्रवृत्ति नहीं होगी। सर्व जीव अनादि से सर्वज्ञ ही रहेंगे।

उत्तर - जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि स्याद्वाददर्शन में अविद्या से विद्या की उत्पत्ति नहीं मानते हैं अपितु विद्या (ज्ञान) के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म के क्षय वा क्षयोपशम रूप अभाव से विद्या की उत्पत्ति मानते हैं। आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभाव पर ज्ञानावरण कर्म का उदय होने से अज्ञान रूप पर्याय उत्पन्न होती है। तथा अपने प्रतिबन्धक के अभाव में आत्मा अपने स्वरूप में (केवलज्ञान में) व्यवस्थित (लीन) होकर परिणमन करता है। इसलिए अनादिकालीन अविद्या ही विद्या की उत्पत्ति का निमित्त कारण नहीं है, अपितु कर्मों के नाश से और अविद्या के अभाव से आत्मा में स्वाभाविक विद्या उत्पन्न हो जाती है।

उपादेयभूतसकल विद्या (परिपूर्ण ज्ञान) की अपेक्षा करके एकदेश अल्पज्ञान परिपूर्ण ज्ञान का कारण कहा जाता है और वह एकदेश ज्ञान अविद्या से उत्पन्न होता है अतः अविद्या विद्या का कारण है, ऐसा कहना उचित नहीं है- क्योंकि एकदेश विद्या (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान) की उत्पत्ति एकदेश प्रतिबन्धक (देशघाती मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरण) के अभाव से उत्पन्न होती है। अतः अविद्या से विद्या की उत्पत्ति का विरोध है। अथवा अविद्या मिथ्याज्ञान को कहते हैं। मतिज्ञानादि सम्यग्ज्ञानों को अविद्या नहीं कहते हैं- अतः विद्या से ही विद्या उत्पन्न होती है, अविद्या से नहीं।

किंच, किसी अंश से प्रतिबन्धक (मतिज्ञानावरणादि देशघातिकर्मप्रकृति के उदय) का सद्भाव होने से आत्मा के जो अविद्या का सद्भाव है, वह अविद्या (अल्पज्ञान) विद्या (केवलज्ञान) की उत्पत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में तो ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म के उदय का अभाव ही कारण है। अतः स्वयं अज्ञान स्वरूप किन्तु भविष्य में ज्ञान की कारणभूत और गुरु के द्वारा उपदिष्ट अन्तर्पर्यन्त साध्यमान विद्यात्मिका श्रुतमयी एवं चिन्तामयी भावना सुगत के पूर्ण ज्ञान के उत्पन्न होने में कारण नहीं है, जिससे सुगत का (सर्वज्ञपन सिद्ध हो कर) भव्यों को सम्बोधन करने के लिए कुछ दिन संसार में ठहरना व्यवस्थित बन सके।

सुगतत्वहेतुर्यतः सुगतो व्यवतिष्ठते। भवतु वा सुगतस्य विद्यावैतृष्णसंप्राप्तिस्तथापि न शास्तृत्वं व्यवस्थानाभावात्। तथाहि। 'सुगतो न मार्गस्य शास्ता व्यवस्थानविकलत्वात् खड्गिवत्। व्यवस्थानविकलोऽसावविद्यातृष्णाविनिर्मुक्तत्वात्तद्वत्।'

जगद्धितैषितासक्तेर्बुद्धो यद्यवतिष्ठते।

तथैवात्महितैषित्वबलात् खड्गीह तिष्ठतु ॥७८॥

“बुद्धो भवेयं जगतो हितायेति” भावनासामर्थ्यादविद्यातृष्णाप्रक्षयेऽपि सुगतस्य व्यवस्थाने खड्गिनोऽप्यात्मानं शमयिष्यामीति भावनाबलाद्व्यवस्थानमस्तु विशेषाभावात्।

सुगत मोक्षमार्ग का उपदेष्टा नहीं

अथवा- बौद्ध के कथनानुसार सुगत के विद्या (केवलज्ञान) और तृष्णा के अभाव की प्राप्ति मान भी ली जाये तो भी सुगत के मोक्षमार्ग के शास्तृत्वं (उपदेष्टा) की व्यवस्था का तो अभाव ही है। अर्थात्- सुगत मोक्षमार्ग का उपदेष्टा नहीं हो सकता। तथाहि-सुगत मोक्षमार्ग का उपदेष्टा नहीं है- क्योंकि वह संसार में स्थिति के कारणों से रहित है। जैसे बौद्धों के द्वारा स्वीकृत खड्गी (मुक्तावस्था में स्थित) अविद्या और तृष्णा से रहित होने से मोक्षमार्ग के उपदेष्टा नहीं है। संसार में रखने के कारण की विकलता यह अविद्यातृष्णारहितता है। जैसे तृष्णा और अविद्या से रहित होने से मुक्त जीव संसार में ठहर कर उपदेश नहीं देते हैं, वैसे ही सुगत अविद्या और तृष्णा से रहित होने से संसार में रह नहीं सकता और संसार में रहने का अभाव होने से मोक्षमार्ग का उपदेष्टा नहीं हो सकता।

सुगत और खड्गी में साम्य-वैषम्य

यदि जगत् के हित की अभिलाषा में आसक्त होने से बुद्ध कुछ काल तक संसार में रहता है और मोक्षमार्ग का उपदेश देता है तो उसी प्रकार खड्गी (जिस प्रकार जैन सिद्धान्त में अन्तकृत केवली है, उसी प्रकार बौद्ध मत में तलवार आदि के प्रहार से जिनका मरण होकर मुक्ति होती है उनको खड्गी कहते हैं। उनके आत्महित की अभिलाषा शान्त नहीं होती है।) भी आत्म-हित की इच्छा के बल से संसार में रह सकेगा ॥७८॥

‘मैं जगत् का हित करने के लिए बुद्ध हो जाऊँ’ इस प्रकार पूर्व में भावित भावना की शक्ति से अविद्या और तृष्णा का क्षय हो जाने पर भी सुगत की स्थिति संसार में उपदेश देने के लिए हो जाती है, ऐसा मानने पर तो उसी प्रकार ‘आत्मा का हित करूँ’ इस पूर्व भावित भावना के सामर्थ्य से खड्गी का भी कुछ समय तक संसार में अवस्थान होना चाहिए। दोनों भावनाओं में कोई विशेषता नहीं है।

यदि कहो कि बुद्ध द्वारा उपकृत होने वाला जगत् अनन्त काल तक स्थिर रहेगा क्योंकि जगत् की सर्वदा स्थिति में सुगत की संतान को हेतु माना है, इस अपेक्षा सुगत भी सर्वदा संसार में बने रहेंगे- तब तो खड्गी की संतान (ज्ञानसंतान) भी खड्गी के द्वारा शान्तिलाभ से उपकृत होकर अनन्तकाल तक क्यों नहीं रहेगी यानी वह भी रहेगी जबकि दीपक के बुझने के समान निरन्वय नाश हो जाने रूप मुक्ति खड्गी की मोक्ष मानी गई है।

- तथागतोपकार्यस्य जगतोऽनंतता यदि ।
सर्वदावस्थिती हेतुर्मतः सुगतसंततेः ॥७९॥
- खड्गिनोप्युपकार्यस्य स्वसंतानस्य किं पुनः ।
न स्यादनंतता येन तन्निरन्वयनिर्वृतिः ॥८०॥
- स्वचित्तशमनात्तस्य संतानो नोत्तरत्र चेत् ।
नात्मानं शमयिष्यामीत्यभ्यासस्य विधानतः ॥८१॥
- न चांत्यचित्तनिष्पत्तौ तत्समामिर्विभाव्यते ।
तत्रापि शमयिष्यामीत्येष्वचित्तव्यपेक्षणात् ॥८२॥
- चित्तान्तरसमारंभि नान्त्यं चित्तमनास्त्वम् ।
सहकारिविहीनत्वात्तादृग्दीपशिखा यथा ॥८३॥
- इत्युक्तमनैकांताद्बुद्धचित्तेन तादृशा ।
हितैषित्वनिमित्तस्य सद्भावोऽपि समो द्वयोः ॥८४॥

“उस खड्गी के अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का सर्वदा के लिए शमन हो जाता है- सर्वथा अन्वय दूट जाता है, इसलिए उत्तरकाल में खड्गी (के चित्त) की संतान नहीं रहती है।” बौद्ध का ऐसा कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि “मैं आत्मा का शमन करूंगा” इस प्रकार के अभ्यास के विधान से अन्त्य (अन्तिम होने वाले) चित्त (आत्मा) की समाप्ति होने की भावना नहीं भाई जाती है। उस भावना में “आत्मा का शमन करूंगा” ऐसी भावना का खड्गी अभ्यास कर रहा है। अतः उस चित्त की अपेक्षा से आगे भी संतान चलेगी। दीपक के समान निरन्वय होकर ज्ञानसंतान का नाश हो जाने रूप मोक्ष खड्गी के नहीं बन सकता है ॥७९-८२॥

बौद्ध- सहकारी कारणों से रहित होने से खड्गी के अन्त का आस्रव रहित चित्त अन्य चित्तों को धारा रूप से उत्पन्न नहीं करता है। जैसे तैल, बत्ती आदि सहकारी कारणों से रहित अन्त की दीपशिखा पुनः दूसरी दीपशिखा को उत्पन्न नहीं कर सकती है। जैनाचार्य- बौद्धों का इस प्रकार का कथन भी युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि सहकारी कारण रहित हेतु का बुद्ध के चित्त के साथ ही व्यभिचार आता है। अर्थात् सहकारी कारण रहित होकर भी बुद्ध की चित्त संतान अनन्त काल तक चलती रहती है और खड्गी की संतान नहीं चलती है अतः यह हेतु विपक्ष में जाने से अनैकान्तिक है ॥८३-८४॥

चरमत्वविशेषस्तु नेतरस्य प्रसिद्धयति ।

ततोऽनंतर-निर्वाणसिद्ध्यभावात्प्रमाणतः ॥८५॥

खड्गिनो निरास्रवं चित्तं चित्तांतरं नारभते जगद्धितैषित्वाभावे चरमत्वे च सति सहकारिरहितत्वात् तादृग्दीपशिखावदित्ययुक्तं, सहकारिरहितत्वस्य हेतोर्बुद्धचित्तेनानैकांतात्, तद्विशेषणस्य हितैषित्वाभावस्य चरमत्वस्य चाऽसिद्धत्वात् । समानं हि तावद्धितैषित्वं खड्गिसुगतयोरात्मजगद्विषयं । सर्वविषयं हितैषित्वं खड्गिनो नास्त्येवेति चेत्, सुगतस्यापि कृतकृत्येषु तदभावात् । तत्र तदभावे वा सुगतस्य यत्किंचनकारित्वं प्रवृत्तिनैष्फल्यत् । यत्तु

हित की अभिलाषा से भविष्य में ज्ञानसंतान चलने के निमित्त का सद्भाव दोनों में समान है- क्योंकि जैसे बुद्ध को जगत् का हित करने की अभिलाषा है- वैसे खड्गी को भी अपने हित की अभिलाषा है ।

खड्गी के विज्ञान में अन्त में होने वाला यह विशेष भी सिद्ध नहीं है । क्योंकि बुद्ध के समान खड्गी भी वस्तु है और वस्तु अनन्त काल तक परिणमन करती है । अतः प्रमाण के द्वारा अन्तर रहित (निरन्वय) नाश रूप निर्वाण सिद्ध नहीं हो सकता है ॥८५॥

“खड्गी नामक मुक्तात्मा का निरास्रव चित्त चित्तान्तर को उत्पन्न नहीं करता है । क्योंकि खड्गी का चित्त जगत् के हित की अभिलाषा से रहित है और अन्तिम होता हुआ सहकारी कारणों से रहित है । जैसे सहकारी कारणों तैल बाती आदि से रहित होने से दीपक दूसरी दीपकलिका को उत्पन्न नहीं करता है, बुझ जाता है ।” जैनाचार्य कहते हैं- ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि उक्त अनुमान में कथित सहकारी रहितत्व हेतु का बुद्धचित्त के साथ व्यभिचार आता है । अर्थात् बुद्ध का चित्त सहकारी कारणों से रहित होकर भी चित्तान्तर का उत्पादक होता है । और उस हेतु के ‘हितैषी न होना’ तथा ‘अन्तिमपना’ ये दो विशेषण भी असिद्ध हैं । अर्थात् ये विशेषण खड्गी रूप हेतु में घटित नहीं होते हैं । अतः यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है । क्योंकि बुद्ध की जगत् के हित की अभिलाषा और खड्गी की आत्मा के शमन की अभिलाषा- ये दोनों ही अभिलाषाएँ समान हैं ।

‘खड्गी के सम्पूर्ण जीवों में हितैषिता नहीं है, आत्मशमन की ही भावना है,’ ऐसा बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि “जो आत्माएँ कृतकृत्य हो चुकी हैं, उनके प्रति सुगत की भी हितैषिता नहीं है । अतः सुगत की सब जीवों में हितैषिता कैसे सिद्ध होती है? मुक्तिप्राप्त, कृतकृत्य जीवों में भी सुगत की हितैषिता का सद्भाव स्वीकार करने पर तो सुगत के कुछ भी व्यर्थ कार्य करते रहने का प्रसंग आयेगा । अर्थात् सुगत निष्फल प्रवृत्ति करता रहेगा ।

देशतोऽकृतकृत्येषु तस्य हितैषित्वं तत्खड्गिणोऽपि स्वचित्तेषूत्तरेष्वस्तीति न जगद्धितैषित्वाभावः सिद्धः। नापि चरमत्वं प्रमाणाभावात्। चरमं निरास्रवं खड्गिगचित्तं स्वोपादेयानारंभकत्वाद्वर्तिस्नेहादिशून्यदीपादिक्षणवदिति चेत्। न। अन्योन्याश्रयणात्। सति हि तस्य स्वोपादेयानारंभकत्वे चरमत्वस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च स्वोपादेयानारंभकत्वसिद्धिरिति नाप्रमाणसिद्धविशेषणो हेतुर्विपक्षवृत्तिश्च। खड्गिसंतानस्यानंतत्वप्रतिषेधायालं येनोत्तरोत्तरैष्यचित्तापेक्षयात्मानं शमयिष्यामीत्यभ्यासविधानात्स्वचित्तैकस्य शमनेऽपि तत्संतानस्यापरिसमाप्तिसिद्धेर्निरन्वयनिर्वाणाभावः। सुगतस्येवानंतजगदुपकारस्य न व्यवतिष्ठेत् तथापि कस्यचित्प्रशांतनिर्वाणे सुगतस्य तदस्तु। ततः सुहृगत एव सुगतः। स च कथं मार्गस्य प्रणेता नाम।

यदि सुगत की हित करने की अभिलाषा एकदेश 'जो अकृतकृत्य हैं' उनमें होती है, तो कुछ चित्तों में वह हितैषिता खड्गी के भी विद्यमान है (अर्थात् खड्गी भी अपने उत्तरकाल में होने वाली विज्ञान रूप चित्तों में प्रशमन करने की अभिलाषा रखता है। अतः बौद्ध मतानुसार खड्गी में जगत् हित की अभिलाषा रखने रूप हेतु का अभाव सिद्ध नहीं है। अर्थात् जगत् की हिताभिलाषा रूप हेतु भी सिद्ध है। तथा प्रमाण का अभाव होने से चरमत्व विशेषण भी सिद्ध नहीं है। अर्थात् खड्गी के चित्त का कहीं अन्त हो जाता है। यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है।

बौद्ध कहते हैं कि खड्गी का अन्तिम चित्त स्वयं उपादान कारण बन कर किसी दूसरे उपादेय को उत्पन्न करने वाला न होने से निरास्र है, जैसे अन्तिम दीपकलिका बत्ती, तैल आदि कारणों से शून्य (रहित) होने से दूसरी दीपकलिका रूप स्वलक्षण को उत्पन्न नहीं करती है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है। इसमें परस्परश्रय दोष है क्योंकि अभी तक खड्गी के चित्त का अन्तिमपना और अपने उपादेय को उत्पन्न नहीं करना, ये दोनों ही बातें सिद्ध नहीं हैं। चित्त का अन्तिमपना सिद्ध होने पर अपने उपादेय कार्य का उत्पन्न नहीं होना सिद्ध होता है, और जब चित्त अपने उपादेय कार्य को उत्पन्न नहीं करता है, यह सिद्ध होता है तब चित्त का चरमत्व सिद्ध होता है, इस प्रकार परस्परश्रय दोष आता है। अतः पूर्व अनुमान में दिये गये हेतु के हितैषिता का अभाव और अन्तिमपना ये दोनों विशेषण प्रमाणों से सिद्ध नहीं हैं। इसलिए यह हेतु बुद्ध के चित्त रूप विपक्षों में रहने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इस कारण सहकारी रहितत्व हेतु खड्गी के चित्तसंतान की अनन्तता का निषेध करने के लिए समर्थ नहीं है, जिससे कि चित्तसन्ततियों के सर्वथा नाश रूप मोक्ष की सिद्धि हो सकती हो अर्थात् नहीं हो सकती।

खड्गी के उत्तरोत्तर भविष्य में आने वाले चित्तों की अपेक्षा से 'अपने चित्त का शमन करूंगा' इस प्रकार भावना के अभ्यास के विधान से एक स्वचित्त का शमन कर देने पर भी उस खड्गी की सन्तान की पूर्णतया समाप्ति सिद्ध नहीं है। इसलिए अन्वयरहित तुच्छाभावरूप मुक्ति सिद्ध नहीं होती है अर्थात्- निरन्वय निर्वाण का अभाव है। तथा च, अनन्त जगत् के उपकार करने वाले सुगत के समान खड्गी की भी संसार में स्थिति नहीं हो यह बात नहीं है। इस प्रकार दोनों (सुगत और खड्गी) के पूर्ण रूप से समानता होने पर भी अकेले खड्गी की ही तुच्छ अभावरूप शान्त मुक्ति मानोगे तो बुद्ध की भी बुझे हुए दीपक के समान चित्तधारा के सर्वथा नाशरूप मोक्ष हो जाओ, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

अतः सुहृः गतः (फिर लौटकर नहीं आने रूप अर्थ वाला) सुगत मोक्षमार्ग का प्रणेता कैसे हो सकता है? किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

मा भूतच्छांतनिर्वाणं सुगतोऽस्तु प्रमात्मकः ।

शास्तेति चेन्न तस्यापि वाक्प्रवृत्तिविरोधतः ॥८६॥

न कस्यचिच्छांतनिर्वाणमस्ति येन सुगतस्य तद्वत्तदापाद्यते निरास्रवचित्तोत्पादलक्षणस्य निर्वाणस्येष्टत्वात् । ततः शोभनं संपूर्णं वा गतः सुगतः प्रमात्मकः शास्ता मार्गस्येति चेत् । न । तस्यापि विधूतकल्पनाजालस्य विवक्षाविरहाद्वाचःप्रवृत्तिविरोधात् ।

विशिष्टभावनोद्भूतपुण्यातिशयतो ध्रुवम् ।

विवक्षामंतरेणापि वाग्वृत्तिः सुगतस्य चेत् ॥८७॥

बुद्धभावनोद्भूतत्वादुद्भूतत्वं संवर्तकाद्धर्मविशेषाद्विनापि विवक्षाया बुद्धस्य स्फुटं वाग्वृत्तिर्यदि तदा स सान्वयो निरन्वयो वा स्यात् । किं चातः—

(वैभाषिक का दीपक के बुझने के समान) वह शान्त निर्वाण न सिद्ध हो, बुद्ध तो प्रमात्मक (प्रमाण ज्ञानस्वरूप) है। वह मोक्षमार्ग का शिक्षण करने वाला शास्ता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है- क्योंकि ज्ञानात्मक सुगत के भी (उपदेश देने हेतु) वचनों की प्रवृत्ति का विरोध है अर्थात् शरीर के बिना वचनों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥८६॥

हम (यौगाचार का कथन है) किसी खड़्गी (उपसर्गी मुक्तात्मा) का सर्वथा निरन्वय नाश रूप निर्वाण नहीं मानते हैं जिससे कि उस खड़्गी के समान बुद्ध को भी वैसा ही मोक्ष प्राप्त करने का आपादन किया जाता हो। क्योंकि बौद्धमत में सांसारिक वासनाओं के आस्रव से रहित हो रहे शुद्ध चित्त का अनन्त काल तक उत्पन्न होते रहना, निर्वाण इष्ट माना गया है। इसलिए 'भली प्रकार नाश हो जाना' सुगत का अर्थ नहीं मानते हैं- अपितु 'सु' शोभन, परिपूर्ण ज्ञान को प्राप्त ज्ञानस्वरूप सुगत मोक्षमार्ग का प्रकाशक है। ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि कल्पना जाल से रहित सुगत के बोलने की इच्छा रूप कल्पना नहीं हो सकती और इच्छा के बिना वचनों की प्रवृत्ति होने का विरोध है। (अतः सुगत मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दे सकता है।)

बोलने की इच्छा के बिना भी 'जगत् का उपकार करूँ' इस प्रकार की विशिष्ट भावना के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए पुण्य के अतिशय से बुद्ध की वचन की प्रवृत्ति यथार्थ रूप से होती है ॥८७॥

"मैं बुद्ध हो जाऊँ" इस प्रकार की भावना से उपार्जित पुण्यविशेष से सुगत की बोलने की इच्छा के बिना भी स्पष्ट रूप से वचनों की प्रवृत्ति होती है ऐसा (यौगाचार के) कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इच्छा के बिना भी पूर्वोपार्जित पुण्य से मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाला वह बुद्ध क्या द्रव्य रूप से अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला अन्वयी द्रव्य है? अथवा अन्वय रहित होकर निरन्तर उत्पाद, व्यय स्वभाव वाला निरन्वयी द्रव्य? किंच, यदि द्रव्य रूप से बुद्ध को अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहने रूप अन्वय सहित मानते हो तो परमत (जैनमत) की सिद्धि होती है। क्योंकि पुण्यविशेष से शोभित द्रव्यार्थिक नय से अनादि अनन्त काल तक रहने वाला तथा इच्छा के बिना मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाला जिनेन्द्रदेव ही है।

सिद्धं परमतं तस्य सान्वयत्वे जिनत्वतः ।

प्रतिक्षणविनाशित्वे सर्वथार्थक्रियाक्षतिः ॥८८॥

न सान्वयः सुगतो येन तीर्थकरत्वभावनोपात्तात्तीर्थकरत्वनामकर्मणोऽतिशयवतः पुण्यादागमनक्षणं तीर्थं प्रवर्तयतोऽर्हतो विवक्षारहितस्य नामांतरकरणात् स्याद्वादिमतं सिद्धयेत् । नापि प्रतिक्षणविनाशी सुगतः क्षणे शास्ता येनास्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाक्षतिरापाद्यते ।

किं तर्हि? सुगतसंतानः शास्तेति यो ब्रूयात्तस्यापि स संतानः किमवस्तु वस्तु वा स्यात्? उभयत्रार्थक्रियाक्षतिपरमतसिद्धि तदवस्थे । तथाहि—

यदि बुद्ध को प्रतिक्षण विनाशशील निरन्वय मानोगे तो सर्वार्थक्रिया की क्षति (नाश) होगी । क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती । निरन्वय नाश होने वाला बुद्ध मोक्षमार्ग का उपदेश भी नहीं दे सकता । क्योंकि जो कालान्तर स्थायी होता है, वही उपदेश दे सकता है ॥८८॥

बौद्ध कहते हैं कि सुगत द्रव्य रूप से अनादि अनन्त काल तक रहने वाला अन्वयी नहीं है । क्योंकि ऐसा होता तो स्याद्वादियों का यह मन्तव्य सिद्ध हो जाता कि तीर्थकर प्रकृति का आस्रव कराने के कारण षोडशकारण भावनाओं के बल से उपार्जित तीर्थकर नामकर्म के माहात्म्य से उत्पन्न पुण्य के सामर्थ्य से बोलने की इच्छा के बिना भी मोक्षमार्ग के प्रतिपादक आगम रूपी तीर्थ की प्रवृत्ति कराते हुए अर्हन्त देव का ही दूसरा नाम बुद्ध कर दिया गया है तथा हम क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले निरन्वयी सुगत को एक ही क्षण में मोक्षमार्ग का उपदेश भी नहीं मानते हैं- जिससे क्रमशः या युगपत् अर्थक्रिया की क्षति का दोष आ सके ।

शंका- बौद्ध सुगत को कैसा मानते हैं?

उत्तर- बौद्ध दर्शन में “अनादि काल तक धाराप्रवाह रूप रहने वाली सुगत की संतान मोक्षमार्ग की शास्ता है” ऐसा स्वीकार किया है । जैनाचार्य कहते हैं कि- इस प्रकार जो (बौद्ध) कहता है, उसके भी वह सुगत की संतान वस्तु है वा अवस्तु है? दोनों पक्षों में ही अर्थक्रिया का अभाव है और जैनमत की सिद्धि पूर्व प्रकार से अवस्थित है अर्थात् सुगत की संतान को अवस्तु मानते हैं तो युगपत् वा क्रम से अर्थक्रिया नहीं हो सकती और यदि वस्तुभूत मानते हैं तो स्याद्वाद मत की सिद्धि हो जाती है ।

इसी कथन को पुनः स्पष्ट करते हैं—

संतानस्याप्यवस्तुत्वादन्यथात्मा तथोच्यताम् ।

कथंचिद्रव्यतादात्म्याद्विनाशस्तस्य संभवात् ॥८९॥

स्वयमपरामृष्टभेदाः पूर्वोत्तरक्षणाः संतान इति चेत् तर्हि तस्यावस्तुत्वादर्थक्रियाक्षतिः संतानिभ्यस्तत्त्वातत्त्वाभ्यामवाच्यत्वस्यावस्तुत्वेन व्यवस्थापनात् । संतानस्य वस्तुत्वे वा सिद्धं परमतमात्मनस्तथाभिधानात् । कथंचिद्रव्यतादात्म्येनैव पूर्वोत्तरक्षणानां संतानत्वासिद्धेः प्रत्यासत्त्यन्तरस्य व्यभिचारात्, तात्त्विकतानभ्युपगमाच्च ।

सन्तान वस्तुभूत है, अवस्तु नहीं

सन्तान के अवस्तु होने से (अनेक क्षणों में रहने वाले) पदार्थों का कालिक प्रत्यासत्ति से समूह नहीं बन सकता। अन्यथा (यदि संतान को क्षणध्वंसी न मानकर कालान्तर स्थायी मानेंगे तो) संतान शब्द से आत्मद्रव्य का ही कथन सिद्ध होता है। संतान आत्मा ही है, ऐसा कहना है और आत्मा का पूर्वापर क्षणों के साथ द्रव्य रूप से कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध के बिना संतान का विनाश संभव है। अथवा तादात्म्य सम्बन्ध के बिना संतान-चित् (आत्मा) की है ऐसा कहना संभव नहीं। (द्रव्य में गुण आदि का तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध से ही पूर्वापर परिणामों का अन्वय सिद्ध हो सकता है) ॥८९॥

बौद्ध कहता है कि प्रत्येक क्षणवर्ती परिणामों में परस्पर अत्यन्त भेद है, परन्तु स्थूल दृष्टि से स्वयं पूर्वापर भेदों का स्पर्श न करके क्षणिक परिणामों के समूह को संतान कह देते हैं। इस कथन का खण्डन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा माननेपर तो चित्त संतान के अवस्तु हो जाने से युगपत् अथवा क्रम से होने वाली अर्थक्रिया की क्षति (अभाव) होगी। अर्थात् जब संतान वस्तुभूत पदार्थ ही नहीं है तो उसमें अर्थक्रिया (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना) कैसे हो सकती है।

तथा सन्तानियों से भिन्न या अभिन्न होकर तद् या अतद्रूप से जिसका कथन नहीं किया जा सकता है अर्थात् 'यह इससे भिन्न है- या अभिन्न है, तद्रूप है वा अतद्रूप है' इस प्रकार जिसका कथन नहीं कर सकते हैं- उस अवाच्य को अवस्तु माना है। अर्थात् तुम्हारे मत में उसे अवस्तु रूप से व्यवस्थापित किया है।

सन्तान को वस्तु स्वीकार कर लेने पर जैनदर्शन की सिद्धि होती है। क्योंकि जैनदर्शन में पूर्वापर परिणामों में अन्वय रूप से द्रव्य के रहने को ही संतान माना है और वह वस्तुभूत पदार्थ है। क्योंकि कथंचित् द्रव्य तादात्म्य सम्बन्ध से अन्वित होने पर भी पूर्व-उत्तर क्षणों के संतानत्व की सिद्धि होती है। द्रव्यप्रत्यासत्ति को छोड़ कर अन्य काल प्रत्यासत्ति, क्षेत्र प्रत्यासत्ति, भाव प्रत्यासत्ति आदि के मानने पर व्यभिचार आता है। क्योंकि क्षेत्रप्रत्यासत्ति (एक क्षेत्र में पुद्गलादि छहों द्रव्य रहते हैं, उनमें संतानत्व नहीं है); कालप्रत्यासत्ति (एक काल में अनेक द्रव्यों का भिन्न-भिन्न परिणाम होता है। उनमें एकसंतानत्व नहीं है), भावप्रत्यासत्ति (सर्व सिद्धों का ज्ञान समान है, यह भावप्रत्यासत्ति है परन्तु उनमें एकसंतानत्व नहीं है), में एकसंतानत्व घटित नहीं होता है। अतः द्रव्य प्रत्यासत्ति से अतिरिक्त क्षेत्र, काल, भाव प्रत्यासत्ति में संतानत्व में व्यभिचार आता है। तथा क्षेत्र, काल और भाव प्रत्यासत्ति को वास्तविक स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए कथंचित् द्रव्यप्रत्यासत्ति से तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोत्तर क्षणों के सन्तान की सिद्धि है।

पूर्वकालविवक्षातो नष्टाया अपि तत्त्वतः ।

सुगतस्य प्रवर्तते वाच इत्यपरे विदुः ॥९०॥

यथा जाग्रद्विज्ञानात्रष्टादपि प्रबुद्धविज्ञानं दृष्टं तथा नष्टायाः पूर्वविवक्षायाः सुगतस्य वाचोऽपि प्रवर्तमानाः संभाव्या इति चेत्—

तेषां संवासनं नष्टं कल्पनाजालमर्थकृत् ।

कथं न युक्तिमध्यास्ते शुद्धस्यातिप्रसंगतः ॥९१॥

यत्संवासनं नष्टं तत्र कार्यकारि यथात्मीयाभिनिवेशलक्षणं कल्पनाजालं । सुगतस्य संवासनं नष्टं च विवक्षाख्याकल्पनाजालमिति न पूर्वविवक्षातोऽस्य वाग्वृत्तिर्युक्तिमधिवसति । जाग्रद्विज्ञानेन

नष्ट विवक्षा कार्यकारी नहीं होती

सौत्रान्तिक बौद्ध कहते हैं कि वस्तुतः नष्ट हुई भी पूर्वकालीन बोलने की इच्छा से सुगत के वचन की प्रवृत्ति होती है ॥९०॥

जिस प्रकार नष्ट हुए भी जाग्रद् विज्ञान (जाग्रत अवस्था के ज्ञान) से प्रबुद्ध ज्ञान देखा जाता है अर्थात् जैसे जाग्रत अवस्था का ज्ञान सुप्त अवस्था में नष्ट हो जाता है परन्तु वह नष्ट हुआ भी ज्ञान पुनः प्रबुद्ध अवस्था में देखा जाता है, उसी प्रकार नष्ट हुई भी पूर्वकालीन बोलने की इच्छा सुगत के वचन की प्रवर्तमानक सम्भव है। इस प्रकार कहने वाले बौद्धों के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि उन बौद्धों के वासना सहित नष्ट हुआ विवक्षा (बोलने की इच्छा) रूप कल्पना का समूह अर्थ को करने वाला कैसे हो सकता है? अर्थात् वह नष्ट हुई विवक्षा किसी भी कार्य को करने वाली नहीं है। विवक्षा नामक कल्पनाओं के संस्कार सहित नष्ट हो जाने पर वह पूर्वकालीन विवक्षा सुगत के वचन की प्रवृत्ति में युक्त कैसे हो सकती है। यदि कल्पनारहित शुद्ध पदार्थ के भी वचनों की प्रवृत्ति मानेंगे तो शुद्ध आकाश, परमाणु आदि के भी वचन प्रवृत्ति का प्रसंग आयेगा ॥९१॥

तथा जो कल्पनाजाल वासना सहित नष्ट हो गया है वह कुछ भी कार्यकारी नहीं होता है। जैसे धन, पुत्र, कलत्र आदि अनात्मीय पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार के मिथ्याभिनिवेश (अतत्त्व श्रद्धान) लक्षण कल्पनाजाल के वासना सहित नष्ट हो जाने पर सुगत के जीवनमुक्त अवस्था में वह मिथ्याभिनिवेश कल्पनाजाल कुछ नहीं करता है, पुनः उत्पन्न नहीं होता है; उसी प्रकार वासनासहित नष्ट हुआ विवक्षा (बोलने की इच्छा) नामक कल्पनाजाल भी पूर्ण विवक्षा से सुगत के वाक् (वचन) प्रवृत्ति की युक्ति को सिद्ध नहीं कर सकता है। अर्थात् पूर्वकाल की विवक्षा से बुद्ध वचन में प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

(बौद्ध कहते हैं कि) यदि नष्ट हुआ ज्ञान कार्यकारी नहीं है तो फिर सुप्त अवस्था में नष्ट हुआ ज्ञान जाग्रत अवस्था में कार्यकारी कैसे है? अतः यह हेतु जाग्रत अवस्था के ज्ञान के साथ व्यभिचारी है (आचार्य कहते हैं-) ऐसा भी कहना उचित नहीं है- क्योंकि हेतु का विशेषण वासना सहितपना दिया है। स्वप्न अवस्था में ज्ञान वासनासहित नष्ट नहीं होता है, अतः जाग्रत अवस्था में पुनः वासना के प्रगट हो जाने पर वह पूर्वज्ञान अपने कार्य को करने में समर्थ हो जाता है। अन्यथा यदि वासनासहित नष्ट हुए ज्ञान को वासना के प्रकट हुए बिना भी कार्य करने वाला मानेंगे तो अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् पूर्वकालीन मिथ्याभिनिवेशलक्षण जो कल्पनाजाल है (पुत्र-पौत्रादिक मेरे हैं, यह मिथ्याभिनिवेश है) वह भी मुक्त अवस्था में कार्यकारी होगा।

व्यभिचारी हेतुरिति चेत् । न । सवासनग्रहणात् । तस्य हि वासनाप्रबोधे सति स्वकार्यकारित्वमन्यथातिप्रसंगात् । सुगतस्य विवक्षा वासनाप्रबोधोपगमे तु विवक्षोत्पत्तिप्रसक्तेः कुतोऽत्यंतं कल्पनाविलयः? स्यान्मतं । “सुगतवाचो विवक्षापूर्विका वाक्त्वादस्मदादिवाम्बत् । तद्विवक्षा च बुद्धदशायां न संभवति, तत्संभवे बुद्धत्वविरोधात् । सामर्थ्यात् पूर्वकालभाविनी विवक्षा वाग्वृत्तिकारणं गोत्रस्खलनवदिति । तदयुक्तम् । गोत्रस्खलनस्य तत्कालविवक्षापूर्वकत्वप्रतीतेः, तद्धि पद्यावतीतिवचनकाले वासवदत्तेतिवचनं । न च वासवदत्ताविवक्षा तद्वचनहेतुरन्यदा च तद्वचनमिति युक्तं ।

प्रथमं पद्यावतीविवक्षा हि वत्सराजस्य जाता तदनंतरमाश्लेषात्यंताभ्यासवशाद्वासवदत्ताविवक्षा तद्वचनं चेति सर्वजनप्रसिद्धं । कथमन्यथान्यमनस्केन

अथवा, यदि बुद्ध के पूर्वकालीन विवक्षा नामक कल्पनाओं की वासना का उत्पन्न होना मानेंगे तो सुगत के विवक्षा स्वरूप विकल्प ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा । अतः सम्पूर्ण रूप से कल्पनाओं का नाश होना सुगत के कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् कल्पनाओं का अत्यंत नाश सुगत के कैसे भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

सुगत के वचन, बोलने की इच्छापूर्वक ही होते हैं क्योंकि वे वचन हैं; जैसे हमारे वचन इच्छापूर्वक बोले जाते हैं । परन्तु बुद्ध अवस्था में विचारपूर्वक (इच्छापूर्वक) बोलना सम्भव नहीं है । यदि बुद्ध अवस्था में कल्पनाज्ञानों की सम्भावना होगी तो बुद्धत्व का विरोध आयेगा । क्योंकि बुद्ध कल्पनाजाल से रहित निर्विकल्प होता है, अतः कल्पनाज्ञान के सद्भाव में बुद्ध अवस्था कैसे रह सकती है? (बौद्ध कहते हैं-) परन्तु जैसे गोत्रस्खलन^१ में इच्छा के बिना भी मुख से कुछ शब्द निकल जाते हैं, उसी प्रकार कार्यकारण शक्ति के सामर्थ्य से पूर्वकालीन विवक्षा सुगत की वचनप्रवृत्ति का कारण है । यद्यपि इस समय बुद्ध के बोलने की इच्छा नहीं है- फिर भी पूर्व संस्कार के कारण वचन में प्रवृत्ति होती है । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्ध का कथन करना, पूर्वकालीन विवक्षा के संस्कार से सुगत के वचनप्रवृत्ति का समर्थन करना युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि गोत्रस्खलन में होने वाली वचनप्रवृत्ति में उसी काल में व्यवधान रहित पूर्व विवक्षा को कारणपना प्रतीत हो रहा है । अर्थात् गोत्रस्खलन में पूर्वविवक्षा वर्तमान काल में प्रतीत हो रही है । क्योंकि ‘पद्यावती’ इस शब्द को बोलने की अभिलाषा में ‘वासवदत्ता’ यह शब्द गोत्रस्खलन में निकलता है । इसमें वासवदत्ता की विवक्षा उस वचन की हेतु है ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि वत्स राजा के पूर्व में पद्यावती कहने की इच्छा थी परन्तु उसके बाद पूर्व अभ्यास के कारण शीघ्र ही ‘वासवदत्ता’ शब्द मुख से निकल गया । यह सर्वजनप्रसिद्ध है । अन्यथा- (ऐसा न मानकर अन्य प्रकार से माना जायेगा तो) यह निर्णय कैसे होता है कि “अन्यमनस्क (चित्तस्थिर न होने से) मैंने प्रस्ताव प्राप्त प्रकृत विषय का उल्लंघन करके अन्य (दूसरी) बात कह दी । (बोलना कुछ और चाहता था, परन्तु ध्यान नहीं रहने से मुख से कुछ दूसरा शब्द निकल गया है) इच्छा के बिना इस प्रकार कथन का ज्ञान कैसे हो सकेगा । (अतः सिद्ध है कि जो शब्द निकलते हैं उनकी इच्छा शीघ्र ही अव्यवहित पूर्वकाल में

१. कभी-कभी बोलना कुछ और चाहते हैं, पर मुख से शब्द दूसरे निकल जाते हैं, उसको गोत्रस्खलन कहते हैं । जैसे नाम लेना चाहते थे जिनदत्त का और मुख से निकल गया देवदत्त ।

मया प्रस्तुतातिक्रमेणान्यदुक्तमिति संप्रत्ययः स्यात्। तथा च कथमतीतविवक्षापूर्वकत्वे सुगतवचनस्य गोत्रस्खलनमुदाहरणं येन विवक्षामंतरेणैव सुगतवाचो न प्रवर्तेरन्। सुषुप्तवचोवत् प्रकारांतरासंभवात्। न हि सुषुप्तस्य सुषुप्तदशायां विवक्षासंवेदनमस्ति तदभावप्रसंगात्। पश्चादनुमानांतरविवक्षासंवेदनमिति चेत्। न। लिंगाभावात्। वचनादिलिंगमिति चेत्, सुषुप्तवचनादिजाग्रद्वचनादिर्वा? प्रथमपक्षे व्याप्त्यसिद्धिः; स्वतः परतो वा सुषुप्तवचनादेर्विवक्षापूर्वकत्वेन प्रतिपत्तुमशक्तेः। जाग्रद्वचनादिस्तु

उत्पन्न हो चुकी है, तभी तो कार्य हुआ।) यह सिद्ध होने पर अतीत (भूतकालीन) इच्छा पूर्वकत्व होने पर सुगत के वचन के गोत्रस्खलन का उदाहरण कैसे घटित हो सकता है? जिससे कि विवक्षा के बिना भी सुगत के वचन प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे अर्थात् जैसे सुप्त पुरुष के वचन बिना इच्छा के निकलते हैं, उसी प्रकार बिना इच्छा के सुगत के वचन भी प्रवृत्त होते हैं। ऐसा मान लेना चाहिए। अन्य कोई प्रकार सम्भव नहीं है।

सुप्तावस्था में विवक्षा का संवेदन नहीं

सुप्त पुरुष के सुप्त अवस्था में विवक्षा का संवेदन भी नहीं है। जब इच्छा होती है तो इच्छा का संवेदन अवश्य होता है। अतः संवेदन का अभाव होने से स्वप्नदशा में बोलने की इच्छा का अभाव है अर्थात् इच्छा का वेदन करना जाग्रत अवस्था का काम है।

शयन करके उठने के पश्चात् दूसरे अनुमानों से बोलने की इच्छा का संवेदन होता है, ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि सुप्त अवस्था में होने वाली जीव की वचनप्रवृत्ति को अनुमान प्रमाण से इच्छापूर्वकपना सिद्ध करने वाले हेतु का अभाव है।

यदि कहते हो कि सुप्तावस्था में वचन की प्रवृत्ति ही इच्छा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला हेतु है, तो जैनाचार्य कहते हैं कि सुप्तावस्था के वचन आदि इच्छा के द्योतक हेतु हैं कि जाग्रत अवस्था के वचनादि इच्छा के प्रकाशक हैं? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर व्याप्ति की सिद्धि नहीं है। क्योंकि सुप्त पुरुष के वचन आदिक इच्छापूर्वक ही होते हैं, इस व्याप्ति को स्वतः या परतः (दूसरे के द्वारा) समझना (जानना) शक्य नहीं है। अर्थात् सुप्त पुरुष उस व्याप्ति को कैसे ग्रहण करेगा, वह तो गाढ़ निद्रा में अचेत है। तथा जाग्रत पुरुष भी सुप्त पुरुष के वचन की प्रवृत्ति इच्छापूर्वक है, यह कैसे जान सकता है अर्थात् नहीं जान सकता।

द्वितीय पक्ष 'जाग्रत अवस्था के वचन और चेष्टा से, सोये हुए पुरुष के वचन भी इच्छापूर्वक होते हैं, यह सिद्ध हो जाता है।' बौद्धों के द्वारा कथित यह हेतु भी साध्य (सुप्त पुरुष के वचन इच्छापूर्वक होते हैं) का गमक (ज्ञान कराने वाला) नहीं है। क्योंकि जाग्रत अवस्था का वचन रूप हेतु सुप्तावस्था में बोलने की इच्छा सिद्ध करने में समर्थ नहीं है।

न सुषुप्तविवक्षापूर्वको दृष्ट इति तदगमक एव । सन्निवेशादिवज्जगत्कृतकत्वसाधने यादृशमभिनवकूपादीनां सन्निवेशादि-धीमत्कारणकं दृष्टं तादृशमदृष्टधीमत्कारणानामपि जीर्णकूपादीनां तद्रमकं नान्यादृशानां भूधरादीनामिति ब्रुवाणो यादृशां जाग्रदादीनां विवक्षापूर्वकं वचनादि दृष्टं तादृशमेव देशान्तरादिवर्तिनां तत्तद्रमकं नान्यादृशां सुषुप्तादीनामिति कथं न प्रतिपद्यते । तथा प्रतिपत्तौ च न सुगतस्य विवक्षापूर्विका वाग्वृत्तिः साक्षात्परंपरया वा शुद्धस्य विवक्षापायादन्यथातिप्रसंगात् ।

सान्निध्यमात्रतस्तस्य चिन्तारत्नोपमस्य चेत् ।

कुट्यादिभ्योपि वाचः स्युर्विनेयजनसंमताः ॥१२॥

अथवा- यदि इस प्रकार साध्य के साथ अविनाभाव रहित हेतु भी साध्य को सिद्ध करेगा-तब तो नैयायिकों के द्वारा ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध करने के लिए दिये गये विशिष्ट सन्निवेश, कार्यत्व और अचेतनोपादानत्व हेतु भी समीचीन हो जायेंगे । नैयायिक कहते हैं कि जैसे नूतन कुएं, घर आदि को किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित देखकर पुराने कूप आदि में भी अनुमान लगाया जाता है कि यह भी किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित है, उसी प्रकार पर्वत, सूर्य, भूमि आदि सभी दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थों का रचयिता ईश्वर है । क्योंकि पृथ्वी आदि कार्य हैं और इनके उपादान कारण अचेतन परमाणु हैं । वे परमाणु किसी समीचीन प्रयोक्ता के बिना समुचित कार्य नहीं कर सकते और शरीर आदि में चेतन के द्वारा की गई विलक्षण रचना देखी जाती है । इस प्रकार नैयायिक के द्वारा प्रयुक्त तीन हेतुओं को बौद्ध गमक नहीं मानते हैं, प्रत्युत जगत के कर्तापन का खण्डन करते हैं ।

जिस प्रकार नवीन कूप आदि का सन्निवेश किसी बुद्धिमान के द्वारा कृत देखा जाता है, उसी प्रकार अदृष्ट बुद्धिमान कर्ता वाले जीर्ण कूपादिक की रचनाविशेष बुद्धिमान कर्ता की सिद्धि करा देती है । किन्तु जीर्ण कूपादिक से विलक्षण पर्वत आदि में कर्ता का ज्ञान नहीं करा सकते । इस प्रकार कहने वाले बौद्ध "जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में मनुष्यादिक के विवक्षापूर्वक वचन देखे जाते हैं, उसी प्रकार देशान्तर और कालान्तर स्थायी मनुष्य आदि में होने वाले वचनों की प्रवृत्ति इच्छापूर्वक हो सकती है, इसका यह हेतु गमक हो सकता है । परन्तु इनसे सर्वथा भिन्न सुप्त आदि मनुष्यों के वचन विवक्षापूर्वक होते हैं, ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते हैं ।

जिस प्रकार सुप्त पुरुष के वचन इच्छारहित होते हैं ऐसा ज्ञान हो जाने पर सुगत की साक्षात् या परम्परा से इच्छापूर्वक वचनप्रवृत्ति नहीं होती है, यह स्वीकार करना चाहिए । क्योंकि शुद्ध बुद्ध के इच्छा का अभाव है । अन्यथा (बुद्ध के इच्छा का अभाव नहीं मानने पर) अतिप्रसंग दोष आता है । अर्थात् मुक्त जीव के और आकाश के भी इच्छा उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा ।

सुगत की वचन प्रवृत्ति शिष्य-सान्निध्य से नहीं होती

बौद्ध का कथन है कि "सुगत के वचन इच्छापूर्वक नहीं हैं, अपितु चिन्तामणि रत्न के समान शिष्यों के सान्निध्य मात्र से बुद्ध के वचनों की प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाती है । अर्थात्- जिस प्रकार चिन्तामणि के सान्निध्य से चिंतित वस्तु की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है, चिन्तामणि इच्छापूर्वक वस्तु प्रदान नहीं करती है; उसी प्रकार सुगत की इच्छा नहीं होते हुए भी सान्निध्य से स्वयमेव वचनों की प्रवृत्ति हो जाती है । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो सुगत के सान्निध्य से भित्ति, झोंपड़ी आदि से भी विनययुक्त शिष्यजनों के सम्मत (उपयोगी) वचन निकलने चाहिए ॥१२॥

सत्यं न सुगतस्य वाचो विवक्षापूर्विकास्तत्सन्निधानमात्रात् कुट्यादिभ्योऽपि यथा-
प्रतिपत्तुरभिप्रायं तदुद्धूतेश्चिन्तारत्नोपमत्वासुगतस्य । तदुक्तं । “चिन्तारत्नोपमानो जगति विजयते
विश्वरूपोऽप्यरूपः” इति केचित् । ते कथमीश्वरस्यापि सन्निधानाजगदुद्धवतीति प्रतिषेद्धुं समर्थाः,
सुगतेश्वरयोरनुपकारकत्वादिना सर्वथा विशेषाभावात् । तथाहि—

किमेवमीश्वरस्यापि सांनिध्याजगदुद्धवत् ।

निषिध्यते तदा चैव प्राणिनां भोगभूतये ॥१३॥

सर्वथानुपकारित्वान्नित्यस्येशस्य तत्र चेत् ।

सुगतस्योपकारित्वं देशनासु किमस्ति ते ॥१४॥

तद्भावभावितामात्रात् तस्य ता इति चेन्मतम् ।

पिशाचादेस्तथैवैताः किं न स्युरविशेषतः ॥१५॥

सुगत के वचन इच्छापूर्वक नहीं होते हैं, यह कथन तो सत्य है। परन्तु उस सुगत के सान्निध्य मात्र से शिष्यजनों के अभिप्राय के अनुसार भित्ति आदि से भी वचन निकल जाते हैं। क्योंकि सुगत भगवान् चिन्तामणि रत्न के समान है। सो ही कहा है- “चिन्तामणि रत्न के समान वह सुगत जगत में जयवन्त रहे जो विश्वरूप होकर भी स्वयं रूपरहित है” वह स्वयं इच्छारहित है परन्तु सर्व संसारी प्राणियों को इच्छानुसार फल देने वाला है। जैसे स्वयं इच्छारहित चिन्तामणि चितित फल को देने वाली है, ऐसा कोई (बौद्ध) कहते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाले बौद्ध “ईश्वर के सान्निध्यमात्र से जगत् उत्पन्न हो जाता है” इस प्रकार के नैयायिक के सिद्धान्त का खण्डन करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? क्योंकि जैसे सुगत के सान्निध्य मात्र से भित्ति से भी वचन निकल जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के सान्निध्य से जगत् उत्पन्न हो जाता है। जैसे सुगत का जगत् के प्राणियों के साथ उपकृत-उपकारक भाव नहीं है, उसी प्रकार कूटस्थ नित्य ईश्वर का जगत् के साथ कोई उपकारक और उपकार्य भाव नहीं है। अतः सुगत के सान्निध्य से वचन की प्रवृत्ति होना और ईश्वर के सान्निध्य से जगत् का उत्पन्न होना-इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् इन दोनों में विशेषता का अभाव है।

तथाहि- जिस प्रकार सुगत के सान्निध्य से वचन उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के सान्निध्य से जगत् उत्पन्न होता है। बौद्धों के द्वारा इसका निषेध क्यों किया जाता है। तथा प्राणियों के द्वारा कृत पुण्य-पाप का फल देने के लिए उस समय ईश्वर उत्पन्न होता है और ईश्वर के सान्निध्य का निमित्त पाकर जगत् उत्पन्न होता है, इसका निषेध क्यों किया जाता है ॥१३॥

यदि कहो कि- सर्वथा अनुपकारी होने से कूटस्थ नित्य ईश्वर के सान्निध्य से जगत् का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है, तो क्षणवर्ती सुगत की देशना में उपकारीपना कैसे हो सकता है। जैसे नित्य ईश्वर जगत् का कर्ता सिद्ध नहीं होता है, वैसे क्षणिकवर्ती सुगत भी मोक्षमार्ग का उपदेष्टा नहीं हो सकता है ॥१४॥

सुगत के होने पर मोक्षमार्ग की देशना होती है, इस अकेले भावभावविमात्र से सुगत के मोक्षमार्ग की देशना स्वीकार करते हो तो उस भाव मात्र-पिशाच आदि की मौजूदगी से देशना स्वीकार क्यों नहीं की जाती है। क्योंकि भाव हेतु दोनों में समान है, कोई विशेषता नहीं है ॥१५॥

तस्यादृश्यस्य तद्धेतुभावनिश्चित्यसंभवे ।

सुगतः किं न दृश्यस्ते यैनासौ तन्निबन्धनम् ॥९६॥

ततोऽनाश्वास एवैतद्देशनासु परीक्षया ।

सतां प्रवर्तमानानामिति कैश्चित्सुभाषितम् ॥९७॥

तदेवं न सुगतो मार्गस्योपदेष्टा प्रमाणत्वाभावादीश्वरवत् । न प्रमाणमसौ तत्त्वपरिच्छेदकत्वाभावात्तद्वत् । न तत्त्वपरिच्छेदकोऽसौ सर्वथार्थक्रियारहितत्वात्तद्वदेव । न वार्थक्रियारहितत्वमसिद्धं क्षणिकस्य क्रमाक्रमाभ्यां तद्विरोधान्नित्यवत् । स्यान्मतं । संवृत्त्यैव सुगतः शास्ता मार्गस्येष्यते न वस्तुतश्चित्राद्वैतस्य सुगतत्वादिति । तदसत् । सुतरां तस्य शास्तृत्वायोगात् । तथाहि—

बौद्ध कहते हैं कि-“वे पिशाच आदि अदृश्य हैं, दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, अतः केवल भाव से उन पिशाच आदिकों के उपदेशकारणता का निश्चय करना संभव नहीं है” । इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि- “सुगत क्या देखने में आता है, जिससे सुगत को मोक्षमार्ग के उपदेश का कारण मानते हो” अर्थात् पिशाच आदि के समान दृष्टिगोचर नहीं होने से सुगत भी देशना का कारण नहीं हो सकता है ॥९६॥

इससे यह निश्चय होता है कि “परीक्षा करके प्रवृत्ति करने वाले सज्जनों को बुद्ध के इन उपदेशों में विश्वास नहीं करना चाहिए । इस प्रकार (बौद्धों के प्रति) किसी के द्वारा कथित यह सुभाषित है (शोभनीय कथन है) ॥९७॥

सुगत तत्त्वों का यथार्थ ज्ञाता नहीं है अतः वह मोक्षमार्ग का उपदेष्टा भी नहीं है

जगत् सृष्टिकर्ता ईश्वर की सिद्धि के समान प्रमाण का अभाव होने से सुगत मोक्षमार्ग का उपदेष्टा सिद्ध नहीं हो सकता । इस अनुमान में प्रयुक्त प्रमाणत्वाभाव हेतु असिद्ध नहीं है । क्योंकि तत्त्वों के परिच्छेदक (समीचीन ज्ञान कराने) का अभाव होने से सुगत प्रामाणिक नहीं है । जैसे तत्त्वों का समीचीन ज्ञान कराने वाला नहीं होने से ईश्वर प्रामाणिक नहीं है ।

सुगत तत्त्वों को यथार्थ रूप से जानने वाला नहीं है, क्योंकि सुगत सर्वथा जानने रूप अर्थक्रियाओं से रहित है । जैसे कि नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत तत्त्वों को यथार्थ जानने वाला ईश्वर नहीं है । तथा इस अनुमान में दिया गया अर्थक्रियारहितत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है । क्योंकि सर्वथा क्षणिक पदार्थ में क्रम और युगपत् अर्थक्रियाओं के होने का वैसे ही विरोध है, जैसे सर्वथा नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं होती है । पूर्व स्वभाव का त्याग, उत्तर स्वभाव का ग्रहण और द्रव्य रूप से या स्थूल पर्याय से स्थिर रहे बिना अर्थक्रिया नहीं हो सकती ।

चित्राद्वैत (चित्र विचित्र ज्ञान का अद्वैत मानने वाला) बौद्ध कहता है कि हमने संवृत्ति (व्यवहार) से ही सुगत को मोक्षमार्ग का उपदेष्टा स्वीकार किया है, परमार्थ से नहीं, क्योंकि परमार्थ से सारा संसार विचित्र ज्ञानस्वरूप है तथा चित्राद्वैत के ही सुगतपना है और बुद्ध चित्राद्वैत स्वरूप हैं । जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चित्राद्वैत का कहना असत् है (प्रशंसनीय नहीं है) क्योंकि प्रयत्न के बिना स्वयमेव चित्राद्वैत के शास्तापने का अयोग्य है । अर्थात् चित्राद्वैत सुगत मोक्षमार्ग का उपदेष्टा नहीं हो सकता ।^१ वही कहते हैं—

१. नाना आकार वाले ज्ञान को ही मानना और किसी वस्तु को नहीं मानना चित्राद्वैतवाद है । ग्राह्य, ग्राहक भाव से रहित शुद्ध ज्ञान का ही प्रकाश मानने वाले शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी हैं । ज्ञान, ज्ञेय आदि कुछ भी नहीं है, सभी का अभाव मानने वाला शून्याद्वैतवादी है ।

चित्राद्यद्वैतवादे च दूरे सन्मार्गदेशना ।

प्रत्यक्षादिविरोधश्च भेदस्यैव प्रसिद्धितः ॥९८॥

परमार्थतश्चित्राद्वैतं तावन्न संभवत्येव चित्रस्याद्वैतत्वविरोधात् । तद्वद्बहिरर्थस्याप्यन्यथानानैकत्वसिद्धेः । स्यान्मतं । चित्राकाराप्येका बुद्धिर्बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं हि बाह्यचित्रमशक्यविवेचना स्वबुद्धेर्नीलाद्याकारा इति । तदसत् । बाह्यद्रव्यस्य चित्रपर्यायात्मकस्याशक्यविवेचनत्वाविशेषाच्चित्रैकरूपतापत्तेः । यथैव हि ज्ञानस्याकारास्ततो विवेचयितुमशक्यास्तथा पुद्गलादेरपि रूपादयः । नानारत्नराशौ बाह्ये पद्मरागमणिरयं चंद्रकांतमणिश्चायमिति विवेचनं प्रतीतमेवेति चेत् । तर्हि नीलाद्याकारैकज्ञानेऽपि नीलाकारोऽयं

चित्रादि अद्वैतवाद में सन्मार्ग की देशना देना कोसों दूर है । अर्थात् उनके सन्मार्ग की देशना घटित नहीं होती है । क्योंकि अद्वैतवाद में उपदेशक, उपदेश सुनने वाले और उपदेश के लिए उच्चरित शब्दों की व्यवस्था नहीं हो सकती है तथा उपदेशक आदि के भेद की प्रतीति प्रसिद्ध है- अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा चित्रादि अद्वैतों की सिद्धि में विरोध भी आता है । अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण से भेद की प्रतीति प्रामाणिक है, चित्रादि अद्वैत प्रामाणिक नहीं है ॥९८॥

परमार्थ से चित्रादि अद्वैत का होना संभव ही नहीं है, क्योंकि चित्र के अद्वैत का विरोध है अर्थात् चित्र का अर्थ नाना या अनेक है और अद्वैत का अर्थ एक है- अतः चित्र को अद्वैत कहना स्ववचनबाधित है । उसी के (चित्र के) समान बहिरंग पदार्थों की भिन्नता (द्वैतता) प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है । अन्यथा (बहिरंग पदार्थों में द्वैत स्वीकार नहीं करने पर) नाना पदार्थों में एकत्व की सिद्धि होगी जो प्रत्यक्षविरुद्ध है ।

चित्राद्वैतवादी कहता है कि- 'अनेक आकारों को धारण करने वाली चित्रबुद्धि भी एक (अद्वैत) है । क्योंकि बुद्धि में बहिरंग विचित्र आकारों की विलक्षणता से अनेकत्व है । क्योंकि बाह्य चित्रों का विवेचन (पृथक्त्व) करना शक्य है । परन्तु स्वबुद्धि से नीलादि आकारों को पृथक् करना शक्य नहीं है । अर्थात् बाह्य घट-पट आदि पदार्थ बुद्धि से पृथक् किये जा सकते हैं परन्तु स्वलक्षण नीलादि आकार बुद्धि से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं । अतः चित्राकार से युक्त बुद्धि एक है । अब जैनाचार्य कहते हैं कि चित्राद्वैतवादी का यह कथन असत् (प्रशंसनीय नहीं) है । क्योंकि- नीलादि स्वलक्षण रूप अन्तरंग आकार को बुद्धि से पृथक् करना जैसे शक्य नहीं है उसी प्रकार चित्रपर्यायात्मक बाह्य द्रव्य का भी बुद्धि से पृथक् करना अशक्य है । क्योंकि बाह्य द्रव्य के आकार में और स्वलक्षण आकार में कोई विशेषता नहीं है । तथा रूपादिक को पुद्गल आदि से पृथक् करना शक्य नहीं है । क्या इतने मात्र से चित्राद्वैत की सिद्धि हो सकती है अर्थात् नहीं ।

चित्राद्वैतवादी कहता है कि बाह्य नाना रत्नराशि में "यह पद्मरागमणि है और यह चन्द्रकान्तमणि है" इस प्रकार का विवेचन (पृथक्त्व) प्रतीत होता ही है । जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने पर तो नीलादि आकार ज्ञान में भी 'यह नीलाकार है, यह पीताकार है' इस प्रकार विवेचन करना क्या प्रतीत नहीं होता है? अर्थात् चित्रज्ञान में भी भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है ।

पीताकारशायमिति विवेचनं किं न प्रतीतं? चित्रप्रतिभासकाले तत्र प्रतीयत एव पश्चात् नीलाद्याभासानि ज्ञानान्तराण्यविद्योदयाद्विवेकेन प्रतीयंत इति चेत्। तर्हि मणिराशिप्रतिभासकाले पद्मरागादिविवेचनं न प्रतीयत एव, पश्चात् तत्प्रतीतिरविद्योदयादिति शक्यं वक्तुं। मणिराशेर्देशभेदेन विभजनं विवेचनमिति चेत्। भिन्नज्ञानसंतानराशेः समं। एकज्ञानाकारेषु तदभाव इति चेत्। एकमण्याकारेष्वपि। मणेरैकस्य खंडने तदाकारेषु तदस्तीति चेत्। ज्ञानस्यैकस्य खंडने समानं। पराण्येव ज्ञानानि तत्खंडने तथेति चेत्। पराण्येव मणिखंडद्रव्याणि मणिखंडने तानीति समानम्। नन्वेवं विचित्रज्ञानं विवेचयन्नर्थे पततीति तदविवेचनमेवेति चेत्। तर्हि एकत्वपरिणत-द्रव्याकारानेवं

चित्रप्रतिभास काल में नीलादि का पृथक्-पृथक् प्रतिभास नहीं होता है, अपितु पश्चात् मिथ्यावासनाजन्य अविद्या के उदय से नीलादि पृथक्-पृथक् अवभासित ज्ञानान्तरों का पृथक्त्व प्रतीत होता है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो “मणिराशि के प्रतिभासकाल में यह पद्मरागमणि है, यह चन्द्रकान्तमणि है, इस प्रकार विवेचन प्रतीत नहीं होता है अपितु पश्चात् अविद्या के कारण पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है” ऐसा हम भी कह सकते हैं।

यदि कहो कि मणिराशि के देशभेद के विभाजन से विवेचन (पृथक्त्व) है? तब तो हम (जैनाचार्य) भी कह सकते हैं कि भिन्न ज्ञान सन्तान समुदाय की अपेक्षा स्वलक्षण ज्ञान में देशभेद से पृथक्त्व हो सकता है। अर्थात् जिनदत्त के स्वलक्षण निर्विकल्प ज्ञान का देश भिन्न है और देवदत्त का भिन्न है। अतः देश विवेचन की अपेक्षा भी बाह्य पदार्थ में और अंतरंग पदार्थ में समानता ही है।

यदि कहो कि एक ज्ञान के आकारों में तो भेद का अभाव है तो जैन भी कहते हैं कि एक मणि के आकारों में भी पृथक् भाव नहीं है। (परस्पर सन्निधान होने पर निमित्त नैमित्तिक भाव से एक मणि की भी इन्द्रधनुष के समान अनेक दीप्तियाँ हो जाती हैं)।

एक मणि के टुकड़े करने पर उसके अनेक आकारों की प्रतीति होती है? ऐसा कहने पर तो हम भी कह सकते हैं कि एक चित्रज्ञान के खण्ड करने पर ‘यह नीलाकार है’ और ‘यह पीताकार है’ यह भेद भी किया जा सकता है। अतः मणि का दृष्टान्त समान ही है।

यदि कहो कि चित्रज्ञान का खण्ड करने पर वैसे ही दूसरे अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं? तो हम भी कह सकते हैं कि मणि के खण्ड करने पर भी वे भिन्न-भिन्न मणिद्रव्य के खण्ड दूसरे-दूसरे ही बन गये हैं इस कथन में भी दोनों में समानता है।

शंका- यदि इस प्रकार विचित्रज्ञान को पृथक् करते हैं तो वह खण्ड करना ज्ञान के विषयभूत पदार्थों में ही है, चित्रज्ञान के आकारों में भेदकरण नहीं है।

उत्तर- इस प्रकार तो मणि के अवयवों से एकत्वरूप बन्ध को प्राप्त मणिद्रव्य के आकारों का विवेचन करना मणिखण्ड रूप नाना द्रव्यों के आकारों में होगा-एक मणि के उन आकारों में भेदकरण

विवेचयन्नानाद्रव्याकारेषु पततीति तदविवेचनमस्तु। ततो यथैकज्ञानाकाराणामशक्यविवेचनत्वं तथैकपुद्गलादिद्रव्याकाराणामपीति ज्ञानवद्बाह्यमपि चित्रं सिद्ध्यत्कथं प्रतिषेध्यं येन चित्राद्वैतं सिद्ध्येत्। न च सिद्धेऽपि तस्मिन्। मार्गोपदेशनास्ति, तत्त्वतो मोक्षतन्मागदिरभावात्। संवेदनाद्वैते तदभावोऽनेन निषेदितः। प्रत्यक्षादिभिर्भेदप्रसिद्धेः। तद्विरुद्धं च चित्राद्यद्वैतमिति सुगतमतादन्य एवोपशमविधेमार्गः सिद्धः। ततो न सुगतस्तत्प्रणेता ब्रह्मवत्।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च मोचकः।

न बन्धोऽस्ति न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥१९१॥

न ब्रह्मवादिनां सिद्धा विज्ञानाद्वैतवत्स्वयम्।

नित्यसर्वगतैकात्माप्रसिद्धेः परतोऽपि वा ॥१९०॥

न हि नित्यादिरूपस्य ब्रह्मणः स्वतः सिद्धिः क्षणिकानंशसंवेदनवत्। नापि परतस्तस्यानिष्टेः।

नहीं हो सकता। अतः मणि का भी विवेचन करना अशक्य होगा। इसलिए जिस प्रकार एक ज्ञान के आकारों का भेद करना शक्य नहीं है उसी प्रकार एक पुद्गल या आत्मा आदि द्रव्य के रूप, रस, आदिक या ज्ञान सुख आदि आकारों का भी भेदकरण नहीं हो सकता। तथा च अंतरंग ज्ञान के चित्राद्वैत के समान, बहिरंग रूपाद्वैत, रसाद्वैत, शब्दाद्वैत, ज्ञानाद्वैत आदि चित्र (नाना) सिद्ध हो जायेंगे। अतः अनेक द्वैतों के सिद्ध हो जाने पर चित्राद्वैत कैसे सिद्ध हो सकता है?

अथवा- चित्राद्वैत के सिद्ध मान लेने पर भी मोक्षमार्ग का उपदेश तो घटित नहीं हो सकता। क्योंकि अद्वैतवाद में मोक्ष और मोक्ष के मार्ग, उपदेशक आदि का अभाव है।

चित्राद्वैत में जैसे मोक्ष और मोक्ष का मार्ग घटित नहीं हो सकता, उसी प्रकार शुद्ध संवेदनाद्वैत में भी मोक्ष और मोक्षमार्ग घटित नहीं होता है। ऐसा निवेदन किया है अर्थात् अद्वैतवाद में मोक्ष और मोक्षमार्ग की व्यवस्था किसी प्रकार भी घटित नहीं हो सकती।

तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा घट-पट आदि पदार्थों की प्रसिद्धि हो जाने से चित्राद्वैत, संवेदनाद्वैत आदि का कथन प्रमाणविरुद्ध है। इसलिए सुगत मत से भिन्न सिद्धान्त में ही उपशम (शान्ति) विधि का मार्ग (उपाय) सिद्ध होता है। इसीलिए ब्रह्म के समान सुगत भी मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी का सत्तारूप ब्रह्म मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं है, वैसे सुगत भी मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं है।

ब्रह्माद्वैतवाद में न किसी का नाश होता है और न किसी की उत्पत्ति होती है। न कोई जीव बंधा है और न कोई मुक्त है। इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादियों के मत में विज्ञानाद्वैतवादियों के समान मुक्ति आदि परमार्थ सत् नहीं हैं। अतः नित्य, सर्वव्यापक एकसत्ता रूप परम ब्रह्म स्वतः और परतः प्रसिद्ध नहीं हैं। क्योंकि वे ब्रह्म से अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ को नहीं मानते हैं ॥१९१-१९०॥

जैसे बौद्धों के क्षणिक और अंशों से रहित ज्ञानाद्वैत की स्वतः सिद्धि नहीं है, उसी प्रकार नित्यादि रूप ब्रह्म की स्वतः सिद्धि नहीं है। परतः (प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से) भी ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त में परम ब्रह्म को छोड़कर अन्य वस्तु स्वीकार करना इष्ट नहीं है। अन्यथा यदि परम ब्रह्म को छोड़कर अन्य वस्तु को स्वीकार करते हैं तो द्वैतवाद का प्रसंग आता है।

अन्यथा द्वैतप्रसक्तेः । कल्पितादनुमानादेः तत्साधने न तात्त्विकी सिद्धिर्यतो निरोधोत्पत्तिबद्धमोचकबन्धभुक्तिरहितं प्रतिभासमात्रमास्थाय मार्गदेशना दूरोत्सारितैवेत्यनुमन्यते । तदेवं तत्त्वार्थशासनारम्भेऽर्हन्नेव स्याद्वादनायकः स्तुतियोग्योऽस्तदोषत्वात् । अस्तदोषोऽसौ सर्ववित्त्वात् । सर्वविदसौ प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकत्वात् । ये तु कपिलादयोऽसर्वज्ञास्ते न प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकास्तत एवासर्वज्ञत्वात्रास्तदोषा इति न परीक्षकजनस्तवनयोग्यास्तेषां सर्वथेहितहीनमार्गत्वात् सर्वथैकांतवादिनां मोक्षमार्गव्यवस्थानुपपत्तेरित्युपसंह्रियते ॥

ततः प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकः सर्वविदस्तदोषः ।

स्याद्वादभागेव नुतेरिहार्हः सोऽर्हन्परे नेहितहीनमार्गाः ॥१०१॥

इति शास्त्रादौ स्तोतव्यविशेषसिद्धिः ।

कल्पित अनुमान आदि के द्वारा परम ब्रह्म की सिद्धि करने पर वह सिद्धि तात्त्विक नहीं होती है (काल्पनिक होती है) । जैसे काल्पनिक धूम से वास्तविक अग्नि की सिद्धि नहीं होती है । अतः उत्पाद, व्यय, बद्ध, मोचक, बन्ध और मुक्ति से रहित केवल प्रतिभास मात्र की श्रद्धा से मोक्षमार्ग की देशना को दूर ही फेंक दिया है, ऐसा माना जाता है अर्थात् जब अद्वैतवाद में बन्ध, बन्धक आदि द्वैत ही नहीं है - तब मोक्षमार्ग की देशना कैसे सिद्ध हो सकती है ?

इसलिए तत्त्वार्थशास्त्र के प्रारम्भ में स्याद्वाद के नायक (स्याद्वाद सिद्धान्त के पथप्रदर्शक) श्री अर्हन्त देव ही स्तुति करने योग्य हैं । क्योंकि अरिहन्त देव ही रागद्वेष आदि भावदोष और ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मरूप द्रव्यदोषों से रहित हैं । वे अर्हन्त भगवान् सर्व दोषों से रहित (वीतरागी) हैं क्योंकि सर्वज्ञ हैं और जो सर्वज्ञ (सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला) होता है, वही प्रमाणों से युक्त मोक्षमार्ग का प्रणेता होता है । अर्थात् मोक्षमार्ग का प्रणेता होने से अर्हन्त सर्वज्ञ हैं । इस कथन से मोक्षमार्ग का नेता, कर्म रूपी पर्वतों का भेता और विश्वतत्त्वों का ज्ञाता इन विशेषणों से युक्त अर्हन्त देव की सिद्धि की है ।

जो कपिलादि असर्वज्ञ हैं, वे प्रमाणप्रतिपादन पूर्वक मोक्षमार्ग के प्रणायक (उपदेष्टा) नहीं हो सकते हैं । वे कपिलादि जब मोक्षमार्ग के प्रणेता नहीं हैं, अतः असर्वज्ञ (सर्वज्ञ नहीं) हैं, जो सर्वज्ञ नहीं है- वह रागद्वेषादि दोषों से रहित भी नहीं है । तथा रागीद्वेषी होने से वह परीक्षक (विचारशील) जनों के द्वारा स्तुति करने योग्य भी नहीं है । सर्वथा हितरहित मार्ग के उपदेशक होने से सर्वथा एकान्तवादियों के मोक्षमार्ग की व्यवस्था नहीं हो सकती । इस प्रकार इस प्रकारण का उपसंहार करते हैं ।

इसलिए प्रमाणों से युक्त मोक्षमार्ग के प्रणायक (नेता, विधाता) सर्वज्ञ, वीतराग, स्याद्वाद सिद्धान्त के धारी वे अर्हन्त देव ही विचारशील (ज्ञानी) पुरुषों के द्वारा स्तुति करने योग्य हैं । जो हितमार्ग से च्युत हैं- हित का उपदेश देने वाले नहीं हैं, असर्वज्ञ हैं और रागी द्वेषी हैं, वे कपिलादि स्तुति करने योग्य नहीं हैं ॥१०१॥

इस प्रकार शास्त्र के प्रारम्भ में आचार्यदेव ने स्तुति करने योग्य विशिष्ट अर्हन्त की सिद्धि की है । इस प्रकार विद्यानन्दी आचार्य के कथन से 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगलाचरण श्लोक गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा विरचित है ।

- स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात्।

तस्य क्षमादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः ॥१०२॥

क्षित्यादिपरिणामविशेषश्चेतनात्मकः सकललोकप्रसिद्धमूर्तिरात्मा ततोऽन्यो न कश्चित्प्रमाणाभावादिति कस्य सर्वज्ञत्ववीतरागत्वे मोक्षो मोक्षमार्गप्रणेतृत्वं स्तुत्यता मोक्षमार्गप्रतिपित्सा वा सिद्ध्येत्। तदसिद्धौ च नादिसूत्रप्रवर्तनं श्रेय इति योप्याक्षिपति सोऽपि न परीक्षकः।

स्वसंवेदनादात्मनः सिद्धत्वात्। स्वसंवेदनं भ्रान्तमिति चेत्, न तस्य सर्वदा बाधवर्जितत्वात्। प्रतिनियतदेशपुरुषकालबाधवर्जितेन विपरीतसंवेदनेन व्यभिचार इति न मंतव्यं, सर्वदेति विशेषणात्।

आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है

प्रमाण के दो भेद हैं- परीक्ष और प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं, सांख्यवहारिक और पारमार्थिक। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है। इसका एक भेद स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी है। सारे संसारी प्राणियों को आत्मा तथा उसकी ज्ञान आदि पर्यायें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की विषय हैं। उसी के द्वारा आचार्य आत्मा की सिद्धि करते हैं।

बाधक प्रमाण से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा आत्मा सदाकाल सिद्ध है। उस आत्मा को पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों की पर्याय कहना उचित नहीं है। क्योंकि पृथ्वी आदि चार भूतों की पर्याय रूप जड़ आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान का विषय नहीं हो सकती ॥१०२॥

चार्वाक दर्शन : शरीर ही आत्मा है

चार्वाक का कथन है कि -

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की विशेष पर्याय ही चेतनधारी आत्मा है तथा चैतन्य शक्ति से युक्त मूर्तिमान शरीर ही सम्पूर्ण लोक में 'आत्मा' इस नाम से प्रसिद्ध है। शरीर से भिन्न आत्मा को जानने वाले प्रमाण का अभाव होने से जीवित शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। तब किसके सर्वज्ञता और वीतराग गुणों के प्रगट होने पर मोक्ष हो सकता है? और कौन मोक्षमार्ग का उपदेष्टा हो सकता है? कौन मुनीन्द्रों के द्वारा स्तुति करने योग्य होता है? तथा किसको मोक्षमार्ग जानने की इच्छा हो सकती है? वा इनकी सिद्धि हो सकती है? आत्मा की असिद्धि होने पर सर्वज्ञता आदि धर्म किसी के भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। तथा आत्मा की सिद्धि नहीं होने पर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' इस आदिसूत्र की रचना भी श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि धर्मीआत्मा के अभाव में 'सम्यग्दर्शन आदि धर्मों का कथन करना उचित नहीं होता।'

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मा प्रसिद्ध है

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चार्वाक जो आक्षेप करता है, आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह भी परीक्षक (तत्त्वों की परीक्षा करने वाला) नहीं है। क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मा प्रसिद्ध है। वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्त है- ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि आत्मा को जानने वाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वकाल में बाधरहित है और बाधाओं से रहित ज्ञान कभी भ्रान्त नहीं हो सकता। प्रतिनियत देश, पुरुष और काल की बाधाओं से रहित विपरीत संवेदन से व्यभिचार आता है। क्योंकि भ्रान्त ज्ञान भी प्रतिनियत देश, काल और पुरुष की बाधा से रहित है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना उचित

न च क्षमादिविवर्तात्मके चैतन्यविशिष्टकायलक्षणे पुंसि स्वसंवेदनं संभवति, येन ततोर्थांतरमात्मानं न प्रसाधयेत्। स्वसंवेदनमसिद्धमित्यत्रोच्यते;—

स्वसंवेदनमप्यस्य बहिःकरणवर्जनात्।

अहंकारास्पदं स्पष्टमबाधमनुभूयते ॥१०३॥

न हीदं नीलमित्यादि प्रतिभासनं स्वसंवेदनं बाह्येन्द्रियजत्वादनहंकारास्पदत्वात्, न च तथाहं सुखीति प्रतिभासनमिति स्पष्टं तदनुभूयते। गौरौहमित्यवभासनमनेन प्रत्युक्तं, करणापेक्षत्वादहं

नहीं है। क्योंकि स्याद्वाद मत में कथित हेतु में 'सर्वदा' यह विशेषण लगा हुआ है। अर्थात् सर्व देश, काल में और सर्व पुरुषों में बाधाओं से रहित जो ज्ञान होता है वही अभ्रान्त और प्रामाणिक है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि की पर्याय रूप चैतन्य शक्ति से विशिष्ट ऐसी काय (शरीर) लक्षण आत्मा में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है जिससे शरीर से पृथक् आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मा स्वयं प्रसिद्ध है। यहाँ आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा जान लेना ही असिद्ध है? ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं—

आत्मा का बहिरंग इन्द्रियों से रहित तथा 'मैं' 'मैं' इस प्रकार की प्रतीति का स्थान और बाधा रहित, विशद रूप से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना भी अनुभव में आ रहा है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी 'मैं हूँ, मेरा मस्तक दुःख रहा है, मुझे आज बहुत आनन्द आया' इत्यादि रूप से स्वसंवेदन से शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव कर रहे हैं ॥१०३॥

'यह नीला है', 'यह माता है' इत्यादि ज्ञान आत्मा और आत्मीय तत्त्वों के जानने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप नहीं है, क्योंकि ऐसा ज्ञान तो बहिरंग चक्षुरादिक इन्द्रियों से उत्पन्न है, तभी तो नीला आदि के ज्ञान में मैं इत्याकारक-अहं आकार (अर्थ विकल्प) को भरने वाली बुद्धि के स्थान नहीं है। परन्तु 'मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानवान् हूँ' इत्यादि प्रतिभास तो विशद रूप से अनुभव में आ रहे हैं, स्वसंवेदन रूप हैं। ये ज्ञान बाह्य इन्द्रियजन्य नहीं हैं और 'अहं-अहं' इस प्रतीति के आधार भी हैं। अतः यह ज्ञान स्वसंवेदन रूप है- जिससे आत्मा का अनुभव हो रहा है।

“मैं गौरा हूँ, मैं स्थूल हूँ” यह ज्ञान भी 'अहं' प्रत्यय के अवलम्बन से होता है अतः गौरा आदि शरीर रूप से स्वसंवेदन का आधार शरीर को ही मानना चाहिए। इस प्रकार चार्वाक का कहना भी जो “बाह्य इन्द्रियजन्य है, वह स्वसंवेदन नहीं है” इस पूर्वोक्त कथन से खण्डित हो जाता है। क्योंकि जैसे मैं गूँघड़े वाला हूँ, यह ज्ञान बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से होता है- अतः अहंबुद्धि का आधार होते हुए भी स्वसंवेदन रूप नहीं है वैसे ही 'मैं गौरा हूँ, स्थूल हूँ' यह ज्ञान भी चक्षु इन्द्रिय और स्पर्श इन्द्रिय का विषय है, इसलिये स्वसंवेदन रूप नहीं है।

गुल्मीत्यवभासनवत् । करणापेक्षं हीदं शरीरांतःस्पर्शनेन्द्रियनिमित्तत्वात् । मुख्यहमित्यवभासनमिति तथास्तु तत एवेति चेत्, न । तस्याहंकारमात्राश्रयत्वात् । भ्रान्तं तदिति हि चेन्न । अबाधत्वात् । नन्वहं सुखीति वेदनं करणापेक्षं वेदनत्वादहं गुल्मीत्यादिवेदनवदित्यनुमानबाधस्य सद्भावात्सबाधमेवेति चेत् । किमिदमनुमानं करणमात्रापेक्षत्वस्य साधकं बहिःकरणापेक्षत्वस्य साधकं वा ? प्रथमपक्षे न तत्साधकं स्वसंवेदनस्यांतकरणापेक्षस्येष्टत्वात् । द्वितीयपक्षे प्रतीतिविरोधः स्वतस्तस्य बहिःकरणापेक्षत्वाप्रतीतेः ।

(चार्वाक) जिस प्रकार वातादिजन्य गूमड़ा, स्थूलपना आदि शरीर के भीतर स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय होने से इन्द्रियों की अपेक्षा रखने वाला है, उसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान भी इन्द्रियों का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है, इसलिए इसे भी इन्द्रियजन्य मानना चाहिए। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि चार्वाक का यह कथन सुसंगत नहीं है। क्योंकि 'मैं सुखी हूँ' यह वेदन (ज्ञान) तो केवल अहं (मैं) कराने वाली (अहं का अनुभव कराने वाली) प्रतीति का आश्रय लेकर उत्पन्न हुआ है। इसमें चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ कारण नहीं हैं।

'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान भ्रान्त है, चार्वाक का यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान बाधा रहित है, किसी भी प्रमाण से इसका खण्डन नहीं हो सकता। अतः प्रमाण प्रसिद्ध होने से यह ज्ञान भ्रान्त नहीं है।

शंका (चार्वाक)- 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियों की अपेक्षा से उत्पन्न होता है (साध्य) क्योंकि यह ज्ञान है, जैसे "मैं गूमड़ा वाला हूँ, मैं कृष्ण वर्ण वाला हूँ" इत्यादि जो ज्ञान होता है- वह इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। अनुमान की बाधा का सद्भाव होने से "मैं सुखी हूँ" इस ज्ञान को इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित है- ऐसा कहना अनुमानबाधित है। अतः इसको अभ्रान्त कहना ठीक नहीं है।
समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि चार्वाक द्वारा कथित अनुमान सामान्य इन्द्रिय की अपेक्षा रखता है या बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों की अपेक्षा रखता है?

प्रथम पक्ष में वह अनुमान हमारे अनुमान को बाधक सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि मन रूप अंतरंग इन्द्रिय की अपेक्षा रखने वाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, यह हमको इष्ट है। अर्थात् "मैं सुखी हूँ" यह स्वसंवेदन मानसप्रत्यक्ष है। द्वितीय पक्ष (बाह्य इन्द्रियों के द्वारा सुख आदि का अनुभव होता है) में प्रतीतियों से विरोध आता है। क्योंकि अपने आप ज्ञात होने वाले उस स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा रखना प्रतीत नहीं होता है।

स्वरूपमात्रपरामर्शित्वात्तथा न स्वसंवेदनं बहिःकरणापेक्षं स्वरूपमात्रपरामर्शित्वात्, यत्र तथा तत्र तथा नीलवेदनं स्वरूपमात्रपरामर्शि चाहं सुखीत्यावेदनमित्यनुमानादपि तस्य तथाभावासिद्धेः। स्वात्मनि क्रियाविरोधात् स्वरूपपरामर्शनमस्यासिद्धमिति चेत्।

तद्विलोपे न वै किञ्चित्कस्यचिद्व्यवतिष्ठते।

स्वसंवेदनमूलत्वात्स्वेष्टतत्त्वव्यवस्थितेः ॥१०४॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, सर्वभुपप्लवमात्रमिति वा स्वेष्टं तत्त्वं व्यवस्थापयत्स्वसंवेदनं स्वीकर्तुमर्हत्येव, अन्यथा तदसिद्धेः। परपर्यनुयोगमात्रं कुरुते न पुनस्तत्त्वं व्यवस्थापयतीति चेत्, व्याहतमिदं तस्यैवेष्टत्वात्। परोपगमात् परपर्यनुयोगमात्रं कुरुते न तु स्वयमिष्टे, येन तदेव तत्त्वं व्यवस्थापितं भवेदिति चेत्। स परोपगमो यद्युपप्लुतस्तदा न ततः परपर्यनुयोगो

तथा 'मैं सुखी हूँ' यह स्वसंवेदन ज्ञान अपने स्वरूप मात्र का स्पर्श करने वाला होने से अपनी उत्पत्ति में बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है। क्योंकि जो ज्ञान स्वरूपमात्र का (ज्ञान के स्व अंशों का) परामर्शी (अवलम्बन लेने वाला) है वह बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा रखने वाला नहीं है। जो बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा रखने वाला है वह अन्तस्तत्त्व का विषय करने वाला नहीं है, जैसे नील का वेदन, मधुर रस का वेदन, इत्यादि। 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि का वेदन स्वरूपमात्र का परामर्शी (ज्ञानस्वरूप की ज्ञप्ति कराने वाला) है, इसलिए बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा रखने वाला नहीं है। इस प्रकार अनुमान से भी 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान के बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा का अभाव सिद्ध है। अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा रखना सिद्ध नहीं है।

स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से इस स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अपने स्वरूप के परामर्शी (स्वस्वरूप) की विज्ञप्ति करना असिद्ध है। इस प्रकार चार्वाक के कहने पर आचार्य कहते हैं-

स्व को जानने वाले ज्ञान का लोप कर देने पर निश्चय से किसी भी वादी का कोई भी तत्त्व व्यवस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि सर्ववादियों के अपने इष्ट तत्त्वों की व्यवस्था करना स्वसंवेदन ज्ञान की नींव पर अवलम्बित है। अर्थात् स्वपर-प्रकाशक ज्ञान के द्वारा ही अभीष्ट तत्त्वों की सिद्धि होती है। ज्ञान की स्व ज्ञप्ति को स्वीकार नहीं करने पर कोई भी दर्शन सिद्ध नहीं हो सकता है ॥१०४॥

(चार्वाक मत में) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्व हैं तथा (शून्यवादी के मत में) सम्पूर्ण पदार्थ केवल शून्य रूप असत् हैं। इस प्रकार स्व इष्ट तत्त्व व्यवस्थापन करने वाले (चार्वाक वा शून्यवादी) को स्वसंवेदन स्वीकार करना योग्य है। अर्थात् अपने इष्ट को सिद्ध करने के लिए स्व को जानना स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्यथा- (यदि ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना नहीं स्वीकार करेंगे तो) इस इष्ट तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि एक ज्ञान ही ऐसा पदार्थ है जो स्व और पर को जानने का, समझने का प्रधान कारण है।

(चार्वाक कहता है कि) भूतचतुष्टय वादी वा शून्यवादी पण्डित केवल प्रश्नों को उठाकर दूसरों के ऊपर दोषारोपण करते हैं, तत्त्व व्यवस्था नहीं करते हैं, ऐसा चार्वाक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि- चार्वाक का यह कथन अपने इष्ट तत्त्व का व्याघात करता है। क्योंकि जो स्व की जय का उद्देश्य लेकर परपक्ष का खण्डन करने में तत्पर होता है वही उसका इष्ट तत्त्व है, तो फिर वह चार्वाक या शून्यवादी कैसे कह सकता है कि मैं किसी तत्त्व की व्यवस्था नहीं कर रहा हूँ।

युक्तः । सोऽनुपप्लुतश्चेत् कथं न स्वयमिष्टः । परोपगमांतरादनुपप्लुतो न स्वयमिष्टत्वादिति चेत् । तदपि परोपगमांतरमुपप्लुतं न वेत्यनिवृत्तः पर्यनुयोगः । सुदूरमपि गत्वा कस्यचित्स्वयमिष्टौ सिद्धिमिष्टतत्त्वव्यवस्थापनं स्वसंविदितं प्रमाणमन्वाकर्षत्यन्यथा घटादेरिव तद्व्यवस्थापकत्वायोगात् । न हि स्वयमसंविदितं वेदनं परोपगमेनापि विषयपरिच्छेदकं । वेदनांतरविदितं तदिष्टसिद्धिनिबंधनमिति चेन्न । अनवस्थानात् । तथाहि—

संवेदनांतरेणैव विदिताद्वेदनाद्यदि ।

स्वेष्टसिद्धिरुपेयेत तदा स्यादनवस्थितिः ॥१०५॥

शून्यवादी कहते हैं कि जैन, नैयायिक आदि आस्तिकों के द्वारा स्वीकृत स्वसंवेदन, आत्मा आदि तत्त्वों में हम केवल दोषों का उद्घावन करते हैं, परन्तु स्वस्वीकृत तत्त्वों में ऊहापोह नहीं करते हैं, जिससे दूसरे का खण्डन करना यही हमारी तत्त्व व्यवस्था कैसे सिद्ध हो सकती है? जैनाचार्य कहते हैं कि वह दूसरों के द्वारा स्वीकृत आत्मा, ज्ञान आदि तत्त्व उपप्लुत (अलीक वा शून्य) रूप है, तब तो उन दूसरों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण आदि तत्त्वों में दोषारोपण करना उचित नहीं है, क्योंकि असत् वस्तु में सत् या असत् के द्वारा आघात नहीं होता है। यदि दूसरों के द्वारा स्वीकृत तत्त्व वास्तविक हैं, शून्यरहित हैं, प्रमाणसिद्ध हैं, ऐसा मानते हो तो स्व इष्ट की सिद्धि क्यों नहीं होगी।

पर (जैनादि) के स्वीकृत तत्त्वों का स्वीकार करने पर तत्त्व का अभाव नहीं है- परन्तु यह हमको इष्ट नहीं है। ऐसा चार्वाक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि आस्तिकों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेय आदि को स्वीकार करने वाले दूसरे के मन्तव्य को शून्य मानते हैं या वस्तुभूत मानते हैं। इन दोनों पक्षों में दोषारोपण न कर सकना और स्वयं इष्ट तत्त्व की सिद्धि होना, ये दोनों दोष आयेंगे। अर्थात् यह पर के द्वारा स्वीकृत तत्त्व अवास्तविक है कि वास्तविक है- इस प्रश्न की निवृत्ति नहीं हो सकती। प्रश्न बना ही रहेगा। बहुत दूर भी जाकर यदि किसी एक वस्तुभूत इष्ट तत्त्व की सिद्धि स्वयं होना इष्ट करोगे तो शून्यवादी के अभीष्ट तत्त्व की व्यवस्थापना करना सिद्ध होता है। तथा उस अभीष्ट तत्त्व में सर्वप्रथम स्व को जानने वाला स्वसंवेदन प्रमाण ज्ञान आकर्षित होता है, अन्यथा (यदि प्रमाण को स्वसंवेदी नहीं माना जायेगा तो) जड़ घटादिक के समान तत्त्व व्यवस्था का अयोग होगा। अर्थात् जैसे घटादि जड़ पदार्थ स्व को नहीं जानता है, उससे तत्त्व की व्यवस्था नहीं होती है, उसी प्रकार स्व को नहीं जानने वाले आत्मा के द्वारा भी तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती।

जो ज्ञान स्व को नहीं जानता है, वह दूसरे वादियों के द्वारा स्वीकार करने मात्र से इष्ट तत्त्वों का ज्ञापक नहीं होता है, स्वविषय का परिच्छेदक नहीं होता है।

ज्ञानान्तर से इष्ट तत्त्व की सिद्धि होती है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आता है। इसी बात को कहते हैं—

यदि विदित ज्ञान की दूसरे ज्ञानान्तर से स्व इष्ट सिद्धि (अपने इष्ट की ज्ञप्ति) स्वीकार करते हैं तो अनवस्था दोष आता है। अर्थात् ज्ञान के स्वरूप को दूसरे ज्ञान के द्वारा जानना मानने पर उस ज्ञान को जानने वाले ज्ञान को जानने वाला दूसरा ज्ञान चाहिए- फिर उसको जानने वाला दूसरा चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है ॥१०५॥

प्राच्यं हि वेदनं तावन्नार्थं वेदयते ध्रुवम् ।
यावन्नान्येन बोधेन बुद्ध्यं सोऽप्येवमेव तु ॥१०६॥
नार्थस्य दर्शनं सिद्ध्येत् प्रत्यक्षं सुरमंत्रिणः ।
तथा सति कृतक्ष स्यान्मतांतरसमाश्रयः ॥१०७॥

अर्थदर्शनं प्रत्यक्षमिति बृहस्पतिमतं परित्यज्यैकार्थसमवेतानंतरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानमिति ब्रुवाणः
कथं चार्वाको नाम? परोपगमात्तथावचनमिति चेन्न । स्वसंविदितज्ञानवादिनः परत्वात् । ततोऽपि
मतांतरसमाश्रयस्य दुर्निवारत्वात् । न च तदुपपन्नमनवस्थानात् । इति सिद्धं स्वसंवेदनं बाधवर्जितं
मुख्यहमित्यादिकायात्तत्त्वांतरतयात्मनो भेदं साधयतीति किं नक्षिन्तया ।

नया - प्रथम-पहला ज्ञान तब तक निश्चित रूप से अर्थ का ज्ञान नहीं कर सकता है- जब तक कि
दूसरे ज्ञान से स्वयं विदित नहीं हो जाता है । इसी प्रकार वह ज्ञान भी भविष्य में दूसरे ज्ञानों के द्वारा ज्ञात होकर
ही विषय का ज्ञापक हो सकता है ॥१०६॥

इस प्रकार अनवस्था दोष से दूषित होने से बृहस्पति ऋषि के अनुयायी चार्वाक के मत में तो पदार्थों
को देखने वाला अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता । उनके मत में प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं को जानता
नहीं है और प्रत्यक्ष ज्ञान को जानने के लिए दूसरा ज्ञान चार्वाक ने स्वीकार किया नहीं है । यदि प्रत्यक्ष ज्ञान
को जानने के लिए दूसरे ज्ञान को स्वीकार करेंगे तो मतान्तर (नैयायिक के मत) का आश्रय लेना पड़ेगा ॥१०७॥

अर्थ का दर्शन करना प्रत्यक्ष प्रमाण है । इस एक इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमाण मानने वाले
बृहस्पति^१ के मत का परित्याग कर 'एकार्थ समवेतानन्तर' (पूर्व ज्ञान) का दूसरे समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न
अव्यवहित उत्तरवर्ती ज्ञानों के द्वारा वेद्य अर्थ ज्ञान है (अर्थात् ज्ञान दूसरे ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है) ऐसा कहने
वाला चार्वाक कैसे हो सकता है । क्योंकि चार्वाक ज्ञान का किसी ज्ञान के द्वारा-प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं ।

दूसरों के उपगम (कथन) से चार्वाक भी ज्ञान के द्वारा ज्ञान का प्रत्यक्ष होना (वेदन होना) मानते हैं,
ऐसा कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि स्वसंविदित ज्ञान (ज्ञान का ज्ञान के द्वारा वेदन होना) वादी पर (दूसरा)
है- वह जैन है क्योंकि जैनदर्शन में ही ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक स्वीकार किया है । अतः चार्वाक को मतान्तर
(जैनमत) का आश्रय लेना दुर्निवार होगा । अर्थात् अवश्य ही जैनदर्शन का आश्रय लेना पड़ेगा । अथवा ज्ञान
स्व को नहीं जानता है, ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता है- ऐसा कहने वाले नैयायिक का
आश्रय लेना युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि उसमें अनवस्था दोष आता है । इस प्रकार अब तक यह सिद्ध हुआ
कि - 'मैं सुखी हूँ - मैं दुःखी हूँ' इत्यादि उल्लेख को धारण करने वाला बाधारहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही शरीर
से भिन्न तत्त्वरूप करके आत्मा के भेद को सिद्ध करता है । फिर हमें अधिक चिन्ता करने से क्या प्रयोजन
है । अर्थात् प्रत्येक प्राणी को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव होता है ।

१. इस पंचम काल में चार्वाक मत प्रस्थापक बृहस्पति नामक ऋषि हुए थे । उनके मत में एक प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण है ।

• विभिन्नलक्षणत्वाच्च भेदश्चैतन्यदेहयोः।

तत्त्वांतरतया तोयतेजोवदिति मीयते ॥१०८॥

चैतन्यदेहौ तत्त्वांतरत्वेन भिन्नौ भिन्नलक्षणत्वात् तोयतेजोवत्। इत्यत्र नासिद्धो हेतुः, स्वसंवेदनलक्षणत्वाच्चैतन्यस्य, काठिन्यलक्षणत्वात् क्षित्यादिपरिणामात्मनो देहस्य, तयोर्भिन्नलक्षणत्वस्य सिद्धेः। परिणामपरिणामभावेन भेदसाधने सिद्धसाधनमित्ययुक्तं तत्त्वांतरतथेति साध्ये देहचैतन्ययोः तत्त्वान्तरतया भेदसाधनमस्ति विशेषणात्।

कुटपटाभ्यां भिन्नलक्षणाभ्यां तत्त्वांतरत्वेन भेदरहिताभ्यामनेकांत इति चेन्न। तत्र परेषां भिन्नलक्षणत्वासिद्धेरन्यथा चत्वार्येव तत्त्वानीति व्यवस्थानुपपत्तेः। कुटपटादीनां भिन्नलक्षणत्वेऽपि तत्त्वांतराभावे क्षित्यादीनामपि तत्त्वांतराभावात्। धारणादिलक्षणसामान्यभेदात्तेषां तत्त्वांतरत्वं न लक्षणविशेषभेदाद्येन घटपटादीनां तत्प्रसंग इति चेत्,

शरीर और आत्मा भिन्न हैं

तथा-आत्मा और शरीर का भिन्न-भिन्न लक्षण होने से तत्त्वान्तर (पृथक्त्व) से भेद है। अर्थात् शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। जैसे आप चार्वाक के मत में अग्नि और जल भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ॥१०८॥

चैतन्य (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न लक्षण वाले होने से तत्त्वान्तर से भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। जैसे उष्णता और शीत रूप भिन्न-भिन्न लक्षण वाले होने से अग्नि और जल भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने में दिया गया भिन्न लक्षणत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि चैतन्य का लक्षण स्वसंवेदन है अथवा स्व-पर को जानना-देखना ज्ञाता-द्रष्टापना है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु के द्वारा निर्मित (वा पृथ्वी आदि की पर्याय रूप) शरीर कठिनता, भारीपन आदि लक्षण वाला है। अतः शरीर और आत्मा में भिन्न-भिन्न लक्षणत्व की सिद्धि है।

(चार्वाक) शरीर परिणामी है और शरीर का परिणाम चैतन्य है अतः परिणाम और परिणामी भाव से इन दोनों में भेद सिद्ध करने पर सिद्धसाधन दोष आता है- क्योंकि परिणाम और परिणामी की अपेक्षा शरीर और आत्मा में भेद चार्वाक भी मानते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि- चार्वाक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि 'तत्त्वान्तर से साध्य है।' इसमें शरीर और आत्मा में तत्त्वान्तर भेद सिद्ध किया है- अतः तत्त्वान्तर विशेषण दिया है। अर्थात्- शरीर और आत्मा दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं- यह सिद्ध करना अभीष्ट है, परिणाम और परिणामी रूप से नहीं।

तत्त्वान्तर से भेदरहित भिन्न-भिन्न लक्षण वाले कुट और पट के द्वारा यह अनेकान्ताभास है। अर्थात् मिट्टी आदि से निर्मित जलधारण लक्षण वाला घट भिन्न है और कपास आदि से निर्मित शीत बाधा को दूर करने रूप लक्षण वाला कपड़ा भिन्न है- दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण हैं परन्तु ये तत्त्वान्तर से भिन्न नहीं हैं। दोनों एक पुद्गल तत्त्व की पर्याय हैं, भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं है अतः भिन्न-भिन्न लक्षण होने से भिन्न तत्त्व हैं, यह हेतु अनेकान्त हेत्वाभास है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है- क्योंकि

तर्हि स्वसंविदित्वेतरत्वलक्षणसामान्यभेदादेहचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् कथं कुटपटाभ्यां तस्य व्यभिचारः? स्याद्वादिनां पुनर्विशेषलक्षणभेदाद्भेदसाधनेऽपि न ताभ्यामनेकांतः, कथंचित्तत्त्वान्तरतया तयोर्भेदोपगमात्। सत्त्वादिसामान्यलक्षणभेदे हेतुरसिद्ध इति चेन्न। कथमन्यथा क्षित्यादिभेदसाधनेऽपि सोऽसिद्धो न भवेत्? असाधारणलक्षणभेदस्य हेतुत्वान्नैवमिति चेत्, समानमन्यत्र, सर्वथा विशेषाभावात्।

चार्वाक मत में भी घट और पट में भिन्न लक्षणत्व हेतु सिद्ध नहीं है। अन्यथा (यदि चार्वाक मत में घट और पट में भिन्न लक्षणत्व मानते हैं तो) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व हैं, यह व्यवस्था नहीं बन सकती। अर्थात् घट पट आदि अनेक तत्त्व स्वीकार करने पड़ेंगे। यदि घट, पट आदि में भिन्न-भिन्न लक्षण होते हुए भी भिन्न तत्त्वपना नहीं मानते हैं तो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनके भी तत्त्वान्तर का अभाव होगा। अर्थात् ये चारों ही एक पुद्गल की पर्यायें सिद्ध होंगी।

पृथ्वी का सामान्य लक्षण पदार्थों को धारण करना है, जल का लक्षण द्रव रूप से बहना है, अग्नि का सामान्य लक्षण उष्णता है और वायु का सामान्य लक्षण ईरण करना, कम्पन करना है। अतः धारणादि लक्षण सामान्य भेद से अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल इनमें भेद है, परन्तु विशेष लक्षणों से तत्त्वों में भेद नहीं होता है। जिससे कि घट, पट आदि के द्वारा व्यभिचार दोष का प्रसंग आता हो। अर्थात् घट, पट आदि तो एक पृथ्वी तत्त्व के ही परिणाम हैं, पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं हैं। अतः घट, पट आदि में भिन्न-भिन्न तत्त्व होने का प्रसंग नहीं आता है। जैनाचार्य कहते हैं कि शरीर और चैतन्य में भी सामान्य रूप से लक्षण भेद है। आत्मा स्वसंवेदन रूप है, ज्ञाता द्रष्टा है और शरीर बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है, जड़ है। इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमान से सामान्य लक्षण से भेद रूप हेतु शरीर और आत्मा में तत्त्वान्तर (भिन्नतत्त्व) से भेद सिद्ध करता है। अतः घट और पट के द्वारा व्यभिचार कैसे आ सकता है?

किंच-विशेष लक्षणों के भेद से भेदसाधन करने पर स्याद्वाद मत में घट-पट से व्यभिचार नहीं आ सकता। क्योंकि शरीर और चैतन्य के समान घट और पट में भी, कथंचित् तत्त्वान्तर से भेद स्वीकार करते हैं। अर्थात् आत्मा और शरीर में द्रव्य रूप से भेद है, दोनों द्रव्य भिन्न हैं। और घट-पट में पर्याय रूप से भेद है अर्थात् दोनों पुद्गल द्रव्य की भिन्न पर्यायें हैं। द्रव्य एक पुद्गल है। (चार्वाक) सत्पना या प्रमेयपना आदि सामान्य लक्षण देह और चैतन्य में समान हैं, दोनों ही सत्त्व और प्रमेय हैं, सामान्य हैं अतः सत्त्वादि सामान्य की अपेक्षा लक्षण भेद करने पर यह हेतु असिद्ध है, क्योंकि सत्त्व सामान्य की अपेक्षा शरीर और आत्मा में भेद नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि चार्वाक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि अन्यथा (सत्त्व ज्ञेयत्व आदि सामान्य लक्षण तो पृथ्वी आदि में भी पाये जाते हैं अतः) उन पृथ्वी आदि के तत्त्वान्तर (भेद) सिद्ध करने पर चार्वाक कथित वह सामान्य लक्षण भेद हेतु भी असिद्ध हेत्वाभास क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

असाधारण लक्षण भेद के हेतुत्व होने से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के तत्त्वान्तर सिद्ध करने में असिद्ध हेत्वाभास नहीं होगा। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों तत्त्वों में असाधारण भेद है-

• भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादित्यप्येतेन वर्णितम् ।

साधितं बहिरंतश्च प्रत्यक्षस्य विभेदतः ॥१०९॥

बहिरंतर्मुखाकारयोरिन्द्रियजस्वसंवेदनयोर्भेदेन प्रसिद्धौ सिद्धमिदं साधनं वर्णनीयं देहचैतन्ये भिन्ने भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादिति । करणजज्ञानवेद्यो हि देहः स्वसंवेदनवेद्यं चैतन्यं प्रतीतमिति सिद्धं साधनं । स्वयं स्वसंवेदनवेद्येन परैरनुमेयेनाभिन्नेन चैतन्येन व्यभिचारीति न युक्तं, स्वसंवेद्यानुमेयस्वभावाभ्यां तस्य भेदात् । तत एवैकस्य प्रत्यक्षानुमानपरिच्छेदेनाग्निना न

अतः ये चारों भिन्न-भिन्न हैं- परन्तु शरीर और आत्मा में सामान्य भेद है, असाधारण नहीं है- वे तत्त्वान्तर नहीं हैं- उनको तत्त्वान्तर सिद्ध करने में दिया गया हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। जैनाचार्य इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि पृथ्वी आदि को पृथक् सिद्ध करने में और शरीर एवं आत्मा को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने में विशेषता का अभाव है- दोनों पक्ष समान हैं। स्याद्वाद सिद्धान्त में विशेष लक्षणों से शरीर और आत्मा दोनों एक नहीं हैं- अपितु भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं।

उक्त कथन से यह भी वर्णन कर दिया गया है कि शरीर और आत्मा भिन्न द्रव्य हैं- क्योंकि वे दोनों भिन्न प्रमाणों के द्वारा जाने जाते हैं। बाह्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से शरीर जाना जाता है- और उससे भिन्न अंतरंग स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा उपयोग स्वरूप आत्मा जाना जाता है अतः भिन्न-भिन्न ज्ञान का विषय होने से दोनों भिन्न-भिन्न हैं ॥१०९॥

बाह्य पदार्थों का उल्लेख करने वाला इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष है तथा अंतरंग पदार्थों का उल्लेख कर (भीतरी तत्त्वों का लक्ष्यकर) अनुभव करने वाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इस प्रकार इन दोनों में भेद से प्रसिद्धि हो जाने पर, यह हेतु भी सिद्ध हुआ कहना चाहिए। जबकि शरीर और आत्मा को विषय करने वाले दोनों ज्ञान भिन्न हैं-तब भिन्न-भिन्न प्रमाणों का विषय होने से शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। करण (इन्द्रिय) जन्य ज्ञान के द्वारा शरीर जाना जाता है और स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा आत्मा जाना जाता है। इस प्रकार की प्रतीति सिद्ध है- अतः यह हेतु सिद्ध है।

शंका- स्वयं आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानी जाती है और अन्य प्राणियों के द्वारा अनुमान ज्ञान के द्वारा जानी जाती है। इस प्रकार स्वसंवेदन और अनुमान दोनों भिन्न-भिन्न प्रमाणों के द्वारा चैतन्य स्वसंवेद्य और अनुमेय होने से 'भिन्न ज्ञान का विषय होने से शरीर आत्मा से भिन्न है' यह हेतु व्यभिचारी होगा। क्योंकि भिन्न ज्ञान का विषय होने पर भी आत्मा अभिन्न है। इस के प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं, चार्वाक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि एक ही आत्मा के स्वसंवेद्य और अनुमेय स्वभाव के द्वारा भेद है।

भावार्थ- जैसे पकाना, जलाना, शीत को मिटाना, प्रकाशित करना आदि अग्नि के अनेक स्वभाव हैं- वैसे ही प्रत्येक ज्ञेय में नाना ज्ञानों से जानने योग्य भी भिन्न-भिन्न अनेक स्वभाव हैं। उसी प्रकार आत्मा में भी स्वसंवेद्य और अनुमेय स्वभाव हैं- स्वसंवेद्य स्वभाव स्वसंवेदन ज्ञाता के द्वारा जाना जाता है। अतः भिन्न-भिन्न ज्ञान के द्वारा जानने योग्य वस्तु भिन्न-भिन्न होती है- यह हेतु व्यभिचारी नहीं है। भिन्न-भिन्न ज्ञानों के द्वारा परिच्छेद्य स्वभाव भिन्न-भिन्न ही हैं।

तदनैकांतिकं, नापि मारणशक्त्यात्मकविषद्रव्येण सकृत्तादृशा शक्तिशक्तिमतोः कथंचिद्वेदप्रसिद्धेः । सर्वथा भेदस्य देहचैतन्ययोरप्यसाधनत्वात् । तथा साधने सद्व्यवृत्तादिनापि भेदप्रसक्तेर्नोभयोरपि सत्त्वद्रव्यत्वादयोरव्यवृत्तिष्ठेर्न । यथा हि देहस्य चैतन्यात् सत्त्वेन व्यावृत्तौ सत्त्वविरोधस्तथा चैतन्यस्यापि देहात् । एवं द्रव्यत्वादिभिर्व्यावृत्तौ चोद्यं । भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादेवेत्यवधारणाद्वा न

इसीलिए प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा परिच्छेद्य (जानने योग्य) अग्नि के द्वारा एक ही मनुष्य के अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं होता है । अर्थात् एक ही देवदत्त प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष अग्नि को जानता है और परोक्ष अग्नि धूमादिक को अनुमान के द्वारा जानता है । तथा विष द्रव्य के साथ भी व्यभिचार नहीं आता है । क्योंकि विषद्रव्य में भी एक साथ मारक और प्राणदायक शक्तियाँ विद्यमान हैं । अतः शक्ति और शक्तिमान् में कथंचित् भेद सिद्ध है । इसी प्रकार आत्मा में भी ज्ञाता और ज्ञेय दोनों शक्तियाँ हैं । ज्ञाता शक्ति से पदार्थों को जानने वाला है और ज्ञेय शक्ति की अपेक्षा स्वसंवेद्य और अनुमेय है ।

जैन लोग अनुमान के द्वारा शरीर और आत्मा में सर्वथा भेद सिद्ध नहीं करते हैं, अपितु कथंचित् भेद सिद्ध करते हैं । क्योंकि आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद सिद्ध करने पर सत्त्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व और प्रमेयत्व आदि रूप से भी भेद करने का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर दोनों में भी सत्त्व, द्रव्यत्व आदि की व्यवस्था नहीं बनेगी ।

जैसे-सद् रूप से ही शरीर को आत्मा से भिन्न मानेंगे तो शरीर की सत् रूप से व्यावृत्ति होने पर सत्त्व का विरोध आयेगा अर्थात् शरीर सत्त्व रूप नहीं रहेगा, आकाशपुष्प के समान असत् हो जायेगा । उसी प्रकार सद्रूप से आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न मानेंगे तो आत्मा असत् हो जायेगा अर्थात् आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रहेगा । इस प्रकार द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि की अपेक्षा से भी आत्मा और शरीर का सर्वथा भेद मान लेने पर दोनों के ही अद्रव्यत्व, अप्रमेयत्व आदि का प्रसंग आयेगा । ऐसा जानना चाहिए । अतः आत्मा और शरीर में कथंचित् भेद है, सर्वथा भेद नहीं है ।

अथवा 'भिन्न प्रमाण के द्वारा ही वेद्य है' ऐसी अवधारणा करने पर हेतु की किसी के द्वारा व्यभिचार हो जाने की आपत्ति संभव नहीं है जिससे कि एक पुरुष के द्वारा इत्यादि विशेषणों का प्रयोग किया जाये । अर्थात् 'जो भिन्न प्रमाणों से ही जानने योग्य है, वह अवश्य ही भिन्न है' ऐसी व्याप्ति बना लेने पर एक पुरुष के द्वारा एक समय में जो भिन्न प्रमाणों से जानने योग्य है- वह भिन्न है- इस प्रकार के विशेषणों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती । इनका प्रयोजन 'एवकार' से सध जाता है । आपको इन भिन्न प्रमाणों के द्वारा जानने योग्य हेतु का अभिन्न एकरूप माने गये विपक्ष में न रहने रूप व्यावृत्ति संदेहप्राप्त है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि कुत्रचित् (कहीं भी) अभिन्न रूप एक पदार्थ का या एक स्वभाव में भिन्न प्रमाणों के द्वारा वेद्यत्व की असंभवता है- अर्थात् अभिन्न रूप एक पदार्थ का या एक स्वभाव में भिन्न प्रमाणों के द्वारा जानने योग्यपन नहीं है ।

तथा भिन्न प्रमाणों से जानने योग्य वैसे सम्पूर्ण पदार्थ तादात्म्यसम्बन्ध से अनेक स्वभाव युक्त सिद्ध हैं । अन्यथा (तादात्म्य सम्बन्ध से अनेक स्वभाव रूप न मानकर पदार्थ को अन्यथा माना जायेगा तो) कोई भी पदार्थ

केनचिदव्यभिचारचोदना हेतोः संभवति येन विशेषणमेकेनेत्यादि प्रयुज्यते ।
संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वमपि नास्य शङ्कनीयं, कुत्रचिदभिन्नरूपे भिन्नप्रमाणवेद्यत्वासंभवात् ।
तादृशः सर्वस्यानेकस्वभावत्वसिद्धेरन्यथार्थक्रियानुपपत्तेरवस्तुत्वप्रसक्तेः । यदप्यध्यधायि -

क्षित्यादिसमुदायार्थाः शरीरेंद्रियगोचराः ।

तेभ्यश्चैतन्यमित्येतन्न परीक्षाक्षमेरितम् ॥११०॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेंद्रियसंज्ञाविषयः, तेभ्यश्चैतन्यमित्येतदपि
न परीक्षाक्षमेरितं । शरीरादीनां चैतन्यव्यञ्जकत्वकारकत्वयोरयोगात् । कुतस्तदयोगः ?

व्यञ्जका न हि ते तावच्चितो नित्यत्वशक्तितः ।

क्षित्यादितत्त्ववद् ज्ञातुः कार्यत्वस्याप्यनिष्ठितः ॥१११॥

नित्यं चैतन्यं शश्वदभिव्यङ्ग्यत्वात् क्षित्यादितत्त्ववत्, शश्वदभिव्यङ्ग्यं तत्कार्यतानुपगमात् ।

अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकेगा । तथा अर्थक्रियाकारी न होने से सर्व पदार्थों में अवस्तु का प्रसंग आयेगा-
अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप न होने से सर्व पदार्थ अवस्तु हो जायेंगे । और भी जो चार्वाकों
ने आत्मा को भिन्न तत्त्व निषेध करने के लिए कहा है कि-

पृथ्वी आदि चार भूत चैतन्य के उत्पादक नहीं हैं

पृथ्वी आदि तत्त्वों के समुदाय रूप शरीर, इन्द्रियाँ और विषय ये पदार्थ हैं, इनसे चैतन्य उत्पन्न
हो जाता है । चार्वाकों का यह कथन भी परीक्षाक्षम नहीं है । अर्थात् परीक्षा करने पर खण्डित हो जाता
है यों प्रेरणा की जा चुकी है ॥११०॥

चार्वाकों के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस प्रकार चार तत्त्व हैं । इन चारों तत्त्वों का
समुदाय होने पर शरीर, इन्द्रियाँ और विषय नाम के पदार्थ उत्पन्न होते हैं । और इनसे उपयोगात्मक चैतन्य
उत्पन्न होता है । जैनाचार्य कहते हैं कि चार्वाकों का यह कथन परीक्षाक्षम (परीक्षा को झेलने में समर्थ)
नहीं है । क्योंकि शरीर, इन्द्रिय और विषयों के चैतन्य के व्यञ्जकत्व (प्रकट करने वाला) वा चैतन्य के
कारकत्व (करने वाला) का अयोग है । अर्थात् पृथ्वी आदि चार भूत चैतन्य के उत्पादक नहीं हैं ।

पृथ्वी आदि चैतन्य के उत्पादक क्यों नहीं हैं? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—

वे शरीर, इन्द्रिय और रूप-रस आदि विषय आत्मा के व्यञ्जक नहीं हैं । क्योंकि शरीर आदिक
को आत्मा का व्यञ्जक और कारक मान लेने पर पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के समान ज्ञाता (आत्मा)
के भी नित्यपने का प्रसंग आयेगा । अर्थात् जैसे पृथ्वी आदि चार तत्त्व नित्य हैं, उसी प्रकार पृथ्वी आदि
चार तत्त्वों से प्रगट होने वाला आत्मा भी नित्य तत्त्व होगा । तथा अभिव्यक्ति पक्ष में (अर्थात् पृथ्वी आदि
तत्त्वों से उत्पन्न होने वाला आत्मा पृथ्वी आदि का कार्य होगा परन्तु) चार्वाक ने आत्मा को कार्यपना
इष्ट नहीं किया है । अर्थात् आत्मा को किसी का कार्य स्वीकार नहीं किया है ॥१११॥

चैतन्य नित्य है, क्योंकि वह सर्वदा व्यञ्जकों (प्रगट करने वालों) के द्वारा योग्यतानुसार प्रगट
होता है । जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये मूल तत्त्व नित्य हैं । तथा चैतन्य सर्वदा ही व्यञ्जकों के

कदाचित्कार्यत्वोपगमे वाभिव्यक्तिवादविरोधात्, तदभिव्यक्तिकाल एतस्याभिव्यंग्यत्वं नान्यथेत्यसिद्धं सर्वदाभिव्यंग्यत्वं न मन्तव्यं, अभिव्यक्तियोग्यत्वस्य हेतुत्वात्। तत एव न परस्य घटादिभिरनैकान्तिकं तेषां कार्यत्वे सत्यभिव्यंग्यत्वस्याशाश्वतिकत्वात्। स्याद्वादिनां तु सर्वस्य कथंचिन्नित्यत्वान्न केनचिद्व्यभिचारः।

कुंभादिभिरनेकांतो न स्यादेव कथंचन।

तेषां मतं गुणत्वेन परैरिष्टः प्रतीतितः ॥११२॥

द्वारा प्रगट करने योग्य है, क्योंकि वह (पृथ्वी आदि व्यंजकों का) कार्य नहीं माना गया है। यदि चार्वाक कदाचित् (किसी भी समय) आत्मा को पृथ्वी आदि कारणों से निर्मित कार्य मानते हैं तो चैतन्य को अभिव्यक्ति कहने का विरोध आता है। अर्थात् जो कार्य होता है, वह अभिव्यक्त नहीं होता है, वह कारणों से उत्पन्न होता है।

चार्वाक उस अभिव्यक्ति के (गर्भ की प्रथम अवस्था के) काल में ही इस चैतन्य को प्रगट होने योग्य स्वीकार करते हैं। अन्य प्रकार से दूसरे समयों में चैतन्य को अभिव्यंग्य नहीं मानते हैं। भावार्थ- जैसे आटे और महुआ में पहले से ही मादक शक्ति नहीं है परन्तु उन दोनों के संयोग से मादक शक्ति नवीन प्रकट होती है, उसी प्रकार पूर्व में आत्मा नहीं थी- किन्तु पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के संयोग से नवीन उत्पन्न होती है। अतः चैतन्य को नित्य सिद्ध करने के लिए स्याद्वाद मत में दिया गया सर्वदा अभिव्यंग्यत्व (सर्वदा प्रगट रहता है यह हेतु) पक्ष में नहीं रहने के कारण असिद्ध हेत्वाभास है। जैनाचार्य कहते हैं कि चार्वाकों को ऐसा नहीं मानना (समझना) चाहिए। क्योंकि चैतन्य में प्रगट होने की योग्यता सर्व कालों में विद्यमान है अतः स्याद्वाद मत में चैतन्य में सर्वदा प्रगट होने की योग्यता को हेतुपना स्वीकार किया गया है। इसलिए इस (शाश्वत अभिव्यंग्यत्व) हेतु में चार्वाक के कथनानुसार घटादिक के द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभास दोष नहीं आ सकता है। क्योंकि घटादिक के कार्यपना होते हुए प्रगट होनापन सदा विद्यमान नहीं है। अर्थात् घटादिक कार्य है अतः शिवक, स्थास, कोष, कुशूल इन अवस्थाओं में ही घट के प्रगट होने की योग्यता है। उससे पहले और पीछे नहीं है। घटत्व शक्ति शाश्वत विद्यमान नहीं है। किन्तु चैतन्य (ज्ञान) सदा ही प्रगट होने की शक्ति से सम्पन्न है। अतः चैतन्य नित्य है, घटादिक नित्य नहीं हैं।

अथवा स्याद्वाद मत में कथंचित् (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा) सर्व पदार्थ नित्य माने गये हैं। अतः किसी से भी व्यभिचार नहीं हो सकता है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा स्याद्वाद मत में घटादिक पदार्थों को भी नित्य माना गया है।

इस प्रकार कथंचन घटादिक के द्वारा भी शाश्वतव्यंग्यत्व हेतु में अनैकान्तिक हेत्वाभास दोष नहीं आता है। क्योंकि उन स्याद्वादियों के मन्तव्य को प्रतीति के अनुसार गौण रूप से पर (दूसरे) वादियों ने भी इष्ट-स्वीकार किया है ॥११२॥

न होकांतनश्वरा घटादयः प्रदीपादिभिरभिव्यंग्या नाम नाशैकांतेऽभिव्यंग्याभिव्यंजकभावस्य विरोधान्नित्यैकांतवत्। जात्यंतरे तस्य प्रतीयमानत्वादिति प्रतिपक्षापेक्षया न घटादिभिरनेकांतः साधनस्य। ततः कथंचिच्चैतन्यनित्यताप्रसक्तिभयात्र शरीरादयश्चित्ताभिव्यंजकाः प्रतिपादनीयाः। शब्दस्य तात्वादिवत् तेभ्यश्चैतन्यमुत्पाद्यत इति क्रियाध्याहारादव्यज्यत इति क्रियाध्याहारस्य पौरंदरस्यायुक्तत्वात्। कारका एव शरीरादयस्तस्येति चानुपपन्नं, तेषां सहकारित्वेनोपादानत्वेन वा कारकत्वायोगादित्युपदर्शयन्नाह—

उपादान और उपादेय दोनों एक ही तत्त्व हैं

एकान्त से (सर्वथा) नाशशील घटादिक पदार्थ प्रदीप आदिक के द्वारा अभिव्यंग्य (प्रकट होने योग्य) नहीं है। क्योंकि विनाश के एकान्त पक्ष में व्यंग्य (प्रगट होना) और अभिव्यंजक^१ (प्रगट कर देना) भाव का विरोध है। जैसे नित्य एकान्त में अभिव्यंग्य-अभिव्यंजक भाव का विरोध है। अर्थात् जैसे सर्वथा नित्य को कोई प्रगट नहीं कर सकता है और न स्वयं प्रगट हो सकता है- क्योंकि वह नित्य अभिव्यक्त है- उसी प्रकार सर्वथा अनित्य पक्ष में भी प्रगट करना और प्रगट होना रूप भाव नहीं हो सकते। सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पक्ष के अतिरिक्त कालान्तर स्थायी कथंचित् नित्यानित्य स्वरूप जात्यन्तर पक्ष में ही व्यंग्य-व्यंजक भाव प्रतीत होते हैं। अतः चार्वाकों या नित्य-अनित्य पक्ष के प्रतिकूल स्याद्वाद मत में घटादिक के द्वारा 'शश्वदभिव्यक्ता' हेतु में अनैकान्तिक दोष नहीं आता है।

कथंचित् आत्मा नित्य और कथंचित् अनित्य है। इसीलिए कथंचित् नित्यता के प्रसंग के भय से 'शरीर आदि चैतन्य के अभिव्यंजक हैं' ऐसा प्रतिपादन नहीं करना चाहिए।

जैसे तालू, कण्ठ, ओष्ठ आदि शब्द के कारक (उत्पादक) हैं उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय आदि के द्वारा चैतन्य (आत्मा) उत्पन्न होता है (उत्पन्न किया जाता है)। सूत्र में 'तेभ्यश्चैतन्यं' 'उनसे चैतन्य' यह क्रियारहित वाक्य है। इसमें व्यज्यते, प्रगट होता है, इस क्रिया का अध्याहार करना (क्रिया पद लगाना) पौरन्दर^२ के अयुक्त है। अर्थात् शरीर आदि से आत्मा प्रगट होता है, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि चार्वाक आत्मा को मानता ही नहीं है। जो विद्यमान है उसको प्रगट करना अभिव्यंजक कहलाता है। जब आत्मा विद्यमान ही नहीं है तो शरीर आदि उसको प्रगट कैसे कर सकते हैं।

अथवा, शरीर आदि चैतन्य के कारक हेतु हैं- ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि यदि शरीर आदि आत्मा के कारक हेतु हैं तो 'सहकारी कारक हैं कि उपादान कारक हैं'? परन्तु शरीर आदिक के दोनों ही कारकत्व का अयोग है; उसी को दिखाते हुए आचार्य कहते हैं—

१. अविद्यमान कार्य के उत्पादक हेतु को कारक हेतु कहते हैं। पहले से विद्यमान पदार्थ को प्रगट करने वाले हेतु को व्यज्जक कहते हैं।

२. बृहस्पति को पुरन्दर कहते हैं और उसके अनुयायी चार्वाक को पौरन्दर कहते हैं।

इसके अतिरिक्त पुरन्दर नाम के एक चार्वाक दार्शनिक का मध्यकाल में अस्तित्व रहा है जिसका उल्लेख आचार्य कर रहे हैं तथा अन्यत्र भी शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख है।

दृष्टव्य - डा. एन.के. देवराज - भारतीय दर्शन, पृ. १३८, चतुर्थ संस्करण १९८२, लखनऊ।

नापि ते कारका वित्तेर्भवन्ति सहकारिणः ।

स्वोपादानविहीनायास्तस्यास्तेभ्योऽप्रसूतितः ॥११३॥

स्वोपादानरहिताया वित्तेः शरीरादयः कारकाः शब्दादेस्तात्वादिवदिति चेत् । असिद्धत्वात् ।
तथाहि—

नोपादानाद्विना शब्दो विद्युदादिः प्रवर्तते ।

कार्यत्वात्कुंभवद्यद्यदृष्टकल्पनमत्र ते ॥११४॥

क्व काष्ठांतर्गतादग्नेरग्न्यन्तरसमुद्भवः ।

तस्याविशेषतो येन तत्त्वसंख्या न हीयते ॥११५॥

शरीर, इन्द्रिय और इन्द्रियों के रूपादि विषय आत्मा की उत्पत्ति के सहकारी कारण तो नहीं हैं। क्योंकि स्वकीय उपादान कारण के बिना उस चैतन्य की शरीर आदि सहकारी कारणों से उत्पत्ति नहीं हो सकती है (क्योंकि उपादान कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं बनता है।) ॥११३॥

चार्वाक कहते हैं कि स्वकीय उपादान रहित ज्ञान (आत्मा) की उत्पत्ति के शरीर आदि उसी प्रकार सहकारी कारण हैं, जिस प्रकार स्वकीय उपादान रहित शब्द, बिजली आदिक के सहकारी कारण तालू, कण्ठ, बादलों का घर्षण आदि हैं। किन्तु चार्वाक का यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि यह हेतु असिद्ध है। उपादान कारण के बिना किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसी को आगे की कारिकाओं द्वारा कहते हैं—

उपादान कारण के बिना शब्द, बिजली आदिक उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि शब्दादि कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं वे उपादान के बिना उत्पन्न नहीं होते हैं। जैसे उपादान रूप मिट्टी आदि के बिना घट उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न- घट का उपादान मिट्टी तो दृष्टिगोचर होती है परन्तु शब्द का उपादान तो अदृष्ट की कल्पना मात्र है। शब्द का उपादान दृष्टिगोचर नहीं होता है।

उत्तर- काष्ठ के जलने पर अग्निरूप अवस्था में काष्ठ रूप पृथ्वी तत्त्व के भीतर अग्नि तत्त्व से दूसरी अग्नि उत्पन्न होती है। वह वहाँ दृष्टिगोचर हो रही है- चार्वाक उस अदृष्ट की कल्पना क्यों करते हैं। काष्ठ रूप पुद्गल ही अग्नि रूप परिणत होता है-ऐसा क्यों नहीं मानते हैं। और अग्नि तत्त्व के सिद्ध नहीं होने पर चार्वाक के तत्त्वों की संख्या क्यों नहीं नष्ट हो जायेगी। अतः जिस प्रकार अग्नि का उपादान कारण पुद्गल है-उसी प्रकार शब्द का उपादान कारण शब्द रूप परिणत होने योग्य भाषा वर्णारूप पुद्गलस्कन्ध है। शब्द के उपादान कारण की कल्पना कल्पित नहीं है। अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति में जिस प्रकार चार्वाक अदृष्ट पूर्व अग्नितत्त्व को उपादान मानते हैं, उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होने वाला भाषावर्णारूप पुद्गल स्कन्ध शब्द का उपादान है, ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि चार्वाक के काष्ठ के भीतर अग्नितत्त्व को अदृष्ट रूप से मानने में और शब्द के अदृष्ट उपादान कारणों के मानने में कोई अन्तर नहीं है ॥११४-११५॥

प्रत्यक्षतोऽप्रतीतस्य शब्दाद्युपादानस्यानुमानात्साधने परस्य यद्यदृष्टकल्पनं तदा प्रत्यक्षतोऽप्रतीतात्काष्ठांतर्गतादग्रेनुमीयमानादन्यन्तरसमुद्भवसाधने तददृष्टकल्पनं कथं न स्याद्भूतवादिनः सर्वथा विशेषाभावात्। काष्ठादेवानलोत्पत्तौ क्व तत्त्वसंख्याव्यवस्था काष्ठोपादेयस्यानलस्य काष्ठेतरत्वाभावात् पृथिवीत्वप्रसक्तेः। पार्थिवानां च मुक्ताफलानां स्वोपादाने जलेऽन्तर्भावाज्जलत्वापत्तेर्जलस्य च चंद्रकांतादुद्भावः पार्थिवत्वानतिक्रमात्। यदि पुनः काष्ठादयोऽनलादीनां नोपादानहेतवस्तदानुपादानानलाद्युत्पत्तिः कल्पनीया। सा च न युक्ता प्रमाणविरोधात्। ततः स्वयमदृष्टस्यापि पावकाद्युपादानस्य कल्पनायां चितोऽप्युपादानमवश्यमभ्युपेयम्।

प्रत्यक्ष अप्रतीत (दृष्टिगोचर नहीं होने वाले) शब्द, बिजली आदि के उपादान कारणों के अनुमान से सिद्ध करने में यदि अदृष्ट कल्पना है (अर्थात् चार्वाक शब्द के उपादान को केवल अदृष्ट कल्पना मात्र मानता है) तो काष्ठ के अन्तर्गत प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होने वाले दूसरे तत्त्व से अनुमान के द्वारा अग्नि की समीचीन उत्पत्ति सिद्ध करने में भूतवादी चार्वाक के अदृष्ट तत्त्व की कल्पना करने में स्याद्वाद मत में और चार्वाक मत में कोई अन्तर नहीं है- क्योंकि चार्वाक भी अग्नि की उत्पत्ति में अदृष्ट पूर्व अग्नि की उपादान रूप से कल्पना करता ही है।

यदि चार्वाक काष्ठ से ही अग्नि की उत्पत्ति मानते हैं (काष्ठ के भीतर अदृष्ट अग्नितत्त्व स्वीकार नहीं करते हैं) तो तत्त्वों की चार संख्या की व्यवस्था कैसे होगी? क्योंकि पृथ्वी रूप काष्ठ को उपादान कारण स्वीकार कर उत्पन्न हुई उपादेय अग्नि के पार्थिव काष्ठ से भिन्नता का अभाव होने से अग्नि के पृथ्वीत्व का ही प्रसंग आता है अर्थात् काष्ठरूप पृथ्वी से अभिन्न होने से अग्नि पृथ्वी रूप ही है।

तथा इसी प्रकार पृथ्वी के विकार स्वरूप मोतियों का अपने उपादान कारण जल में अन्तर्भाव हो जाने से जल का भी अभाव हो जायेगा। अर्थात् मोती का उपादान कारण जल है और मोती काठिन्य आदि गुणयुक्त होने से पृथ्वी स्वरूप है- अतः जलतत्त्व का अभाव हो जायेगा।

अथवा- पृथ्वी के विकार (पर्याय) रूप चन्द्रकान्त मणि से जल की उत्पत्ति होने से जल के भी पार्थिवपने का अतिक्रमण नहीं होगा। अर्थात् जल भी अपने उपादान चन्द्रकान्त मणिरूप पृथ्वी तत्त्व में गर्भित हो जायेगा।

यदि पुनः काष्ठ, जल और चन्द्रकान्त मणि को अग्नि, मोती और जल का उपादान कारण नहीं माना जायेगा तब तो बिना उपादान कारण के अग्नि, मोती आदि की उत्पत्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। परन्तु वह कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उपादान कारण के बिना अग्नि आदि की उत्पत्ति मानने में प्रमाण से विरोध आता है। उपादान कारण ही कार्यस्वरूप परिणत होता है।

अतः यदि आप (चार्वाक) काष्ठ के भीतर स्वयं दृष्टिअगोचर अग्नि तत्त्व को दृश्यमान अग्नि की उत्पत्ति में उपादान कारण की कल्पना करते हो तो उसी से चेतन का भी उपादान कारण आत्मा आपको अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेदुपादानं चितो मतम् ।
 स एवात्मास्तु चिज्जातिसमन्वितवपुर्यदि ॥११६॥
 तद्विजातिः कथं नाम चिदुपादानकारणम् ।
 भवतस्तेजसोऽभोवत्तथैवादृष्टकल्पना ॥११७॥
 सत्त्वादिना समानत्वाच्चिदुपादानकल्पने ।
 क्षमादीनामपि तत्केन निवार्येत परस्परम् ॥११८॥
 येन नैकं भवेत्तत्त्वं क्रियाकारकघाति ते ।
 पृथिव्यादेरशेषस्य तत्रैवानुप्रवेशतः ॥११९॥

यदि सूक्ष्म भूतविशेष को चार्वाक आत्मा का उपादान मानते हैं तो उस सूक्ष्म भूत का शरीर अनादि अनन्त काल से अन्वित रूप चैतन्य शक्ति से सहित है तब तो वही आत्मा है ॥११६॥

क्योंकि चार्वाक ने सूक्ष्म भूततत्त्व को चित् शक्ति से युक्त माना है अतः आत्मा कहना या चित् शक्ति युक्त कहना एक ही बात है। इसमें शब्दभेद अवश्य है परन्तु अर्थभेद नहीं है।

यदि चार्वाक मत में अन्वित चित् शक्ति से (भिन्न) विजातीय सूक्ष्म भूत जड़ स्वरूप स्वीकार किया है- तो वह अचेतन सूक्ष्म भूत तत्त्व चेतन का उपादान कारण कैसे हो सकता है; जैसे चार्वाक मत में अग्नि का उपादान जल नहीं हो सकता है। अतः विजातीय जड़ स्वरूप सूक्ष्म भूत तत्त्व आत्मा का उपादान कारण है, आपकी यह अदृष्ट कल्पना युक्ति से शून्य है ॥११७॥

यदि जड़ और चेतन को सत्त्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व और प्रमेयत्व आदि की अपेक्षा समान मान कर (सत्त्वादि से सजातीय मानकर) सूक्ष्मभूत जड़ तत्त्व को आत्मा के उपादान कारण की कल्पना करोगे तो सत्त्व, द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा पृथ्वी, जल आदि में भी सजातीयता है। अतः उनमें परस्पर उपादान उपादेय होने को कौन रोक सकता है अर्थात् कोई नहीं रोक सकता। और पृथ्वी आदि को परस्पर उपादान एवं उपादेय भाव मान लेने पर चार्वाक मत में एक भी स्वतंत्र तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकेगा; जो क्रियाकारक का घात करने वाला है। और ऐसा होने पर पृथ्वी आदि सम्पूर्ण तत्त्वों का एक सत्त्व तत्त्व में ही अनुप्रवेश (अन्तर्भाव) हो जायेगा ॥११८-११९॥

भाषार्थ- यदि सामान्य रूप से व्यापक सत्त्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों से सजातीयत्व माना जाता है तो कार्य-कारणभाव, कर्ता-क्रियाभाव नहीं हो सकते। क्योंकि जैसे कार्य सत् है वैसे कारण भी सत् है अतः कौन किसका कारण और कौन किसका कार्य होगा। तब उपादान-उपादेय भाव व्यवस्था भी नहीं हो सकती। एक द्रव्य में ही उपादान-उपादेय भाव होता है, भिन्न-भिन्न द्रव्यों में (चैतन्य और भूतजड़ में) उपादान-उपादेय भाव नहीं है।

सूक्ष्मभूतविशेषश्चैतन्येन सजातीयो विजातीयो वा तदुपादानं भवेत्? सजातीयश्चेदात्मनो नामान्तरेणाभिधानात्परमतसिद्धिः। विजातीयश्चेत् कथमुपादानमग्रेर्जलवत्। सर्वथा विजातीयस्याप्युपादानत्वे सैवादृष्टकल्पना। गोमयादेर्वृक्षिकस्योत्पत्तिदर्शनाद्वादृष्टकल्पनेति चेत्, न वृक्षिकशरीरगोमययोः पुद्गलद्रव्यत्वेन सजातीयत्वात्, तयोरुपादानोपादेयतापायाच्च। वृक्षिकशरीरारंभका हि पुद्गलास्तदुपादानं न पुनर्गोमयादिस्तस्य सहकारित्वात्। सत्त्वेन द्रव्यत्वादिना

प्रश्न- चार्वाक दर्शन में सजातीय सूक्ष्मभूतविशेष चैतन्य का उपादान होता है कि विजातीय सूक्ष्मभूतविशेष चैतन्य का उपादान होता है?

उत्तर- यदि चैतन्य का सजातीय सूक्ष्मभूतविशेष आत्मा का उपादान है तब तो आत्मा का ही नामान्तर सूक्ष्मभूतविशेष का कथन होने से जैन सिद्धान्त की सिद्धि होती है। अर्थात् चैतन्य का सजातीय सूक्ष्मभूतविशेष आत्मा ही सिद्ध होता है, केवल नाम का अन्तर है, अर्थ का नहीं।

यदि चैतन्य का विजातीय सूक्ष्मभूतविशेष आत्मा का उपादान है, ऐसा कहते हो तो जैसे विजातीय जल अग्नि का उपादान नहीं हो सकता है- तो फिर विजातीय सूक्ष्मभूतविशेष आत्मा का उपादान कैसे हो सकता है? यदि सर्वथा विजातीय पदार्थों को भी उपादान कारण मानोगे तो फिर तो यह अदृष्ट कल्पना है (जो प्रतीति से विरुद्ध है)।

यदि चार्वाक यों कहे कि गोबर आदि से बिच्छू की उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए जड़ से (जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी रूप सूक्ष्मभूतविशेषों से) आत्मा की उत्पत्ति मानना अदृष्ट कल्पना नहीं है तो जैनाचार्य कहते हैं कि आपका इस प्रकार कहना उचित नहीं है क्योंकि बिच्छू का शरीर और गोबर इन दोनों में पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा सजातिपना है। इसलिए इन दोनों में शरीर और गोबर में उपादान उपादेय भाव है। परन्तु बिच्छू की आत्मा और गोबर का उपादान उपादेय भाव सर्वथा नहीं है।

अथवा- बिच्छू के शरीर की आरम्भक (उत्पन्न करने वाली) पुद्गलमय आहारवर्गणाएँ ही बिच्छू के शरीर को बनाने वाली उपादान कारण हैं। गोबर बिच्छू के शरीर का उपादान कारण भी नहीं है- वह दृश्यमान गोबर आदि तो शरीर का सहकारी कारण है।

चार्वाक कहते हैं कि सत्त्व और द्रव्यत्व प्रमेयत्व आदि की अपेक्षा सूक्ष्मभूतविशेष की चैतन्य के साथ सजातीयता होने से सूक्ष्मभूतविशेष को ही चैतन्य का उपादान माना गया है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो - पृथ्वी, जलादिक के भी परस्पर में उपादान, उपादेय भाव हो जाना चाहिए। क्योंकि उसके निवारक (रोकने वाले) का अभाव है। फिर पृथ्वी आदि चार तत्त्व न मानकर एक पुद्गल द्रव्य ही मानना चाहिए।

वा सूक्ष्मभूतविशेषस्य सजातीयत्वाच्चेतनोपादानत्वमिति, तत एव क्षमादीनामन्योऽन्यमुपादानत्वमस्तु निवारकाभावात्। तथा सति तेषां परस्परमनंतर्भावः तदंतर्भावो वा स्यात्? प्रथमपक्षे चैतन्यस्यापि भूतेष्वंतर्भावाभावात् तत्त्वांतरत्वसिद्धिः। द्वितीयपक्षे तत्त्वमेकं प्रसिद्धक्रेत् पृथिव्यादेः सर्वत्र तत्रैवानुप्रवेशनात्। तच्चायुक्तं क्रियाकारकघातित्वात्।

तस्माद्द्रव्यांतरापोढस्वभावान्वयि कथ्यताम्।

उपादानं विकार्यस्य तत्त्वभेदोऽन्यथा कुतः ॥१२०॥

तत्त्वमुपादानत्वं विकार्यत्वं च तद्धेदो द्रव्यांतरव्यावृत्तेन स्वभावान्वयित्वे सत्युपादानोपादेययोर्युक्तो नान्यथातिप्रसंगादित्युपसंहर्तव्यं। तथा च सूक्ष्मस्य

आप द्वारा पृथ्वी आदिक के परस्पर उपादान-उपादेय भाव स्वीकार करने पर जैन पूछते हैं कि पृथ्वी आदि में उपादान-उपादेय भाव अन्तर्भाव का अभाव होकर होता है? या परस्पर अन्तर्भाव होकर होता है?

प्रथम पक्ष में, यदि पृथ्वी आदि में परस्पर अन्तर्भाव नहीं होता है तब तो चैतन्य का भी सूक्ष्मभूतों में अन्तर्भाव नहीं होगा। और चैतन्य में सूक्ष्मभूत विशेषों के अन्तर्भाव का अभाव होने से तत्त्वान्तर (चार भूतों से भिन्न आत्मा) की सिद्धि हो जाती है।

द्वितीय पक्ष में (पृथ्वी जलादि का परस्पर में अन्तर्भाव कर लेने पर) एक ही तत्त्व की सिद्धि होती है। क्योंकि पृथ्वी आदि चारों तत्त्वों का एक पुद्गल तत्त्व में ही प्रवेश हो जायेगा। सभी तत्त्वों का एक तत्त्व में प्रवेश करना युक्त नहीं है- क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादियों के समान सर्व पदार्थों का एक ब्रह्मतत्त्व में अन्तर्भाव करने में क्रिया-कारक भाव का घात हो जाता है।

इसलिए स्वपर्याय वाले प्रकृत द्रव्य से अतिरिक्त, दूसरे द्रव्य से व्यावृत्त स्वभाव वाला, 'यह वही है' इस अन्वय ज्ञान का जो विषय है वही अन्वयी द्रव्य विकार को प्राप्त-पर्यायान्तर को प्राप्त होने वाले उस कार्य का उपादान कारण होता है। अन्यथा (यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकार से मानोगे तो) पृथ्वी आदि तत्त्वों में भेद कैसे होगा? अर्थात् अनादिकाल से अखण्ड पर्यायों को धारण करने वाला द्रव्य पूर्व पर्याय के द्वारा उपादान और उत्तर पर्याय से उपादेय होता है। दूसरा सजातीय या विजातीय द्रव्य उसकी पर्यायों का उपादान कारण नहीं है ॥१२०॥

उपादान कारण और उसका विकार-उपादेय कार्य दोनों एक ही तत्त्व हैं। उन उपादान और उपादेय में केवल कार्य-कारण रूप से भेद है। पृथक्-भिन्न तत्त्वों की अपेक्षा भेद नहीं है। क्योंकि वे दोनों ही दूसरे द्रव्यों के स्वभावों से व्यावृत्त (पृथग्भूत) स्वकीय स्वभावों से अन्वित (संयुक्त) होने पर ही उपादान-उपादेय भाव युक्त (उचित) हैं। जो द्रव्यान्तर स्वभाव से व्यावृत्त नहीं है और अपने त्रिकालगोचर स्वभाव से अन्वित नहीं है उनमें भी उपादान, उपादेय भाव मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् कोई भी किसी का उपादान बन जायेगा। अर्थात् गेहूँ से जौ के अंकुर उत्पन्न हो जायेंगे। इसलिए इसका उपसंहार करना चाहिए-

भूतविशेषस्याचेतनद्रव्यव्यावृत्तस्वभावेन चैतन्यमनुगच्छतस्तदुपादानत्वमिति वर्णादिरहितः स्वसंवेद्योऽनुमेयो वा स एवात्मा पञ्चमतत्त्वमनात्मज्ञस्य परलोकप्रतिषेधासंभवव्यवस्थापनपरतया प्रसिद्ध्यत्येवेति निगद्यते।

सूक्ष्मो भूतविशेषश्च वर्णादिपरिवर्जितः।

स्वसंवेदनवेद्योऽयमनुमेयोऽथवा यदि॥१२१॥

सर्वथा पञ्चमं भूतमनात्मज्ञस्य सिद्ध्यति।

स एव परलोकीति परलोकक्षतिः कथम्॥१२२॥

नेदृशो भूतविशेषश्चैतन्यस्योपादानं किंतु शरीरादय एव तेषां सहकारित्वेन कारकत्वपक्षानाश्रयादिति चेत्।

आत्मा ही सूक्ष्मभूत विशेष है और वही ज्ञान का उपादान कारण है

तथा च - (विजातीय पदार्थ उपादान नहीं होता है ऐसा सिद्ध हो जाने पर) अचेतन जड़ द्रव्यों के स्वभावों से व्यावृत्त (पृथग्भूत) स्वभाव के द्वारा सर्वकाल चैतन्य का अनुगमन करने वाला आत्मा ही सूक्ष्मभूतविशेष है और वही ज्ञान का उपादान कारण है। अर्थात्-आत्मा ही सूक्ष्मभूतविशेष है और वही ज्ञान का उपादान कारण है। जो सूक्ष्मभूतविशेष आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, स्वसंवेद्य है। अर्थात् स्वयं स्व का अनुभव कर रहा है और दूसरों के द्वारा अनुमेय है। अर्थात् इस भौतिक शरीर में स्थित आत्मा, वचन, कायादि की चेष्टा के द्वारा अनुमानगम्य होने से अनुमेय है। इस प्रकार आत्मा को नहीं जानने वाले चार्वाक को पाँचवाँ आत्म तत्त्व स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि सूक्ष्मभूत तत्त्व को मान लेने पर परलोक के निषेध की संभावना न होने की व्यवस्था में चार्वाक स्वयं तत्परता से प्रसिद्ध ही है। ऐसा कहा जाता है कि-

“चैतन्य शक्ति का धारक सूक्ष्मभूतविशेष वर्ण, रस, गन्ध आदि से रहित है स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा स्वसंवेद्य है। तथा यह अनुमान ज्ञान के द्वारा अनुमेय है”- इस प्रकार कथन करने वाले चार्वाक के दर्शन में चार भूतों से अतिरिक्त पाँचवाँ भूत आत्म तत्त्व सिद्ध हो ही जाता है। वह आत्मा ही परलोक को धारण करने वाला परलोकी है- अतः परलोक की क्षति कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती॥१२१-१२२॥

चार्वाक कहते हैं कि रूप, रस आदि से रहित स्वसंवेद्य और दूसरों के द्वारा अनुमेय सूक्ष्मभूत विशेष को हम चैतन्य का उपादान कारण नहीं मानते हैं-किन्तु शरीर, इन्द्रिय और विषयों को ही चैतन्य के उपादान कारण मानते हैं। हमारा जो पक्ष था कि चैतन्य के सूक्ष्मभूत उपादान कारण हैं और शरीर, इन्द्रियाँ तथा विषय सहकारी कारण होकर कारक हैं तो अब इस पक्ष का हम आश्रय नहीं लेते हैं। यानी शरीरादिक को निमित्त कारण न मानकर उनको ही चैतन्य का उपादान कारण मानते हैं। चार्वाक के ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि-

यदि शरीर आदि ही आत्मा के उपादान हेतु माने जायेंगे, तब तो विज्ञान के भाव-भावित्व का प्रसंग आयेगा। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और विषयों के होने पर ज्ञान होगा और इनके अभाव में ज्ञान नहीं होगा। परन्तु ऐसा शरीर के साथ ज्ञान का अन्वय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों के व्यापार और पदार्थ के नहीं होने पर भी विकल्प ज्ञान सम्भव है। अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार के बिना भी अनेक मानसिक विकल्प उठते रहते हैं। अतः व्यतिरेक व्यभिचार होने से इस चैतन्य के वे शरीर आदिक उपादान कारण नहीं हो सकते हैं।

शरीरादय एवास्य यद्युपादानहेतवः ।
तदा तद्भावभावित्वं विज्ञानस्य प्रसज्यते ॥१२३॥
व्यतीतेऽपीन्द्रियेऽर्थे च विकल्पज्ञानसंभवात् ।
न तद्धेतुत्वमेतस्य तस्मिन्सत्यप्यसंभवात् ॥१२४॥
कायश्लेष्कारणं यस्य परिणामविशेषतः ।
सद्यो मृततनुः कस्मात्तथा नास्थीयतेमुना ॥१२५॥
वायुविश्लेषतस्तस्य वैकल्याच्चेन्निबन्धनम् ।
चैतन्यमिति संप्राप्तं तस्य सद्भावभावतः ॥१२६॥
सामग्रीजनिका नैकं कारणं किञ्चिदीक्ष्यते ।
विज्ञाने पिष्टतोयादिर्मदशक्ताविवेति चेत् ॥१२७॥
संयुक्ते सति किं न स्यात्क्षमादिभूतचतुष्टये ।
चैतन्यस्य समुद्भूतिः सामग्र्या अपि भावतः ॥१२८॥

तथा इन्द्रियव्यापार और पदार्थ के होने पर भी ज्ञान की असम्भवता है। अर्थात् मूर्च्छित वा मृतक जीव के शरीर और इन्द्रियों के होने पर भी ज्ञान की संभवता नहीं है। अतः शरीर आदि ज्ञान के सहकारी कारण तो हो सकते हैं परन्तु उपादान कारण नहीं हो सकते ॥१२३-१२४॥

परिणामविशेष युक्त काय को चैतन्य का उपादान कारण मान लेने पर शीघ्र ही मरे हुए प्राणी का शरीर उसी प्रकार चैतन्य परिणति का कारण क्यों नहीं होता है। अर्थात् शीघ्र मरा हुआ वह शरीर भी पूर्व की भाँति चैतन्य परिणति सहित हो जाना चाहिए। (यदि चार्वाक यो कहेंगे कि) मृतक शरीर से प्राणवायु निकल जाती है अतः मृतक शरीर वायुविश्लेष से रहित होने से चैतन्य का उपादान कारण नहीं है। ऐसा मानने पर तो वायु का सद्भाव होने पर ही चैतन्य का अस्तित्व और वायु के न रहने पर चैतन्य का अभाव है- ऐसा मानना होगा ॥१२५-१२६॥

चार्वाक कहता है कि- जैसे मदशक्ति की उत्पत्ति में पिठीका जल, गुड़, महुआ आदि कारणों की पूर्णता रूप सामग्री कारण है, अकेला महुआ आदि मदशक्ति का कारण नहीं है; उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों तत्त्वों का समुदाय विज्ञान की उत्पत्ति का उपादान कारण है। जो कारणों की समग्रता कार्य को उत्पन्न करती है वह किञ्चित् एक कारणजन्य नहीं देखी जाती है ॥१२७॥

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि दालादि पकाते समय पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि स्वरूप भूतचतुष्टय का संयोग होने पर भी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है, जबकि उसमें कारण समुदाय स्वरूप सामग्री का सद्भाव पाया जाता है ॥१२८॥

यदि कहो कि- पृथ्वी आदि की अतिशयधारी विशिष्ट पर्याय का अभाव होने से दाल पकने के बर्तन में चैतन्य उत्पन्न नहीं होता है, तो प्रश्न है कि वह विशिष्ट परिणाम कौनसा माना गया है?

तद्विशिष्टविवर्तस्यापायाच्चेत्स क इष्यते ।
 भूतव्यक्त्यन्तरासंगः पिठिरादावपीक्ष्यते ॥१२९॥
 कालपर्युषितत्वं चेत्पिष्टादिवदुपेयते ।
 तत्किं तत्र न संभाव्यं येन नातिप्रसज्यते ॥१३०॥
 भूतानि कतिचित्किंचित्कर्तुं शक्तानि केनचित् ।
 परिणामविशेषेण दृष्टानीति मतं यदि ॥१३१॥
 तदा देहेन्द्रियादीनि चिद्विशिष्टानि कानिचित् ।
 चिद्विवर्तसमुद्भूतौ संतु शक्तानि सर्वदा ॥१३२॥

यदि दूसरे भूत व्यक्तियों के संयोग से विशिष्ट पर्याय उत्पन्न होती है, ऐसा स्वीकार करते हो तो पिठिर आदि (बर्तन में स्थित अग्नि में पकते हुए आटा दाल आदि) में भी वह विशिष्ट परिणति देखी जाती है अतः वहाँ चैतन्य उत्पन्न हो जाना चाहिए।

यदि कहो कि महुआ आदि के समान कुछ समय तक गलना-सड़ना रूप विशिष्ट परिणाम होने पर चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है, तो बर्तन में स्थित घोल किये हुए आटे आदि में विशिष्ट वायु आदि का संयोग है- और वह बहुत काल तक स्थित भी है, उसमें चैतन्य शक्ति क्यों नहीं सम्भव है। अर्थात् जलेबी आदि के लिये घोले हुए आटे में चैतन्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है; जिससे अतिप्रसंग नहीं होता है। अर्थात् वहाँ चैतन्य की उत्पत्ति का प्रसंग क्यों नहीं आता है ॥१२९-१३०॥

चार्वक कहता है कि-“जैसे वर्षा ऋतु के जल और मिट्टी का संयोग पाकर किसी स्थान में मेंढक आदि असंख्यात जीव उत्पन्न हो जाते हैं, सब स्थानों और सर्व ऋतुओं में उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार कितने ही, और कोई-कोई विशिष्ट परिणाम वाले भूतचतुष्टय किसी विशेष परिणाम से किन्हीं विशेष जीवों को उत्पन्न करने में समर्थ देखे जाते हैं। अर्थात्- गर्भ या गोबर आदि विशिष्ट स्थानों में मिश्रित भूतचतुष्टय चैतन्य को उत्पन्न करते हैं, थाली आदि में नहीं ॥१३१॥

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं- कि ऐसा मानने पर तो चेतन आत्मा से संयुक्त हो रहे कोई विशिष्ट शरीर, इन्द्रियादिक ही उस गर्भ आदिक के समय चैतन्य पर्याय की उत्पत्ति में सर्वदा समर्थ होते हैं। ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् दृष्टिअगोचर चैतन्य रूप उपादान कारण से तथा शरीर, इन्द्रियाँ, कर्मों का क्षयोपशम आदि निमित्त कारणों को पाकर नर, नारक आदि जीव की पर्यायें उत्पन्न होती हैं, नूतन जीव उत्पन्न नहीं होता है। जीव का शरीर भूतचतुष्टय से उत्पन्न हो सकता है, चैतन्य आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है ॥१३२॥

तथा सति न दृष्टस्य हानिर्नादृष्टकल्पना ।

मध्यावस्थावदादौ च चिद्देहादेशिदुद्भवात् ॥१३३॥

ततश्च चिदुपादानाच्चेतनेति विनिश्चयात् ।

न शरीरादयस्तस्याः संत्युपादानहेतवः ॥१३४॥

तदेवं न शरीरादिभ्योऽभिव्यक्तिवदुत्पत्तिश्चैतन्यस्य घटते सर्वथा तेषां व्यञ्जकत्ववत्कारकत्वानुपपत्तेः ।

एतेन देहचैतन्यभेदसाधनमिष्टकृत् ।

कार्यकारणभावेनेत्येतदध्वस्तं निबुद्ध्यताम् ॥१३५॥

निरस्ते हि देहचैतन्ययोः कार्यकारणभावे व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे च तेन तयोर्भेदसाधने सिद्धसाधनमित्येतन्निरस्तं भवति तत्त्वांतरत्वेन तद्भेदस्य साध्यत्वात् । न च यद्यस्य कार्यं

इस प्रकार ऐसा कार्य, कारण मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से दृष्ट पदार्थ की हानि नहीं होती है और न अदृष्ट कल्पना का प्रसंग आता है। क्योंकि मध्य की अवस्था के समान आदि में भी ज्ञान शरीर से चैतन्य उत्पन्न होता है अर्थात् जैसे गर्भ अवस्था से लेकर मरणपर्यन्त आत्मा रहता है, उसी प्रकार उसके पहले भी ज्ञानशरीरी आत्मा था- उस आत्मा की पर्याय आत्मा से उत्पन्न हुई है। नूतन आत्मा चार भूतों से उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए चेतन उपादान से ही चेतनात्मा उत्पन्न हुई है- ऐसा निश्चय करना चाहिए। अतः शरीर, इन्द्रिय और विषय चेतना के उपादान कारण नहीं हैं ॥१३३-१३४॥

इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि- जैसे शरीर आदि से आत्मा की अभिव्यक्ति होती है- वैसे शरीर आदि से आत्मा की उत्पत्ति घटित नहीं होती है। क्योंकि उन शरीर, इन्द्रिय, विषय और भूतचतुष्टय के चैतन्य के अभिव्यञ्जक के समान कारकत्व की अनुपपत्ति है। अर्थात् शरीर आदि कारणों से आत्मा प्रगट होता है, वा दृष्टिगोचर होता है- परन्तु उत्पन्न नहीं होता है। अतः शरीर आदि आत्मा के अभिव्यञ्जक तो हैं परन्तु कारक नहीं हैं।

इस भिन्न लक्षण हेतु के कथन से देह और चैतन्य में भेदसाधन इष्ट किया है। अर्थात्- जड़ और चैतन्य के भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा दोनों में भेद सिद्ध किया है। तथा - चार्वाक द्वारा कथित कार्य - कारण की अपेक्षा आत्मा और शरीर में भेद सिद्ध किया था - अर्थात् शरीर आदि जड़ पदार्थ आत्मा की उत्पत्ति के कारण हैं और आत्मा कार्य है- ऐसा कार्य-कारण भेद सिद्ध किया था, उसका भी खण्डन कर दिया है। (जड़ शरीर आदि आत्मा के उपादान कारण नहीं हैं- और न चेतन आत्मा जड़ शरीर आदि का कार्य है) ऐसा समझना चाहिए ॥१३५॥

आत्मा और शरीर में कार्य-कारण भेद है- अतः आत्मा और शरीर में भेद सिद्ध करना सिद्ध-साधन दोष है ऐसा चार्वाक ने जैनाचार्य के प्रति कहा था। परन्तु स्याद्वाद द्वारा कथित भिन्न-भिन्न लक्षण से आत्मा और शरीर के व्यङ्ग्य-व्यञ्जक तथा कार्य-कारण भाव का खण्डन कर देने पर दोनों के भेद सिद्ध करने में चार्वाक के द्वारा उठाये गये सिद्धसाधन दोष का भी निराकरण कर दिया गया है। अर्थात्

तत्तत्तत्त्वान्तरमतिप्रसंगात् । नापि स्वात्मभूतं व्यंग्यं तत् एव । व्यञ्जकाद्भिन्नं तत्तत्त्वान्तरमिति चेन्न ।
अद्वयो रसनस्य तद्भावप्रसंगात् । रसनं हि व्यंग्यमद्वयो भिन्नं च ताभ्यो न च तत्त्वान्तरं
तस्याप्तत्वेऽन्तर्भावात् । कार्यकारणयोः सर्वथा भेदात्तद्विशेषयोर्व्यंग्यव्यञ्जकयोरपि भेद एवेति चेन्न ।
कयोश्चिदभेदोपलब्धेः । कथमन्यथा चैतन्यस्य देहोपादानत्वेऽपि तत्त्वान्तरता न स्यात्, देहाभिव्यंग्यत्वे
वा । येन कार्यकारणभावेन देहचैतन्ययोर्भेदे साध्ये सिद्धसाधनमुद्भाव्यते ।

आत्मा और शरीर में कार्य-कारण की अपेक्षा ही भेद नहीं है अपितु लक्षण अपेक्षा भी भेद है अतः सिद्धसाधन
दोष नहीं है क्योंकि जैन सिद्धान्त में शरीर और आत्मा में तत्त्वान्तर (भिन्न-भिन्न तत्त्व) से भेद सिद्ध किया है ।
अर्थात् शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं, ऐसा सिद्ध किया है । क्योंकि जो जिस का
कार्य होता है- वह तत्त्वान्तर (पृथक्तत्त्व) नहीं होता है, ऐसा न मानकर यदि प्रत्येक कारण को कार्य से भिन्न
तत्त्व स्वीकार किया जायेगा तो अति प्रसंग दोष आयेगा अर्थात् असंख्यात तत्त्व हो जायेंगे ।

तथा स्वात्मभूत व्यंग्य है- वही आत्मा का स्वरूप नहीं है । वह व्यंग्य (प्रगट होने योग्य आत्मा- द्रव्य)
उत्पादक (व्यञ्जक) से भिन्न तत्त्वान्तर नहीं है । ऐसा कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर जल से
रसना इन्द्रिय के व्यंग्य हो जाने के कारण उसके भी तत्त्वान्तर (भिन्न तत्त्व) होने का प्रसंग आयेगा । जल तत्त्व
से व्यंग्य (निर्मित वा उत्पन्न) रसना इन्द्रिय निश्चय से पानी से व्यंग्य (उत्पन्न) है और जल से भिन्न है परन्तु
चार्वाक मत में रसना इन्द्रिय को चार भूतों से भिन्न तत्त्व नहीं माना है । अर्थात् रसना इन्द्रिय को जलतत्त्व में
गर्भित किया है तथा नासिका इन्द्रिय को पृथ्वी तत्त्व में, चक्षु इन्द्रिय को अग्नि तत्त्व में और स्पर्शन इन्द्रिय को
वायवीय (वायुतत्त्व) तत्त्व माना है ।

कार्य-कारण में सर्वथा भेद होने से उस विशेषवान और विशेष्य में, व्यंग्य और व्यञ्जक में भी भेद ही
है । अर्थात् नैयायिक के समान कार्य-कारण सर्वथा भिन्न ही हैं । अतः कार्य-कारण भाव के व्याप्य रूप होने से
व्यंग्य और व्यञ्जक भाव में भी भेद ही है । जैनाचार्य कहते हैं कि- चार्वाक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है-
क्योंकि किन्हीं-किन्हीं कार्य और कारणों में अभेद की उपलब्धि भी होती है । जैसे मिट्टी और घट में, तन्तु और
पट में कार्य-कारण भाव में अभेदत्व है । किन्हीं व्यंग्य और व्यञ्जक भाव में भी अभेद पाया जाता है । जैसे
व्यञ्जक (प्रगट करने वाला) दीपक और व्यंग्य (प्रगट होने वाले) घट में पौद्गलिक दृष्टि से अभेद है - अर्थात्
व्यंग्य और व्यञ्जक दोनों ही पुद्गल की पर्याय हैं । अन्यथा (यदि कार्य-कारण और व्यंग्य-व्यञ्जक भाव में
कथंचित् किसी में अभेद स्वीकार नहीं किया जायेगा तो) चैतन्य स्वरूप कार्य के देह रूप कारण का उपादान
हेतु होने पर भी कारक पक्ष में भिन्न तत्त्वत्व क्यों नहीं होगा । अथवा आत्मा की शरीर से प्रगटता मानने पर
भी व्यञ्जक पक्ष में तत्त्वान्तर (भिन्न-भिन्न तत्त्व) रूप से भेद क्यों नहीं होगा । जिससे कि कार्यरूप चैतन्य और
कारणरूप शरीर में भेद स्वीकार करने पर चार्वाक स्याद्वाद सिद्धान्त में शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न तत्त्व
सिद्ध करने वाले हेतु में सिद्धसाधन दोष देते हैं । अर्थात् कार्य-कारण भेद होने पर भी आत्मा और शरीर में
वास्तविक तत्त्व रूप से भेद चार्वाक को इष्ट नहीं है । नैयायिक मत का खण्डन करने के लिए चार्वाक
ने शरीर और आत्मा में कार्य-कारण भेद तो स्वीकार किया है परन्तु तत्त्वान्तर भेद स्वीकार नहीं
किया है । परन्तु स्याद्वाद दर्शन में आत्मा और शरीर में तत्त्वान्तर (भिन्न-भिन्न तत्त्व) सिद्ध किया है ।
आत्मा चैतन्य है, स्वसंवेद्य है, शरीर जड़ है अतः सिद्ध साधन दोषों को यहाँ अवकाश नहीं है ।

देहस्य च गुणत्वेन बुद्धेर्या सिद्धसाध्यता ।

भेदे साध्ये तयोः सापि न साध्वी तदसिद्धितः ॥१३६॥

कथं देहगुणत्वेन बुद्धेरसिद्धिर्यतो बुद्धिदेहयोगुणगुणिभावेन भेदसाधने सिद्धसाधनमसाधीयः स्यादिति ब्रूमहे ।

न विग्रहगुणो बोधस्तत्रानध्यवसायतः ।

स्पर्शादिवत्स्वयं तद्वदन्यस्यापि तथा गतेः ॥१३७॥

न हि यथेह देहे स्पर्शादय इति स्वस्य परस्य बाध्यवसायोऽस्ति तथैव देहे बुद्धिरिति येनासौ देहगुणः स्यात् । प्राणादिमति काये चेतनेत्यस्त्येवाध्यवसायः कायादन्यत्र तदभावादिति चेत् । न । तस्य बाधकसद्भावात्सत्यतानुपपत्तेः । कथम्—

चैतन्य को शरीर का गुण मानकर चार्वाक ने स्याद्वाद मत के अनुमान के द्वारा शरीर और आत्मा की भेद (भिन्न तत्त्व) साध्यता में सिद्धसाधन दोष दिया था- वह भी युक्तिसंगत नहीं है, समीचीन नहीं है । क्योंकि आत्मा शरीर का गुण है, यह सिद्ध नहीं है । अर्थात् आत्मा शरीर का गुण हो ही नहीं सकता- क्योंकि किसी भी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं है ॥१३६॥

शंका- चैतन्य के शरीर का गुणत्व क्यों नहीं है? जिससे चैतन्य और शरीर में गुण-गुणी रूप से भेद स्वीकार करके चार्वाक के द्वारा कहा गया सिद्धसाधन दोष स्याद्वाद के प्रति घटित नहीं हो सकता हो? जैनाचार्य इस शंका का समाधान करते हैं- समाधान : चैतन्य (ज्ञान) शरीर का गुण नहीं है- क्योंकि जैसे शरीर के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुणों का निश्चय हो रहा है, दृष्टि से ये गुण दृष्टिगोचर हो रहे हैं- वैसे शरीर में ज्ञान गुण का निश्चय नहीं होता है (दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है) । यदि निर्णय (प्रमाण के द्वारा सिद्ध किये) बिना ही किसी को किसी का गुण मान लेंगे तो जल का गंध गुण, वायु का रूप गुण मानने में क्या दोष है, जो नैयायिक और चार्वाक को इष्ट नहीं है ॥१३७॥

जिस प्रकार शरीर में स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण गुण हैं, इस प्रकार स्वयं को और दूसरों को निश्चय हो रहा है, उसी प्रकार शरीर में चैतन्य है, इसका निश्चय नहीं हो रहा है । अतः ज्ञान को शरीर का गुण कैसे माना जा सकता है?

चार्वाक कहता है कि प्राणस्वरूप श्वास-उच्छ्वास लेना, बोलना, चेष्टा करना, सुख-दुःख का अनुभव करना आदि से युक्त शरीर में चेतना विद्यमान है, इस प्रकार शरीर में चेतना है इसका निर्णय (निश्चय) होता ही है; क्योंकि श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों से युक्त शरीर से अतिरिक्त घट आदि में श्वासोच्छ्वास, सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं होने से शरीर के गुण ज्ञान का अभाव पाया जाता है ।

जैनाचार्य कहते हैं कि- चार्वाक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि शरीर का गुण चेतना है- (शरीर में ही चेतना है) इस कथन में बाधक कारणों का सद्भाव होने से यह कथन सत्यता को प्राप्त नहीं होता है । अर्थात् आत्मा शरीर का गुण है, यह कथन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है । अतः असिद्ध है ।

तद्गुणत्वे हि बोधस्य मृतदेहेऽपि वेदनम् ।

भवेत्स्वगादिवद्बाह्यकरणज्ञानतो न किम् ॥१३८॥

बाह्येन्द्रियज्ञानग्राह्यो बोधोऽस्तु देहगुणत्वात् स्पर्शादिवद्विपर्ययो वा । न च बोधस्य बाह्यकरणज्ञानवेद्यत्वमित्यतिप्रसंगविपर्ययौ देहगुणत्वं बुद्धेर्बाधेते ।

शंका- ज्ञान शरीर का गुण है- यह बाधित क्यों है?

उत्तर- यदि चैतन्य को भौतिक अचेतन शरीर का गुण मानेंगे तो मृत शरीर में भी चैतन्य का वेदन (ज्ञान) होना चाहिए। जिस प्रकार मृत शरीर में बाह्य स्पर्शन आदि इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण का ज्ञान हो रहा है, उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों के द्वारा मृत शरीर में चैतन्य का ज्ञान क्यों नहीं होता है? क्योंकि चार्वाक मतानुसार चैतन्य भी रूप-रसादि के समान शरीर का गुण है और बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है ॥१३८॥

अनुमान-ज्ञान बाह्य इन्द्रियज्ञान के द्वारा ग्राह्य है- शरीर का गुण होने से। जो-जो शरीर के गुण होते हैं- वे-वे इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होते हैं- जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि।

अथवा- विपरीत होगा कि ज्ञान शरीर का गुण नहीं है- बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं होने से। जो-जो बाह्य इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है, वह शरीर का गुण नहीं है- सुख आदि। अथवा-शरीर के गुण स्पर्शादि भी बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं होने चाहिए- जैसे शरीर का गुण ज्ञान बाह्य इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है।

चैतन्य का बाह्य इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा वेद्यत्व (जानना) देखा नहीं गया है। और न अनुमान प्रमाण से इष्ट (सिद्ध) किया गया है। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान के द्वारा चैतन्य, शरीर का गुण सिद्ध हो जाता है तब तो चैतन्य शरीर का गुण है, इसमें संशय ही उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् संशय होने का प्रसंग ही नहीं आता है। तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि के अबाह्य ज्ञान वेद्यत्व (स्पर्शादि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा वेद्य नहीं है ऐसा) का प्रसंग भी नहीं आता है और चैतन्य को बहिरंग इन्द्रियों से जानने का प्रसंग भी नहीं आता है। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों अतिप्रसंग और विपर्यय दोष होना ज्ञान को देह का गुण होने में बाधा देते हैं। अतः 'देह में बुद्धि है' इस ज्ञान को बाधक प्रमाण उत्पन्न होने से सत्यता सिद्ध नहीं होती है, अतः शरीर का गुण चैतन्य नहीं है, यह निर्बाध सिद्ध हुआ।

सूक्ष्मत्वात् क्वचिद्बाह्यकरणज्ञानगोचरः ।

परमाणुवदेवायं बोध इत्यप्यसंगतम् ॥१३९॥

जीवत्कायेऽपि तत्सिद्धेरव्यवस्थानुषंगतः ।

स्वसंवेदनतस्तावद् बोधसिद्धौ न तद्गुणः ॥१४०॥

न क्वचिद्बोधो बाह्यकरणज्ञानविषयः प्रसज्यतां देहगुणत्वात् तस्य देहारंभकपरमाणुरूपादिभिर्व्यभिचारात्तेषां बहिःकरणत्वाविषयत्वेऽपि देहगुणत्वस्य भावात् । न च देहावयवगुणा देहगुणा न भवन्ति सर्वथावयवावयविनोर्भेदाभावादित्यसंगतं । जीवदेहेऽपि तत्सिद्धेरव्यवस्थाभावानुषंगात् । तत्र तदव्यवस्था हि इंद्रियज्ञानात्स्वसंवेदनाद्वा? न तावदाहः पक्षो,

(चार्वाक कहते हैं कि) अत्यन्त सूक्ष्म होने से जैसे परमाणु और परमाणु के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि बाह्य इंद्रियगोचर नहीं हैं उसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म होने से शरीर का गुण ज्ञान इंद्रियगोचर नहीं होता है । जैनाचार्य कहते हैं कि यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि चैतन्य को परमाणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म मानने पर जीवित शरीर में भी चैतन्य की सिद्धि करने की व्यवस्था नहीं होने का प्रसंग आयेगा । अर्थात् - जीवित शरीर में भी चैतन्य गुण की सिद्धि नहीं हो सकती । तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा चैतन्य की सिद्धि हो रही है, अतः चैतन्य शरीर से भिन्न तत्त्व है- वह शरीर का गुण सिद्ध नहीं होता है ॥१३९-१४०॥

क्वचित् ज्ञान बाह्यइन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय नहीं भी हो सकता है शरीर का गुण होने से । जो-जो शरीर के गुण हैं वे सब बाह्य इंद्रियज्ञान का विषय होते हैं । इस व्याप्ति से युक्त इस हेतु में शरीर के उत्पादक सूक्ष्म परमाणुओं के रूप, रस, गन्ध, वर्णादि गुणों के साथ व्यभिचार आता है । क्योंकि शरीर के प्रारंभक अणु के रूप रसादि शरीर के गुण होते हुए भी बाह्य इंद्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं हैं । अतः जो-जो शरीर के गुण होते हैं वे-वे इंद्रियों के विषय होते हैं-यह व्याप्ति नहीं है । देह के उत्पादक, देह के अवयव रूप परमाणु के गुण शरीर के गुण नहीं हैं-ऐसा भी नहीं कह सकते । क्योंकि अवयव और अवयवी में भेद का अभाव है । जैनाचार्य कहते हैं- चार्वाक का यह कथन सुसंगत नहीं है । क्योंकि परमाणु सम्बन्धी रूपआदि के समान यदि चैतन्य को सूक्ष्म अवयवों का गुण मानोगे तो जीवित शरीर में भी ज्ञान को सिद्ध करने की व्यवस्था के अभाव का प्रसंग आयेगा क्योंकि परमाणु तो जीवित शरीर और मृत शरीर दोनों में इंद्रियज्ञान के द्वारा नहीं जाने जाते हैं ।

उस जीवित शरीर में उस ज्ञान (चैतन्य) की व्यवस्था इंद्रियजन्य ज्ञान से होती है या स्वसंवेदन ज्ञान से? इंद्रियजन्य ज्ञान के द्वारा जीवित शरीर में ज्ञान की व्यवस्था (निर्णय) होती है, यह प्रथम पक्ष स्वीकार करना तो उचित नहीं है- क्योंकि- “ज्ञान के (चैतन्य के) बाह्य इंद्रियज्ञानगोचरता नहीं है- अर्थात् (चैतन्य) ज्ञान बाह्यइन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है” यह चार्वाक का कथन है । ज्ञान (चैतन्य) स्वसंवेदन ज्ञान का विषय है- यह दूसरा पक्ष स्वीकार करना भी युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि चैतन्य ज्ञान देह का गुण नहीं है- क्योंकि जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा जानने योग्य है वह शरीर का गुण नहीं हो

बोधस्याबाह्यकरणज्ञानगोचरत्ववचनात् । द्वितीयपक्षे तु न बोधो देहगुणः स्वसंवेदनवेद्यत्वादन्यथा स्पर्शादीनामपि स्वसंवेदितत्वप्रसंगात् । यत्पुनर्जीवत्कायगुण एव बोधो न मृतकायगुणो येन तत्र बाह्येन्द्रियाविषयत्वे जीवत्कायेऽपि बोधस्य तद्विषयत्वमापद्येतेति मतं । तदप्यसत् । पूर्वोदितदोषानुषंगत् । अभ्युपगम्योच्यते ।

जीवत्कायगुणोऽप्येष यद्यसाधारणो मतः ।

प्राणादियोगवन्न स्यात्तदनिन्द्रियगोचरः ॥१४१॥

जीवत्काये सत्युपलंभादन्यत्रानुपलंभात्त्रायमजीवत्कायगुणोऽनुमानविरोधात् । किं तर्हि? यथा प्राणादिसंयोगो जीवत्कायस्यैव गुणस्तथा बोधोऽपीति चेत्, तद्वदेवेन्द्रियगोचरः स्यात् । न हि प्राणादिसंयोगः स्पर्शनेन्द्रियागोचरः प्रतीतिविरोधात् । कश्चिदाह । नायं जीवच्छरीरस्यैव गुणस्ततः

सकता । अन्यथा रूप-रसादि के भी स्वसंवेदनवेद्यत्व (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने) का प्रसंग आयेगा जबकि रूप-रस-आदि स्वसंवेदनवेद्य नहीं हैं । (चार्वाक) चैतन्य जीवित शरीर का गुण है, मृत शरीर का गुण नहीं, जिससे कि वहाँ चैतन्य में बाह्य इन्द्रियों का विषय न होने से जीवित शरीर में भी ज्ञान को उन बाह्य इन्द्रियों का विषयपना आपादन किया जाय । अर्थात् चैतन्य मृत शरीर का गुण भी नहीं है और बाह्य स्पर्शन आदि इन्द्रियों का विषय भी नहीं है, फिर भी जीवित शरीर को गुण रूप से बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है । जैनाचार्य कहते हैं कि चार्वाक का यह कथन भी प्रशंसनीय नहीं है । इस कथन में पूर्वोक्त दोषों का प्रसंग आता है । क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञान को तो चार्वाक मानते नहीं हैं और चैतन्य इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है- अतः चार्वाकमत में चैतन्य की ज्ञप्ति कैसे हो सकती है? चार्वाक मत का विचार करके जैनाचार्य कहते हैं कि-

यदि चैतन्य को जीवित शरीर का असाधारण गुण माना गया है, तब तो प्राणवायु और आयुष्य कर्म के संयोग के समान वह चैतन्य मन-इन्द्रिय के गोचर नहीं होना चाहिए । क्योंकि शरीर के असाधारण कहे गये प्राणवायु, उदराम्नि, आयुष्य कर्म आदि संयोग रूप गुण अभ्यन्तर मनोजन्य ज्ञान के विषय नहीं हैं- वैसे आत्मा भी मनोजन्य ज्ञान का विषय नहीं होना चाहिए ॥१४१॥

शरीर के जीवित रहने पर ही चैतन्य की उपलब्धि होती है, जीवित शरीर से रहित घट आदि में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है- अतः यह चैतन्य मृत शरीर का गुण नहीं है क्योंकि चैतन्य को मृत शरीर का गुण मानने में अनुमान से विरोध आता है ।

शंका- चैतन्य किसका गुण है? उत्तर- जैसे प्राण (श्वासोच्छ्वास), चलना-फिरना आदि जीवित काय का गुण है वैसे चैतन्य (ज्ञान) भी जीवित शरीर का गुण है । चार्वाक के ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि प्राणवायु, वचन आदि के संयोग के समान चैतन्य-ज्ञानबोध भी यदि जीवित शरीर का गुण है तो वह प्राणादिक के समान इन्द्रियगोचर होना चाहिए । क्योंकि प्राण आदि इन्द्रियों के अगोचर नहीं हैं । प्राणादि को इन्द्रियों के अगोचर मानना प्रतीतिविरुद्ध है । अर्थात् सभी प्राणियों के प्राणादि इन्द्रियगोचर हो रहे हैं ।

यहाँ कोई (एकदेशीय चार्वाक) कहता है कि यह चैतन्य जीवित शरीर का ही असाधारण गुण नहीं है क्योंकि शरीर की रचना के पहले भी पृथ्वी, जल, तेज और वायु आदि में चैतन्य का सद्भाव था । अन्यथा

प्रागपि पृथिव्यादिषु भावादन्वयात्त्यंतासतस्तत्रोपादानायोगादगगनांभोजवत्, साधारणस्तु स्यात्तद्दोषाभावादिति। तदसत्।

साधारणगुणत्वे तु तस्य प्रत्येकमुद्भवः।

पृथिव्यादिषु किं न स्यात् स्पर्शसामान्यवत्सदा ॥१४२॥

जीवत्कायाकारेण परिणतेषु पृथिव्यादिषु बोधस्योद्भवस्तथा तेनापरिणतेष्वपि स्यादेवेति सर्वदानुद्भवो न भवेत् स्पर्शसामान्यस्येव साधारणगुणत्वोपगमात्। प्रदीपप्रभायामुष्णस्पर्शस्यानुद्भूतस्य दर्शनात् साध्यशून्यं निदर्शनमिति न शंकनीयं,

(यदि शरीर-रचना के पूर्व पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में चैतन्य शक्ति का अत्यन्त अभाव माना जाता है तो) आकाशकमल के समान अत्यन्त रूप से असत् (अविद्यमान) चैतन्य का उन पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय में उपादान कारण का अयोग (अभाव) होने से जीवित शरीर में भी उसका सत्त्व नहीं रहेगा अतः यदि चैतन्य को जीवित शरीर का साधारण गुण मानें तो इन दोषों का अभाव होता है, सद्भाव नहीं रहता है। जैनाचार्य इस कथन का खण्डन करके सत्य मत की स्थापना करते हैं—

जैनाचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त कथन भी प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि—

यदि चैतन्य को शरीर का साधारण गुण मानते हैं और शरीर-रचना से पूर्व भूत चतुष्टय में-चैतन्यशक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तो उस भूतचतुष्टय के एक पृथ्वी आदि तत्त्व में स्पर्श के समान चैतन्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? अर्थात् जब शरीर-रचना के पूर्व पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्व प्रत्येक में भिन्न-भिन्न शक्ति विद्यमान है तो अकेले पृथ्वी, जल आदि से चैतन्य शक्ति प्रगट हो जानी चाहिए; भूतचतुष्टय के संयोग से ही क्यों होती है? जैसे पृथ्वी में स्पर्श, जल में स्पर्श, तेज में स्पर्श, वायु में स्पर्श रहते हैं अर्थात् जैसा स्पर्श सामान्य सदा चारों भूतों में रहता है, वैसे आत्मा को भी चारों भूतों में सदा रहना चाहिए ॥१४२॥

(अन्य मतों में जल में गन्ध का, अग्नि में रस और गंध का, वायु में रूप, रस और गन्ध इन तीनों का अभाव माना है। परन्तु स्पर्श तो सामान्य रूप से चारों में ही पाया जाता है। इसलिए यहाँ स्पर्श का उदाहरण दिया गया है।)

जिस प्रकार जीवित शरीर के आकार से परिणत पृथ्वी आदिक में ज्ञान की अभिव्यक्ति मानते हो वैसे जीवित शरीराकार से अपरिणत घट आदि पृथ्वी में भी ज्ञान की अभिव्यक्ति सदा होनी चाहिए-जैसे स्पर्शन सामान्य पृथ्वी की सभी अवस्थाओं में सदा अभिव्यक्त रहता है। जैसे स्पर्श भूतचतुष्टय का साधारण गुण है- वैसे ही तुम्हारे मतानुसार ज्ञान भी भूतचतुष्टय का साधारण गुण है। अतः भूतचतुष्टय में पृथक्-पृथक् बोध (ज्ञान) की अभिव्यक्ति सदा रहनी चाहिए, क्योंकि साधारण गुण सदा रहते हैं।

(इस पर चार्वाक कहते हैं कि) प्रदीप की प्रभा में उष्ण स्पर्श अनभिव्यक्त (अप्रगट) देखा जाता (रहता) है- अतः स्पर्श सब में प्रगट रहता है- यह दृष्टान्त साध्यशून्य (साध्य से रहित) है। ग्रन्थकार

तस्यासाधारणगुणत्वात्साधारणस्य तु स्पर्शमात्रस्य प्रत्येकं पृथिव्यादि भेदेष्वशेषेषूद्भवप्रसिद्धेः ।

परिणामविशेषाभावात् न तत्र चैतन्यस्योद्भूतिरिति चेत्, तर्हि परिणामविशिष्टभूतगुणो बोध इत्यसाधारण एवाभिमतः । तत्र चोक्तो दोषः । तत्परिजिहीर्षुणावश्यमदेहगुणो बोधोऽभ्युपगंतव्यः । इति न देहचैतन्ययोगुणगुणिभावेन भेदः साध्यते येन सिद्धसाध्यता स्यात्, ततोऽनवद्यं तयोर्भेदसाधनं किं च ।

अहं सुखीति संवित्तौ सुखयोगो न विग्रहे ।

बहिःकरणवेद्यत्वप्रसंगान्नैन्द्रियेष्वपि ॥१४३॥

कहते हैं कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि दीपक की प्रभा का वह उष्ण स्पर्श असाधारण गुण है। स्पर्श मात्र, साधारण स्पर्श गुण की सम्पूर्ण पृथ्वी आदि के प्रत्येक भेद-उपभेद में अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है। अर्थात् पृथ्वी, जलादि की प्रत्येक अवस्था में सामान्य स्पर्श तो पाया ही जाता है, उष्ण-शीत आदि विशेष नहीं भी पाया जाता है।

‘विशेष परिणाम (पर्याय) का अभाव होने से पृथक्-पृथक् पृथ्वी आदि में ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं होती है’ चार्वाक के ऐसा कहने पर तो चैतन्य विशिष्ट परिणामों (पर्यायों) से युक्त भूतचतुष्टय का ही गुण है, यानी भूतचतुष्टय का असाधारण गुण चैतन्य को स्वीकार किया गया है, ऐसा सिद्ध होता है। और ऐसा मानने पर उपर्युक्त दोषों का अस्तित्व रहता है। अर्थात् बाह्येन्द्रिय का विषय होना, सदा उपलब्धि होना आदि दोषों का आविर्भाव होगा। अतः चैतन्य को शरीर का गुण सिद्ध नहीं कर सकते। इन सब दोषों को दूर करने की इच्छा करने वालों को ज्ञान को शरीर का गुण नहीं मानना चाहिए अपितु आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अतः शरीर और आत्मा में गुण-गुणी भाव के द्वारा भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतः चार्वाक (जैनों को) सिद्धसाधन दोष नहीं दे सकते। इसलिए शरीर और आत्मा में भेद की सिद्धि निर्दोष है। अर्थात् आत्मा और शरीर में कार्य-कारणभाव, गुण-गुणी भाव और परिणाम-परिणामी भाव की अपेक्षा भेद नहीं सिद्ध किया जा रहा है- अपितु तत्त्व की अपेक्षा भेद है। दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं।

और भी, ‘मैं सुखी हूँ’ इस प्रकार के समीचीन ज्ञान में सुख का सम्बन्ध शरीर में प्रतीत नहीं होता है। यदि ‘मैं सुखी हूँ’ यह संवेदन शरीर में होता है- ऐसा माना जायेगा तो बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उसके वेदन (ज्ञान) का प्रसंग आयेगा। परन्तु सुख, दुःख का वेदन स्पर्शन आदि इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता है। तथा इन्द्रियाँ सुख-दुःख की अधिकरण भी नहीं हैं। इन्द्रियों के अभाव में भी सुख दुःख का अनुभव होता है अतः चैतन्य इन्द्रियों का गुण नहीं है ॥१४३॥

कर्तृस्थस्यैव संवित्तेः सुखयोगस्य तत्त्वतः ।

पूर्वोत्तरविदां व्यापी चिद्विवर्तस्तदाश्रयः ॥१४४॥

स्यादुष्णी चेत् स एवात्मा शरीरादिविलक्षणः ।

कर्तानुभविता स्मर्तानुसंधाता च निश्चितः ॥१४५॥

सुखयोगात्सुख्यहमिति संवित्तिस्तावत्प्रसिद्धा । तत्र कस्य सुखयोगो न विषयस्येति प्रत्येयं(?) ततः कर्तृरूपः कश्चित्तदाश्रयो वाच्यस्तदभावे सुख्यहमिति कर्तृस्थसुखसंवित्यनुपपत्तेः ।

स्यान्मतं । पूर्वोत्तरसुखादिरूपचैतन्यविवर्तव्यापी महाचिद्विवर्तः कार्यस्येव सुखादिगुणानामाश्रयः कर्ता, निराश्रयाणां तेषामसंभवात् । निरंशसुखसंवेदने चाश्रयाश्रयिभावस्य

वास्तविक रूप से सुख का सम्बन्ध कर्ता (आत्मा) में स्थित संवित्ति (ज्ञान) के साथ है। अतः पूर्व और उत्तर काल में होने वाले ज्ञान में व्यापक रूप से रहने वाले चैतन्य द्रव्य का धाराप्रवाह रूप से परिणत चैतन्य समुदाय ही उस सुख गुण का आधार है। अर्थात् आत्मा ही सुख-दुःख का आधार है ॥१४४॥

आत्मा ही ज्ञान और सुख का आश्रय है

यदि सुख गुण का आधारभूत कोई गुणी द्रव्य है तो शरीर आदि से विलक्षण, सुख-दुःख आदि का कर्ता, अनुभविता (उनका अनुभव करने वाला), स्मर्ता (स्मरण करने वाला), अनुसन्धाता (एकत्व, सादृश्य आदि विषयों का अवलम्बन लेकर स्वकीय परिणामों का प्रत्यभिज्ञान करने वाला) आत्मा ही है, ऐसा निश्चय होता है ॥१४५॥

‘मैं सुखी हूँ’ इस प्रकार की प्रतीति तो सुख गुण के योग (आधार) से प्रसिद्ध ही है। वहाँ सुख का योग किसी विषय का नहीं है। अर्थात् इन्द्रियजन्य भोगसामग्री में सुख का योग नहीं है। ऐसा समझना चाहिए। अतः सुख का कर्ता ही कोई उस सुख का आधार कहना चाहिए। क्योंकि कर्ताभूत आधार के बिना ‘मैं सुखी हूँ’ इस प्रकार के कर्तास्थ सुख-संवेदन की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् ‘मैं सुखी हूँ’ इसमें सुखी शब्द में मत्वर्थीय ‘इन्’ प्रत्यय का वाच्य अधिकरण स्वरूप कर्ता में स्थित होकर सुख संवित्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः ‘मैं सुखी हूँ’ इसमें ‘मैं’ का वाच्य कर्ता चेतन आत्मा ही है जो ज्ञान, सुखों का आश्रय है।

शंका- पूर्वोत्तर कालों में होने वाले सुखादि रूप चैतन्य परिणामों में व्याप्त रहने वाला सबसे बड़ा चैतन्य का परिणाम (पर्याय) ही कार्य के समान सुखादि गुणों का आश्रयस्वरूप कर्ता है जैसे कि वही आत्मा जन्म-मरण आदि कार्यों का कर्ता है। बिना आधार के सुख-दुःख, जन्म-मरण आदिक कार्यों की संभवता नहीं है। (जैसे अकर्मक धातु की क्रियाएँ कर्ता में ही रहती हैं, बिना कर्ता के नहीं रह सकती हैं, उसी प्रकार सुख, कर्ता (आत्मा) में रहता है।) यदि सुख के समीचीन ज्ञान को आधेयपन, क्रियापन और पर्यायपन आदि अंशों से रहित माना जाएगा तो इसमें आश्रय-आश्रयी भाव होने का विरोध है। अतः सुखादि गुणों के आधार महाचैतन्य के भ्रान्त रूप का भी अयोग है। (अर्थात् महाचैतन्य भ्रान्त रूप भी नहीं है) क्योंकि उसमें कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है। अर्थात् उसमें बाधक प्रमाण का भी अभाव है। तथा महाचैतन्य का भ्रम रूप होना

विरोधान्तस्य भ्रान्तत्वायोगात् बाधकाभावात्तथा स्वयमनिष्टेति । तर्हि स एवात्मा कर्ता शरीरेंद्रियविषयविलक्षणत्वात् । तद्विलक्षणोसौ सुखादेरनुभवितृत्वात्, तदनुभवितासौ तत्स्मर्तृत्वात्, तत्स्मर्तासौ तदनुसंधातृत्वात्, तदनुसंधातासौ य एवाहं यत् सुखमनुभूतवान् स एवाहं संप्रति हर्षमनुभवामीति निश्चयस्यासंभवद्बाधकस्य सद्भावात् । नन्वस्तु नाम कर्तृत्वादिस्वभावश्चैतन्यसामान्यविवर्तः कायादर्थान्तरसुखादिचैतन्यविशेषाश्रयो गर्भादिमरणपर्यंतः

(यह चैतन्य वास्तव में नहीं, अपितु भ्रान्त है) स्वयं को अनिष्ट (इष्ट भी नहीं) है। समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो शरीर, इन्द्रिय और विषयों से विलक्षण होने से वह महाचैतन्य आत्मा ही सुखादि और ज्ञानादि पर्यायों का कर्ता है।

आत्मा ही कर्ता, भोक्ता, स्मर्ता और अनुसन्धाता है

शरीरादि से विलक्षण वह महाचैतन्य स्वरूप आत्मा सुख-दुःख आदि का अनुभव करने वाला होने से अनुभविता है। सुख-दुःखादि का बहुतकाल तक स्मरण करने वाला होने से महाचैतन्य स्वरूप आत्मा ही स्मर्ता है। पूर्व में मैंने इसका अनुभव किया था, इसको मैंने पूर्व में देखा था ऐसा स्मरण आत्मा को ही होता है।

उन पूर्व में अनुभूत पदार्थों का अनुसंधान रखने वाला तथा पूर्वस्मरण और प्रत्यक्ष के साथ जोड़ रूप ज्ञान से एकत्व सादृश्य आदि विषयों का अवलम्बन लेकर स्वकीय परिणामों का प्रत्यभिज्ञान करने वाला होने से महाचैतन्य स्वरूप आत्मा ही अनुसन्धाता है। क्योंकि जिन सुखों का अनुभव मैं कर चुका हूँ वही 'मैं' इस समय सुखजन्य हर्ष (प्रसन्नता) का अनुभव कर रहा हूँ।

इस प्रकार बाधकों से रहित निश्चय ज्ञान का सद्भाव होने से महाचैतन्य स्वरूप आत्मा की सिद्धि होती है।

आत्मा अनादि अनन्त है

शंका- कर्तृत्वादि स्वभाव वाला, चैतन्य सामान्य की पर्याय रूप, शरीर से भिन्न (अर्थान्तर), सुखादि चैतन्य विशेष का आश्रयभूत, गर्भादि से लेकर मरण पर्यन्त रहने वाला, सकलजनप्रसिद्ध आत्मतत्त्व है अर्थात् वह आत्मा गर्भ से मरण पर्यन्त ही रहने वाला है, न गर्भ के पूर्व था और न मरण के बाद उसका अस्तित्व रहता है। अन्त में मरते समय उस चैतन्य का दीपक के बुझने के समान आमूलचूल विनाश हो जाता है। वह पृथ्वी आदि से भिन्न तत्त्व है।

सकलजनप्रसिद्धत्वात्तत्त्वांतरं, चत्त्वार्येव तत्त्वानीत्यवधारणस्याप्य
विरोधात्तस्याप्रसिद्धतत्त्वप्रतिषेधपरत्वेन स्थितत्वात्, न पुनरनाद्यनन्तात्मा प्रमाणाभावादिति वदंतं
प्रति ब्रूमहे;—

द्रव्यतोऽनादिपर्यंतः सत्त्वात् क्षित्यादितत्त्ववत् ।

स स्यान्न व्यभिचारोऽस्य हेतोर्नाशिन्यसंभवात् ॥१४६॥

कुंभादयो हि पर्यंता अपि नैकांतनक्षराः ।

शाश्वतद्रव्यतादात्म्यात्कथंचिदिति नो मतम् ॥१४७॥

यथा चानादिपर्यंततद्विपर्ययरूपता ।

घटादेरात्मनोऽप्येवमिष्टा सेत्यविरुद्धता ॥१४८॥

आत्मतत्त्व को पृथ्वी आदि से भिन्न तत्त्व मान लेने पर भी 'पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्व हैं' ऐसी अवधारणा में कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि इन चार तत्त्वों का नियम करना तो सर्वथा अप्रसिद्ध आकाश, काल, मन, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, सामान्य, शक्ति, प्रेत्यभाव आदि तत्त्वों का निषेध करने में तत्पर होकर स्थित हो रहा है। किन्तु फिर गर्भ से मरण पर्यन्त रहने वाले और सम्पूर्ण जीवों में प्रसिद्ध हो रहे इस चेतन आत्मा का वे भूतचतुष्टय निषेध नहीं करते हैं। आत्मा अनादि अनन्त नहीं है। क्योंकि आत्मा को अनादि अनन्त सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव है। अर्थात् आत्मा को अनादि अनन्त सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान- इस प्रकार कहने वाले चार्वाक के प्रति जैन आचार्य कहते हैं कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा अनादि-अनन्त है क्योंकि सत्त्व है। जो-जो सत्त्व होता है, वह अनादि-अनन्त है जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। चार्वाक मत में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को अनादि अनन्त तत्त्व माना है। आत्मा को अनादि अनन्त सिद्ध करने में दिया 'सत्त्वात्' हेतु अनेकान्त दोष से दूषित भी नहीं है। क्योंकि एकान्त रूप से नाश होने वाले पदार्थ में 'सत्त्व' हेतु के रहने की असंभवता है। अर्थात् निरन्वय नाश होने वाले पदार्थ सत्त्व रूप नहीं हो सकते हैं। सर्वथा नाशशील पदार्थ संसार में हैं ही नहीं ॥१४६॥

जो घट-पट आदि पदार्थ नाशशील गोचर होते हैं वे भी एकान्त से नष्ट नहीं होते हैं। क्योंकि सर्वदा स्थित (शाश्वत) रहने वाले पुद्गल द्रव्य के साथ उनका कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार स्याद्वादी हम लोगों ने स्वीकार किया है। अतः कथंचित् पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त होने से घट आदि के द्वारा 'सत्त्व' हेतु अनेकान्त हेत्वाभास नहीं हो सकता ॥१४७॥

जैसे घटादि पदार्थ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि अनन्त हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा विपरीत यानी सादि-सान्त हैं, उसी प्रकार आत्मा के भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि अनन्तपन और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि सान्तपन इष्ट है। अतः 'सत्त्वात्' यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है ॥१४८॥

सर्वथैकांतरूपेण सत्त्वस्य व्याप्त्यसिद्धितः ।

बहिरंतरनेकांतं तद्व्याप्नोति तथेक्षणात् ॥१४९॥

द्रव्यार्थिकनयादनाद्यंतः पुरुषः सत्त्वात् पृथिव्यादितत्त्ववदित्यत्र न हेतोरनेकांतिकत्वं प्रतिक्षणविनश्वरे क्वचिदपि विपक्षेऽनवतारात् । कुंभादिभिः पर्यायैरनेकांत इति चेन्न । तेषां नश्वरैकांतत्वाभावात् । तेऽपि हि नैकांतनाशिनः, कथंचिन्नित्यद्रव्यतादात्म्यादिति स्याद्वादिनां दर्शनं । “नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानात्राकस्मात्तदविच्छिदा । क्षणिकं कालभेदात्ते बुध्यसंचरदोषतः” इति वचनात् । नन्वेवं सर्वस्यानादिपर्यंततासादिपर्यंतताभ्यां व्याप्तत्वात् विरुद्धता स्यादिति चेन्न ।

वस्तु अनेकान्तात्मक है

सर्वथा एकान्त रूप से नित्य वा अनित्य धर्म के साथ सत्त्व हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं है। घट-पट आदि बाह्य पुद्गल पदार्थ और ज्ञान, इच्छा, सुखानुभव आदि से युक्त आत्मा रूप अंतरंग पदार्थ में स्थित सत्त्व हेतु नित्य, अनित्य आदि अनेकान्त धर्मों के साथ व्याप्ति रखता है। अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रुवात्मक पदार्थ ही सत्त्व है। उत्पाद आदि एकान्त सत्त्व नहीं है। क्योंकि अनेकान्तात्मक (अनेक धर्मात्मक) वस्तु ही दृष्टिगोचर हो रही है, अनुभव में आ रही है ॥१४९॥

वस्तु के नित्य अंश को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पुरुष (आत्मा) अनादि अनन्त है- क्योंकि ‘सत्त्व’ है। जो-जो सत्त्व होते हैं वे अनादि अनन्त होते हैं- जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि चार भूत सत्त्व होने से अनादि अनन्त हैं।

यहाँ आत्मा को अनादि अनन्त सिद्ध करने के लिए अनुमान में दिया गया ‘सत्त्व’ हेतु अनेकान्त हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि बौद्धों के द्वारा कल्पित सर्वथा निरन्वयनाश होने वाले पदार्थ में सत्त्व हेतु नहीं रहता है। क्षणक्षयी विपक्ष पदार्थ में कहीं भी सत्त्व हेतु का अवतार (अस्तित्व) नहीं है। अतः यह सत्त्व हेतु अनेकान्त हेत्वाभास नहीं है।

शंका- घटादि पदार्थ अनादि-अनन्त नहीं हैं परन्तु सत्ता रूप हैं- अतः घटादि पर्यायों के द्वारा ‘सत्त्व’ हेतु अनेकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है? **उत्तर-** ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि वे घटादि पदार्थ सर्वथा एकान्त रूप से निरन्वय नाश को प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि वे घट-पटादिक भी कथंचित् नित्यावस्थित पुद्गल द्रव्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले होने से नित्य हैं- ऐसा स्याद्वादियों का दर्शन (सिद्धान्त) है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी देवागम स्तोत्र में कहा है कि- हे भगवन्! तेरे मन में सम्पूर्ण जीवादि पदार्थ कथंचित् नित्य हैं। क्योंकि ‘यह वही है’ इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान का विषय है। प्रत्यभिज्ञान अकस्मात् (बिना कारण) नहीं होता है। अन्वय का (द्रव्य का) सर्वथा विच्छेद नहीं होना ही प्रत्यभिज्ञान का कारण है। अथवा द्रव्य रूप से मध्य में व्यवधान नहीं होने के कारण ही ‘यह वही है’ ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान का विषय होता है। यदि प्रत्यभिज्ञान का विषय व्यवच्छेद रहित नित्य पदार्थ नहीं माना जायेगा तो बुद्धि का संचार नहीं होगा। अर्थात् पूर्व ज्ञान का सर्वथा नाश हो जाने से ‘यह वही है’ ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा। कालभेद से वे पदार्थ क्षणिक हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ क्षणिक हैं। यदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा क्षणिक नहीं माना

आत्मनोऽनेकांतानादिपर्यंततायाः साध्यत्ववचनात् । यथैव हि घटादेरनाद्यनंतरूपत्वे सति सत्त्वं तथात्मन्यपीष्टमिति क्व विरुद्धत्वं? कथं तर्हि सत्त्वमनेकांतैकांतेन व्याप्तं येनात्मनोनाद्यनंतरूपतया साध्यत्वमिष्यत इति चेत् । सर्वथैकांतरूपेण तस्य व्याप्त्यासिद्धेः । बहिरंतश्चानेकांततयोपलंभात्, अनेकांतं वस्तु सत्त्वस्य व्यापकमिति निवेदयिष्यते ॥

बृहस्पतिमतास्थित्या व्यभिचारो घटादिभिः ।

न युक्तोऽतस्तदुच्छित्तिप्रसिद्धेः परमार्थतः ॥१५०॥

जायेगा तो बुद्धि (ज्ञान) का संचार नहीं होगा। कूटस्थ नित्य ज्ञान में 'यह' वर्तमानकालीन ज्ञान, 'वह' भूतकालीन ज्ञान है, दोनों का सामञ्जस्य नहीं हो सकता। या तो 'यह' ऐसा ज्ञान रहेगा, या 'वह' ऐसा ज्ञान रहेगा। 'वह' नित्य का ज्ञान कराता है। अतः वस्तु नित्यानित्यात्मक है।

शंका- इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों के अनादि अनन्तता और सादि सान्तता के द्वारा सत्त्व हेतु के व्याप्त होने से यह सत्त्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि यह हेतु सादि अनादि, सान्त और अनन्त इन दोनों पक्षों में व्याप्त है।

उत्तर- ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि एकान्त से आत्मा के अनादि अनन्तता और सादि सान्तता साध्य नहीं है- अपितु अनेकान्त (कथंचित्) अनादि अनन्तता साध्य है। जिस प्रकार घटादि में कथंचित् अनादि अनन्तता और कथंचित् सादि सान्तता होने पर ही सत्त्व है (वे सत्त्व रूप पदार्थ हैं)। उसी प्रकार आत्मा में भी अनादि अनन्तता और सादि सान्तता होने पर ही सत्त्व इष्ट है। अतः सत्त्व हेतु में विरुद्धता कैसे आ सकती है। अर्थात् जो उत्पाद-व्यय (सादिसान्त) ध्रौव्य (अनादि अनन्त) युक्त है, वही सत्त्व है। अतः सत्त्व हेतु विरुद्ध नहीं है।

शंका- स्याद्वाद मत में सत्त्व हेतु अनेकान्त रूप एकान्त के साथ व्याप्त कैसे हो सकता है? जिससे आत्मा को अनादि अनन्त और सादि सान्त साध्यत्व इष्ट कर सकते हो?

उत्तर- जैनाचार्य कहते हैं कि - सर्वथा एकान्त रूप से अनादि अनन्त या सादि सान्त रूप के साथ सत्त्व हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं है। परन्तु बहिरंग और अंतरंग पदार्थ अनेकान्त रूप से उपलब्ध होते हैं। इसलिए द्रव्यपर्यायात्मक अनेक धर्मों से युक्त वस्तु ही सत्त्व हेतु की व्यापक है। अर्थात् अनेकान्त भी एकान्त नहीं है। प्रमाण दृष्टि से अनेकान्त है और नय दृष्टि से एकान्त है। इसको आगे निवेदन करेंगे।

कथंचित् नित्य को सिद्ध करने वाले सत्त्व हेतु को बृहस्पति मत के अनुयायी चार्वाक की परिस्थिति से घट आदि के द्वारा व्यभिचार देना (अनेकान्त हेत्वाभास कहना) युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि परमार्थ से विचार किया जाय तो अनुमान के द्वारा घटादिक में सर्वथा नित्य और अनित्य स्वरूप का उच्छेद प्रसिद्ध है। अर्थात् घटादिक सर्वथा नित्य वा अनित्य सिद्ध नहीं हैं ॥१५०॥

यतश्चैवं परमार्थतो घटादीनामपि नित्यानित्यात्मकत्वं सिद्धं ततो बृहस्पतिमतानुष्ठानेनापि न सत्त्वस्य घटादिभिर्व्यभिचारो युक्तस्तेन तस्यानेकांतेनाबाधितत्वात्। न च प्रमाणासिद्धेन परोपगममात्रात् केनचिद्धेतोर्व्यभिचारचोदने कश्चिद्धेतुरव्यभिचारी स्यात्। वादिप्रतिवादिसिद्धेन तु व्यभिचारे न सत्त्वं कथंचिदनादिपर्यंतत्वे साध्ये व्यभिचारीति व्यर्थमस्याहेतुकत्वविशेषणं। अहेतुकत्वस्य हेतुकत्वे सत्त्वविशेषणवत्। प्रागभावेन व्यभिचारस्य सत्त्वविशेषणेन व्यवच्छिद्यत इति न तद्व्यनर्थमिति चेत्, न सर्वस्य तुच्छस्य प्रागभावत्वस्याप्रसिद्धत्वात्। भावांतरस्य भावस्य नित्यानित्यात्मकत्वाद्विपक्षतानुपपत्तेस्तेन व्यभिचारासंभवात्।

इस प्रकार परमार्थ से घटादिक में भी कथंचित् नित्यानित्यात्मकत्व सिद्ध है। अतः बृहस्पति मत के अनुसार अनुष्ठान करने से भी घटादिक के द्वारा सत्त्व हेतु को व्यभिचार देना युक्त नहीं है। क्योंकि उस सत्त्व हेतु की नित्यानित्यात्मक अनेक धर्मों के साथ व्याप्ति होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

केवल दूसरों के द्वारा स्वीकृत, किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं किये गए पदार्थ के द्वारा समीचीन हेतु में अनेकान्त हेत्वाभास की शंका उठाने पर तो कोई भी हेतु अव्यभिचारी (निर्दोष) नहीं हो सकता।

वादी-प्रतिवादियों के द्वारा प्रसिद्ध हेतु के द्वारा व्यभिचार (दोष) देने पर तो कथंचित् अनादि अनन्त साध्य द्रव्य में सत्त्व हेतु व्यभिचारी नहीं है। अतः द्रव्य को नित्य सिद्ध करने के लिए दिये गये इस 'सत्त्वात्' हेतु के अहेतुकत्व (यह सत्त्व हेतु नहीं है) यह विशेषण देना व्यर्थ है। अर्थात् सर्व पदार्थ द्रव्य और पर्यायात्मक होने से नित्यानित्यात्मक हैं अतः अहेतुक विशेषण व्यर्थ है। जैसे कि अकेले अहेतुकत्व (नहीं है बनाने वाला कारण जिसका) इस लक्षण से ही जब पदार्थ का नित्यपना लक्षित हो जाता है अथवा अहेतुकत्व (आत्मा आदि पदार्थ किसी के द्वारा बनाये हुए नहीं है ऐसे) को ही हेतु मान लेने पर द्रव्य का नित्यपना सिद्ध हो जाता है अतः इसमें सत्त्व विशेषण व्यर्थ है। अर्थात् सत्त्व या अहेतुकत्व, एक ही विशेषण से पदार्थ के नित्यपने की सिद्धि हो जाती है फिर 'अहेतुक सत्त्व' ऐसा कहने से क्या प्रयोजन है?

चार्वाक :- प्रागभाव के द्वारा आने वाले व्यभिचार को सत्त्व विशेषण से दूर किया जाता है। अतः 'सत्त्व' विशेषण व्यर्थ नहीं है। अर्थात् बिना कारण से उत्पन्न प्रागभाव अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु सान्त है, कार्य के उत्पन्न हो जाने पर नष्ट हो जाता है। अतः प्रागभाव त्रिकाल नित्य नहीं है। उस प्राग् अभाव का निराकरण करने के लिए नित्य के लक्षण या हेतु में सत्त्व रूप विशेषण दिया गया है। अतः सत्त्व विशेषण व्यर्थ नहीं है।

जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिकों का यह कथन ठीक नहीं है- क्योंकि सर्वथा तुच्छ प्रागभाव प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् नैयायिक आदि सभी मतों में धर्म-धर्मी, कार्य-कारण आदि स्वभाव से रहित तुच्छाभाव रूप प्रागभाव प्रमाणों से सिद्ध नहीं है।

ततो युक्तं सत्त्वस्याविशेषणस्य हेतुत्वमहेतुकत्ववदिति । ततो भवत्येव साध्यसिद्धिः ।

साध्यसाधनवैकल्यं दृष्टान्तेऽपि न वीक्ष्यते ।

नित्यानित्यात्मतासिद्धिः पृथिव्यादेरदोषतः ॥१५१॥

न ह्येकांतानाद्यनंतत्वमंतस्तत्त्वस्य साध्यं येन पृथिव्यादिषु तदभावात् साध्यशून्यमुदाहरणं । नापि तत्र सत्त्वमसिद्धं यतः साधनवैकल्यं । तदसिद्धौ मतांतरानुसरेणप्रसंगात् । ततोऽनवद्यमनाद्यनंतत्वसाधनमात्मनस्तत्त्वांतरत्वसाधनवत् । सत्यमनाद्यनंतं चैतन्यं संतानापेक्षया न पुनरेकान्वयिद्रव्यापेक्षया क्षणिकचित्तानामन्वयानुपपत्तेरित्यपरः । सोऽप्यनात्मज्ञः । तदनन्वयत्वस्यानुमानबाधितत्वात् । तथाहि—

पूर्व पर्यायस्वरूप दूसरे भाव-स्वभाव वाले प्रागभाव के नित्यात्मकता विपक्षता नहीं है । अर्थात् प्रागभाव भी नित्यानित्यात्मक है अतः प्रागभाव सपक्ष है, विपक्ष नहीं है । इस हेतु में व्यभिचार की असंभवता है । इसलिए केवल 'सत्त्वात्' इस हेतु से (अहेतुक विशेषण रहित केवल सत्त्व हेतु से) ही द्रव्य की अनादि अनन्तता की सिद्धि हो जाती है । जैसे सत्त्व विशेषण रहित अहेतुकत्व से नित्य की सिद्धि हो जाती है । इसीलिए सत्त्व हेतु समीचीन है तथा यही साध्य को सिद्ध करता है ।

सत्त्व हेतु वाले अनुमान में दिये गये पृथ्वी आदि तत्त्व रूप दृष्टान्त में भी साध्य-साधन विकलता दृष्टिगोचर नहीं होती है । क्योंकि पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) के भी निर्दोष रूप से नित्यानित्यात्मकता सिद्ध है । अर्थात् पृथ्वी आदि सर्व पदार्थ कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य सिद्ध हैं ॥१५१॥

अन्तस्तत्त्व (आत्मा) के एकान्त से अनादि अनन्तता सिद्ध नहीं करते हैं जिससे वह पृथ्वी आदि तत्त्वों में नहीं रहने से उदाहरण साध्यशून्य होता है । अर्थात् पृथ्वी आदि में अनादि-अनन्त धर्म विद्यमान हैं अतः आत्मा के अनादि अनन्तत्व सिद्ध करने के लिए दिया गया पृथ्वी आदि का उदाहरण साध्य-साधन विकल नहीं है । तथा पृथ्वी आदि में सत्त्व हेतु भी असिद्ध नहीं है, जिससे साध्यसाधन विकल दृष्टान्त हो सकता हो । क्योंकि दृष्टान्त में साध्य-साधन विकल हो जाने पर मतान्तर (चार्वाक) के अनुसरण करने का प्रसंग आयेगा । अर्थात् सत्त्व हेतु साध्य (आत्मा) और दृष्टान्त (पृथ्वी आदि) दोनों में विद्यमान है । अतः साध्य-विकल उदाहरण नहीं है । आत्मा को तत्त्वान्तर (भिन्न तत्त्व) सिद्ध करने के समान आत्मा के अनादि अनन्तत्व भी निर्दोष सिद्ध है ।

संतान की अपेक्षा आत्मा के अनादि अनन्तता सत्य है, समीचीन है । किन्तु एकान्वयी द्रव्य की अपेक्षा (ध्रुव रूप से एक द्रव्यत्व रहने की अपेक्षा) से आत्मा अनादि अनन्त काल तक रहने वाला नहीं है । क्योंकि क्षणिक चित्तों (एक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले चित्तों) के अन्वय रूप से अनुपपत्ति है । अर्थात् एक क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में नष्ट होने वाले आत्मद्रव्य का अनादि अनन्त काल तक अन्वय नहीं रहता है । ऐसा अपर (बौद्ध) कहता है ।

इस बौद्ध मत का खण्डन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाला वह बौद्ध भी अनात्मज्ञ (आत्मतत्त्व के मर्म को नहीं जानने वाला) है । क्योंकि आत्मतत्त्व का पूर्वापर पर्यायों में अनन्वय (अन्वय नहीं रहना) अनुमान से बाधित है । अर्थात् आत्मा का त्रिकाल ध्रुवअन्वय प्रमाण सिद्ध है । उसको नहीं मानना प्रमाणबाधित है तथाहि—

एकसंतानगाक्षितपर्यायास्तत्त्वतोऽन्विताः ।

प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् मृत्पर्याया यथेदृशाः ॥१५२॥

मृत्क्षणास्तत्त्वतोऽन्विताः परस्यासिद्धा इति न मंतव्यं तत्रान्वयापह्नवे प्रतीतिविरोधात् । सकललोकसाक्षिका हि मृन्देदेषु तथान्वयप्रतीतिः । सैवेयं पूर्वं दृष्टा मृदिति प्रत्यभिज्ञानस्याविसंवादिनः सद्भावात् ।

सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं नानासंतानभाविनाम् ।

भेदानामिव तत्रापीत्यदृष्टपरिकल्पनम् ॥१५३॥

यथा नानासंतानवर्तिनां मृन्देदानां सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञायमानत्वं तथैकसंतानवर्तिनामपीति ब्रुवतामदृष्टपरिकल्पनामात्रं प्रतिक्षणं भूयात्तथा तेषामदृष्टत्वात् । तदेकत्वमपि न दृष्टमेवेति चेन्नैतत्सत्यम् ।

प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है

आत्मा की पर्यायें एक सन्तानगत हैं अतः परमार्थ से परस्पर अन्वित हैं। (ध्रुव रूप से चली आ रही हैं) क्योंकि यह वही है- इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के विषय को प्राप्त है। जैसे शिवक, स्थास, कोष, कुशूल और घट पर्याय में यह वही मृत्तिका (मिट्टी) है- ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है। अर्थात् जिस प्रकार घट, सकोरा आदि सभी मिट्टी की पर्यायों में मिट्टी अन्वय रूप से रहती है- उसी प्रकार बालक-युवा आदि अवस्था में त्रिकाल ध्रुव आत्मा अन्वित रहती है ॥१५२॥

“मिट्टी के क्षण (सम्पूर्ण परिणाम) परमार्थ से परस्पर अन्वय सहित हैं- यह अन्य मतावलम्बियों को असिद्ध है”, ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि मिट्टी की पूर्वापर पर्यायों में रहने वाले स्थूलपर्याय रूप मिट्टी का लोप कर देने पर (मिट्टी का अस्तित्व स्वीकार नहीं करने पर) प्रतीति का विरोध आता है। अर्थात् मिट्टी की पूर्व-उत्तर पर्यायों में मिट्टी की प्रतीति सब को होती है। मिट्टी के भिन्न-भिन्न भेदों में लोकसाक्षी (सर्वजन प्रसिद्ध) अन्वय की प्रतीति होती है। ‘यह वही मिट्टी है जिसको पूर्व में देखा था’ इस प्रकार के अविसंवादी प्रत्यभिज्ञान का सद्भाव विद्यमान है।

जैसे नाना सन्तान में रहने वाले भेदों का एकत्व प्रत्यभिज्ञान सादृश्य के सामर्थ्य से होता है, वैसे ही एक सन्तान में रहने वाली उन भिन्न ज्ञान पर्यायों में द्रव्य रूप से अन्वय नहीं रहने पर भी अधिक सदृशता के कारण एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है। जैनाचार्य कहते हैं कि- इस प्रकार का यह बौद्ध का कथन अदृष्ट कल्पना है ॥१५३॥

जिस प्रकार नाना संतान में रहने वाले मिट्टी के भेदों के सादृश्य से एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है- उसी प्रकार एक संतानवर्ती भिन्न-भिन्न ज्ञानपर्यायों में सदृशता के कारण उपचार से एकत्व का प्रत्यभिज्ञान होता है। जैनाचार्य कहते हैं- कि इस प्रकार कहने वाले बौद्धों की यह अदृष्ट की कल्पना करना मात्र है। क्योंकि इस प्रकार पूर्व पदार्थ का प्रत्येक क्षण में समूल नाश होकर तत्क्षण नवीन सदृश पदार्थ की उत्पत्ति हो जाना दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

तदेवेदमिति ज्ञानादेकत्वस्य प्रसिद्धितः ।

सर्वस्याप्यस्खलद्रूपात् प्रत्यक्षाद्भेदसिद्धिवत् ॥१५४॥

यथैव हि सर्वस्य प्रतिपत्तुरर्थस्य चास्खलितात्प्रत्यक्षाद् भेदसिद्धिस्तथा प्रत्यभिज्ञानादेरेकत्वसिद्धिरपीति दृष्टमेव तदेकत्वं । प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं संवादानाभावादिति चेत् । प्रत्यक्षमपि प्रमाणं माभूत् तत एव । न हि प्रत्यभिज्ञानेन प्रतीते विषये प्रत्यक्षस्यावर्तमानात्तस्य संवादानाभावो न पुनः प्रत्यक्षप्रतीते प्रत्यभिज्ञानस्याप्रवृत्तेः प्रत्यक्षस्येत्याचक्षाणः परीक्षको नाम । न प्रत्यक्षस्य स्वार्थे प्रमाणांतरवृत्तिः संवादनं । किं तर्हि? अबाधिता संवित्तिरिति चेत् ।

यथा भेदस्य संवित्तिः संवादनमबाधिता ।

तथैकत्वस्य निर्णीतिः पूर्वोत्तरविवर्तयोः ॥१५५॥

‘पूर्व और उत्तरवर्ती पर्यायों में एकत्व भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है’ ऐसा कहना भी प्रशंसनीय नहीं है । क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों को अविचलित रूप प्रत्यभिज्ञान से ‘यह वही है’ इस प्रकार एकत्व की प्रसिद्धि है (एकत्व की प्रतीति हो रही है) जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा घट-पट आदि भेद की सिद्धि होती है ॥१५४॥

अर्थात्- प्रत्यक्षज्ञान के समान प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है अतः प्रत्यभिज्ञान के द्वारा होने वाली एकत्व की प्रतीति यथार्थ है । जैसे सभी ज्ञानियों को अस्खलित (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित) प्रत्यक्ष ज्ञान से अर्थ (पदार्थ) के भेद की सिद्धि होती है; उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान से एकत्व की सिद्धि होती है । अतः एकत्व दृष्टिगोचर हो रहा है- अनुभव में आ रहा है । (सत्य है- कल्पित नहीं है ।)

‘संवादन (दूसरे प्रमाण की प्रवृत्ति) का अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है’ ऐसा मानने पर तो प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकता । क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण में भी दूसरे प्रमाणों की प्रवृत्ति रूप संवादन का अभाव है । तथा प्रत्यभिज्ञान के द्वारा प्रतीत (ज्ञात) विषय में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होने से संवादन का अभाव है । पुनः प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत विषय में प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्ति न होने से प्रत्यक्ष के संवादन का अभाव नहीं है, ऐसा कहने वाला परीक्षक नहीं हो सकता है ।

(बौद्ध) प्रत्यक्ष का अपने विषय में प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति होने रूप संवादन नहीं है- अपितु बाधाओं से रहित समीचीन ज्ञप्ति होना ही प्रत्यक्ष का संवादन है तो जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो—

जिस प्रकार घट, पट आदि भेदों (विशेषों) का प्रत्यक्ष ज्ञान बाधक प्रमाणों से रहित ज्ञान होने रूप संवादन है (भेद का ज्ञान समीचीन है), उसी प्रकार पूर्व-उत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व का निर्णय भी संवादन है । पूर्व और उत्तर पर्यायों में होने वाला एकत्व का प्रत्यभिज्ञान भी बाधा रहित है ॥१५५॥

कथं पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वस्य संवित्तिरबाधिता या संवादनमिति चेत्। भेदस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः। तस्य प्रमाणांतरत्वादतद्विषयेण बाधनासंभवादबाधिता संवित्तिरिति चेत्। तर्ह्येकत्वस्य प्रत्यभिज्ञानविषयत्वस्याध्यक्षादेरगोचरत्वात्तेन बाधनासंभवादबाधिता संवित्तिः किं न भवेत्? कथं प्रत्यभिज्ञानविषयः प्रत्यक्षेणापरिच्छेद्यः? प्रत्यभिज्ञानेन प्रत्यक्षविषयः कथमिति समानं। तथा योग्यताप्रतिनियमादिति चेत्तर्हि—

वर्तमानार्थविज्ञानं न पूर्वापरगोचरम्।

योग्यतानियमात्सिद्धं प्रत्यक्षं व्यावहारिकम् ॥१५६॥

यथा तथैव संज्ञानमेकत्वविषयं मतम्।

न वर्तमानपर्यायमात्रगोचरमीक्ष्यते ॥१५७॥

शंका- (बौद्ध) पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व का ज्ञान बाधारहित या संवादन कैसे है? समाधान- प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत पदार्थों में तथा अचित् रूप से रहने वाले पूर्व-उत्तर परिणामों में सर्वथा भेद की प्रतीति बाधा रहित कैसे है? यह बताओ। दोनों में प्रश्न समान है।

बौद्ध कहता है कि वस्तुभूत विशेष स्वरूप भेदों को जानने वाला वह प्रत्यक्ष ज्ञान स्वतंत्र-न्यारा है। भेद के जानने में प्रत्यक्ष की ही प्रवृत्ति है। दूसरे प्रमाण भेद को विषय नहीं करते हैं- अतः प्रत्यक्ष को विषय नहीं करने वाले प्रमाण के द्वारा बाधा की असंभावना होने से प्रत्यक्ष ज्ञान अबाधित है। जैनाचार्य कहते हैं, तब तो प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत एकत्व के भी प्रत्यक्षज्ञान के अगोचर होने से बाधा की असंभवता है, अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान अबाधित क्यों नहीं होगा? अर्थात् प्रत्यभिज्ञान भी संवाद युक्त होने से समीचीन है।

शंका- (बौद्ध) प्रत्यभिज्ञान का विषय प्रत्यक्ष ज्ञान के गोचर क्यों नहीं है? उत्तर- (जैन पूछते हैं कि) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय प्रत्यभिज्ञान प्रमाण के गोचर क्यों नहीं है? दोनों में प्रश्न और उत्तर समान हैं।

बौद्ध कहता है कि उस प्रकार भेद के जानने में प्रत्यक्ष की ही योग्यता प्रतीति अनुसार नियत हो रही है अतः प्रत्यक्ष के विषय में प्रत्यभिज्ञान नहीं चलता है। ऐसी योग्यता प्रत्यभिज्ञान में नहीं है- जो प्रत्यक्ष ज्ञान को विषय कर सके? इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि-

जैसे वर्तमान काल के अर्थ को विशेष रूप से जानने वाला सांख्यव्यावहारिक प्रत्यक्ष पूर्व-उत्तरवर्ती पर्यायों में रहने वाले एकत्व को विषय नहीं करता है क्योंकि इन्द्रियजन्य सांख्यव्यावहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान की योग्यता वर्तमानकालीन पदार्थों को जानने में ही नियमित है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी एकत्व को विषय करने में नियमित है। एकत्व को ही विषय करता है, यह प्रमाण प्रसिद्ध है। इसलिये वह केवल वर्तमान पर्याय (प्रत्यक्ष ज्ञान) का विषय करने वाला (जानने वाला) नहीं देखा जाता है। वर्तमान काल मात्र का विषय करता हुआ अनुभव में नहीं आ रहा है ॥१५६-१५७॥

भावार्थ- जिस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय में प्रत्यभिज्ञान बाधा नहीं देता है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान के विषय में भी प्रत्यक्ष बाधा नहीं देता है- क्योंकि दोनों का विषय पृथक्-पृथक् है, जो जिसका विषय ही नहीं है वह उसका साधक या बाधक भी नहीं हो सकता है।

यद्यद्विषयतया प्रतीयते तत्तद्विषयमिति व्यवस्थायां वर्तमानार्थाकारविषयतया समीक्ष्यमाणं प्रत्यक्षं तद्विषयं, पूर्वापरविवर्तवर्त्येकद्रव्यविषयतया तु प्रतीयमानं प्रत्यभिज्ञानं तद्विषयमिति को नेच्छेत् । नन्वनुभूतानुभूयमानपरिणामवृत्तेरेकत्वस्य प्रत्यभिज्ञानविषयत्वेऽतीतानुभूताखिलपरिणामवर्तिनोऽनागतपरिणामवर्तिनश्च तद्विषयत्वप्रसक्तिः, भिन्नकालपरिणामवर्तित्वाविशेषात्, अन्यथानुभूतानुभूयमानपरिणामवर्तिनोऽपि तद्विषयत्वापत्तेरिति चेत् । तर्हि सांप्रतिकपर्यायस्य प्रत्यक्षविषयत्वे कस्यचित्सकलदेशवर्तिनोऽप्यध्यक्षविषयता स्यादन्यथेष्टस्यापि तदभावः, सांप्रतिकत्वाविशेषात् । तदविशेषेऽपि योग्यताविशेषात् सांप्रतिकाकारस्य कस्यचिदेवाध्यक्षविषयत्वं न सर्वस्येति चेत्तर्हि—

जो ज्ञान जिस पदार्थ को विषय करता हुआ प्रतीत होता है- वह ज्ञान उस पदार्थ का विषय करने वाला है। अथवा वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है। ऐसी व्यवस्था होने पर वर्तमान अर्थ के आकार को विषय रूप से देखता हुआ (ग्रहण करता हुआ) वह प्रत्यक्ष (सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष) ज्ञान विषय करता हुआ कहलाता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान विषयी और वर्तमान कालीन पदार्थ प्रत्यक्षज्ञान के विषय कहलाते हैं। उसी प्रकार पूर्वोत्तरवर्ती पर्यायों में स्थित द्रव्य का एकत्व रूप से विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रतीत हो रहा है- इस बात को कौन इष्ट नहीं करेगा- अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय वर्तमानकालीन पर्याय युक्त पदार्थ है, उसको जानने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाणभूत है, उसी प्रकार वर्तमानकालीन और भूतकालीन पदार्थों में एकत्व का ज्ञान कराने वाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत क्यों नहीं है? प्रत्यक्षज्ञान के समान प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाणभूत है।

शंका- अनुभूत (जिसका भूतकाल में अनुभव कर चुके हैं), अनुभूयमान (जिसका अनुभव वर्तमान में हो रहा है) परिणामों में रहने वाले एकत्व को प्रत्यभिज्ञान का विषय मानने पर अतीत में अनुभव किये गये सम्पूर्ण परिणामों में रहने वाले तथा सभी भविष्य परिणामों में रहने वाले अनेक एकत्वों को भी प्रत्यभिज्ञान के विषयत्व का प्रसंग आयेगा। क्योंकि भूतकाल और भविष्यत्काल दोनों में ही भिन्नकालवर्ती की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। जैसे वर्तमान काल में एकत्व है वैसे भविष्यत्काल में वर्तने वाले ज्ञान में भी एकत्व है। दोनों में कोई विशेषता नहीं है। अन्यथा (यदि भविष्यत्काल में रहने वाले एकत्व को प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं मानेंगे तो) अनुभूत और अनुभूयमान पर्यायों में रहने वाला एकत्व भी प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं होगा। समाधान- इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकार मानने पर तो वर्तमानकालीन पर्याय को अल्पज्ञ के प्रत्यक्ष का विषय करने पर सम्पूर्ण देशों में रहने वाली वर्तमानकालीन पर्यायें भी किसी भी साधारण मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय क्यों नहीं होंगी। अन्यथा (यदि सर्वदेशस्थित पदार्थों की वर्तमानकालीन पर्याय को साधारण मानव प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा नहीं जानता है ऐसे मानोगे तो) बौद्धों के द्वारा इष्ट किया गया प्रत्यक्ष भी वर्तमानकालीन पर्याय को नहीं जान सकेगा। इस प्रकार वर्तमानकालीन पर्यायों को जानने का भी अभाव होगा। क्योंकि वर्तमान काल की अपेक्षा दोनों में कोई अन्तर (विशेषता) नहीं है।

यथैव वर्तमानार्थग्राहकत्वेऽपि संविदः ।
 सर्वसांप्रतिकार्थानां वेदकत्वं न बुद्ध्यते ॥१५८॥
 तथैवानागतातीतपर्यायैकत्ववेदिका ।
 वित्तिर्नानादिपर्यंतपर्यायैकत्वगोचरा ॥१५९॥

यथा वर्तमानार्थज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वर्तमानार्थस्यैव परिच्छेदकमक्षज्ञानं तथा कतिपयातीतानागतपर्यायैकत्वज्ञानावरणक्षयोपशमात्तावदतीतानागतपर्यायैकत्वस्यैव ग्राहकं प्रत्यभिज्ञानमिति युक्तमुत्पश्यामः । तस्माच्चैकसंतानवर्तिघटकपालादिमृत्पर्यायाणा-
 मन्वयित्वसिद्धेर्नोदाहरणस्य साध्यसाधनविकलत्वं, येन चित्तक्षणसंतानव्याप्येकोऽन्वितः पुमान्

उन दोनों में अन्तर के नहीं होने पर भी ज्ञान के विशिष्ट क्षयोपशम से होने वाली योग्यता के विशेष से प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तमानाकार (वर्तमान में सम्मुख रहने वाले पदार्थ के आकार रूप) पर्याय को ही विषय करता है। सर्वदेशस्थित पदार्थों की वर्तमानकालीन पर्यायों को विषय नहीं करता है- इस प्रकार बौद्धों के कहने पर अब जैनाचार्य कहते हैं-

जिस प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान के वर्तमानकालीन पदार्थों की ग्राहकता (ग्रहण करने की शक्ति) होने पर भी सम्पूर्ण देशों में स्थित वर्तमानकालीन सर्व पदार्थों का वेदकत्व (जानना) नहीं समझा जाता है अर्थात् वह प्रत्यक्षज्ञान सर्व देशों में स्थित वर्तमानकालीन पदार्थों को नहीं जानता है; उसी प्रकार भविष्यत् और भूतकालीन कतिपय पर्यायों के एकत्व को जानने वाला प्रत्यभिज्ञान रूप मतिज्ञान अनादि अनन्त कालीन पर्यायों के एकत्व को विषय नहीं करता है ॥१५८-१५९॥

जिस प्रकार वर्तमान पदार्थों के ज्ञान के आच्छादक मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से वर्तमानकालीन कतिपय पदार्थों को जानने वाला इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार कतिपय (कुछ) अतीत और अनागत पर्यायों में रहने वाले एकत्व ज्ञान के अवरोधक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञान भी उतनी ही अतीत और अनागत पर्यायों में स्थित एकत्व का ही ग्राहक है। बात को हम युक्तिसहित देख रहे हैं; अनुभव कर रहे हैं। अर्थात् यह अनुभव से सिद्ध है- प्रत्यभिज्ञान प्रामाणिक ज्ञान है।

इस प्रकार एकसंतानवर्ती घट, कपाल आदि मिट्टी की पर्यायों में भी मिट्टी रूप से अन्वयता सिद्ध हो जाने पर उदाहरण साध्य-साधन विकल नहीं है, जिससे कि चित्त (आत्मा) के ज्ञान पर्यायों की संतान में व्यापक रूप से अन्वययुक्त रहने वाले एक पुमान् (आत्मा) की सिद्धि नहीं होती हो? अपितु एक अनादिनिधन आत्मा की सिद्धि होती ही है।

सिद्धयेत्। कथमेकः पुरुषः क्रमेणानंतान् पर्यायान् व्याप्नोति? न तावदेकेन स्वभावेन सर्वेषामेकरूपतापत्तेः। नानास्वरूपैर्व्याप्तानां जलानलादीनां नानात्वप्रसिद्धेरन्यथानुपपत्तेः।

सत्ताद्येकस्वभावेन व्याप्तानामर्थानां नानात्वदर्शनात् पुरुषत्वैकस्वभावेन व्याप्तानामप्यनंतपर्यायाणां नानात्वमविरुद्धमिति चायुक्तं, नानार्थव्यापिनः सत्त्वादेरेकस्वभावत्वानवस्थितेः। कथमन्यथैकस्वभावव्याप्तं किंचिदेकं सिद्धयेत्। यदि पुनर्नानास्वभावैः पुमाननंतपर्यायान् व्याप्नुयात्तदा ततः स्वभावानामभेदे तस्य नानात्वं, तेषां

आत्मा व्यापक है

(बौद्ध) शंका- एक ही पुरुष (आत्मा) क्रम से होने वाली अनन्त पर्यायों को कैसे व्याप्त कर लेता है? एक स्वभाव के द्वारा आत्मा क्रमसे होने वाली अनन्त पर्यायों को व्याप्त कर लेता है- ऐसा भी नहीं कह सकते? क्योंकि एक स्वभाव के द्वारा आत्मा का अनेक पर्यायों में व्यापक होना मानने पर सम्पूर्ण पर्यायों के एकत्व की आपत्ति का प्रसंग आता है। अर्थात् एक स्वभाव से व्याप्त पदार्थ एक स्वभाव वाले ही होते हैं। परन्तु नाना स्वभावों से व्याप्त जल, अग्नि आदि के नानात्व प्रसिद्ध ही है। अन्यथा (जलादि को नाना स्वभावों से व्याप्त नहीं मानेंगे तो) जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी में भिन्नता (भिन्न-भिन्न द्रव्यता) की सिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान : सत्ता, द्रव्यत्व आदि एक स्वभाव से व्याप्त होने पर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों तत्त्वों के जैसे नानापना दृष्टिगोचर होता है वैसे ही पुरुष स्वरूप (आत्मपना या चेतनपना) एक स्वभाव से व्याप्त होने पर भी अनन्त ज्ञान, सुख आदि पर्यायों के भी नानापने में कोई विरोध नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि अनेक अर्थों में व्यापक रूप से रहने वाले सत्त्व, द्रव्यत्व आदि के एकस्वभावपना व्यवस्थित रूप से सिद्ध नहीं है। वे सत्त्व आदि अनेक स्वभाव वाले होकर ही अनेक पदार्थों में रहते हैं। यदि सत्त्व आदि को अनेक स्वभाव न मान कर एकस्वभाव माना जायेगा तो एकस्वभाव से व्याप्त हो रहा कोई एक पदार्थ ही कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् नहीं होगा। अतः नित्य और एकसत्ता जाति अनेक में नहीं रह सकती।

यदि स्याद्वादी, अनेक स्वभावों के द्वारा आत्मा अनेक पर्यायों को व्याप्त करता है, ऐसा मानते हैं तो (बौद्ध पूछते हैं) वे अनेक स्वभाव आत्मा से भिन्न हैं कि अभिन्न हैं?

यदि अनेक स्वभावों को आत्मा से अभिन्न मानोगे तो अनेक स्वभावों के साथ तादात्म्य होने से आत्मा भी अनेक हो जायेगी। अथवा आत्मा के साथ एकत्व होने से वे स्वभाव भी नानारूप न रहकर एक हो जायेंगे।

चैकत्वमनुषज्येत; भेदे संबंधासिद्धेर्व्यपदेशानुपपत्तिः। संबंधकल्पनायां किमेकेन स्वभावेन पुमान् स्वस्वभावैः संबध्यते नानास्वभावैर्वा? प्रथमकल्पनायां सर्वस्वभावानामेकतापत्तिः, द्वितीयकल्पनायां ततः स्वभावानामभेदे च स एव दोषः, अनिवृत्तश्च पर्यनुयोगः, इत्यनवस्थानात्, कुतोऽनंतपर्यायवृत्तिरात्मा व्यवतिष्ठेतेति केचित्। तेऽपि दूषणाभासवादिनः। कथम्—

क्रमतोऽनंतपर्यायानेको व्याप्नोति ना सकृत्।

यथा नानाविधाकारांश्चित्रज्ञानमनंशकम् ॥१६०॥

चित्रज्ञानमनंशमेकं युगपन्नानाकारान् व्याप्नोतीति स्वयमुपनयन् क्रमतोऽनंतपर्यायान् व्याप्नुवन्तमात्मानं प्रतिक्षिपतीति कथं मध्यस्थः? तत्र समाधानाक्षेपयोः समानत्वात्। नन्वेकोऽपि चित्रज्ञानाकारोऽशक्यविवेचनत्वादेको युक्त इति चेत्—

यदि अनेक स्वभावों से आत्मा को भिन्न मानोगे तो आत्मा और स्वभावों में सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होगा और सम्बन्ध सिद्ध न होने से 'ये आत्मा के स्वभाव हैं' इस प्रकार की लोक-व्यवहार की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अतः सम्बन्ध वाचक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकता। स्वभावों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की कल्पना करने पर प्रश्न उठता है कि आत्मा अपने अनेक स्वभावों के द्वारा एक स्वभाव से सम्बन्धित होता है कि नाना स्वभावों के साथ नाना स्वभाव से सम्बन्धित होता है? प्रथम कल्पना में यदि नाना स्वभावों का सम्बन्ध करके एकरूप परिणत होता है, ऐसा मानते हैं तो आत्मा के नाना स्वभावों को पूर्व के समान एकत्व का प्रसंग आयेगा। तथा द्वितीय पक्ष के अनुसार यदि नाना स्वभावों के साथ आत्मा में सम्बन्ध मानोगे तो स्वभाव के अनेक होने से आत्मा के भी अनेकत्व की सिद्धि होगी। अतः स्वभाव के साथ सम्बन्ध की कल्पना करने पर पूर्वोक्त दोष आते ही जायेंगे और प्रश्न की निवृत्ति नहीं होगी। तथा अनवस्था दोष भी आयेगा। ऐसी दशा में स्याद्वाद मत में स्वीकृत अनन्त पर्यायों में अन्वय रूप से व्यापक एक आत्मा कैसे व्यवस्थित हो सकती है? इस प्रकार बौद्ध के कथन को सुनकर जैनाचार्य शंकाओं का प्रत्युत्तर देते हैं कि—

ऐसा कहने वाले वे बौद्ध दूषणाभासी हैं? शंका— वे दूषणाभासी कैसे हैं? उत्तर— जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में प्रकारता, विशेष्यता आधेयता, ग्राह्यता, ग्राहकता आदि अंशों (या विकल्पों) से रहित भी एक चित्रज्ञान एक समय में नीलाकार, पीताकार आदि नाना आकारों को एक समय में व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा क्रमशः होने वाली अनन्त पर्यायों को एक ही बार में व्याप्त कर लेता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालीन अनंत पर्यायों में आत्मा अनादि काल से अन्वय रूप से व्याप्त है, ऐसा सिद्ध होता ही है ॥१६०॥

धर्म-धर्मी भाव से रहित निरंश एक चित्रज्ञान एक समय में अनेक आकारों को व्याप्त करता है— ऐसा बौद्ध स्वयं स्वीकार करते हैं किन्तु क्रम से होने वाली अनन्त पर्यायों में व्यापक आत्मा का खण्डन करते हैं— अतः वे बौद्ध मध्यस्थ (पक्षपात रहित) कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं क्योंकि चित्रज्ञान में ज्ञान और आत्मा दोनों में समाधान की अपेक्षा समानता है। अर्थात् चित्रज्ञान को एक साथ अनेक आकारों को व्याप्त करने वाला सिद्ध करेंगे तो आत्मा भी एक साथ अनन्त पर्यायों में व्याप्त होती है, यह सिद्ध हो जायेगा। और आत्मा के अन्वय रूप से अनेक पर्यायों में रहने का खण्डन करेंगे तो चित्रज्ञान का भी खण्डन होगा।

यद्यनेकोऽपि विज्ञानाकारोऽशक्यविवेचनः ।

स्यादेकः पुरुषोऽनंतपर्यायोऽपि तथा न किम् ॥१६१॥

क्रमभुवामात्मपर्यायाणामशक्यविवेचनत्वमसिद्धमिति मा निश्चेषीः । यस्मात्—

यथैकवेदनाकारा न शक्या वेदनांतरम् ।

नेतुं तथापि पर्याया जातुचित्पुरुषांतरम् ॥१६२॥

ननु चात्मपर्यायाणां भिन्नकालतया वित्तिरेव शक्यविवेचनत्वमिति चेत्तर्हि चित्रज्ञानाकाराणां भिन्नदेशतया वित्तिर्विवेचनमस्तीत्यशक्यविवेचनत्वं माभूत् । तथाहि—

भिन्नकालतया वित्तिर्यदि तेषां विवेचनम् ।

भिन्नदेशतया वित्तिर्ज्ञानाकारेषु किं न तत् ॥१६३॥

शंका— चित्रज्ञान के आकार अनेक हैं फिर भी उनको पृथक् करना अशक्य होने से एक कह दिया जाता है। इसलिए अनेक आकारों के संयोग से चित्रज्ञान एक है, ऐसा बौद्ध का कथन अयुक्त क्यों है? अपितु युक्त है।

समाधान— जैनाचार्य कहते हैं कि—

यदि विज्ञान के अनेक आकार अशक्य विवेचन (पृथक् करना शक्य न) होने से चित्रज्ञान एक है, ऐसा मानते हो तो फिर उसी प्रकार अशक्य विवेचन होने से अनन्त पर्यायों वाला आत्मा एक क्यों नहीं होगा ॥१६१॥

क्रम-क्रम से होने वाली आत्मा की पर्यायों का अशक्य विवेचन असिद्ध है, ऐसा निश्चय नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

जिस प्रकार एक वेदनाकार दूसरे वेदन (ज्ञान) में ले जाना शक्य नहीं है, उसी प्रकार आत्मा भी पुरुषान्तर के सुख-दुःख रूप पर्यायों का कभी वेदन नहीं कर सकता। अतः अशक्य विवेचन दोनों में समान है ॥१६२॥

बौद्ध कहते हैं कि एक आत्मा की सुख-दुःख आदि पर्यायों की भिन्न-भिन्न काल में वृत्ति होकर ज्ञान होना (प्रतीति होना) शक्य विवेचन है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों के इस कथन से तो 'चित्रज्ञान के आकारों का भी भिन्न-भिन्न देश में हुए रूप से वेदन होना' अशक्य विवेचन नहीं होगा— अर्थात् शक्य विवेचन हो जायेगा।

तथाहि— यदि भिन्न-भिन्न काल में वर्त रहे रूप से ज्ञप्ति होना ही आत्मा की पर्यायों का विवेचन (पृथक्) करना है, तो भिन्न-भिन्न देशों में रहने रूप से ज्ञान के आकारों की ज्ञप्ति-होना शक्य विवेचन क्यों नहीं होगा ॥१६३॥

न हि चित्रपटीनिरीक्षणे पीताद्याकाराश्चित्रवेदनस्य भिन्नदेशा न भवन्ति ततो बहिस्तेषां भिन्नदेशताप्रतिष्ठानविरोधात् । न ह्यभिन्नदेशपीताद्याकारानुकारिणाश्चित्रवेदनाद्विभिन्नदेशपीताद्याकारो बहिरर्थश्चित्रः प्रत्येतुं शक्योऽपीताकारादपि ज्ञानात्पीतप्रतीतिप्रसंगात् ।

पीताकारादिसंवित्तिः प्रत्येकं चित्रवेदना ।

न चेदनेकसंतानपीतादिज्ञानवन्मतम् ॥१६४॥

चित्रपटीदर्शने प्रत्येकं पीताकारादिवेदनं न चित्रज्ञानं क्रमाद्विभिन्नदेशविषयत्वात्ता-
दृशानेकसंतानपीतादिज्ञानवदिति मतं यदि ।

सह नीलादिविज्ञानं कथं चित्रमुपेयते ।

युगपद्भावरूपादिज्ञानपंचकवत्त्वया ॥१६५॥

अनेक रंग वाले चित्रपट को देखने में उस चित्रज्ञान के पीतादि आकार भिन्न-भिन्न देश में वृत्ति रखने वाले नहीं हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उस चित्रपट से बाह्य (वास्तविक उद्यान या महल के) भिन्न देशवृत्ति रूप में उन आकारों (नील, पीत आदि आकारों) के प्रतिष्ठित रहने का विरोध होगा। अर्थात् वे एक ही ज्ञान में भिन्न-भिन्न देशों में रहते हुए दिख रहे हैं।

अभिन्न (एक ही) देश में पीतादि आकार का निरूपण करने वाले चित्रज्ञान से भिन्न पीतादि आकार वाले बाह्य पदार्थ को चित्र-विचित्र जानना शक्य नहीं है। अन्यथा अपीत (पीत रहित) आकार वाले ज्ञान से भी पीत की ज्ञप्ति होने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् ज्ञान के आकारों में भिन्नदेशता जैसे सिद्ध है, वैसे आत्मा के समान ज्ञान के आकारों में भी पृथक् विवेचन करना शक्य है।

पीतादि आकारों को जानने वाले एक-एक ज्ञान-व्यक्ति जैसे चित्रज्ञान नहीं है, वैसे एक ज्ञान में होने वाले नील-पीतादि आकार भी अकेले चित्रज्ञान नहीं हैं। किन्तु एक ज्ञान के समुदित आकारों का चित्र बन जाता है, वह चित्रज्ञान है ॥१६४॥

अनेक रंगों वाले चित्रपट को देखने पर पीत आदि आकारों को जानने वाले अनेक आकारों के ज्ञान में से एक आकार वाला प्रत्येक-प्रत्येक ज्ञानांश चित्रज्ञान नहीं है क्योंकि वे ज्ञान क्रम से भिन्न-भिन्न देशों में स्थित नील पीत आदि को विषय करते हैं, अनेक संतान स्थित पीतादि ज्ञान के समान। अर्थात् जैसे भिन्न-भिन्न संतानों के नीलादि आकार वाले ज्ञान अकेले चित्रज्ञान नहीं हैं- क्योंकि भिन्न-भिन्न संतान के ज्ञानों का समुदाय नहीं हो सकता है- परन्तु एक ज्ञान में समुदित आकारों के ज्ञान का नाम चित्रज्ञान है। बौद्ध के इस प्रकार कहने पर आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं-

यदि एक आत्मा की क्रमशः होने वाली सुखादि पर्यायों में एक अन्वयरूपता नहीं मानते हो तो एक साथ होने वाले रूपादि पाँच ज्ञान के समान एक साथ होने वाले नील पीतादि आकार वाले विज्ञान को बौद्ध चित्र ज्ञान कैसे स्वीकार करते हैं? ॥१६५॥

शक्यं हि वक्तुं शष्कुलीभक्षणादौ सहभाविरूपादिज्ञानपञ्चकमिव नीलादिज्ञानं सकृदपि न चित्रमिति, सहभावित्वाविशेषात्। तदविशेषेऽपि पीतादिज्ञानं चित्रमभिन्नदेशत्वाच्चित्रपतंगदादौ न पुनरूपादिज्ञानपञ्चकं क्वचिदिति न युक्तं वक्तुं, तस्याप्यभिन्नदेशत्वात् न हि देशभेदेन रूपादिज्ञानपञ्चकं सकृत् स्वस्मिन् वेद्यते, युगपज्ज्ञानोत्पत्तिवादिनस्तथानभ्युपगमात्। ननु चादेशत्वाच्चित्रचैतसिकानामभिन्नाभिन्नदेशत्वचिन्ता न श्रेयसीति चेत्, कथं भिन्नदेशत्वाच्चित्रपटीपीतादिज्ञानानां चित्रत्वाभावः साध्यते, संव्यवहारात्तेषां तत्र भिन्नदेशत्वसिद्धेः। तत्साधने तत एव शष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानानामभिन्नदेशत्वसिद्धेः, सहभावित्वसिद्धेश्च। तद्वत्सकृदपि पीतादिज्ञानं चित्रमेकं माभूत्।

हम कह सकते हैं कि जैसे पूड़ी आदि खाते समय आदि प्रकरणों में (सहभावी) एक साथ होने वाले रूप, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द रूप पाँच ज्ञान परस्पर मिलकर एक चित्रज्ञान रूप नहीं बन जाते हैं, उसी प्रकार एक समय में होने वाले पीतादि आकार वाले ज्ञान भी मिलकर चित्रात्मक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि पूड़ी आदिक को खाते समय होने वाले पाँच ज्ञान में और चित्रपट में दिखने वाले ज्ञान में सहभावित्व की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है- दोनों समान हैं।

चित्रपट के पीतादिक ज्ञान में और रूपरसादि ज्ञान में एक काल में होने की अपेक्षा अन्तर (विशेषता) न होते हुए भी अनेक रंग वाले पतंग आदि में या चित्रपट के नील आदि के ज्ञान को अभिन्न देश में होने के कारण बौद्ध चित्र ज्ञान कहते हैं, परन्तु रूपादि ज्ञानपञ्चक को कहीं पर भी चित्रज्ञान नहीं मानते हैं। उनका यह कथन युक्त नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार चित्रपटादिक के ज्ञान में अभिन्नदेशत्व है- उसी प्रकार पूड़ी खाते समय होने वाले रूपादि पञ्चक ज्ञान के भी अभिन्नदेशत्व है। रूप का ज्ञान किसी अन्य पदार्थ में हो और रसादिक का ज्ञान किसी भिन्न पदार्थ में हो ऐसा देशभेद से रूपादि पाँच का एक साथ आत्मा में वेदन नहीं होता है। जो एक समय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति होना कहते हैं, उन्होंने उस प्रकार पाँच प्रकार के ज्ञानों को भिन्नदेश में उत्पन्न होना स्वीकार नहीं किया है। अपितु बौद्ध दर्शन में एक साथ पाँच ज्ञान होना स्वीकार किया गया है।

बौद्ध कहते हैं कि विज्ञान स्वरूप आत्मा के चित्र-विचित्र ज्ञानों का भिन्नदेशत्व नहीं होने से अभिन्नदेशत्व की चिन्ता करना श्रेयस्कर नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहोगे तो बौद्धों ने चित्रपट के नील, पीत आदिक ज्ञानों को भिन्न देश में रहने के कारण चित्रत्व का अभाव क्यों सिद्ध किया है? जबकि बौद्ध मत में भिन्नदेशत्व माना ही नहीं गया है।

यदि कहो कि संव्यवहार की अपेक्षा उन ज्ञानों में भिन्नदेशत्व की असिद्धि है अर्थात् व्यवहार में चित्रज्ञान में भिन्नदेशत्व नहीं है। इस प्रकार चित्रज्ञान में अभिन्नदेशत्व साधन करते हो (सिद्ध करते हो) तो उसी प्रकार पूड़ी आदि खाने पर होने वाले रूप आदि पाँच ज्ञानों में भी व्यवहार में अभिन्नदेशत्व सिद्ध है। और इस कारण उनमें सहभावित्व सिद्ध है। अतः पीतादि ज्ञान के समान रूपादिक पाँच ज्ञान में एक चित्रज्ञानत्व क्यों नहीं सिद्ध होता है, अपितु अवश्य सिद्ध होना चाहिए।

यदि पुनरेकज्ञानतादात्म्येन पीताद्याभासानामनुभवनात्तद्वेदनं चित्रमेकमिति मतं, तदा रूपादिज्ञानपंचकस्यैकसंतानात्मकत्वेन संवेदनादेकं चित्रज्ञानमस्तु। तस्यानेकसंतानात्मकत्वे पूर्वविज्ञानमेकमेवोपादानं न स्यात्। पूर्वानेकविज्ञानोपादानमेकरूपादिज्ञानपंचकमिति चेत्, तर्हि भिन्नसंतानत्वात्तस्यानुसंधानविकल्पजनकत्वाभावः। पूर्वानुसंधानविकल्पवासना तज्जनिकेति चेत्, कुतोऽहमेवास्य द्रष्टा स्पष्टा घ्राता स्वादयिता श्रोतेत्यनुसंधानवेदनं? रूपादिज्ञानपंचकानंतरमेवेति

यदि पुनः नील-पीतादिक आकार स्वरूप से प्रतिभासों का एक ज्ञान के साथ तादात्म्य रूप से अनुभव होने से उस ज्ञान को एक चित्रज्ञान मानते हो तो रूप-रसादिक पाँच ज्ञानों का भी एक सन्तानरूप तादात्म्य से अनुभव होने से वे रूपादि पाँचों ज्ञान भी एक चित्रज्ञान रूप होने चाहिए (क्योंकि चित्रपने के लिए दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध समान है।)

उन रूप, रसादि पाँच ज्ञानों को अनेक संतान रूप मानने पर पूर्व का एक विज्ञान ही उनका उपादान कारण नहीं हो सकेगा। अर्थात्- विवक्षित आत्मा के एक ज्ञान रूप उपादान कारण से नाना आत्माओं का ज्ञान उपादेय नहीं हो पाता है, वैसे ही एक आत्मा में स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ज्ञान की संतानधाराएँ पृथक्-पृथक् स्वतंत्र चल रही हैं। अतः बौद्ध मत में प्रसिद्ध रसज्ञान के गन्ध आदि ज्ञान की उपादान कारणता नहीं हो सकेगी। गन्धज्ञान का पूर्व काल सम्बन्धी गन्ध ज्ञान ही उपादान कारण होगा और ऐसा होने पर आत्मा में अनेक उपादान कारण होने योग्य ज्ञानगुणों को मानना पड़ेगा (जो सिद्धान्तविरुद्ध है)।

यदि पाँच रूपादि ज्ञानों के पूर्ववर्ती पाँच ज्ञानों को उपादान कारण मानोगे तो भिन्न-भिन्न सन्तान होने से उन ज्ञानों के द्वारा परस्पर प्रत्यभिज्ञान रूप विकल्पों को उत्पन्न करने का अभाव होगा।

भावार्थ- जैसे भिन्न-भिन्न सन्तान होने से जिनदत्त के देखे हुए पदार्थों का देवदत्त स्मरण वा प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकता, उसी प्रकार स्पर्श इन्द्रिय द्वारा ज्ञात विषय में रसना इन्द्रिय का प्रत्यक्ष वा प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा। परन्तु ऐसा अनुसन्धान या प्रत्यभिज्ञान होता है कि जिसको मैंने प्रत्यक्ष देखा था उसी का स्वाद ले रहा हूँ। जिसका स्पर्श किया था उसी को देख रहा हूँ। अतः एक आत्मा में ज्ञान की अनेक संतानें सिद्ध नहीं हो सकती।

यदि कहो कि पूर्व के अनुसंधान (प्रत्यभिज्ञान) की विकल्प वासना ही (मैंने जिसका पूर्व में स्पर्श किया था, उसी को देख रहा हूँ, इत्यादि) विकल्पजालों की उत्पादिका है तो जैनाचार्य कहते हैं कि “मैं ही इसका द्रष्टा हूँ, स्पष्टा (स्पर्श करने वाला) हूँ, सूँघने वाला हूँ, स्वाद लेने वाला हूँ और सुनने वाला हूँ” (जिसको मैंने देखा था उसी का स्वाद ले रहा हूँ) इत्यादि विकल्प रूप अनुसंधान (प्रत्यभिज्ञान) कैसे हो सकता है।

यदि रूपादि पाँच ज्ञान से अनन्तर (दूसरा ज्ञान) मानोगे तो उसका नियम संभाव्य (निश्चित) होना चाहिए। यदि कहो कि जिसको मैं देखता हूँ, उसी को छूता हूँ, सूँघता हूँ इस अनुसंधान का नियम कराने वाली मिथ्या संस्कार रूप वासना है। वहीं वे रूप आदि पाँच ज्ञान उस वासना को प्रबुद्ध (जाग्रत) कर देते हैं।

नियमः संभाव्यतां। तस्य तद्वासनाप्रबोधकत्वादिति चेत्, कुतस्तदेव तस्याः प्रबोधकं? तथा दृष्टत्वादिति चेन्न, अन्यथा दर्शनात्। प्रागपि हि रूपादिज्ञानपञ्चकोत्पत्तेरहमस्य द्रष्टा भविष्यामीत्याद्यनुसंधानविकल्पो दृष्टः। सत्यं दृष्टः, स तु भविष्यदर्शनाद्यनुसंधानवासनात् एव। तत्प्रबोधकश्च दर्शनाद्यभिमुखीभावो न तु रूपादिज्ञानपञ्चकमिति तदुत्पत्तेः पूर्वमन्यादृशानुसंधानदर्शनात्तासां नियमप्रतिनियतानुसंधानानां प्रतिनियतवासनाभिर्जन्यत्वात्तासां च प्रतिनियतप्रबोधकप्रत्ययायत्तप्रबोधत्वादिति चेत्। कथमेवमेकत्र पुरुषे नानानुसंधानसंताना न स्युः? प्रतिनियतत्वेऽप्यनुसंधानानामेकसंतानत्वं विकल्पज्ञानत्वाविशेषादिति चेत्। किमेवं

जैनाचार्य पूछते हैं कि वे पाँच ज्ञान ही अनुसंधान कराने वाली उस वासना के प्रबोधक क्यों हैं? वे ही वासना को जाग्रत क्यों करते हैं? चाहे कोई भी ज्ञान उस वासना को क्यों नहीं जगा देता? उत्तर— बौद्ध कहते हैं कि उस प्रकार का कार्य होते हुए देखा जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अन्य प्रकार से भी कार्य देखा जाता है। क्योंकि रूपादि पाँच ज्ञानों की उत्पत्ति के पूर्व 'मैं इस पदार्थ का द्रष्टा होऊँगा' इत्यादि रूप से प्रत्यभिज्ञान रूप विकल्प होना देखा जाता है।

बौद्ध कहते हैं कि रूप आदिक पाँच ज्ञानों के पूर्व अनुसंधान होना आपने देखा है, वह सत्य है। परन्तु वह विकल्प ज्ञान तो भविष्यकाल में देखने, सूँघने आदि अनुसंधान को उत्पन्न करने वाली दूसरी वासनाओं से ही उत्पन्न हुआ है। रूप आदि के ज्ञान उन वासनाओं में प्रबोधक नहीं हैं। उन वासनाओं का जानने वाला कारण तो देखने, सूँघने, सुनने आदि के लिए सम्मुख होनापन है। परन्तु रूपादि ज्ञानपञ्चक उस अनुसंधान (प्रत्यभिज्ञान) के जनक नहीं हैं। क्योंकि ज्ञानपञ्चक के पूर्व भी अन्य प्रत्यभिज्ञान देखे जाते हैं। उन अनुसंधानों (प्रत्यभिज्ञानों) को रूप, रस आदि में ही नियमित करना पूर्व की नियत हुई वासनाओं के द्वारा ही जन्य हैं। और वे पूर्व की वासनाएँ उनके जगाने वाले नियमित ज्ञानों के वशीभूत होकर प्रबुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार मिथ्याज्ञान और वासना तथा उनके प्रत्यभिज्ञानों के प्रबुद्ध होने की नियत व्यवस्था है।

बौद्धों के इस कथन का खण्डन करने के लिए जैनाचार्य कहते हैं— बौद्धों के इस कथन से एक ही आत्मा में अनुसंधानों की अनेक संतानें क्यों नहीं होंगी। अर्थात् जिसने पूर्व में पदार्थों को प्रत्यक्ष जाना है, उसी को स्मरण होगा, उसी को प्रत्यभिज्ञान होगा, अन्य को नहीं हो सकता। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा अनादि अनन्त है।

देखने, सूँघने आदि के अनुसंधान नियत होने पर भी अनुसंधानों का एकसंतानत्व विकल्प ज्ञान ही है। अर्थात् सूँघने, देखने आदि का अनुव्यवसाय करने वाले प्रत्यभिज्ञान भी सभी एक से विकल्प ज्ञान हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् जैसे स्वप्नज्ञान भ्रान्त है, विकल्प है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी विकल्प स्वरूप है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि अनुसंधान को एकसंतान मानोगे तो पूड़ी खाते समय होने वाले ज्ञानपञ्चक में भी एकसंतानत्व क्यों नहीं होगा। क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में कारण (इन्द्रिय) ज्ञानत्व की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है अर्थात् दोनों ही ज्ञान इन्द्रियजन्य हैं।

रूपादिज्ञानानामेतन्न स्यात्? करणज्ञानत्वाविशेषात्। संतानान्तरकरणज्ञानैर्व्यभिचार इति चेत्, तवापि संतानान्तरविकल्पविज्ञानैः कुतो न व्यभिचारः? एकसामग्र्यधीनत्वे सतीति विशेषणाच्चेत्, समानमन्यत्र। तथाक्षमनोज्ञानानामेकसंतानत्वमेकसामग्र्यधीनत्वे सति स्वसंविदितत्वादितिकुतस्तेषां भिन्नसंतानत्वं, येन रूपादिज्ञानपंचकस्य युगपद्भाविनः पूर्वैकविज्ञानोपादानत्वं न सिद्ध्येत्। तत्सिद्धौ च तस्यैकसंतानात्मकत्वादेकत्वमिति सूक्तं दूषणं नीलाद्याभासमेकं चित्रज्ञानमिच्छतां रूपादिज्ञानपंचकमप्येकं चित्रज्ञानं प्रसज्येतेति।

बौद्ध कहता है कि इन्द्रियजन्यत्व हेतु संतानान्तरकरण ज्ञान के द्वारा व्यभिचारी है। अर्थात् सन्तानान्तर होने वाले ज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व है- उसमें पूर्व का ज्ञान कारण है। जैनाचार्य कहते हैं कि- ऐसा कहने पर बौद्धों के द्वारा स्वीकृत विकल्प ज्ञान के द्वारा भी व्यभिचार क्यों नहीं आयेगा, अवश्य आयेगा। अर्थात् देवदत्त, आदि भिन्न-भिन्न चित्तों में देखने-सूँघने के अनेक विकल्पात्मक ज्ञान होते हैं अतः बौद्धों का एकसंतानत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है; क्योंकि भिन्न-भिन्न संतानों में अनेक विकल्पात्मक ज्ञान हो रहे हैं।

‘यह विकल्पज्ञान एक सामग्री के आधीन है’ ‘एक सामग्रीजन्य है’ अतः एक सामग्रीजन्य विशेषण लगा देने से एकसंतानत्व में व्यभिचार दोष नहीं आयेगा- ऐसा बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि यह एक सामग्रीजन्य विशेषण दोनों (ज्ञान पंचक और चित्रज्ञान) में समान ही है। दोनों ही ज्ञान बाह्य इन्द्रियसंयोग, अभ्यन्तर मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।

तथा- पाँच इन्द्रियों और मन से उत्पन्न ज्ञानों के भी एक सामग्री आधीनत्व होने पर एकसंतानत्व मानना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान और मानस ज्ञानों की भिन्न संतान मान भी कैसे सकते हैं। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान और मनोजन्य ज्ञान एक सामग्री के आधीन होते हुए स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के विषय हैं। जिससे एक साथ होने वाले रूपादिक ज्ञानपंचक के पूर्व एक ज्ञान का उपादानत्व सिद्ध नहीं होता हो। अर्थात् जैसे इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष के एकसंतानत्व सिद्ध है- उसी प्रकार रूपादि ज्ञानपंचक के एकसंतानत्व सिद्ध है। इसलिए पूर्व समयवर्ती कोई भी एक रासन प्रत्यक्ष या घ्राण प्रत्यक्ष उत्तरकाल में होने वाले स्पर्शन प्रत्यक्ष आदि का उपादान कारण क्यों नहीं सिद्ध होता है, अवश्य ही सिद्ध होता है।

तथा परस्पर उपादानत्व सिद्ध हो जाने पर उसके एकसंतानत्व होने से एकत्व सिद्ध हो जाता है। अर्थात् कथंचित् द्रव्यदृष्टि से रूप रस आदि पाँचों ज्ञानों में एकत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार नीलादिक आभासों को चित्रज्ञान स्वीकार करने पर बौद्धों के पूड़ी खाते समय होने वाले रूप आदि पाँच ज्ञानों को भी एक चित्रज्ञान बनने का प्रसंग आयेगा, यह दूषण ठीक ही है। अर्थात् नीलादि आकारों को चित्रज्ञान मानने वालों को रूपादि पंचक ज्ञान को चित्रज्ञान स्वीकार करना चाहिए।

चित्राद्वैताश्रयाच्चित्रं तदप्यस्त्विति चेन्न वै ।

चित्रमद्वैतमित्येतदविरुद्धं विभाव्यते ॥१६६॥

चित्रं हानेकाकारमुच्यते तत्कथमेकं नाम? विरोधात् ।

तस्य जात्यंतरत्वेन विरोधाभावभाषणे ।

तथैवात्मा सपर्यायैरनंतरविरोधभाक् ॥१६७॥

नैकं नाप्यनेकं । किं तर्हि? चित्रं चित्रमेव, तस्य जात्यंतरत्वादेकत्वानेकत्वाभ्यामित्यविरुद्धं चित्राद्वैतसंवेदनमात्रं बहिरर्थशून्यमित्युपगमे, पुंसि जात्यंतरे को विरोधः? सोऽपि हि नैक एव

संसार में चित्रज्ञान रूप ही एक पदार्थ है और कुछ नहीं है, अतः चित्राद्वैत के आश्रय से रूपादिक पाँच ज्ञान भी मिलकर एक चित्रज्ञान कहलाते हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं है (अर्थात्-चित्रज्ञान की ही एकान्त रूप अवधारणा करना उचित नहीं है) । क्योंकि इस प्रकार कथन करने में विरोध आता है कि चित्र और अद्वैत ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं अर्थात् चित्र अद्वैत कैसे हो सकता है ॥१६६॥

अनेक आकारों को ही चित्रज्ञान कहते हैं, इसलिए चित्रज्ञान और अद्वैत दोनों एक कैसे हो सकते हैं- क्योंकि चित्र और अद्वैत में परस्पर विरोध आता है ।

चित्र न तो एक है और न अनेक है अपितु एक और अनेक से न्यारा तीसरी ही जातिवाला पदार्थ है अतः पृथक् जात्यन्तर होने से एकपने और चित्रपने में विरोध का अभाव है । ऐसा बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि उसी प्रकार आत्मा भी स्वकीय अनन्त पर्यायों के साथ अविरोध को धारण करने वाला है । अर्थात् अनन्त पर्यायों के साथ एक आत्मा के रहने में कोई विरोध नहीं है । अर्थात् न आत्मा एक स्वरूप ही है, न सर्वथा अनेक है, परन्तु कथंचित् जात्यन्तर एकानेक है ।

स्वकीय अनन्त पर्यायों में रहने वाली आत्मा द्रव्य दृष्टि से एक है । नरक में नरक पर्यायों को धारण कर दुःख का अनुभव करने वाली आत्मा एक ही है । पर्याय दृष्टि से भिन्न है, नरक में नारकी थी मनुष्य पर्याय में मानव है ॥१६७॥

(बौद्ध) चित्रज्ञान न तो एक है और न अनेक है । शंका- चित्रज्ञान का स्वरूप क्या है? उत्तर-चित्रज्ञान चित्र स्वरूप ही है । एक और अनेक से जात्यन्तर (भिन्न जाति) स्वभाव वाला होने से वह चित्रज्ञान है । अतः बाह्य अर्थ से शून्य चित्राद्वैत का संवेदन होना एकत्व अनेकत्व से अविरुद्ध है । इस प्रकार चित्राद्वैत को जात्यन्तर स्वीकार करने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार आत्मा को जात्यन्तर स्वीकार करने में क्या विरोध है? वह आत्मा भी निश्चय से न एक है और न अनेक है, अपितु एकानेक से भिन्न जाति वाला है । शंका- वह जात्यन्तर क्या है? उत्तर- कथंचित् एक है और कथंचित् अनेक है । अर्थात् द्रव्य दृष्टि से आत्मा एक है और पर्याय दृष्टि से अनेक है । अतः एक और अनेक से

नाप्यनेक एव। किं तर्हि? स्यादेकः स्यादनेक इति। ततो जात्यंतरं तथा प्रतिभासनादन्यथा सकृदप्यसंवेदनात्, इति नात्मनोऽनंतपर्यायात्मता विरुद्धा चित्रज्ञानस्य चित्रतावत्।

भ्रांतेयं चित्रता ज्ञाने निरंशोऽनादिवासना।

सामर्थ्यादवभासेत स्वप्नादिज्ञानवद्वदि ॥१६८॥

तदा भ्रांतेतराकारमेकं ज्ञानं प्रसिद्ध्यति।

भ्रांताकारस्य चाऽसत्त्वे चित्तं सदसदात्मकम् ॥१६९॥

तच्च प्रबाधतेऽवश्यं विरोधं पुंसि पर्ययैः।

अक्रमैः क्रमवद्भिश्च प्रतीतत्वाविशेषतः ॥१७०॥

चित्राद्वैतमपि माभूत् संवेदनमात्रस्य सकलविकल्पशून्यस्योपगमादित्यपरः। तस्यापि

तृतीय एकानेकात्मकत्व जाति के स्वभाव से प्रतिभासित हो रहा है। अन्यथा (अन्य प्रकार से) आत्मा का सकृत् (एक बार भी) अनुभव (वेदन) नहीं हो रहा है। इसलिए एक आत्मा के अनन्त पर्यायपना विरुद्ध नहीं है। जैसे बौद्ध दर्शन में एक चित्रज्ञान में पीतादि अनेक आकारों का प्रतिभासित होना विरुद्ध नहीं है।

इस प्रकार चित्रज्ञान का उदाहरण देकर आचार्यवर्य ने अनन्त सहभावी और क्रमभावी पर्यायों में रहने वाले एक अखण्ड आत्मद्रव्य की सिद्धि की है।

(बौद्ध) निरंश ज्ञान में स्वप्नादि ज्ञान के समान अनादि वासना के सामर्थ्य से चित्रता प्रतिभासित होती है, वह भ्रान्ति है। इस प्रकार शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी बौद्धों के कहने पर आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा है तो एक ज्ञान में असत्य आकारों के प्रतिभास करने की अपेक्षा भ्रान्तता और स्व को ग्रहण करने की अपेक्षा अभ्रान्तता हुई- अतः एक ही ज्ञान भ्रान्ताभ्रान्ताकार सिद्ध होता है ॥१६८॥

आत्मा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त है

तथा भ्रान्ताकार को सत्त्व स्वीकार करने पर एक ही चित्त (ज्ञान) सदसदात्मक सिद्ध होता है। और यह दृष्टान्त एक आत्मा में अनेक पर्यायों के साथ सदसदात्मक रूप होने में विरोध को बाधा दे रहा है। जैसे एक ज्ञान भ्रान्त रूप से असत् और अभ्रान्त रूप से सत् होने से सदसदात्मक है- वैसे आत्मा भी अक्रम और क्रम से रहने वाले गुण-पर्याय रूप प्रतीत हो रहा है। अर्थात् यह आत्मा अक्रम से होने वाले गुणों की अपेक्षा ध्रुव है- और क्रम से होने वाली नर-नारकादि पर्यायों की अपेक्षा उत्पाद और विनाशशील है- अतः सदसदात्मक है। इसमें कोई विशेषता नहीं है। तथा चित्त सदसदात्मक दृष्टान्त से यह कथन अबाधित है ॥१६९-१७०॥

कोई (संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध-वैभाषिक) कहता है कि- ज्ञान चित्राद्वैत नहीं है क्योंकि सकल विकल्पो से शून्य संवेदन मात्र ज्ञान को हमने स्वीकार किया है। जैनाचार्य कहते हैं कि कल्पनाओं से रहित शुद्ध ज्ञान स्वीकार करने वाले के भी दर्शन में कल्पना क्या वस्तु है जिससे रहित शुद्ध ज्ञान है?

किमध्यारोप्यमाणो धर्मः कल्पना, मनोविकल्पमात्रं वा, वस्तुनः स्वभावो वा? प्रथमद्वितीयपक्षयोः सिद्धसाधनमित्युच्यते—

निशेषकल्पनातीतं संचिन्मात्रं मतं यदि।

तथैवांतर्बहिर्वस्तु समस्तं तत्त्वतोऽस्तु नः॥१७१॥

समस्ताः कल्पना हीमा मिथ्यादर्शननिर्मिताः।

स्पष्टं जात्यंतरे वस्तुन्यप्रबाधं चकासति॥१७२॥

अनेकांते ह्यपोद्धारबुद्ध्योऽनेकधर्मगाः।

कुतश्चित्संप्रवर्ततेऽन्योन्यापेक्षाः सुनीतयः॥१७३॥

यस्मान्मिथ्यादर्शनविशेषवशान्नित्याद्येकांताः कल्पमानाः स्पष्टं जात्यंतरे वस्तुनि निर्बाधमवभासमाने तत्त्वतो न संतीति स्वयमिष्टं, यतश्चानेकांते प्रमाणतः प्रतिपत्रे

वस्तु में असत् (अविद्यमान) धर्मों का आरोपण करना कल्पना है, कि मानसिक संकल्प-विकल्प का नाम कल्पना है? या वस्तु का स्वभाव कल्पना है? प्रथम और द्वितीय पक्ष में सिद्ध-साधन दोष है यानी पहली दो प्रकार की कल्पनाओं से रहित ज्ञान को हम भी समीचीन ज्ञान मानते हैं। इसी का आचार्य कथन करते हैं—

सभी पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं

यदि आरोपित धर्म और मानसिक संकल्प रूप सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित संचिन्मात्र (शुद्ध ज्ञान मात्र) ही तत्त्व है तो उसी प्रकार हमारे स्याद्वाद मत में भी अंतरंग (आत्मा) और बहिरंग (घटपदादि) सारी वस्तुएँ परमार्थ से कल्पना रहित हैं। क्योंकि यह सारी मानसिक कल्पना मिथ्यादर्शन के निमित्त से होती है, वास्तविक नहीं है। अतः ज्ञान कल्पनारहित सिद्ध होता है। क्योंकि कल्पना रहित अनेक स्वभाव वाले जात्यन्तर वस्तु का स्यात् और अबाधित प्रतिभास हो रहा है। अतः अपरमार्थभूत धर्मों की कल्पना मिथ्यात्वयुक्त पुरुष के ही होती है। सम्पूर्ण पदार्थ वास्तव में अनेक धर्मात्मक हैं। उस अनेक धर्मात्मक वस्तु में मिथ्यादृष्टि जीव ही कल्पित अनेक एकान्तधर्मगामी होकर कुमार्ग में प्रवृत्ति कर रहे हैं। यदि एकान्त रूप से नित्य वा अनित्य रूप वस्तु का निरूपण करने वाले मिथ्यामार्गी परस्पर सापेक्ष कथन करने वाले हो जाते हैं तो वही नय समीचीन हो जाता है॥१७१-१७२-१७३॥

सर्वथा एकान्त से रहित अनेक धर्मात्मक वस्तु का निश्चय हो जाने पर भी एकान्त, विपरीत और गृहीत मिथ्यादर्शन विशेष की पराधीनता से उत्पन्न नित्य, अनित्य आदि एकान्त कल्पना जात्यन्तर वस्तु में बाधरहित स्पष्ट अवभासित होने पर भी यह कल्पना वास्तविक नहीं है, ऐसा स्वयं बौद्धों ने स्वीकार किया है।

तथा प्रमाण के द्वारा अनेकान्त के सिद्ध हो जाने पर भी कहीं पर प्रमाता (जानने वाले) की विवक्षा के भेद से वस्तु में पृथक्-पृथक् माने गये क्षणिकत्व नित्य आदि अनेक धर्मों का विषय करने

कुतश्चित्प्रमातुर्विवक्षाभेदादपोद्धारकल्पनानि क्षणिकत्वाद्यनेकधर्मविषयाणि प्रवर्तन्ते परस्परापेक्षाणि सुनयव्यपदेशभांजि भवन्ति । तस्मादशेषकल्पनातिक्रान्तं तत्त्वमिति सिद्धं साध्यते । न हि कल्प्यमाना धर्मास्तत्त्वं तत्कल्पनमात्रं वा, अतिप्रसंगात् तेनांतर्बहिश्च तत्त्वं तद्विनिर्मुक्तमिति युक्तमेव ।

तृतीयपक्षे तु प्रतीतिविरोधः । कथम्—

परोपगतसंवित्तिरनंशा नावभासते ।

ब्रह्मवत्तेन तन्मात्रं न प्रतिष्ठामियति नः ॥१७४॥

वस्तुनः स्वभावाः कल्पनास्ताभिरशेषाभिः सुनिश्चितासंभवद्वाधाभी रहितं संविन्मात्रं तत्त्वमिति तु न व्यवतिष्ठते तस्यानंशस्य परोपवर्णितस्य ब्रह्मवदप्रतिभासनात् । नानाकारमेकं प्रतिभासनमपि विरोधादसदेवेति चेत्—

वाले ज्ञान प्रवर्त होते हैं । वे सभी धर्म परस्पर सापेक्ष हैं तो समीचीन हैं, सुनय के व्यपदेशभागी होते हैं और परस्पर निरपेक्ष मिथ्या कहलाते हैं । इसलिए सम्पूर्ण मिथ्या कल्पनाओं से अतिक्रान्त हो रहा तत्त्व सिद्ध है, अतः 'तत्त्व (ज्ञान तत्त्व) कल्पना रहित है' यह सिद्ध करना सिद्धसाध्य है । क्योंकि केवल कल्पना से ज्ञात धर्म वा कल्पनामात्र वास्तविक तत्त्व नहीं हैं । क्योंकि वस्तु कल्पना से आरोपित धर्म वाली या कल्पना मात्र नहीं है । वस्तु को कल्पना मात्र मानने से अतिप्रसंग दोष आता है । अर्थात् कोई भी मन में कल्पना करके वास्तविक बन जायेगा । कोई मूर्ख अपने में राजा की या विद्वान् की कल्पना करके राजा या विद्वान् बन जायेगा । कल्पना भी वस्तुतत्त्व का स्पर्श करने वाली सिद्ध हो सकती है । इसलिए अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तत्त्व कल्पनाओं से रहित हैं । उनसे मुक्त ही वास्तविक तत्त्व है यही कथन सुसंगत है । अतः कल्पनारोपित धर्म या कल्पना मात्र से रहितता सिद्ध होने से उनको सिद्ध करना सिद्धसाधन दोष है ।

तीसरे पक्ष में, कल्पना वस्तु का स्वभाव है, उसका अभाव मानना प्रतीतिविरुद्ध है । अर्थात् ज्ञान को अपने स्वभाव रूप ज्ञेयाकार आदि कल्पनाओं से रहित मानना लोकविरुद्ध है । यह लोकविरुद्ध कैसे है? उसका कथन करते हैं—

जैसे परोपगत (ब्रह्माद्वैतवादियों के द्वारा स्वीकृत) ज्ञान अनंश (ग्रह्य-ग्राहकता आदि अंशों से रहित एक परमब्रह्म स्वरूप) प्रतिभासित नहीं होता है, वैसे ही ब्रह्म के समान अन्य बौद्धों के द्वारा स्वीकृत संवेद्य, संवेदक स्वभाव रूप अंशों से रहित शुद्धज्ञान भी प्रतिभासित नहीं होता है । इसलिए शुद्धज्ञानाद्वैत हमारे स्याद्वादमत में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥१७४॥

तृतीय पक्ष के अनुसार यदि वस्तु के स्वभावों को कल्पना मानोगे तो सम्पूर्ण बाधक प्रमाणों के असंभव होने का निश्चय कर लिया गया है जिसका, ऐसी उन स्वभाव रूप सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित केवल संवेदन मात्र तत्त्व व्यवस्थित नहीं है । क्योंकि परम ब्रह्म तत्त्व के समान बौद्धों के द्वारा स्वीकृत विशेषण रूप अंशों से रहित संवेदन का भी प्रतिभास नहीं होता है । अर्थात् जैसे ब्रह्माद्वैत का प्रतिभास नहीं होता है उसी प्रकार संवेदनाद्वैत भी प्रतिभासित नहीं होता है ।

स्याद्वाद मत में कथित नानाकार को एक प्रतिभास मानना विरुद्ध होने से असत् ही है? बौद्ध के ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं—

नानाकारस्य नैकस्मिन्नध्यासोऽस्ति विरोधतः ।

ततो न सत्तदित्येतत्सुस्पष्टं राजचेष्टितम् ॥१७५॥

संवेदनाविशेषेऽपि द्वयोः सर्वत्र सर्वदा ।

कस्यचिद्धि तिरस्कारे न प्रेक्षापूर्वकारिता ॥१७६॥

नानाकारस्यैकत्र वस्तुनि नाध्यासो विरोधादिति ब्रुवाणो नानाकारं वा तिरस्कुर्वीतैकत्वं वा? नानाकारं चेत्सुव्यक्तमिदं राजचेष्टितं, संविन्मात्रवादिनः स्वरुच्या संवेदनमेकमनंशं स्वीकृत्य नानाकारस्य संवेद्यमानस्यापि सर्वत्र सर्वदा प्रतिक्लेपात्, तस्य प्रेक्षापूर्वकारित्वायोगात् ।

तस्मादबाधिता संवित्सुखदुःखादिपर्ययैः ।

समाक्रान्ते नरे नूनं तत्साधनपटीयसी ॥१७७॥

न हि प्रत्यभिज्ञानमतिः सुखदुःखादिपर्यायात्मके पुंसि केनचिद्वाध्यते यतस्तत्साधनपटीयसी

“विरोध दोष हो जाने के कारण एक पदार्थ में नानाआकारों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। अतः पदार्थ सत् रूप नहीं है” ऐसा कहना तो सुस्पष्ट उद्गुण्ड राजा की सी चेष्टा करना है क्योंकि संवेदना विशेष (ज्ञान) में अनेक आकार और एकत्व इन दोनों का सर्वत्र और सर्वकाल में समान रूप से संवेदन होता है तो इन दोनों में से किसी एक का तिरस्कार (निषेध) और किसी दूसरे का स्वीकार करना विचारपूर्वक कार्य करना नहीं कहा जा सकता है। अर्थात्- एकत्व या अनेकत्व का सर्वथा निषेध करना विचारशीलता नहीं है ॥१७५-१७६॥

“एक पदार्थ में नाना आकारों के स्थित रहने का निश्चय नहीं है क्योंकि एक वस्तु में नाना आकारों के रहने का विरोध है।” इस प्रकार कहने वाला बौद्ध उन दोनों में से नाना आकारों का तिरस्कार (खण्डन) करता है? अथवा वस्तु में से एकत्व धर्म का खण्डन करता है?

प्रथम पक्ष में- यदि नाना आकारों का खण्डन करता है तो उसकी यह सुव्यक्त (स्पष्ट) उद्गुण्ड राजा की सी चेष्टा है। क्योंकि शुद्ध संवेदनाद्वैत मात्र कहने वाले बौद्ध ने स्वरुचि से निरंश एक संवेदन को स्वीकार करके सर्वत्र और सर्वदा अनुभव में आने वाले नाना आकारों का खण्डन किया है। अतः उसके विचारशीलता का अयोग है। अर्थात् सर्वस्थानों में और सर्वकाल में सर्वजीवों के अनुभव में आने वाले का प्रतीतिसिद्ध नाना आकारों का निषेध करने वाला ज्ञानी कैसे हो सकता है?

अतः सुख-दुःख आदि अनेक पर्यायों से समाक्रान्त एक आत्मा में अबाधित प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। इसलिये निश्चय से एक ज्ञान वा आत्मा में अनेक आकारों को सिद्ध करने वाली बुद्धि श्रेयस्कर है ॥१७७॥

सुख-दुःख आदि अनेक पर्यायों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले एक आत्मा में उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान रूप मतिज्ञान किसी प्रमाण के द्वारा बाधित नहीं होता है, जिससे उसका सिद्ध करना

न स्यात् । ततो नाशेषस्वभावशून्यस्य संविन्मात्रस्य सिद्धिस्तद्विपरीतात्मप्रतीत्या बाधितत्वात् ॥

नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते यथा ।

तथैव प्रत्यभिज्ञेयं पूर्वतद्वासनोद्भवा ॥१७८॥

तद्वासना च तत्पूर्ववासनाबलभाविनी ।

सापि तद्वदिति ज्ञानवादिनः संप्रचक्षते ॥१७९॥

तेषामप्यात्मनो लोपे संतानान्तरवासना ।

समुद्भूता कुतो न स्यात्संज्ञाभेदाविशेषतः ॥१८०॥

यथा नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते तथा प्रत्यभिज्ञेयं तदेवेदं तादृशमेतदिति वा प्रतीयमाना प्रत्यभिज्ञानवासनयोद्भाव्यते न पुनर्बहिर्भूतेनैकत्वेन सादृश्येन वा येन तद्वग्राहिणी स्यात् ।

श्रेयस्कर न हो । अर्थात् अनेकपर्यायात्मक वस्तु की प्रत्यभिज्ञान के द्वारा सिद्धि होती है । इसलिए वस्तुस्वभाव रूप कल्पना का अभाव कहना उचित नहीं है ।

सम्पूर्ण स्वभावों से रहित शुद्ध संवेदन मात्र की सिद्धि नहीं होती है- क्योंकि उस संवेदन से सर्वथा विपरीत प्रतीति के द्वारा यह सकल स्वभावशून्यता बाधित होती है । अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु प्रतीति में आ रही है ।

जैसे नील की वासना से नील का ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार पूर्व के संस्कारों से उत्पन्न हुई यह प्रत्यभिज्ञा- (प्रत्यभिज्ञान) है । और प्रत्यभिज्ञान की यह वासना पूर्व प्रत्यभिज्ञान की वासना के बल से उत्पन्न हुई है । वह पूर्व वासना भी उससे पूर्व होने वाली वासनाजन्य है । इस प्रकार अविद्या से उत्पन्न यह वासना धाराप्रवाह से आ रही है । इस प्रकार शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं । जैनाचार्य कहते हैं कि उन बौद्धों के भी एक अन्वित आत्मा का सर्वथा लोप हो जाने पर संतानान्तर वासना कैसे उत्पन्न नहीं होगी । अर्थात् जब वासना का कोई एक अन्वित आधार नहीं है- वासना की आधारभूत अखण्ड वस्तु नहीं है तब वह वासना- दूसरे सन्तानान्तर में भी उत्पन्न हो सकती है । मेरे संस्कार से यज्ञदत्त में भी वासना उत्पन्न हो सकती है । क्योंकि दोनों सन्तानों का भिन्न प्रत्यभिज्ञान भी एक सा है कोई अन्तर नहीं है ॥१७८-१७९-१८०॥

जिस प्रकार नील वासना से नील का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार पूर्व संस्कार से 'यह वह है' इस प्रकार प्रतीति में आने वाला प्रत्यभिज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान की वासना से उत्पन्न होता है । अतः बहिरंग एकत्व या सादृश्य पदार्थ प्रत्यभिज्ञान के विषय नहीं हैं, जिससे कि यह प्रत्यभिज्ञान एकत्व और सादृश्य पदार्थ का ग्राहक हो सकता है- अर्थात् नहीं हो सकता ।

शंका- यह वासना किससे उत्पन्न होती है? उत्तर- यह वासना पूर्व वासना से उत्पन्न होती है- उसकी पूर्ववासना से पूर्व की वासना उत्पन्न होती है । क्योंकि वासना अनादि काल से धाराप्रवाह से चली आ रही है । अतः वासनाओं की उत्पत्ति का प्रश्न उठना अयुक्त (युक्तिसंगत नहीं) है । अन्यथा (यदि ऐसे प्रश्न करते रहेंगे तो) बहिरंग अर्थ में भी ऐसे प्रश्न संभव क्यों नहीं होंगे । अर्थात् हम ऐसे भी कह सकेंगे कि 'पुत्र की उत्पत्ति

तद्वासना कुत इति चेत्, पूर्वतद्वासनातः, सापि पूर्वस्ववासनाबलादित्यनादित्वाद्वासनासंततरेयुक्तः पर्यनुयोगः। कथमन्यथा बहिरर्थेऽपि न संभवेत्? तत्र कार्यकारणभावस्यानादित्वादपर्यनुयोगे पूर्वापरवासनानामपि तत् एवापर्यनुयोगोऽस्तु। कार्यकारणभावस्यानादित्वं हि यथा बहिस्तथांतरमपीति न विशेषः केवलं बहिरर्थोनर्थः परिहृतो भवेत् अशक्यप्रतिष्ठत्वात्तस्येति ज्ञानवादिनः। तेषामपि नेयं प्रत्यभिज्ञा पूर्वस्ववासनाप्रभवा वक्तुं युक्तान्वयिनः पुरुषस्याभावात्, संतानांतरवासनातोऽपि तत्प्रभवप्रसंगात्तत्रानात्वाविशेषात्।

संतानैकत्वसंसिद्धिर्नियमात्स कुतो मतः।

प्रत्यासत्तेर्न संतानभेदेऽप्यस्याः समीक्षणात् ॥१८१॥

पिता से होती है, पिता की उत्पत्ति किससे हुई? उसके पूर्व पिता से' इस प्रकार बहिरंग पदार्थ में प्रश्नमाला उठती रहेगी, इससे अनवस्था दोष आयेगा। इसमें प्रश्न होने पर पूर्व वासना में भी यही प्रश्न और उत्तर रहेगा। अतः जैसे बहिरंग पदार्थों में कार्य-कारण भाव अनादि काल से चला आ रहा है, उसी प्रकार अंतरंग के विज्ञान पदार्थ और वासनाओं में भी कार्य-कारण भाव अनादि काल से चला आ रहा है। इसमें कोई विशेषता नहीं है। केवल इतना अन्तर अवश्य है कि बहिरंग पदार्थ वास्तविक नहीं हैं, अप्रयोजनीभूत हैं अतः उनका परित्याग कर देते हैं। क्योंकि उन बहिरंग पदार्थों की प्रमाण के द्वारा व्यवस्था करना भी शक्य नहीं है। इस प्रकार शुद्ध संवेदनावादी कहता है।

अब जैनाचार्य उस शुद्ध संवेदनावादी का खण्डन करते हुए कहते हैं—

‘यह वही है’ इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा स्वकीय पूर्व वासना से उत्पन्न हुई है, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि पूर्व में देखने वाले और ‘वही’ इसका स्मरण करने वाले पुरुष का सर्वथा अभाव हो जाने से ‘यह वही है’ इस ज्ञान के आधारभूत पुरुष के न रहने से आधेयभूत वासना किसमें उत्पन्न होगी? यदि आधारभूत वस्तु के अभाव में भी वासना उत्पन्न हो सकती है, तो यज्ञदत्त ने अकलंक को देखा था, धर्मदत्त को वासना उत्पन्न हो जानी चाहिए कि ‘यह वही अकलंक है’। इस प्रकार संतानान्तर में भी वासना के कारण प्रत्यभिज्ञान होने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि नानात्व में कोई अन्तर नहीं है।

‘संतान प्रवाह रूप से चली आ रही है’ इस संतान में एकत्व की सिद्धि का नियम भी किस प्रमाण से सिद्ध माना गया है। अर्थात् किस प्रमाण के आधार पर कह सकते हैं कि एक संतान अनादि काल से धाराप्रवाह रूप से चली आ रही है? कालप्रत्यासत्ति और देशप्रत्यासत्ति से भी एक संतान की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि, भिन्न संतान में भी इसके कालप्रत्यासत्ति और देश (क्षेत्र) प्रत्यासत्ति देखी जाती है अर्थात् यज्ञदत्त और देवदत्त की क्षेत्रप्रत्यासत्ति और कालप्रत्यासत्ति है। दोनों एक स्थान में तथा

व्यभिचारविनिर्मुक्ता कार्यकारणभावतः ।

पूर्वोत्तरक्षणानां हि संताननियमो मतः ॥१८२॥

स च बुद्धेतरज्ञानक्षणानामपि विद्यते ।

नान्यथा सुगतस्य स्यात्सर्वज्ञत्वं कथंचन ॥१८३॥

संतानैक्यात्पूर्ववासना प्रत्यभिज्ञाया हेतुर्न संतानांतरवासनेति चेत् । कुतः संतानैक्यं? प्रत्यासत्तेश्चेत्, साप्यव्यभिचारी कार्यकारणभाव इष्टस्ततो बुद्धेतरक्षणानामपि स्यात् । न च तेषां स व्यभिचरति बुद्धस्यासर्वज्ञत्वापत्तेः ।

एक काल में स्थित देखे जाते हैं । क्षेत्रप्रत्यासत्ति, कालप्रत्यासत्ति एक अखण्ड संतान की सिद्धि का कारण नहीं है- वैसे भाव प्रत्यासत्ति भी एकता का कारण नहीं है- क्योंकि जीव में ज्ञान, सुख आदि भाव एक स्थान में देखे जाते हैं और द्रव्य प्रत्यासत्ति को बौद्धों ने माना नहीं है । वह क्षेत्र, काल और भाव प्रत्यासत्ति संतानान्तर में भी है अतः उनमें भी एकपना सिद्ध हो जायेगा ॥१८१॥

कार्य-कारण भाव

व्यभिचार दोष से रहित हो रहे कार्य-कारण भाव से ही पूर्वोत्तर क्षणों के सन्तान का नियम मानने पर तो वह निर्दोष कार्य-कारण रूप सम्बन्ध बुद्ध, सर्वज्ञ और देवदत्त आदि के ज्ञान क्षणों का भी विद्यमान है अर्थात् सौगत मतानुसार जो ज्ञाता के द्वारा ज्ञेय (जाना जाता) होता है वही पदार्थ ज्ञान का कारण है । अतः सौगत के ज्ञान रूप कार्य में जिनदत्त आदि भी कारण हैं । क्योंकि जिनदत्त आदि सौगत के ज्ञान के विषय हैं । अन्यथा (यदि जिनदत्त आदि बुद्ध के ज्ञान के कारण नहीं हैं तो) सर्वज्ञ बुद्ध उनको जान नहीं सकते । अतः सुगत के सर्वज्ञत्व भी किसी प्रकार घटित नहीं हो सकता । अर्थात् इस प्रकार निर्दोष कार्य-कारण सम्बन्ध बुद्ध के ज्ञान में और जिनदत्त के ज्ञान में भी है । अतः उनमें भी एकसन्तानत्व का प्रसंग आयेगा ॥१८२-१८३॥

संतान की एकता होने से पूर्व वासनाएँ प्रत्यभिज्ञान में कारण बनती हैं । सन्तानान्तर वासना (दूसरी, भिन्न प्राणी में स्थित वासना) प्रत्यभिज्ञान का कारण नहीं बनती है । बौद्धों के ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि भिन्न संतानान्तर वासना में एकत्व क्यों नहीं है? संतान में ही एकत्व क्यों है? एक अन्वय रूप से अखण्ड द्रव्य तो बौद्ध मत में माना नहीं है । यदि किसी प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध विशेष) से संतान में एकत्व मानते हो तो क्षेत्रिक प्रत्यासत्ति, कालिक प्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्ति के अतिरिक्त कार्य-कारण भाव को बौद्धों ने व्यभिचार रहित स्वीकार किया है । परन्तु उस सम्बन्ध से तो बुद्ध और संसारी जीवों के ज्ञान संतान में भी एकसन्तानत्व बन जायेगा । क्योंकि बुद्ध ज्ञान और उसके ज्ञेयभूत संसारी जीवों के ज्ञानक्षणों में कार्यकारण भाव सम्बन्ध विद्यमान है । उनका वह सम्बन्ध व्यभिचार दोष से युक्त भी नहीं है । यदि संसारी जीवों के ज्ञान को बुद्ध ज्ञान का कारण नहीं मानते हैं तो बुद्ध के असर्वज्ञत्व की आपत्ति आती है अर्थात् बुद्ध सर्वज्ञ नहीं बन सकते । क्योंकि सुगत मतानुसार सारे संसारी

सकलसत्त्वानां तदकारणत्वे हि न तद्विषयत्वं स्यान्नाकारणं विषय इति वचनात्। सकलसत्त्वचित्तानामालंबनप्रत्ययत्वात् सुगतचित्तस्य न तदेकसंतानतेति चेत्। पूर्वस्वचित्तैरपि सहैकसंतानतापायप्रसक्तेस्तदालंबनप्रत्ययत्वाविशेषात्। समनंतरप्रत्ययत्वात् स्वपूर्वचित्तानां तेनैकसंतानतेति चेत्, कुतस्तेषामेव समनंतरप्रत्ययत्वं न पुनः सकलसत्त्वचित्तानामपीति नियम्यते? तेषामेकसंतानवर्तित्वादिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। सत्येकसंतानत्वे

जीवों का ज्ञान सुगत के ज्ञान में कारण है। यदि सम्पूर्ण जीवों का ज्ञान बुद्ध के ज्ञान का कारण नहीं है (ज्ञान अकारण होता है) ऐसा मानोगे तो सुगत संसारी जीवों के ज्ञान को अपने ज्ञान का विषय नहीं कर सकता। क्योंकि सुगत के सूत्र में कथन है कि “जो ज्ञान का कारण नहीं है, वह ज्ञान का विषय भी नहीं है।”

(बौद्ध) ज्ञान के कारण तीन प्रकार के हैं- उपादान कारण, निमित्तकारण और अवलम्बन कारण।

पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान उत्तरक्षणवर्ती ज्ञान का उपादान कारण है। इन्द्रियाँ, प्रकाश, हेतु, अविद्याक्षय आदि ज्ञान के निमित्त कारण हैं। ज्ञान के द्वारा जानने योग्य ज्ञेय विषय ज्ञान का अवलम्बन कारण हैं। अवलम्बन कारण कारक कारणों के समान प्रेरक नहीं हैं। (प्रधान कारण पूर्वज्ञान और इन्द्रियाँ ही हैं)।

इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों का विज्ञान भी सुगत के चित्त (ज्ञान) का अवलम्बन कारण है (उपादान कारण नहीं है) इसलिए उन अवलम्बन कारणों का कार्य के साथ एकसंतानत्व नहीं है। सुगत का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्ववर्ती स्वकीय ज्ञानसंतान के साथ में भी एकसंतान के अपाय (नाश) का प्रसंग आयेगा अर्थात् स्वकीय ज्ञानसंतान के साथ भी एकसंतान का अखण्ड प्रवाह सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि इतर पदार्थों के समान सुगत के पूर्व ज्ञानक्षण भी सुगतज्ञान में विषय रूप हो चुके हैं। वे भी ज्ञान के अवलम्बन कारण हैं, उपादान कारण नहीं हैं। अतः अवलम्बन कारण की अपेक्षा दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

(बौद्ध) समन्तर प्रत्यय के कारण (सुगत के पूर्वक्षणवर्ती ज्ञानक्षण जैसे उत्तरकाल में होने वाले ज्ञान के अवलम्बन कारण हैं उसी प्रकार अव्यवहित पूर्ववर्ती होने के कारण वे उपादान कारण भी हैं अतः) सम्पूर्ण स्वकीय पूर्व चित्तक्षणों के साथ एकसंतानत्व घटित हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि- जिस प्रकार अव्यवहित पूर्ववर्ती सुगत के पूर्व ज्ञानक्षण जैसे उत्तरज्ञान के समन्तर प्रत्यय (उपादान कारण) हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के ज्ञान भी व्यवधान रहित पूर्वक्षणवर्ती होकर सुगत के ज्ञान के उपादान कारण क्यों नहीं होते हैं। केवल सुगत के पूर्ववर्ती ज्ञानक्षण ही उत्तरक्षणवर्ती ज्ञान के उपादान कारण है, ऐसा नियम क्यों किया जाता है? सर्व प्राणियों के चित्तों को उपादान का नियम क्यों नहीं किया जाता है?

पूर्वापरसुगतचित्तानामव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तस्मिन्सति तदेकसंतानत्वमिति । ततः पूर्वक्षणाभावेऽनुत्पत्तिरेवोत्तरक्षणस्याव्यभिचारी कार्यकारणभावोऽभ्युपगंतव्यः । स च स्वचित्तैरिव सकलसत्त्वचित्तैरपि सहास्ति सुगतचित्तस्येति कथं न तदेकसंतानतापत्तिः ।

स्वसंवेदनमेवास्य सर्वज्ञत्वं यदीष्यते ।

संवेदनाद्वयास्थानाद्रता संतानसंकथा ॥१८४॥

न ह्यद्वये संतानो नाम लक्षणभेदे तदुपपत्तेः, अन्यथा सकलव्यवहारलोपात् प्रमाणप्रमेयविचारानवतारात् प्रलापमात्रमवशिष्यते । अभ्युपगम्य वाऽव्यभिचारी कार्यकारणभावं सुगतेतरसंतानैकत्वापत्तेः संताननियमो निरस्यते । तत्त्वतस्तु स एव भेदवादिनोऽसंभवी केषांचिदेव क्षणानामव्यभिचारी कार्यकारणभाव इति निवेदयति—

सुगत के पूर्व चित्तक्षणों का उत्तरक्षण चित्तों के साथ एकसंतानत्व है- अतः उनमें उपादान कारणत्व है, संसारी जीवों के चित्त के साथ एकसंतानत्व नहीं है, इसलिए उनमें सुगत के चित्त का उपादान कारणत्व नहीं है। ऐसा कहना भी 'अन्योऽन्याश्रय दोष' से दूषित है। क्योंकि जब सुगत के चित्त में एकसंतानत्व सिद्ध हो जाता है, तब तो सुगत के पूर्ववर्ती और उत्तरक्षणवर्ती चित्तों में व्यभिचार रहित कारण-कार्यभाव सिद्ध होता है, और पूर्वोत्तर क्षणों में निर्दोष कार्य-कारण भाव के सिद्ध हो जाने पर उनमें एकसंतानत्व सिद्ध होता है- अतः परस्पराश्रय दोष आता है।

इसलिए पूर्व क्षण के अभाव में उत्तर क्षण की उत्पत्ति नहीं हो सकती- इसी को निर्दोष कार्य-कारण भाव समझना चाहिए। ऐसा मानने पर तो यह कार्य-कारण भाव सुगत के चित्तों का अपने पूर्वउत्तरभावी चित्तों के समान सारे संसारी जीवों के साथ भी है। अतः सुगत के और इतर जीवों के एकसंतान हो जाने का प्रसंग क्यों नहीं आयेगा?

(बौद्ध) सुगत अपनी संतानों को ही जानते हैं, अपना ही वेदन करते हैं, घट पट आदि को (या देवदत्त आदि के ज्ञानों को) नहीं जानते हैं। (जैनाचार्य) यदि इसको ही सर्वज्ञत्व स्वीकार करते हो- अर्थात् स्वसंवेदन करना ही सुगत की सर्वज्ञता है ऐसा मानते हो तो संवेदनाद्वैत (ज्ञान के अद्वैत की श्रद्धा) के स्थान से संतानकथा नहीं बन सकती अतः संतान की एकता से प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होने के लिए वासनाओं का नियम कैसे कर सकेंगे ॥१८४॥

क्योंकि अद्वैत में संतान की सिद्धि नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न लक्षण वाले अनेक संतानियों में ही संतान का कथन हो सकता है। अन्यथा यदि भिन्न-भिन्न संतान नहीं मानेंगे तो सर्व लोकव्यवहार का लोप हो जायेगा। अर्थात् स्वामी, भृत्य, माता-पिता आदि का व्यवहार भी नष्ट हो जायेगा। तथा अद्वैतवाद में प्रमाणप्रमेय के विचार का अवतार भी नहीं होगा अर्थात् प्रमाणप्रमेय का विचार भी नहीं रहेगा, केवल प्रलाप शेष रह जायेगा। वस्तु-व्यवस्था नहीं रहेगी।

बौद्धों ने अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार रहित कार्यकारण भाव को स्वीकार करके भी बुद्धसंतान और इतर (संसारी जीवों की) संतान के एकत्व का प्रसंग आने से उस नियम का खण्डन

कथं चाव्यभिचारेण कार्यकारणरूपता ।

केषांचिदेव युज्येत क्षणानां भेदवादिनः ॥१८५॥

कालदेशभावप्रत्यासत्तेः कस्यचित्केनचिद्वावाद्भावेऽपि व्यभिचारात्
भेदैकांतवादिनामव्यभिचारी कार्यकारणभावो नाम । तथाहि—

कर दिया। अतः अद्वैत की सिद्धि नहीं होती। अद्वैत को सिद्ध करना व्यर्थ का बकवाद है। द्रव्य की पूर्वोत्तर पर्यायों में सर्वथा भेद मानने वाले के वास्तविक कार्य-कारण भाव का होना असंभव है। अर्थात् जब अंकुर और बीज में सर्वथा भेद माना जाता है तो 'बीज कारण है और अंकुर कार्य है' यह कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार किसी एक विवक्षित पर्याय में निर्दोष कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता है, इसी बात को आचार्यदेव निवेदन करते हैं।

पूर्वोत्तर काल में होने वाली स्वलक्षण-पर्यायों में सर्वथा भेद मानने वाले बौद्ध के दर्शन में किन्हीं विशिष्ट पर्यायों का ही परस्पर में निर्दोष कार्य-कारण भाव कैसे घटित हो सकता है? ॥१८५॥

किसी पर्याय में पूर्ववर्ती पर्याय से उत्तरवर्ती पर्याय का अव्यवहित उत्तरकाल में होना रूप कालिक सम्बन्ध है, जो कार्य और कारण के लिए उपयुक्त है। किन्हीं पूर्वोत्तर पर्यायों का एकदेश में रहना रूप दैशिक सम्बन्ध है। तथा सुख, दुःख आदिक की समानता होने से किसी पर्याय में भावरूप सम्बन्ध भी है। इन तीनों सम्बन्धों का व्यभिचार भी देखा जाता है।

उस काल, देश और भाव प्रत्यासत्ति के कारण किसी पर्याय का किसी के साथ किसी काल, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा सद्भाव होने पर भी व्यभिचार होने से भेदएकान्तवादियों के पूर्वोत्तर पर्यायों में निर्दोष कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता। अर्थात् जब पर्यायों का आधारभूत अखण्ड द्रव्य नहीं है वा पूर्वोत्तर काल में होने वाली पर्यायों में द्रव्य प्रत्यासत्ति (अखण्ड द्रव्य का सम्बन्ध) नहीं है तो पूर्वोत्तर पर्यायों में निर्दोष कार्य-कारण भाव कैसे हो सकता है? सो ही कहते हैं—

यदि केवल काल के अव्यवहित होने से पूर्वोत्तर पर्याय में कार्यकारण भाव मानेंगे तो सर्व पदार्थों के भी कार्य-कारण भाव होने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् घट के पूर्व समय का परिणाम उसके अनन्तर उत्तरकाल में होने वाले ज्ञान, सुख आदि सभी का उपादान कारण बन जायेगा— क्योंकि जिस समय घट पर्याय उत्पन्न हो रही है उसी क्षण में ज्ञानादिक भी उत्पन्न हो रहे हैं, उनमें काल प्रत्यासत्ति है।

यदि देशप्रत्यासत्ति के कारण इनमें कार्य-कारण भाव मानेंगे तो एक देश में स्थित विज्ञान रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार इन पाँच स्कन्धों में भी परस्पर कार्य-कारण (उपादान उपादेय) भाव क्यों नहीं होगा? क्योंकि विज्ञान आदि पाँच स्कन्धों में क्षेत्रभेद नहीं है तथा एक ही आकाश प्रदेश में छहों द्रव्य रहते हैं— उनमें भी परस्पर उपादान-उपादेय भाव हो जायेगा।

- कालानन्तर्यमात्राच्चेत्सर्वार्थानां प्रसज्यते ।
देशानन्तर्यतोऽप्येषा किन्न स्कंधेषु पंचसु ॥१८६॥
- भावाः संति विशेषाच्चेत् समानाकारचेतसाम् ।
विभिन्नसंततीनां वै किं नेयं संप्रतीयते ॥१८७॥

यतश्चैवमव्यभिचारेण कार्यकारणरूपता देशानन्तर्यादिभ्यो नैकसंतानात्मकत्वाभिमतानां क्षणानां व्यवतिष्ठते तस्मादेवमुपादानोपादेयनियमो द्रव्यप्रत्यासत्तेरेवेति परिशेषसिद्धं दर्शयति:—

एकद्रव्यस्वभावत्वात्कथंचित्पूर्वपर्यायः ।

उपादानमुपादेयक्षोत्तरो नियमात्ततः ॥१८८॥

विवादापन्नः पूर्वपर्यायः स्यादुपादानं कथंचिदुपादेयानुयायिद्रव्यस्वभावत्वे सति पूर्वपर्यायत्वात्, यस्तु नोपादानं स नैवं यथा तदुत्तरपर्यायः । पूर्वपूर्वपर्यायः कार्यक्ष आत्मा वा तदुपादेयानुयायिद्रव्यस्वभावो वा सहकार्यादिपर्यायो वा ।

यदि भाव प्रत्यासत्ति के कारण से पूर्वोत्तर संतान में कार्य-कारण भाव माना जायेगा तो एक घट को ही समान आकारधारी अपने भिन्न-भिन्न ज्ञानों से जानने वाले भिन्नसंतति (जिनदत्त, और देवदत्त) के ज्ञानक्षणों में यह कार्य-कारण (उपादान-उपादेय) भाव क्यों नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि घटाकार ज्ञान की अपेक्षा जिनदत्त और देवदत्त का ज्ञान समान है ॥१८६-१८७॥

जिस कारण से निर्दोष एक संतान में इस प्रकार कार्य-कारण भाव माना है, वह देशप्रत्यासत्ति, कालप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति के द्वारा एकसंतान रूप से स्वीकृत स्वलक्षण पर्यायों का भी परस्पर में व्यभिचार रहित कार्य-कारण भाव व्यवस्थित नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रकार द्रव्यप्रत्यासत्ति (द्रव्य की अखण्डता) से ही उपादेय-उपादान का नियम परिशेष न्याय से सिद्ध होता है।

भावार्थ— पर्यायों में परस्पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार सम्बन्ध हैं। उनमें क्षेत्र, काल और भाव इन तीनों सम्बन्धों में तो व्यभिचार दोष आता है और परस्पर उपादान-उपादेय भाव द्रव्यप्रत्यासत्ति के कारण ही व्यवस्थित होता है। इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

उस द्रव्यप्रत्यासत्ति के अनुसार एक अखण्डित अन्वित द्रव्य का स्वभाव होने से कथंचित् पूर्व काल में होने वाली पर्याय उत्तर पर्याय की उपादान कारण है, और उत्तर काल में होने वाली पर्याय नियम से उपादेय है ॥१८८॥

भावार्थ— अखण्ड जीव द्रव्य हर्ष, विषाद, सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि पूर्वोत्तर में होने वाली अनन्त पर्यायों में अन्वय रूप से व्यापक है- जैसे पुद्गल गेहूँ, आटा, रोटी, वीर्य आदि अनन्त पर्यायों में अखण्ड रूप से व्यापक है। उनकी पूर्वोत्तर में होने वाली पर्यायों परस्पर में उपादान, उपादेय भाव से उत्पन्न होकर नष्ट होती रहती हैं परन्तु द्रव्य का नाश कभी नहीं होता है।

तथा विवादापन्नस्तदुत्तरपर्याय उपादेयः कथंचित्पूर्वपर्यायानुयायिद्रव्यस्वभावत्वे सत्युत्तरपर्यायत्वात्। यस्तु नोपादेयः स नैवं यथा तत्पूर्वपर्यायः। तदुत्तरोत्तरपर्यायो वा पूर्वपर्यायानुयायिद्रव्यस्वभावो वा, तत्स्वात्मा वा, तथा चासाधिति नियमात्। ततः सिद्धमुपादानमुपादेयश्च, अन्यथा तत्सिद्धेरयोगात्।

एकसंतानवर्तित्वान्नतथा नियमकल्पने।

पूर्वापरविदोर्व्यक्तमन्योन्याश्रयणं भवेत्॥१८९॥

कार्यकारणभावस्य नियमादेकसंततिः।

ततस्तन्नियमश्च स्यान्नान्यातो विद्यते गतिः॥१९०॥

विवाद को प्राप्त पूर्वकालीन विवक्षित पर्याय (यह पक्ष है) कथंचित् उपादान कारण है (यह साध्य है) क्योंकि किसी अपेक्षा से उपादेय पर्याय के अनुयायी द्रव्य का स्वभाव होने पर ही वह पूर्वकाल की पर्याय होती है। (यह हेतु है) परन्तु जो उपादान कारण नहीं है, वह तो इस प्रकार उपादेय के अनुयायी द्रव्य का स्वभाव होते हुए पूर्व पर्याय स्वरूप भी नहीं है। जैसे कि उससे भी उत्तर काल में होने वाली पर्याय (यह व्यतिरेक दृष्टान्त है) अर्थात् विवक्षित पर्याय के उपादान कारण भविष्य में होने वाली पर्याय नहीं हैं। अथवा पूर्व पर्याय से भी पहले काल में होने वाली चिरतर भूत पर्याय भी वर्तमान पर्याय का उपादान कारण नहीं है। अथवा स्वयं कार्य जैसे अपना उपादान कारण नहीं है, विवक्षित उपादेय पर्यायों में अन्वयरूप से नहीं रहने वाली द्रव्य स्वभाव रूप दूसरी आत्मा भी उपादान कारण नहीं है। तथा- इन्द्रियाँ, हेतु, शब्द आदि सहकारी कारण भी ज्ञानपर्याय के उपादान कारण नहीं हैं। अतः यह निश्चित है कि उत्तर पर्याय के अन्वित रहने वाले द्रव्य की पूर्वपर्याय कथंचित् उत्तर पर्याय की उपादान कारण है और उत्तर पर्याय उपादेय है। इसी उपादान-उपादेय भाव को पुष्ट करने के लिए दूसरे अनुमान का प्रयोग करते हैं-

पूर्व पर्याय में कथंचित् अन्वय रखने वाले द्रव्य स्वभाव के होने पर होने वाली उत्तर पर्याय होने से विवाद को (विचारकाल में) प्राप्त उत्तर पर्याय उपादेय है। जो उपादेय नहीं है, वह इस प्रकार कथित हेतु से युक्त भी तो नहीं है। जैसे कि इससे भी पूर्वकाल में होने वाली पर्यायें उपादेय नहीं हैं। अथवा उत्तरोत्तर होने वाले भविष्य काल की पर्यायें भी उपादेयरूप नहीं हैं।

अथवा- इन पूर्व पर्यायों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से अन्वय नहीं रखने वाला दूसरा आत्मा वा पूर्व की सभी पर्यायों में अन्वय रखने वाला अकेला निजद्रव्य उपादेय नहीं है। तथा स्वयं उत्तर पर्याय भी अपना उपादेय नहीं है। अतः पूर्व पर्यायों में अन्वय रखने वाले द्रव्य की विवक्षित काल व्यवधान रहित उत्तर पर्याय ही पूर्व पर्याय का उपादेय है और पूर्व पर्याय उपादान है। द्रव्य प्रत्यासत्ति से अतिरिक्त अन्य कोई उपादान-उपादेयभाव नहीं है।

पूर्वकालवर्ती और उत्तरकालवर्ती ज्ञान पर्यायों में एक संतानपना होने से कार्य-कारण भाव के नियम की कल्पना करने पर तो स्पष्ट रूप से अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि पूर्वोत्तर ज्ञान पर्याय के कार्य-कारण भाव के नियम की सिद्धि होने पर तो उनमें एक संतति की सिद्धि होगी। और एक संतति के नियम की सिद्धि होने पर उनमें कार्य-कारण भाव सिद्ध होगा। अतः अन्योन्याश्रय दोष आता है। इसलिए कार्य-कारण भाव के लिए द्रव्यप्रत्यासत्ति की ही शरण लेना अनिवार्य है। अन्यगति (अन्य उपाय) कार्य-कारण की सिद्धि का कारण नहीं है॥१८९-१९०॥

संतानैक्यादुपादानोपादेयताया नियमे परस्पराश्रयणात्सैव माभूदित्यपि न धीरचेष्टितं, पूर्वापरविदोस्तत्परिच्छेद्ययोर्वा नियमेनोपादानोपादेयतायाः समीक्षणात्। तदन्यथानुपपत्त्या तद्व्याप्येकद्रव्यस्थितेरिति तद्विषयं प्रत्यभिज्ञानं तत्परिच्छेदकमित्युपसंहरति—

तस्मात्स्वावृतिविश्लेषविशेषवशवर्तिनः।

पुंसः प्रवर्तते स्वार्थैकत्वज्ञानमिति स्थितम्॥१९१॥

संतानवासनाभेदनियमस्तु क्व लभ्यते।

नैरात्म्यवादिभिर्न स्याद्येनात्मद्रव्यनिर्णयः॥१९२॥

तस्मान्न द्रव्यनैरात्म्यवादिनां संतानविशेषाद्वासनाविशेषाद्वा प्रत्यभिज्ञानप्रवृत्तिस्तन्नियमस्य लब्धुमशक्तेः। किं तर्हि? पुरुषादेवोपादानकारणात् स एवाहं तदेवेदमिति वा स्वार्थैकत्वपरिच्छेदकं

(बौद्ध) संतान की एकता से उपादान उपादेय भाव का नियम मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। अतः शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी उपादान-उपादेय भाव नहीं मानते हैं। इस प्रकार कहने वाले बौद्ध की भी धीर वीर पुरुषों की सी चेष्टा नहीं है। क्योंकि पूर्वोत्तर ज्ञान में तथा ज्ञान के द्वारा जानने योग्य वस्तु में नियम से उपादान-उपादेय भाव दृष्टिगोचर हो रहा है। अन्यथा एक द्रव्य के साथ तादात्म्य भाव के बिना कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता (उपादान उपादेय भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती)। अन्यथा अनुपपत्ति से सिद्ध होता है कि पूर्वोत्तर कालवर्ती अनेक ज्ञानों में व्यापक रूप से रहने वाला एक अन्वित द्रव्य ही प्रत्यभिज्ञान का विषय है। उस एक अखण्ड द्रव्य को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान उस द्रव्य को जान लेता है। आचार्य उक्त प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

इसलिए स्वकीय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष के आधीन रहने वाले, स्व और एकत्व अर्थ को विषय करने वाले पुरुष की प्रवृत्ति हो रही है। इस प्रकार निश्चित है।

अखण्ड आत्मतत्त्व को नहीं मानने वाले बौद्धों के भिन्न-भिन्न सन्तानों का नियम और भिन्न-भिन्न वासनाओं के भेद का नियम कैसे प्राप्त हो सकता है। इससे नैरात्म्यवादी बौद्धों के आत्मद्रव्य का निर्णय नहीं हो पाता। अर्थात् अखण्ड एक आत्मद्रव्य सिद्ध है। अखण्ड आत्मद्रव्य के बिना बौद्ध दर्शन में संतान का नियम भी सिद्ध नहीं होता है॥१९१-१९२॥

इसलिए अखण्डित अन्वित आत्मद्रव्य को नहीं मानने वाले सौगत मत में संतान विशेष से वा वासना विशेष से पूर्वोत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि 'यह यज्ञदत्त की संतान है या यह यज्ञदत्त में ही ज्ञान कराने वाली वासना है' - 'यह वासना भी पूर्व की वासनाओं से ही उत्पन्न हुई है' इस प्रकार के नियम की उपलब्धि करना अशक्य है। अर्थात् नित्य आत्मद्रव्य को स्वीकार किये बिना वासना आदि की भी सिद्धि नहीं होती है।

शंका— प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्ति कैसे होती है?

समाधान— पूर्वोत्तर पर्यायों के उपादान कारणभूत एक अखण्ड आत्मद्रव्य के कारण ही 'वह ही मैं हूँ' 'वही यह है' इस प्रकार स्व (आत्मा) और बहिरंग अर्थों के एकत्व का परिच्छेदक (जानने वाला) प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त होता है। उक्त सम्पूर्ण अवस्थायें अपने ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष से आत्मा में व्यवस्थित बन रही

प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तते स्वावरणक्षयोपशमवशादिति व्यवतिष्ठते । तस्माच्च
मृत्पर्यायाणामिवैकसंतानवर्तिनां चित्पर्यायाणामपि तत्त्वतोऽन्वितत्वसिद्धेः
सिद्धमात्मद्रव्यमुदाहरणस्य साध्यविकलतानुपपत्तेः ।

सिद्धोऽप्यात्मोपयोगात्मा यदि न स्यात्तदा कुतः ।

श्रेयोमार्गप्रजिज्ञासा खस्येवाचेतनत्वतः ॥१९३॥

येषामात्मानुपयोगस्वभावस्तेषां नासौ श्रेयोमार्गजिज्ञासा वाचेतनत्वादाकाशवत् ।
नोपयोगस्वभावत्वं चेतनत्वं किंतु चैतन्ययोगतः, स चात्मनोऽस्तीत्यसिद्धमचेतनत्वं न
साध्यसाधनायालमिति शंकापनुदति—

चैतन्ययोगतस्तस्य चेतनत्वं यदीयते ।

खादीनामपि किं न स्यात्तद्योगस्याविशेषतः ॥१९४॥

हैं। जैसे मिट्टी की शिक्क, स्थास, कोष, कुशूल और घट पर्याय में मृत्तिका उपादान होकर ओतप्रोत रहती है।
उसी प्रकार आत्मा एकसंतानवर्ती सुख, दुःख, घटज्ञान, पटज्ञान आदि चैतन्य पर्यायों में वास्तव में अन्वित होकर
रहता है। इस प्रकार आत्मद्रव्य के अन्वितपना सिद्ध हो जाने से आत्मद्रव्य अखण्ड सिद्ध होता है। अतः उदाहरण
के साध्य-विकलता की अनुपपत्ति है। अर्थात् मिट्टी का उदाहरण साध्यविकल नहीं है यानी उसके साध्य से
रहितपना सिद्ध नहीं होता है।

नित्य और अनेक पर्यायों में व्यापक हो रहे उपयोग (दर्शन और ज्ञान) स्वरूप आत्मतत्त्व की यदि
सिद्धि नहीं है तो आकाश के समान अचेतन होने से आत्मा के श्रेयोमार्ग (मोक्षमार्ग) को जानने की अभिलाषा
कैसे उत्पन्न हो सकती है ॥१९३॥

जैसे अचेतनात्मक आकाश के मोक्षमार्ग को जानने की अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती है- उसी प्रकार
नैयायिक मतानुसार उपयोग रहित आत्मा के मोक्षमार्ग को जानने की अभिलाषा उत्पन्न नहीं हो सकती।

आत्मा और चैतन्य का तादात्म्य सम्बन्ध है, समवाय सम्बन्ध नहीं

जिनके (नैयायिक और वैशेषिक के) मत में आत्मा उपयोगात्मक नहीं है, उनके मत में आकाश के
समान अचेतन होने से उस आत्मा के मोक्षमार्ग को जानने की अभिलाषा भी उत्पन्न नहीं हो सकेगी। उनके
अनुसार आत्मा का चेतनपना उपयोग के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला नहीं है- अपितु चैतन्य गुण के
समवाय सम्बन्ध से उसमें चेतनत्व है। अतः आत्मा में अचेतनत्व असिद्ध है। इसलिए जैनाचार्यों द्वारा कथित
अचेतनत्व हेतु साध्य (मोक्षमार्ग की अभिलाषा के अभाव) को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। अतः असिद्ध
हेत्वाभास है। इस प्रकार की शंका का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं—

यदि चैतन्य के समवाय सम्बन्ध से आत्मा के चेतनत्व कहा जाता है, तो चेतन के समवाय सम्बन्ध
से आकाश, काल आदि के भी चेतनत्व क्यों नहीं होगा? आकाश आदि के भी चैतन्य के योग से चेतनत्व
होना चाहिए क्योंकि आत्मा और आकाश के साथ चैतन्य के समवाय में कोई विशेषता नहीं है ॥१९४॥

पुंसि चैतन्यस्य समवायो योगः स च खादिष्वपि समानः, समवायस्य स्वयमविशिष्टस्यैकस्य प्रतिनियमहेत्वभावादात्मन्येव ज्ञानं समवेतं नाकाशादिष्विति विशेषाव्यवस्थितेः।

मयि ज्ञानमपीहेदं प्रत्ययानुमितो नरि।

ज्ञानस्य समवायोऽस्ति न खादिष्वित्ययुक्तिकम्॥१९५॥

यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययान्न तत्कुण्डादन्यत्र तद्वधिसंयोगः शक्यापादनस्तथेह मयि ज्ञानमितीहेदं प्रत्ययान्नात्मनोऽन्यत्र खादिषु ज्ञानसमवाय इत्ययुक्तिकमेव योगस्य।

खादयोऽपि हि किं नैव प्रतीयुस्तावके मते।

ज्ञानमस्मास्विति क्वात्मा जडस्तेभ्यो विशेषभाक्॥१९६॥

खादयो ज्ञानमस्मास्विति प्रतीयंतु स्वयमचेतनत्वादात्मवत्। आत्मानो वा मैवं प्रतीयुस्तत

पुरुष (आत्मा) में जो चैतन्य का समवाय सम्बन्ध है, वह आकाश आदि में भी समान है। क्योंकि विशेषता से रहित एक समवाय के स्वयं प्रतिनियम हेतु का अभाव होने से 'वह चैतन्य का समवाय सम्बन्ध आत्मा में ही हो- आकाश आदि में नहीं' ऐसी विशेष व्यवस्था नहीं हो सकती।

भाषार्थ- नैयायिक मत में वास्तव में एक ही समवाय सम्बन्ध है और वह चैतन्य का आत्मा के साथ सम्बन्ध करता है, आकाश आदि के साथ चैतन्य का सम्बन्ध नहीं कराता, इस नियम की व्यवस्था कैसे हो सकती है?

(नैयायिक) 'यहाँ यह है' इस प्रकार की प्रतीति तो सम्बन्ध को सिद्ध करती है। 'मुझ में ज्ञान है' इस प्रकार के प्रत्यय (ज्ञान) से आत्मा में ही ज्ञान के समवाय का अनुमान किया जाता है- आकाश आदि में ज्ञान के समवाय का अनुमान नहीं किया जाता है। अतः आकाश आदि में ज्ञान नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है॥१९५॥

जिस प्रकार 'इस कुण्ड में दही है' ऐसी प्रतीति होने के कारण उस कुण्ड के अतिरिक्त अन्य स्थान में उस दही के संयोग के प्रसंग का आपादन करना शक्य नहीं है। अर्थात् कुण्ड से भिन्न स्थान में दही नहीं है ऐसा नहीं कह सकते- उसी प्रकार 'मुझ में ज्ञान है' इस प्रकार के (यहाँ यह है), इस सम्बन्ध के निरूपक प्रत्यय से (ज्ञान से) आत्मा से अतिरिक्त आकाश आदि में ज्ञान का समवाय सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार योग का कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि- गुण, गुणी और समवाय का सर्वथा भेद मानने वाले नैयायिक के दर्शन में समवाय सम्बन्ध से 'हमारे में ज्ञान है' ऐसा आकाश आदि क्यों नहीं समझते हैं। आत्मा के समान आकाश आदि को भी 'मुझ में ज्ञान है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। क्योंकि ज्ञान समवाय के पूर्व आत्मा और आकाश दोनों जड़ स्वरूप हैं- दोनों में कोई अन्तर नहीं है॥१९६॥

ज्ञान समवाय सम्बन्ध के पहले आकाश और आत्मा दोनों जड़ स्वरूप हैं- तो क्या विशेषता है कि जिससे 'मुझ में ज्ञान है' यह प्रत्यय आत्मा में होता है और आकाश आदि में नहीं होता है।

एव खार्दिवदिति । जडात्मवादिमते सन्नपि ज्ञानमिहेदमिति प्रत्ययः प्रत्यात्मवेद्यो न ज्ञानस्यात्मनि समवायं नियमयति विशेषाभावात् । नन्विह पृथिव्यादिषु रूपादय इति प्रत्ययोऽपि न रूपादीनां पृथिव्यादिषु समवायं साधयेद्यथा खादिषु, तत्र वा सत्त्वं साधयेत् पृथिव्यादिष्विवेति न क्वचित्प्रत्ययविशेषात्कस्यचिद्व्यवस्था किञ्चित्साधर्म्यस्य सर्वत्र भावादिति चेत् । सत्यं । अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु, पृथिव्यादीनां रूपाद्यनात्मकत्वे खादिभ्यो विशिष्टतया व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।

आत्मा के समान स्वयं अचेतन होने से आकाश आदि को भी 'हमारे में ज्ञान है' ऐसा प्रत्यय (ज्ञान) होना चाहिए। अथवा आकाश आदि के समान आत्मा को भी यह प्रत्यय नहीं होना चाहिए कि 'मुझ में ज्ञान है' क्योंकि अचेतन की अपेक्षा दोनों समान हैं।

स्वरूप से आत्मा को जड़ मानने वाले नैयायिक के मत में प्रत्येक आत्मा के द्वारा जानने योग्य 'मुझ में यह ज्ञान है' 'यहाँ यह है' इस प्रकार का सत् रूप ज्ञान भी आत्मा में ज्ञान समवाय का नियम नहीं करा सकता। क्योंकि आकाश, घट पट आदि जड़ पदार्थों से आत्मा में विशेषता का अभाव है। अर्थात् ज्ञान समवाय के पूर्व आकाश आदि और आत्मा समान रूप से जड़ हैं। इनमें कोई विशेषता नहीं है।

नैयायिक कहता है कि इस प्रकार कहने पर तो "यहाँ पृथ्वी जल आदि में रूप, रस आदि हैं" इस प्रकार का प्रत्यय (ज्ञान) भी पृथ्वी आदि में रूप आदि के समवाय सम्बन्ध को सिद्ध नहीं करेगा। जैसे आकाश आदि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध रूपादि का सम्बन्ध नहीं कराता है। अथवा- जैसे आकाशादि में समवाय रूप, रस आदि का सम्बन्ध नहीं करता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि में भी रूपादि के सत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी। किसी प्रत्यय विशेष से किसी की भी व्यवस्था नहीं होगी। क्योंकि किसी-न-किसी धर्म की अपेक्षा साधर्म्य का सर्वत्र सद्भाव पाया जाता है। जैनाचार्य कहते हैं- कि "पृथ्वी आदि में रूपादि का प्रत्यय नहीं होगा" यह कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि पृथ्वी आदि में रूपादिक का प्रत्यय है वह तादात्म्य सम्बन्ध से है, समवाय सम्बन्ध से नहीं है। जो पृथ्वी आदि में रूप आदिक का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानता है- उसके यह दूसरा दोष भी लागू होता है कि जैसे "आत्मा में ही ज्ञान का समवाय सम्बन्ध है, आकाश आदि में नहीं, ऐसी व्यवस्था करना शक्य नहीं है, वैसे ही पृथ्वी आदि में समवाय सम्बन्ध से रूपादि है, आकाशादिक में नहीं" ऐसी व्यवस्था करने के लिए आकाश आदिकों से विशिष्टता रखने वाला नियम व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है। क्योंकि रूपादि के समवाय सम्बन्ध के पूर्व, आकाश आदि और पृथ्वी आदि दोनों ही रूप आदि से रहित हैं। अतः समवाय सम्बन्ध से रूपादि पृथ्वी आदि में रहते हैं, ऐसा सिद्ध नहीं होता, परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से सिद्ध होता है।

स्यान्मतं । आत्मानो ज्ञानमस्मास्त्विति प्रतीयंति आत्मत्वात् ये तु न तथा ते नात्मानो यथा खादयः । आत्मानश्चैतेऽहंप्रत्ययग्राह्यास्तस्मात्तथेत्यात्मत्वमेव खादिभ्यो विशेषमात्मानं साधयति पृथिवीत्वादिवत् । पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादियोगाद्धि पृथिव्यादयस्तद्वदात्मत्वयोगादात्मान इति । तदयुक्तम् । आत्मत्वादिजातीनामपि जातिमदनात्मकत्वे तत्समवायनियमासिद्धेः । प्रत्ययविशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, स एव विचारयितुमारब्धः । परस्परमत्यंतभेदाविशेषेऽपि

यदि नैयायिक का यह कथन है कि-

“समवाय सम्बन्ध से हमारे में ज्ञान है” ऐसी आत्मा को प्रतीति होती है, क्योंकि वे आत्मा हैं। जो पदार्थ “मेरे में ज्ञान है” - ऐसी प्रतीति नहीं करते हैं- अथवा ‘हमारे में ज्ञान है’ ऐसी प्रतीति जिनको नहीं होती है, वे आत्मा नहीं हैं जैसे आकाश आदि। “मैं मैं” इस प्रत्यय (ज्ञान) के द्वारा आत्मा का ग्रहण होता है, अतः “मेरे में ज्ञान है” आत्मा ऐसी दृढ़ प्रतीति कर लेता है। अतः यह ‘अहं’ “मैं मैं” प्रत्यय आकाश आदि से आत्मा की विशेषता सिद्ध कर देता है। जैसे पृथ्वीत्व जलत्व आदि स्वकीय जाति के द्वारा पृथ्वी आदि को आकाश आदि से भिन्न सिद्ध कर देता है। जिस प्रकार पृथ्वीत्वादि जाति के योग (सम्बन्ध) से पृथ्वी आदि में पृथ्वीत्व आदि है, उसी प्रकार आत्मत्व के योग से आत्मतत्त्व भी पृथक् सिद्ध होता है। अर्थात् पृथ्वीत्व के सम्बन्ध से पृथ्वी, जलत्व के सम्बन्ध से जलत्व आदि पृथक्-पृथक् द्रव्य सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार आत्मत्व के समवाय सम्बन्ध से आत्मतत्त्व स्वतंत्र सिद्ध होता है।

आत्मत्व के समवाय से आत्मत्व है, इस प्रकार कहने वाले नैयायिक के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि- नैयायिक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि आत्मत्व, पृथ्वीत्व आदि जाति का आत्मा, पृथ्वी आदि जातिमान के साथ ही समवाय सम्बन्ध होता है, ऐसे समवाय सम्बन्ध के नियम की असिद्धि है क्योंकि जाति-सम्बन्ध के पूर्व सर्व अनात्मक हैं।

अर्थात् अपनी-अपनी जाति के साथ जब द्रव्य का तदात्मक सम्बन्ध नहीं है, स्वकीय जाति के सम्बन्ध से सर्व द्रव्य समान हैं तो ऐसा कौन सा नियम है जिससे आत्मत्व जाति का समवाय सम्बन्ध आत्मा के साथ ही हो, आकाश आदि के साथ नहीं। उसी प्रकार पृथ्वीत्व, जलत्व आदि का समवाय पृथ्वी आदि के साथ ही हो अन्य के साथ नहीं। अतः ज्ञान और ज्ञानवान के समान जाति और जातिमान की व्यवस्था भी नहीं हो सकती (जब तक पृथ्वी और पृथ्वीत्व का और आत्मा व आत्मत्व का तादात्म्यरूप एकीभाव नहीं माना जाता)।

नैयायिक : आत्मा में ही आत्मत्व जाति का प्रत्यय (ज्ञान) होता है, जैसे जलादि में जलत्व आदि का प्रत्यय होता है। इसलिए इस प्रत्यय के कारण आत्मादि में आत्मत्व आदि के समवाय सम्बन्ध की सिद्धि होती है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं- कि वही विचार करने के लिए तो प्रकरण आरंभ किया है। अर्थात् आत्मा में ही आत्मत्व जाति के रहने का विशेष ज्ञान किस कारण से होता है? इसी का विचार किया जा रहा है कि जाति और जाति वाले में परस्पर अत्यन्त भेद की अविशेषता होने पर भी आत्मत्व जाति ‘आत्मा में ही रहती है’ इस ज्ञानविशेष को उत्पन्न करती है, और पृथ्वी, जल आदि में आत्मत्व के रहने का ज्ञान नहीं

जातितद्वातामात्मत्वजातिरात्मनि प्रत्ययविशेषमुपजनयति न पृथिव्यादिषु पृथिवीत्वादिजातयश्च तत्रैव प्रत्ययमुत्पादयन्ति नात्मनीति कोऽत्र नियमहेतुः? समवाय इति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। सति प्रत्ययविशेषे जातिविशेषस्य जातिमति समवायः सति च समवाये प्रत्ययविशेष इति। प्रत्यासत्तिविशेषादन्यत एव तत्प्रत्ययविशेष इति चेत्। स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्यपरिणामादिति स एव प्रत्ययविशेषहेतुरेषितव्यः। तदभावे तदघटनाजातिविशेषस्य क्वचिदेव समवायासिद्धेरात्मादिविभागानुपपत्तेरात्मन्येव ज्ञानं समवेतमिहेदमिति प्रत्ययं कुरुते न पुनः खादिष्विति प्रतिपत्तुमशक्तेर्न चैतन्ययोगादात्मनश्चेतनत्वं सिद्धयेत् यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्।

कराती है। तथा- पृथ्वीत्व आदि जाति पृथ्वी आदि में भी पृथ्वीत्व का ज्ञान कराती है- आत्मा में पृथ्वीत्व आदि के प्रत्यय विशेष को उत्पन्न नहीं कराती है- इस प्रकार के नियम का कारण क्या है? अर्थात् किस कारण से अपनी जाति का अपने से सर्वथा भिन्न स्वकीय जातिमान में ही समवाय सम्बन्ध होता है? अन्य में उस का समवाय सम्बन्ध नहीं होता है?

अपनी जाति का अपने जातिमान में सम्बन्ध समवाय के कारण से होता है- अर्थात् उनमें सम्बन्ध कराने का कारण समवाय ही है। ऐसे समवाय को अपनी जाति के सम्बन्ध का कारण मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। अर्थात् भिन्न स्थित समवाय सम्बन्ध के नियम कराने वाले ज्ञान की सिद्धि हो और समवाय सम्बन्ध की सिद्धि होने पर ज्ञान की सिद्धि हो।

समवाय सम्बन्ध का नियम कराने वाले ज्ञान विशेष के होने पर जाति विशेष की जातिमान में समवाय की सिद्धि होती है और आत्मा और आत्मत्व का समवाय सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर ज्ञान विशेष की सिद्धि होती है- अतः अन्योऽन्याश्रय दोष होने से कार्य सिद्धि नहीं होती है।

प्रत्यासत्ति विशेष से अन्य ही उसका प्रत्यय विशेष होता है। अर्थात् विशेष सम्बन्ध ही विशेष प्रत्यय का कारण होता है। तो वह विशिष्ट सम्बन्ध कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध रूप परिणाम (पर्याय) से अतिरिक्त दूसरा कौन सा है। अतः गुण-गुणी, जाति-जातिमान में तादात्म्य सम्बन्ध ही प्रत्यय विशेष का हेतु समझना चाहिए। अर्थात् आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है अतः उसी सम्बन्ध से 'आत्मा में ज्ञान है' ऐसा प्रत्यय विशेष होता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं।

उस तादात्म्य सम्बन्ध के अभाव में 'आत्मा में ज्ञान है' ऐसा प्रत्यय विशेष नहीं होता है। भिन्न स्थित जाति विशेष का किसी द्रव्य विशेष में ही समवाय सिद्ध नहीं होता है और जब गुण-गुणी में समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है तब 'यह आत्मा है, यह पृथ्वी है, यह आकाश है', इत्यादि रूप से द्रव्य के विभाग की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। तथा आत्मा के विभाग की उत्पत्ति नहीं होने से आत्मा में ही ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है ऐसा, 'यह यहाँ है' इस प्रकार का ज्ञान आत्मा में ही ज्ञान के समवाय को सिद्ध करता है किन्तु फिर आकाश आदि में ज्ञान के समवाय को सिद्ध नहीं करे, यह भी नहीं समझा जा सकता है। अतः (नैयायिकों को) चैतन्य के सम्बन्ध से आत्मा में चेतनता सिद्ध नहीं हो सकती है और अचेतन के मोक्ष की अभिलाषा जागृत नहीं होती, यह हेतु असिद्ध होवे ऐसा नहीं है, अर्थात् यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

प्रतीतिः शरणं तत्र केनाप्याश्रीयते यदि।

तदा पुंसश्चिदात्मत्वं प्रसिद्धमविगानतः ॥१९७॥

ज्ञाताहमिति निर्णीतेः कथंचिच्चेतनात्मताम्।

अंतरेण व्यवस्थानासंभवात् कलशादिवत् ॥१९८॥

प्रतीतिविलोपो हि स्याद्वादिभिर्न क्षम्यते न पुनः प्रतीत्याश्रयणं। ततो निःप्रतिद्वन्द्वमुपयोगात्मकस्यात्मनः सिद्धेर्न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगाच्चेतनोऽचेतने च मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः। भेदे तथा प्रतीतिरिति चेन्न। कथंचित्तादात्म्याभावे तददर्शनात् यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद्

यदि किसी नैयायिक के द्वारा इसमें प्रतीति (मैं ज्ञाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ) इस प्रतीति की शरण ली जाती है तब तो “आत्मा चैतन्य स्वरूप है” यह प्रसिद्धि भी निर्दोष है। अर्थात् आत्मा चैतन्य स्वरूप है यह निर्दोष प्रतीति होती है ॥१९७॥

‘मैं ज्ञाता हूँ’ इस प्रकार के निर्णय की व्यवस्था कथंचित् आत्मा को चेतनात्मक स्वीकार किये बिना असंभव है। अर्थात् आत्मा को चेतन स्वरूप स्वीकार किये बिना “मैं ज्ञाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ” इस प्रकार की प्रतीति का निर्णय नहीं हो सकता। जैसे घटादिक में ‘मैं ज्ञाता हूँ’ ऐसी प्रतीति नहीं होती है परन्तु आत्मा ही निर्णय कर रहा है कि “मैं ज्ञाता हूँ” ॥१९८॥

प्रतीति का लोप करना स्याद्वादियों को सहन नहीं हो सकता है। पुनः प्रतीति के अनुसार बाधा रहित उपयोग स्वरूप आत्मा की सिद्धि होती है। इस प्रकार की प्रतीति कभी भी नहीं होती कि ‘मैं स्वयं अचेतन हूँ’, चेतना के संयोग से चेतन हूँ अथवा मुझ अचेतन में चेतना का समवाय सम्बन्ध है किन्तु इसके विपरीत ‘मैं चेतन हूँ’ ‘ज्ञाता हूँ’ ऐसी प्रतीति होती है। ‘ज्ञातृत्व’ और ‘अहं’ मैं की प्रतीति का समान अधिकरण है। एक ही अधिकरण है अर्थात् चेतनत्व, ज्ञातृत्व और अहंत्व इन तीनों का अधिकरण एक ही है। ये तीनों एक आत्मा नामक अधिकरण में निवास करते हैं।

नैयायिक : इस प्रकार समानाधिकरणत्व तो भिन्न दो पदार्थों में भी प्रतीत होता है जैसे फूल सुगन्धयुक्त है और कम्बल नीला है। इसमें फूल से सुगन्ध भिन्न है, कम्बल से नीलापन भिन्न है तथापि एकाधिकरण है, उसी प्रकार ‘आत्मा ज्ञाता है’ यह भेद अधिकरण प्रतीत हो रहा है। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है- क्योंकि कथंचित् तादात्म्य के अभाव में (तादात्म्य सम्बन्ध के बिना) समानाधिकरणता नहीं देखी जाती है। ‘पुष्प में सुगन्ध’, ‘कम्बल में नीलापन’ सर्वथा भिन्न नहीं हैं- इनमें भी सुगन्ध का पुष्प के साथ और नीलेपन का कम्बल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। यद्यपि कचित् भेद में भी एकाधिकरण की प्रतीति होती है जैसे यष्टिः पुरुषः लाठी वाले पुरुष को लाठी कहा जाता है वा रिकशा वाले को ‘रिकशा’ कह दिया जाता है। परन्तु भेद में एकाधिकरण उपचार से (व्यवहार से) देखा जाता

दृष्टा न पुनस्तात्त्विकी। तथा चात्मनि ज्ञाताहमिति प्रतीतिः कथंचिच्चेतनात्मतां गमयति, तामंतरेणानुपपद्यमानत्वात् कलशादिवत्। न हि कलशादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति। चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत्, चेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेर्निरस्तत्वात्। ननु च ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदोऽन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनतद्वतोर्भेदाभावानुषंगादिति कश्चित् तदसत्।

ज्ञानवानहमित्येव प्रत्ययोऽपि न युज्यते।

सर्वथैव जडस्यास्य पुंसोऽभिपन्नने तथा ॥१९९॥

है, वह भेद पुनः वास्तविक है। वास्तविक समानाधिकरण तो तादात्म्य सम्बन्ध में ही होता है। जैसे आत्मा ज्ञानी है। आत्मा और ज्ञान में कथंचित् लक्ष्य-लक्षण, संज्ञा, प्रयोजनादि अपेक्षा भेद कहा जाता है- परन्तु द्रव्यरूप से भेद नहीं है। तथा आत्मा में 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी प्रतीति कथंचित् उसे चेतनात्मक तो सिद्ध करती है। आत्मा चेतन स्वरूप है इसकी द्योतक है। क्योंकि आत्मा को चेतन स्वरूप माने बिना 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी प्रतीति (अनुभव) नहीं हो सकती। जैसे अचेतन स्वरूप घटादि में 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी ज्ञप्ति नहीं होती है। क्योंकि घटादिक अचेतनात्मक हैं अतः 'मैं ज्ञाता हूँ' इस प्रकार की प्रतीति घटादिक को नहीं होती है।

नैयायिक : 'चैतन्य के सम्बन्ध का अभाव होने से घट, पट आदिक अपने को उस प्रकार की ज्ञातापने की प्रतीति नहीं करते हैं' इस प्रकार नैयायिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि चेतन के भी चेतना का अयोग होने से 'मैं चेतन हूँ' ऐसी प्रतीति का पूर्व में खण्डन किया है। अर्थात् चेतना का समवाय सम्बन्ध आत्मा में ही क्यों होता है, अन्य द्रव्यों में क्यों नहीं होता है- अतः जैसे चेतना का सम्बन्ध न होने से घट-पट आदि को अपना अनुभव नहीं है- क्योंकि वे स्वयं अचेतन हैं उसी प्रकार चेतना के समवाय सम्बन्ध के पूर्व आत्मा भी अचेतन है। इसलिए आत्मा को भी 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी ज्ञप्ति नहीं हो सकती।

कोई (नैयायिक) कहता है कि- 'मैं ज्ञानवान हूँ' इस प्रकार की ज्ञप्ति होने से तो आत्मा और ज्ञान में भेद प्रतीत होता है। अन्यथा (यदि ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं माना जायेगा तो) 'मैं धनवान हूँ' इस प्रकार की प्रतीति से भी धन और धनवान में भेद के अभाव का प्रसंग आयेगा।

जैनाचार्य कहते हैं कि- ऐसा कहना भी असत् (प्रशंसनीय नहीं) है- क्योंकि-

आत्मा को सर्वथा जड़ (अचेतन) मानने पर 'मैं ज्ञानवान हूँ' इस प्रकार का प्रत्यय (ज्ञान का अनुभव) होना युक्तिपूर्ण नहीं है। अर्थात् सर्वथा भेद में मतुप् प्रत्यय नहीं होता है- जैसे 'मैं पुद्गलवान्' ऐसा प्रत्यय नहीं होता है ॥१९९॥

नैयायिक मतानुसार घट के समान आत्मा एकान्त से जड़ स्वरूप होने से 'मैं ज्ञानवान हूँ' ऐसा अनुभव नहीं कर सकता।

ज्ञानवानहमिति नात्मा प्रत्येति जडत्वैकांतरूपत्वाद् घटवत् । सर्वथा जडश्च स्यात् आत्मा ज्ञानवानहमिति प्रत्येता च स्याद्विरोधाभावादिति मा निर्णयीस्तस्य तथोपपत्त्यसंभवात् । तथाहि—

ज्ञानं विशेषणं पूर्वं गृहीत्वात्मानमेव च ।

विशेष्यं जायते बुद्धिर्ज्ञानवानहमित्यसौ ॥२००॥

तद्गृहीतिः स्वतो नास्ति रहितस्य स्वसंविदा ।

परतश्चानवस्थानादिति तत्प्रत्ययः कुतः ॥२०१॥

येषां नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति मतं श्वेताच्छेते बुद्धिरिति वचनात्तेषां ज्ञानवानहमिति

भावार्थ— वैशेषिकों के दर्शन में ज्ञान गुण और आत्मत्व जाति के संयोग से आत्मा ज्ञाता होता है, समवाय सम्बन्ध के पूर्व तो आत्मा जड़ स्वरूप ही रहता है।

नैयायिक : “आत्मा सर्वथा जड़ स्वरूप है और ‘मैं ज्ञानवान हूँ’ ऐसा अनुभव भी करता है, इसमें विरोध का अभाव है” जैनाचार्य कहते हैं— ऐसा निर्णय करना उचित नहीं है— क्योंकि इस प्रकार का निर्णय करने की उपपत्ति की असंभवता है। अर्थात् जड़आत्मा ज्ञान गुण के समवाय से ‘मैं ज्ञाता हूँ’ ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता। तथाहि—

आत्मस्वरूप विशेष्य को और ज्ञानस्वरूप विशेषण को पूर्व में ग्रहण करके ही ‘मैं ज्ञानवान हूँ’ ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। उसमें ज्ञानरूप विशेषण का ग्रहण स्वतः नहीं हो सकता। क्योंकि वैशेषिक दर्शन में ज्ञान और आत्मा को स्वसंवेदन से रहित माना है। अतः स्वतः तो विशेषण रूप ज्ञान का और विशेष्य रूप आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। यदि दूसरे के द्वारा आत्मा का ग्रहण होता है— ऐसा स्वीकार करते हैं तो अनवस्था दोष आता है। अतः जड़ स्वरूप आत्मा को ‘मैं ज्ञानवान हूँ’ ऐसा प्रत्यय (अनुभव) कैसे हो सकता है ॥२००॥

जिनका (नैयायिकों का) यह मत है कि विशेषण को ग्रहण किये बिना विशेष्य में बुद्धि नहीं जाती है, उनके ‘श्वेत वस्त्र हैं’ यह बुद्धि श्वेत विशेषण को जानकर ही श्वेत वस्त्र रूप विशेष्य में प्रवृत्त होती है। उनके मत में ‘मैं ज्ञानवान हूँ’ ऐसी प्रतीति भी, ज्ञान नामक विशेषण को और आत्मरूप विशेष्य को ग्रहण किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकती।

प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्। गृहीते तस्मिन्नुत्पद्यते इति चेत्, कुतस्तद्गृहीतिः? न तावत्स्वतः स्वसंवेदनानभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा प्रयुज्यते नान्यथा संतानान्तरवत्। परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यमिति ज्ञानान्तरात्तद्ग्रहणेन भाव्यमित्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतप्रत्ययः?

नन्वहंप्रत्ययोत्पत्तिरात्मज्ञमिर्निगद्यते।

ज्ञानमेतदिति ज्ञानोत्पत्तिस्तज्ज्ञप्तिरेव च ॥२०२॥

ज्ञानवानहमित्येष प्रत्ययस्तावतोदिता।

तज्ज्ञानावेदनेप्येवं नानवस्थेति केचन ॥२०३॥

ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है

यदि ज्ञान नामक विशेषण और आत्मा नामक विशेष्य के ग्रहण किये बिना ही विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति मानेंगे तो स्वमत से विरोध आयेगा। क्योंकि नैयायिक दर्शन में विशेष्य और विशेषण को ग्रहण करके ही विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है, ऐसा स्वीकार किया है, उसका विरोध होगा।

यदि कहो कि विशेषण-विशेष्य के ग्रहण करने पर ही विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है तो उस ज्ञान रूप विशेषण का ग्रहण किससे होता है? ज्ञान का ग्रहण स्वतः तो हो नहीं सकता। क्योंकि नैयायिकों ने आत्मा और ज्ञान का स्वतः अपने को जानने वाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया है।

यदि आत्मा और ज्ञान में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, ऐसा मानते तब तो उन दोनों का स्वतः ग्रहण होना कह सकते थे, अन्यथा नहीं कह सकते। क्योंकि संतानान्तरों के समान, ज्ञान और आत्मा का ग्रहण नहीं होता है। जैसे देवदत्त के ज्ञान का (या आत्मा का) यज्ञदत्त प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।

यदि दूसरे ज्ञान से 'ज्ञान और आत्मा' का ज्ञान होना मानोगे तो वह दूसरा ज्ञान भी विशेष्य है और उसमें ज्ञानत्व विशेषण है। अतः दूसरा ज्ञान भी जब तक अपने ज्ञानत्व विशेषण को नहीं जानेगा तब तक प्रकृत ज्ञान विशेष्य को भी ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकता। यदि दूसरे ज्ञान के द्वारा उस ज्ञानत्व विशेष्य को जानता है, ऐसा स्वीकार करेंगे तो अनवस्था दोष आता है। अतः विशेषण रूप पूर्व ज्ञान का ग्रहण कैसे हो सकेगा?

शंका- अहं 'मैं, मैं' इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति ही आत्मज्ञप्ति कही जाती है और यह ज्ञान है, इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञानत्व विशेष की ज्ञप्ति है, इससे ज्ञान का ग्रहण हो जाता है। उतने मात्र से "मैं ज्ञानवान हूँ" इस प्रकार का यह विशिष्ट प्रत्यय उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान का स्वतः वेदन न होने पर भी अनवस्था दोष नहीं आ सकता। ऐसा कोई (नैयायिक) कहता है ॥२०२-२०३॥

भावार्थ- 'मैं हूँ' और 'ज्ञान वाला हूँ' इन दो ज्ञानों की उत्पत्ति हो जाने से ही आकांक्षा शांत हो जाती है। ज्ञापक पक्ष में अनवस्था दोष लगता है। परन्तु कारक पक्ष में पिता-पुत्र के समान अनवस्था हो जाना दोष नहीं है।

ज्ञानात्मविशेषणविशेष्यज्ञानाहितसंस्कारसामर्थ्यादेव ज्ञानवानहमिति प्रत्ययोत्पत्तेर्नानवस्थेति केचिन्मन्यन्ते—

तेऽपि नूनमनात्मज्ञा ज्ञाप्यज्ञापकताविदः ।

सर्वं हि ज्ञापकं ज्ञातं स्वयमन्यस्य वेदकम् ॥२०४॥

विशेषणविशेष्ययोर्ज्ञानं हि तयोर्ज्ञापकं तत्कथमज्ञातं तौ ज्ञापयेत् । कारकत्वे तदयुक्तमेव । तदिमे तयोर्ज्ञानमज्ञातमेव ज्ञापकं ब्रुवाणा न ज्ञाप्यज्ञापकभावविद इति सत्यमनात्मज्ञाः । स्यान्मतं । विशेषणस्य ज्ञानं न ज्ञापकं नापि कारकं लिंगवच्चक्षुरादिवच्च । किं तर्हि? ज्ञप्तिरूपं फलं । तच्च प्रमाणाज्ज्ञातं चेत्तावतैवाकांक्षाया निवृत्तिः फलपर्यन्तत्वात्तस्या, विशेष्यज्ञानस्य ज्ञापकं तदित्यपि

पूर्व में ज्ञान को विशेषण और आत्मा को विशेष्य समझ लिया था । उसके संस्कार आत्मा में स्थित रहते हैं । अतः उस ज्ञान और आत्मरूप विशेषण-विशेष्य ज्ञान से उत्पन्न संस्कार के बल से ही 'मैं ज्ञानवान हूँ' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है । इससे अनवस्था दोष नहीं आता है- ऐसा भी कोई (नैयायिक) मानते हैं ।

समाधान- जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले वे नैयायिक निश्चय से अनात्मज्ञ (आत्मा को नहीं जानने वाले) हैं । और वे ज्ञाप्यज्ञापक भाव को भी नहीं जानते हैं । क्योंकि सभी दार्शनिक मानते हैं कि जो ज्ञापक (जानने वाला) है, वह स्वयं का और अन्य पदार्थों का वेदक (ज्ञाता) अवश्य होता है ॥२०४॥

ज्ञान रूप विशेषण के और आत्मस्वरूप विशेष्य के ज्ञान को ही उन ज्ञान और आत्मा का ज्ञापक माना गया है तो उन दोनों का वह ज्ञान स्वयं अज्ञात होकर विशेष्य (आत्मा) और विशेषण (ज्ञान) को कैसे बता सकता है? उनका निरूपण कैसे कर सकता है?

यदि इस ज्ञान को ज्ञापक पक्ष न मानकर कारक पक्ष स्वीकार करते हो तो ऐसा करना युक्तियों से रहित ही है । क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय के प्रकरण में कारक पक्ष लेना उपयुक्त नहीं है ।

धूम अग्नि का ज्ञापक हेतु है, वह उसका कारक हेतु नहीं है । धूम की कारक हेतु अग्नि स्वयं है, वह धूम की ज्ञापक नहीं है । अतः ज्ञापक हेतु कारक नहीं होता ।

जो नैयायिक विशेष्य और विशेषण को नहीं जानने वाले ज्ञान को भी ज्ञापक कहते हैं-वे ज्ञेय-ज्ञायक भाव को नहीं जानते हैं इसलिए वे वास्तव में अनात्मज्ञ हैं (आत्मा को नहीं जानते हैं) ।

नैयायिक कहता है कि विशेषण का ज्ञान ज्ञापक हेतु नहीं है और चक्षु आदि के समान वा लिंग के (पुण्य-पाप, आलोक आदि हेतु के) समान कारक हेतु भी नहीं है । जैनाचार्य कहते हैं कि वह विशेषण का ज्ञान क्या है? उस विशेषण ज्ञान का स्वरूप क्या है? उत्तर- ज्ञप्ति (ज्ञान) रूप फल ही विशेषण का ज्ञान है । अतः ज्ञप्ति रूप फल प्रमाण से ज्ञात नहीं है अपितु प्रमाण से उत्पन्न है । उस प्रमाण से वस्तु के ज्ञात हो जाने से आकांक्षा की निवृत्ति हो जाती है । जब तक फल प्राप्त नहीं होता है तब तक प्रमाण से जानने की आकांक्षा बनी रहती है । परन्तु ज्ञप्ति रूप फल की प्राप्ति हो जाने पर

वार्तं तस्य तत्कारकत्वात्। प्रमाणत्वात्तस्य ज्ञापकं तदित्यप्यसारं साधकतमस्य कारकविशेषस्य प्रमाणत्ववचनात्। न हि विशेषणज्ञानं प्रमाणं विशेष्यज्ञानं तत्फलमित्यभिधानस्तत्तस्य ज्ञापकमिति मन्यते। किं तर्हि? विशेष्यज्ञानोत्पत्तिसामग्रीत्वेन विशेषणज्ञानं प्रमाणमिति। तथा मन्यमानस्य च कानवस्था नामेति। तदेतदपि नातिविचारसहं। एकात्मसमवेतानंतरज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानमिति सिद्धान्तविरोधात्। यथैव हि विशेषणार्थज्ञानं पूर्वं प्रमाणफलं प्रतिपत्तुराकांक्षानिवृत्तिहेतुत्वान्न ज्ञानानंतरमपेक्षते तथा विशेष्यार्थज्ञानमपि विशेषणज्ञानफलत्वात्तस्य। यदि पुनर्विशेषणविशेष्यार्थज्ञानस्य स्वरूपापरिच्छेदकत्वात्स्वात्मनि क्रियाविरोधादपरज्ञानेन वेद्यमानतेष्टा

ज्ञाने की अभिलाषा दूर हो जाती है। इसलिये नहीं जाना हुआ भी फल रूप विशेषण ज्ञान अपने विशेष्य के ज्ञान का ज्ञापक हेतु हो जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिक के द्वारा इस प्रकार विशेषण ज्ञान का कथन करना कोरी बकवास है। क्योंकि नैयायिक दर्शन में विशेषण के ज्ञान को विशेष्य ज्ञान का कारक हेतु माना है। (और अब उसे ज्ञापक हेतु मान रहे हैं।)

प्रमाणत्व होने से विशेषण का ज्ञान ज्ञापक है। यद्यपि विशेषण के साथ होने वाले इन्द्रियों के सन्निकर्ष रूप प्रमाण का फल है और वह विशेष्य की ज्ञप्ति का कारण भी है। अतः वह विशेषण ज्ञान प्रमाण हो जाने के कारण विशेष्य का ज्ञापक हेतु हो जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि यह भी नैयायिक का कथन निस्सार है। क्योंकि 'साधकतम कारक विशेष के ही प्रमाणपना है।' ऐसा कहा गया है।

नैयायिक कहता है कि विशेषण के ज्ञान को प्रमाण और विशेष्य के ज्ञान को उसका फल कहने वाले नैयायिक 'विशेषण ज्ञान विशेष्य का ज्ञापक है' ऐसा नहीं मानते हैं। शंका- तो नैयायिक क्या मानते हैं? समाधान- विशेष्य ज्ञान की उत्पत्ति में सामग्री रूप (सहकारी कारण) होने से विशेषण ज्ञान प्रमाण है, इस प्रकार मानने वाले नैयायिकों के अनवस्था दोष कैसे आ सकता है? जैनाचार्य कहते हैं कि- इस प्रकार नैयायिकों का कथन परीक्षा रूप विचारों को सहन करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि नैयायिकों के सिद्धान्त में "एक आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला घट आदि पदार्थों का ज्ञान अव्यवहित द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हो जाता है" इस कथन के द्वारा विरोध आता है।

जैसे ही विशेषण रूप अर्थ का ज्ञान पूर्व विशेषण और इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप प्रमाण का फल हो चुका है, वह ज्ञाता की अभिलाषाओं की निवृत्ति का हेतु हो जाने से दूसरे ज्ञानों की अपेक्षा नहीं करता है। वैसे ही विशेष्य रूप अर्थ का ज्ञान भी उस विशेषण ज्ञान रूप प्रमाण का फल हो जाने से अपने जानने में दूसरे ज्ञानों की अपेक्षा नहीं करेगा। ऐसा मानने पर अनवस्था दोष तो नहीं आता है। परन्तु नैयायिक सिद्धान्त में ऐसा माना नहीं है, उनके मत में पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञान के द्वारा अवश्य जाना जाता है। ज्ञान स्वसंवेद्य नहीं है। तब अनवस्था दोष दूर कैसे हो सकता है?

यदि फिर भी नैयायिक कहेंगे कि विशेषण रूप अर्थ और विशेष्य रूप अर्थ ज्ञान के स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से स्वरूप-परिच्छेदकत्व का अभाव है अर्थात् विशेषण रूप अर्थ और विशेष्यरूप अर्थ का ज्ञान अपने स्वरूप का ज्ञापक नहीं है- क्योंकि स्व में स्व की क्रिया नहीं होती। जैसे कैसी भी नटकिया में चतुर मानव अपने कन्धे पर चढ़कर नृत्य नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान को अन्य ज्ञान के द्वारा वेद्य मानना इष्ट है।

तदा तदपि तद्वेदकं ज्ञानमपरेण ज्ञानेन वेद्यमिष्यतामित्यनवस्था दुःपरिहारा। नन्वर्थज्ञानपरिच्छेदे तदनंतरज्ञानेन व्यवहर्तुराकांक्षाक्षयादर्थज्ञानपरिच्छिन्नये न ज्ञानान्तरापेक्षास्ति, तदाकांक्षया वा तदिष्यत एव। यस्य यत्राकांक्षाक्षयस्तत्र तस्य ज्ञानान्तरापेक्षानिवृत्तेस्तथा व्यवहारदर्शनात्ततो नानवस्थेति चेत्, तर्ह्यर्थज्ञानेनार्थस्य परिच्छिन्नौ कस्यचिदाकांक्षाक्षयात्तज्ज्ञानापेक्षाऽपि माभूत्। तथेष्यत एवेति चेत्, परोक्षज्ञानवादी कथं भवता अतिशय्यते? ज्ञानस्य कस्यचित् प्रत्यक्षत्वोपगमादितिचेत्, यस्याप्रत्यक्षतोपगमस्तेन परिच्छिन्नोऽर्थः कथं प्रत्यक्षः? संतानान्तरज्ञानपरिच्छिन्नार्थवत्। प्रत्यक्षतया प्रतीतेरिति चेत्, तर्ह्यप्रत्यक्षज्ञानवादिनोऽपि तत् एवार्थः प्रत्यक्षोऽस्तु। तथा चानर्थिका सर्वज्ञज्ञानस्य

जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आता है। क्योंकि पूर्व ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है और उसको जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है, इस प्रकार अनवस्था दोष का परिहार दुर्निवार होगा, दुःशक्य होगा। (अतः ज्ञान स्व को जानता है इसमें कोई विरोध नहीं है)।

शंका- पूर्व अर्थज्ञान को जानने में उपयोगी उसके अव्यवहित उत्तरवर्ती दूसरे ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। उस दूसरे ज्ञान से ही ज्ञाता के व्यवहार (व्यापार) की अभिलाषाओं का क्षय हो जाता है। (जानने की आकांक्षायें समाप्त हो जाती हैं) इसलिए अर्थज्ञान को जानने के लिये ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। यदि कोई दूसरे, कोई तीसरे, चौथे ज्ञान की इच्छा करेगा तो उसके दूसरे आदि ज्ञान का उत्पन्न होना इष्ट ही है। जिस व्यक्ति की आकांक्षा की जहाँ निवृत्ति हो जाती है, (आकांक्षा क्षय हो जाती है) वहाँ उसके ज्ञानान्तर अपेक्षा की निवृत्ति हो जाती है। और वैसा व्यवहार भी देखा जाता है। इसलिए अनवस्था दोष नहीं आता है। समाधानः जैनाचार्य कहते हैं कि अर्थज्ञान के द्वारा अर्थ की परिच्छिन्ति हो जाने पर (ज्ञप्ति हो जाने पर) किसी की आकांक्षा क्षय हो जाने से पूर्वज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

नैयायिक कहते हैं कि यह हमको इष्ट है कि जानने की आकांक्षा शांत हो जाने पर दूसरे ज्ञान का प्रश्न नहीं उठाया जाता है अर्थात् यदि पूर्वज्ञान ही घट को जान लेता है, भविष्य में घट ज्ञान को जानने के लिए अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि आपके द्वारा ऐसा मानने पर परोक्ष ज्ञानवादी का उल्लंघन कैसे किया जाता है। अर्थात् परोक्ष ज्ञानवादी परोक्ष ज्ञान के द्वारा ही घट आदि का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं। यदि किसी को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है तब ज्ञानजन्य ज्ञातता से ज्ञान का अनुमान करना मीमांसक इष्ट करते हैं। अतः मीमांसक और नैयायिक मत में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

नैयायिक कहते हैं कि हमारे सिद्धान्त में किसी ज्ञान को प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं- अर्थात् हम किसी-किसी ज्ञान का दूसरे ज्ञानों से प्रत्यक्ष होना मान लेते हैं परन्तु मीमांसक तो किसी भी ज्ञान को प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहते हो तो जिस ज्ञान को अप्रत्यक्ष स्वीकार किया है उस ज्ञान के द्वारा परिच्छिन्न (ज्ञात) पदार्थ प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? जैसे संतानान्तर के द्वारा परिच्छिन्न (ज्ञात) पदार्थ दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जाना गया पदार्थ प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है- अर्थात् नहीं हो सकता।

ज्ञानांतरप्रत्यक्षत्वकल्पना । यत्र यथा प्रतीतिस्तत्र तथेष्टिर्न पुनरप्रतीतिकं किञ्चित्कल्प्यत इति चेत्, स्वार्थसंवेदकताप्रतीतितो ज्ञानस्य तथेष्टिरस्तु । ज्ञाने स्वसंवेदकताप्रतीतेः स्वात्मनि क्रियाविरोधेन बाधितत्वात् तथेष्टिरिति चेत् । का पुनः स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा परिस्पंदरूपा धात्वर्थरूपा वा ? प्रथमपक्षे तस्या द्रव्यवृत्तित्वेन ज्ञाने तदभावात् । धात्वर्थरूपा तु न विरुद्धैव भवति तिष्ठतीत्यादिक्रियायाः स्वात्मनि प्रतीतेः । कथमन्यथा भवत्याकाशं, तिष्ठति मेरुरित्यादि व्यवहारः

यदि अप्रत्यक्ष ज्ञान से पदार्थ का प्रत्यक्ष होना प्रतीत होता है- ऐसा मानते हो तो अप्रत्यक्ष ज्ञानवादी मीमांसकों के भी अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा पदार्थ का प्रत्यक्ष करना सिद्ध हो जायँगा । तथा सर्वज्ञ के ज्ञान को अन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष करने की कल्पना करना भी व्यर्थ है ।

नैयायिक कहता है कि जहाँ जैसी प्रतीति होती है वहाँ वैसा इष्ट कर लिया जाता है- (वैसा ही कथन कर दिया जाता है) परन्तु जो कभी प्रतीति में नहीं आता है, ऐसे किसी भी पदार्थ की कल्पना नहीं की जाती है । इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञान के द्वारा स्व और पर पदार्थों की प्रतीति (ज्ञान) हो रही है । अर्थात् ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है- यह अनुभव में आ रहा है । अतः प्रतीति के अनुसार ज्ञान को स्व और पर पदार्थों का ज्ञाता मानना चाहिए । स्व को जानने के लिए व्यर्थ में दूसरे ज्ञान की कल्पना क्यों की जा रही है ?

अपनी आत्मा में क्रिया का विरोध होने से (ज्ञानस्वरूप आत्मा में जाननारूप क्रिया का विरोध होने से) ज्ञान में स्वसंवेदकता की प्रतीति बाधित हो जाती है । अर्थात् ज्ञान में स्व को जानने की क्रिया होने का विरोध है । इसलिए ज्ञान में स्व को वेदक मानने की प्रतीति में बाधा उपस्थित होने से 'ज्ञान स्वपर प्रकाशक है' यह इष्ट नहीं है । ज्ञान पर पदार्थों को ही जानता है, स्व को नहीं जानता है । इसलिए स्व को जानने के लिए ज्ञानान्तर की आवश्यकता होती है ।

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि- स्वात्मा में कौन सी क्रिया का विरोध है अर्थात् कौन सी क्रियायें आत्मा में रहने का विरोध करती हैं ? परिस्पन्दन रूप या धातु रूप या अर्थ रूप क्रिया ? (असिज्ञाने तदभावात्- यह पाठ मूल प्रति में है- उसका अर्थ है तलवार के ज्ञान में असिक्रिया का अभाव है ।)

धातु अर्थक्रिया (पढ़ना-लिखना आदि) और हलन-चलन आदि रूप के भेद से क्रिया दो प्रकार की हैं । उनमें हलन-चलन रूप क्रिया अपने स्वरूप में रहने का विरोध करती है ? अथवा धातु अर्थक्रिया अपने स्वरूप में (अपने आप में) नहीं रहती है यदि प्रथम पक्ष के अनुसार हलन-चलन रूप क्रिया स्व में नहीं होती है, ऐसा मानते हैं तो ठीक ही है- क्योंकि हलन-चलन रूप क्रिया नैयायिक मतानुसार द्रव्य में रहती है- ज्ञान में उसकी सत्ता का ही अभाव है । द्वितीय पक्ष धातु अर्थक्रिया विरुद्ध नहीं है- क्योंकि धातु अर्थक्रिया अपने में रहती है । जैसे वह ठहरा हुआ है । देवदत्त जाग रहा है । वायु बह रही है ; इत्यादि धातु अर्थक्रियाओं की स्वात्मा में प्रतीति हो रही है । अन्यथा (यदि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है तो) आकाश है, मेरु ठहरा है, वायु बह रही है, मैं सो रहा हूँ- इत्यादि व्यवहार कैसे सिद्ध हो सकता है ! वस्तुतः क्रिया और क्रियावान में अभेद है । ठहरना आदि क्रिया स्वयं क्रियावान में पायी जाती है । अतः विरोध नहीं है ।

सिद्ध्येत्? सकर्मिका धात्वर्थरूपापि विरुद्धा स्वात्मनीति चेत्, तर्हि ज्ञानं प्रकाशते चकास्तीति क्रिया न स्वात्मनि विरुद्धा? ज्ञानमात्मानं जानातीति सकर्मिका तत्र विरुद्धेति चेन्न, आत्मानं हंतीत्यादेरपि विरोधानुषंगत्। कर्तृस्वरूपस्य कर्मत्वेनोपचारात्तत्र पारमार्थिकं कर्मेति चेत्, समानमन्यत्र। ज्ञाने कर्तरि स्वरूपस्यैव ज्ञानक्रियायाः कर्मतयोपचारात्। तात्त्विकमेव ज्ञाने कर्मत्वं प्रमेयत्वात्तस्येति चेत् तद्यदि सर्वथा कर्तुरभिन्नं तदा विरोधः, सर्वथा भिन्नं चेत्कथं तत्र ज्ञानस्य

शयन, भू आदि अकर्मकक्रिया का अपने आप में होने का विरोध नहीं है- परन्तु सकर्मक धातु अर्थक्रिया का तो स्व में क्रिया करने का विरोध है ही? क्योंकि सकर्मक धातु अर्थक्रिया में कर्ता भिन्न है और क्रिया भिन्न है। अतः सकर्मक क्रिया अपने आप में नहीं रहती है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो प्रकाशन और प्रतिभासन क्रिया अकर्मक हैं- अतः ज्ञान प्रकाशित हो रहा है, देदीप्यमान हो रहा है। इस प्रकार 'चकास्ति' क्रिया का अपनी आत्मा में रहने का कोई विरोध नहीं है।

ज्ञान आत्मा को (अपने आपको) जानता है, इस प्रकार सकर्मक 'ज्ञा' धातु की क्रिया का तो ज्ञान में रहने का विरोध ही है? ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि- 'वह अपने को मारता है, अपना घात करता है। द्रव्य अपने में त्रिकाल विद्यमान रहता है', इत्यादि क्रियाओं के भी स्वात्मनि-क्रिया के विरोध का प्रसंग आयेगा। (परन्तु लौकिक दृष्टि में अपना घात करना आदि क्रियाएँ स्वात्मा में देखी जाती हैं।)

यज्ञदत्त अपना घात करता है- अपने को जीवित रखता है- इसमें वास्तव में यज्ञदत्त कर्म रूप नहीं है अपितु कर्ता स्वरूप यज्ञदत्त को कर्म कह दिया जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो अन्यत्र (ज्ञान में) भी समान है। अर्थात् ज्ञान अपने को जानता है- इसमें भी कर्ता को उपचार से कर्म कह दिया जाता है। ज्ञान रूप कर्ता में स्वरूप (अपने) को ही ज्ञानक्रिया का कर्मत्व रूप से उपचार कर लिया जाता है। वास्तव में, ज्ञान मुख्य रूप से अपने को ही जानता है, पर पदार्थों को उपचार से जानता है।

नैयायिक कहता है- ज्ञान में कर्मत्व वास्तविक है- क्योंकि ज्ञान प्रमिति रूप क्रिया का कर्म है। तभी तो ज्ञान स्वयं अपना प्रमेय हो सकता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो वह ज्ञान का कर्मत्व यदि कर्ता से सर्वथा अभिन्न है- तब तो नैयायिक मत से विरोध आता है- क्योंकि नैयायिक एक ही पदार्थ में कर्तृत्व और कर्मत्व को नहीं मानता है।

यदि कर्म को कर्ता से सर्वथा भिन्न मानते हैं तो ज्ञान की जानना रूप क्रिया स्वात्मा में कैसे होती है जिससे कि स्वात्मा में क्रिया होने का विरोध हो सके। अन्यथा 'चटाई बना रहा है' यह क्रिया भी चटाई बनाने वाले की स्वात्मा में कैसे नहीं रहेगी? जिससे कि विरोध न हो सके। भावार्थ- सर्वथा भेदपक्ष में तो पद-पद पर क्रिया का विरोध होगा। कोई भी कार्य नहीं हो सकेगा। एकान्त भेद पक्ष में यह इस क्रिया को करता है, ऐसा व्यवहार भी नहीं हो सकेगा।

जानातीति क्रिया स्वात्मनि स्याद्येन विरुध्येत। कथमन्यथा कटं करोतीति क्रियाऽपि कटकारस्य स्वात्मनि न स्याद्यतो न विरुध्यते। कर्तुः कर्मत्वं कथंचिद्विन्नमित्येतस्मिन्स्तु दर्शने ज्ञानस्यात्मनो वा स्वात्मनि क्रिया दूरोत्सारितैवेति न विरुद्धतामधिवसति। ततो ज्ञानस्य स्वसंवेदकताप्रतीतेः स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधकः प्रत्यस्तमितबाधकप्रतीत्यास्पदं चार्थसंवेदकत्ववत्स्वसंवेदकत्वं ज्ञानस्य परीक्षकैरेष्टव्यमेव। प्रतीत्यननुसरणेऽनवस्थानस्य स्वमतविरोधस्य वा परिहर्तुमशक्तेः। ततो न जडात्मवादिनां ज्ञानवानहमिति प्रत्ययो ज्ञाताहमिति प्रत्ययवत् पुरुषस्य ज्ञानविशिष्टस्य ग्राहकः।

किं चाहंप्रत्ययस्यास्य पुरुषो गोचरो यदि।

तदा कर्ता स एव स्यात् कथं नान्यस्य संभवः ॥२०५॥

कथंचित् कर्ता से कर्मपना भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है इस स्याद्वाद दर्शन में तो ज्ञान का या आत्मा का अपनी आत्मा में क्रिया करना दूर फेंक दिया गया ही है। अर्थात् ज्ञान अपने को जानता है, संवेद्य, संवेदक और संविति इन तीनों अंशों के पिण्ड को ज्ञान माना है। ज्ञान संवेद्य (कर्म), संवेदक (कर्ता) और संविति (क्रिया) इन तीनों का समुदाय है। इसमें कोई विरोध नहीं है। इसमें स्वात्म क्रिया में विरुद्धता नहीं आ सकती। इसलिए ज्ञान की स्वसंवेदकता की प्रतीति होने से 'अपनी आत्मा में अपनी क्रिया का होना विरुद्ध है। इस बाधक दोष का' निराकरण कर दिया गया है। अर्थात् स्व में क्रिया होने की निर्बाध प्रतीति के अनुसार दोष स्वयं बाधित हो जाते हैं। अथवा जो बाधक स्वयं बाध्य होने का स्थान है, वह प्रतीतिप्रसिद्ध विषयों में बाधा नहीं दे सकता। इसलिए परीक्षकों को (विचारशील पुरुषों को) ज्ञान के अर्थसंवेदकत्व (अर्थ को जानने) के समान स्वसंवेदकत्व (स्व को जानना) भी स्वीकार करना चाहिए। अतः ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है।

आत्मा प्रमाता प्रमाण प्रमेय और प्रमिति चारों रूप है

प्रमाण प्रसिद्ध प्रतीति के अनुसार नहीं चलने वाले और अवसर के अनुसार मत को पलट देने वाले (अर्थात् कभी कुछ कहने वाले, कभी और कुछ कहने वाले) नैयायिक के स्वमत के विरोध का परिहार करना अशक्य होगा। अर्थात् कर्ता और कर्म के सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद पक्ष को स्वीकार करने पर नैयायिकों के अपने मत का विरोध वा अनवस्था दोष तथा अपसिद्धान्त इन दोषों का परिहार करना कठिन होगा। (अपने सिद्धान्त के घातक कथन को अपसिद्धान्त कहते हैं।) इसलिये ज्ञान से सर्वथा भिन्न जड़ स्वरूप आत्मा को मानने वाले नैयायिकों के "मैं ज्ञानवान हूँ" इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। जैसे 'मैं ज्ञाता हूँ' ज्ञानविशिष्ट आत्मा की ग्राहक नहीं है। अर्थात् आत्मा से भिन्न स्थित ज्ञान समवाय सम्बन्ध से 'मैं ज्ञाता हूँ' वा ज्ञानवान हूँ इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न नहीं करा सकता और न वह प्रतीति आकाश आदि जड़ पदार्थों से भिन्न ज्ञान विशिष्ट आत्मा की ग्राहक (ग्रहण करने वाली) हो सकती है।

अथवा- 'अहं' मैं, मैं इस प्रतीति का विषय यदि पुरुष है (आत्मा है) तो इस प्रतीति का कर्ता आत्मा कैसे होगा? वह तो प्रतीति (ज्ञान) का विषय होने से प्रमेय (कर्म) होगा। अतः दूसरे कर्ता की संभवता कैसे नहीं होगी? अर्थात् नैयायिक दर्शन में एक पदार्थ कर्ता (प्रमाता) और कर्म (प्रमेय) दोनों नहीं हो सकता। अतः प्रतीति का विषय आत्मा ही प्रमेय और आत्मा ही ज्ञाता सिद्ध कैसे हो सकता है और आत्मा का ज्ञाता अन्य संभव नहीं है ॥२०५॥

कक्षास्याहंप्रत्ययस्य विषय इति विचार्यते। पुरुषश्चेत् प्रमेयः प्रमाता न स्यात्। न हि स एव प्रमेयः, स एव प्रमाता, सकृदेकस्यैकज्ञानापेक्षया कर्मत्वकर्तृत्वयोर्विरोधात्। ततोऽन्यः कर्तेति चेन्न, एकत्र शरीरे अनेकात्मानभ्युपगमात्। तस्याप्यहंप्रत्ययविषयत्वेऽपरकर्तृपरिकल्पनानुषंगान्नवस्थानादेकात्मज्ञानापेक्षायामात्मनः प्रमातृत्वानुपपत्तेश्च नान्यः कर्ता संभवति यतो न विरोधः।

स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वमात्मनः।

प्रमेयत्वमपि स्वस्य प्रमितिश्चेयमागता ॥२०६॥

यथा घटादौ प्रमितेरुत्पत्तिस्तत्प्रमातृत्वं पुरुषस्य, तथा स्वस्मिन्नेव तदुत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वं, यथा च घटादेः प्रमितौ प्रमेयत्वं तस्यैव, तथात्मनः परिच्छिन्नौ स्वस्यैव प्रमेयत्वम्, यथा घटादेः

‘अहं’ प्रत्यय को जानने वाले इस ज्ञान का विषय क्या है? इसका विचार करते हैं। यदि आत्मा ‘अहं’ का अनुभव करने वाले ज्ञान का विषय है तो वह आत्मा प्रमेय (जानने योग्य कर्म) हो जाता है, प्रमाता (जानने वाला कर्ता) नहीं हो सकता। नैयायिक मत में एक समय एक ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा के प्रमिति क्रिया का कर्मपना (प्रमेय) और कर्तापना (प्रमाता) का विरोध होने से आत्मा ही कर्म (प्रमेय) और आत्मा ही कर्ता (ज्ञाता) नहीं हो सकता है। क्योंकि नैयायिक मतानुसार प्रमाण, प्रमिति, प्रमाता और प्रमेय ये चार भिन्न-भिन्न तत्त्व माने गये हैं।

प्रमाता आदि भिन्न-भिन्न तत्त्व होने से प्रमाता (ज्ञाता) रूप कर्ता भिन्न ही है- ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि नैयायिकों ने एक शरीर में अनेक आत्माएँ स्वीकार नहीं की हैं। यदि एक शरीर में दूसरी आत्मा मानेंगे तो उस आत्मा के भी ‘अहं’ इस प्रत्यय का विषय होने से प्रमेयपना प्राप्त होगा- अर्थात् वह आत्मा भी अहं प्रत्यय का विषय होने से प्रमेय होगा- प्रमाता नहीं। उस दूसरे प्रमाता रूप आत्मा को जानने वाले दूसरे कर्तारूप आत्मा की कल्पना का प्रसंग आने से अनवस्था दोष आयेगा। जिस समय आत्मा को स्वयं जान रहा है, उस एक आत्मा के अपने ज्ञान की अपेक्षा से प्रमाता पन की उत्पत्ति नहीं हो सकती (उस समय आत्मा ज्ञाता नहीं हो सकता) उस समय वह प्रमेय है। दूसरा कर्ता वहाँ संभव नहीं है, जो कर्ता हो जाये और विरोध न हो। अर्थात्- एक आत्मा में कर्तृत्व और कर्मत्व का परस्पर विरोध है। यह दोष नैयायिकों के बना ही रहेगा।

कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानने वाले स्याद्वाद दर्शन में स्वकीय आत्मा में ही अपनी प्रमिति-उत्पत्ति होती है। अतः आत्मा स्वयं प्रमाण है। स्वयं अपनी प्रमिति रूप क्रिया का करने वाला होने से आत्मा के कर्तापना भी है। स्वयं अपने द्वारा जानने योग्य होने से आत्मा के प्रमेयपना भी है। तथा जानने रूप क्रिया आत्मा में ही होती है- अतः आत्मा प्रमिति रूप भी है। अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मा- प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति चारों रूप है ॥२०६॥

जैसे घटादिक का विषय करने वाली प्रमिति का उत्पन्न हो जाना ही आत्मा का प्रमातृत्व है, उसी प्रकार अपने आप में ही अपनी प्रमिति का उत्पन्न हो जाना आत्मा का अपना प्रमातापना है। अर्थात् जैसे आत्मा घटादि

परिच्छित्तिस्तस्यैव प्रमितिस्तथात्मनः परिच्छित्तिः स्वप्रमितिः प्रतीतिबलादागता परिहर्तुमशक्या ।

तथा चैकस्य नानात्वं विरुद्धमपि सिद्ध्यति ।

न चतस्रो विधास्तेषां प्रमात्रादिप्ररूपणात् ॥२०७॥

प्रमात्रादिप्रकाराश्रित्वारोऽप्यात्मनो भिन्नास्ततो नैकस्यानेकात्मकत्वं विरुद्धमपि सिद्ध्यतीति चेत् न, तस्य प्रकारांतरत्वप्रसंगात् । कर्तृत्वादात्मनः प्रमातृत्वेन व्यवस्थानात् न प्रकारांतरत्वमिति चेत् । केयं कर्तृता नामात्मनः ?

प्रमितेः समवायित्वमात्मनः कर्तृता यदि ।

तदा नास्य प्रमेयत्वं तन्निमित्तत्वहानितः ॥२०८॥

प्रमाणसहकारी हि प्रमेयोऽर्थः प्रमां प्रति ।

निमित्तकारणं प्रोक्तो नात्मैवं स्वप्रमां प्रति ॥२०९॥

पर पदार्थों को जानता है अतः परपदार्थों का ज्ञाता है- और उसी प्रकार अपने को भी जानता है इसलिये स्व का ज्ञाता भी है । जैसे घटादिक की प्रमिति में घटादिक के प्रमेयत्व है- उसी प्रकार आत्मा की परिच्छित्ति के समय आत्मा में भी प्रमेयत्व हो जाता है । जैसे घटादिक की परिच्छित्ति (जानना रूप क्रिया) उस घटादिक प्रमिति आत्मा में है, उसी प्रकार अपने को जानने रूप क्रिया की प्रमिति आत्मा में है- अतः आत्मा प्रमिति रूप भी है । अर्थात् आत्मा की ज्ञप्ति ही आत्मा की प्रमिति है । इस प्रकार की प्रतीति भी होती है । अतः प्रतीति के बल से आगत (सिद्ध) एक ही आत्मा में प्रमाणपन, प्रमातापन, प्रमेयत्व और प्रमिति का परिहार करना शक्य नहीं है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से ये चारों एक आत्मा में स्थित रहते हैं ।

तथा एक आत्मा के विरुद्ध भी नानापना सिद्ध हो जाता है । अतः उनका प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेय इन चार तत्त्व रूप से भेदकथन नहीं करना चाहिए । अर्थात् ये सर्वथा वास्तव रूप में, भिन्न-भिन्न नहीं हैं ॥२०७॥

प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेय ये चारों आत्मा से भिन्न-भिन्न हैं । अतः एक आत्मा में विरुद्ध अनेकात्मकत्व सिद्ध नहीं होता है- ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा के प्रकारान्तरत्व का प्रसंग आयेगा । अर्थात् जब आत्मा प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति इन चारों रूप नहीं है, तो उसको न्याया ही पाँचवाँ तत्त्व मानना पड़ेगा ।

आत्मा कर्त्ता है अतः प्रमाता रूप से व्यवस्थित होने से उसके प्रकारान्तर का प्रसंग नहीं आता है । अर्थात् कर्त्ता होने से आत्मा प्रमाता है- नैयायिक के ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि आत्मा के उस कर्त्तापने का स्वरूप क्या है ?

यदि प्रमिति के समवाय सम्बन्ध से आत्मा के कर्त्तापन मानते हैं तो इस आत्मा के प्रमेयत्व नहीं हो सकता । क्योंकि तब निमित्त कारण का अभाव हो जाता है । प्रमिति क्रिया के प्रति जो अर्थ प्रमाण का सहकारी कारण होता है- उसको प्रमेय कहते हैं । परन्तु इस प्रकार नैयायिकों ने अपनी प्रमिति क्रिया के प्रति आत्मा को निमित्त कारण नहीं कहा है अतः नैयायिक के मतानुसार आत्मा प्रमेय कैसे हो सकता है ? ॥२०८-२०९॥

प्रमीयमाणो ह्यर्थः प्रमेयः प्रमाणसहकारी प्रमित्युत्पत्तिं प्रति निमित्तकारणत्वादिति ब्रुवाणः कथमात्मनः स्वप्रमितिं प्रति समवायिनः प्रमातृतामात्मसात् कुर्वतः प्रमेयत्वमाचक्षीत विरोधात् । न चात्मा स्वप्रमां प्रति निमित्तकारणं समवायिकारणत्वोपगमात् । यदि पुनरात्मनः स्वप्रमितिं प्रति समवायित्वं निमित्तकारणत्वं चेष्यतेऽर्थप्रमितिं प्रति समवायिकारणत्वमेव तदा साधकतमत्वमप्यस्तु । तथा च स एव प्रमाता, स एव प्रमेयः स एव च प्रमाणमिति कुतः प्रमातृप्रमेयप्रमाणानां प्रकारांतरता नावतिष्ठेत्? कर्तृकारकात् करणस्य भेदान्नात्मनः प्रमाणत्वमिति चेत्, कर्मकारकं कर्तुः किमभिन्नं यतस्तस्य प्रमेयत्वमिति नात्मा स्वयं प्रमेयः ।

नरांतरप्रमेयत्वमनेनास्य निवारितम् ।

तस्यापि स्वप्रमेयत्वेऽन्यप्रमातृत्वकल्पनात् ॥२१०॥

बाध्या केनानवस्था स्यात्स्वप्रमातृत्वकल्पने ।

यथोक्ताशेषदोषानुषंगः केन निवार्यते ॥२११॥

प्रमाण के द्वारा जानने योग्य द्रव्य प्रमेय कहलाता है। वह द्रव्य प्रमिति (जानन क्रिया) की उत्पत्ति का निमित्त कारण होने से प्रमाण का सहकारी कारण है। इस प्रकार कहने वाले नैयायिक आत्मा को प्रमेय कैसे कह सकते हैं। क्योंकि अपनी प्रमिति के प्रति समवायी कारण स्वीकार करने से प्रमातापने को आत्मसात करने वाले आत्मा के प्रमेयत्व कैसे कह सकते हैं? क्योंकि इसमें विरोध आता है। तथा समवायीकारण होने से आत्मा स्वप्रमिति के निमित्त कारण नहीं है।

यदि पुनः “आत्मा अपनी प्रमिति के प्रति समवायी कारण और निमित्त भी है तथा अन्य घट पटादि पदार्थों की प्रमिति के प्रति समवायी कारण ही है,” ऐसा मानते हो तो आत्मा प्रमिति के प्रति साधकतम भी होता है- अतः आत्मा प्रमाता है, प्रमाण के द्वारा जानने योग्य है, इसलिये वह आत्मा प्रमेय भी है। वह आत्मा प्रमाण भी है- इस प्रकार प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण में तत्त्वभेद नहीं होने से प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय के प्रकारान्तर कैसे रह सकता है। अर्थात् तीनों में कथंचित् अभेद है।

कर्तृ कारक से करण कारक का सर्वथा भेद होने से आत्मा के प्रमाणत्व नहीं हो सकता- ऐसा कहने पर तो नैयायिक मत में कर्ता से कर्मकारक क्या अभिन्न है? जिससे उस आत्मा के प्रमेयत्व सिद्ध है। परन्तु आत्मा स्वयमेव प्रमेय नहीं हो सकता है।

इस कथन से आत्मा के अन्य आत्मानन्तर से प्रमेयत्व होता है अर्थात् आत्मा स्वयं को नहीं जानता है- दूसरे प्रमाताओं के द्वारा जाना जाता है, इसका भी खण्डन कर दिया गया है। क्योंकि उस अन्य आत्मा को भी स्व को प्रमेय करने में अन्य प्रमाता की कल्पना करनी पड़ेगी। और उसको जानने के लिये दूसरे प्रमाता की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः अनवस्था दोष का निवारण कैसे हो सकता है।

आत्मा स्वयं प्रमाता है और स्वयं प्रमेय भी है, ऐसा मानने पर भी उपर्युक्त सम्पूर्ण दोषों के प्रसंग का कौन निवारण कर सकता है। अर्थात् स्याद्वाद मत से अतिरिक्त सर्वथा एकान्तवादी के एक ही आत्मा में प्रमाता और प्रमेय की व्यवस्था नहीं हो सकती ॥२१०-२११॥

विवक्षितात्मा आत्मान्तरस्य यदि प्रमेयस्तदास्य स्वात्मा किमप्रमेयः प्रमेयो वा? अप्रमेयश्चेत् तर्हात्मान्तरस्य प्रमेय इति पर्यनुयोगस्यापरिनिष्ठानादनवस्था केन बाध्यते? प्रमेयश्चेत् स एव प्रमाता स एव प्रमेय इत्यायातमेकस्थानेकत्वं विरुद्धमपि परमतसाधनं, तद्वत् स एव प्रमाणं स्यात् साधकतमत्वोपपत्तेरिति पूर्वोक्तमरिवत्लं दूषणमशक्यनिवारणम्।

स्वसंवेद्ये नरे नायं दोषोऽनेकांतवादिनाम्।

नानाशक्त्यात्मनस्तस्य कर्तृत्वाद्यविरोधतः ॥२१२॥

परिच्छेदकशक्त्या हि प्रमातात्मा प्रतीयते।

प्रमेयश्च परिच्छेदकशक्त्याकांक्षाक्षयात्स्थितिः ॥२१३॥

ननु स्वसंवेद्योऽप्यात्मनि प्रमातृत्वशक्तिः प्रमेयत्वशक्तिश्च स्वयं परिच्छेदकशक्त्यान्यथा

यदि विवक्षित आत्मा आत्मान्तर (दूसरी आत्मा) के द्वारा प्रमेय है (जानने योग्य है) तो उस अन्य ज्ञाता की स्व आत्मा अप्रमेय है कि प्रमेय है? यदि स्वयं अप्रमेय है तो वह दूसरी आत्मा के द्वारा प्रमेय (जानने योग्य) होगी। वह आत्मा दूसरे के द्वारा जानी जायेगी। इस प्रकार प्रश्न की समाप्ति न होने से अनवस्था दोष किसके द्वारा बाधित हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

यदि आत्मा स्वयं के द्वारा जानने योग्य होने से स्वयं प्रमेय भी है, ऐसा मानते हो तो- वह आत्मा स्वयं प्रमाता भी है- प्रमेय भी है, यह सिद्ध होता है। इसलिए एक के भी अनेकत्व विरुद्ध होते हुए भी प्रतीति के बल से सिद्ध होता है। और यही परमत (जैनमत) की सिद्धि है। तथा आत्मा प्रमाता और प्रमेय के समान स्वकीय प्रमिति का साधकतम कारण होने से प्रमाण भी है। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त में वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है। एकान्तवादी नैयायिक आदि के सिद्धान्त में अनवस्था आदि दोषों का निवारण करना शक्य नहीं है।

आत्मा को स्वसंवेद्य मान लेने पर अनेकान्तवादियों के दर्शन में अनवस्था आदि दोष नहीं आते हैं। क्योंकि आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप अनेक तादात्म्यक शक्तियों का पिण्ड है। अतः उस आत्मा के कर्तृत्वादि (कर्तापना, ज्ञातापना, ज्ञेयपना, प्रमाणपना) के मानने में विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मा अपनी परिच्छेदक (ज्ञातृत्व) शक्ति के द्वारा स्वतंत्र रूप से पदार्थों को जानता है, अतः प्रमाता प्रतीत होता है। वह परिच्छेदक शक्ति के द्वारा, स्व और पर के द्वारा जानने योग्य भी है अतः प्रमेय भी है। (अपने सम्यग्ज्ञान परिणामों के द्वारा स्व-पर पदार्थों को जानता है, अतः प्रमाण भी है।)

स्याद्वाद मत में दोष-परिहार

स्याद्वाद सिद्धान्त में इस कथन से आकांक्षाओं का क्षय हो जाने से अनवस्था दोष भी नहीं आता है। अर्थात् अभ्यासदशा में ज्ञान स्वयं प्रमाण हो जाता है- अतः जानने की आकांक्षा शांत हो जाती है ॥२१२-२१३॥

शंका- स्वसंवेद्य (अपने द्वारा जानने योग्य) भी आत्मा में स्वयं प्रमातृ शक्ति और प्रमेय शक्ति हैं। ये दोनों शक्तियाँ किसी दूसरी परिच्छेदक शक्ति के द्वारा परिच्छेद्य हैं। वह परिच्छेदकत्व और परिच्छेद्यत्व

परिच्छेद्या, सपि तत्परिच्छेदकत्वपरिच्छेद्यत्वशक्तिः परया परिच्छेदकशक्त्या परिच्छेद्येत्यनवस्थानमन्यथाद्यशक्तिभेदोऽपि प्रमातृत्वप्रमेयत्वहेतुर्मा भूत् इति न स्याद्वादिनां चोद्यं।

प्रतिपत्तुराकांक्षाक्षयादेव क्वचिदवस्थानसिद्धेः। न हि परिच्छेदकत्वादिशक्तिर्यावत्स्वयं न ज्ञाता तावदात्मनः स्वप्रमातृत्वादिसंवेदनं न भवति येनानवस्था स्यात्। प्रमातृत्वादिस्वसंवेदनादेव तच्छक्तेरनुमानात्रिराकांक्षस्य तत्राप्यनुपयोगादिति युक्तमुपयोगात्मकत्वसाधनमात्मनः॥

कर्तृरूपतया वित्तेरपरोक्षः स्वयं पुमान्।

अप्रत्यक्षश्च कर्मत्वेनाप्रतीतेरितीतरे॥२१४॥

(प्रमाता और प्रमेयत्व शक्ति) किसी अन्य परिच्छेदकत्व शक्ति के द्वारा ही परिच्छेद्य होती है। अतः स्याद्वाद मत में भी अनवस्था दोष आता ही है। अन्यथा (यदि परिच्छेदकत्व और परिच्छेद्य शक्ति को जानने के लिये अन्य शक्तियों को स्वीकार नहीं करते हो तो) आदि की शक्ति का भेद (प्रमाता और प्रमेयत्व) भी प्रमातृत्व और प्रमेयत्व का कारण नहीं हो सकेगा। अर्थात् आत्मा की प्रमातृ और प्रमेयत्व दो शक्तियाँ प्रमातृ और प्रमेयत्व इन धर्मों की कारण नहीं हो सकती।

उत्तर- जैनाचार्य कहते हैं स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रति ऐसा तर्क करना उचित नहीं है- क्योंकि ज्ञाता की अभिलाषाओं के क्षय हो जाने से कहीं पर अवस्थान की सिद्धि हो जाती है। ऐसा नहीं है कि आदि की परिच्छेदकत्व और परिच्छेद्यत्व शक्ति जब तक अन्य के द्वारा स्वयं ज्ञात नहीं हुई है (जानी नहीं गई है) तब तक आत्मा के प्रमातृत्व और प्रमेयत्व आदि का ज्ञान ही नहीं होता है, जिससे अनवस्था दोष आता हो। “किन्तु जैसे अग्नि दाह परिणाम से अपने आपको जलाती है, वैसे ही आत्मा अपनी शक्ति से अपने को जानता है” अतः स्वसंवेदन से ही अपनी प्रमातृक आदि शक्तियों का अनुमान हो जाने से (वा अनुमान से) अभिलाषा शांत हो जाती हैं। अर्थात् आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ अतीन्द्रिय हैं- अतः उनका ज्ञान अनुमान से ही होता है। जिस ज्ञाता को शक्तियों को जानने की कांक्षा नहीं है उसको उन शक्तियों का अनुमान करना भी अनुपयोगी है।

अथवा- शक्तियों के ज्ञान का यहाँ कोई उपयोग भी नहीं है- क्योंकि यहाँ कारक पक्ष है। क्योंकि आत्मा की उपयोगात्मकत्व (दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग) शक्तियाँ युक्तियों से सिद्ध है। आत्मा का लक्षण उपयोगात्मक है, वह अनुमान तथा स्वसंवेदन प्रमाण से सिद्ध है- अन्य शक्ति को जानने से क्या प्रयोजन है।

इस प्रकार नैयायिक मत का खण्डन करके अब आचार्य मीमांसक मत पर विचार करते हैं।

कर्ता रूप से आत्मा का ज्ञान होने से आत्मा स्वयं अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है (परोक्ष नहीं है) परन्तु कर्म रूप से आत्मा की प्रतीति नहीं होती है- अतः आत्मा अप्रत्यक्ष भी है। ऐसा (इतरे) अन्य कोई (मीमांसक) कहते हैं॥२१४॥

सत्यमात्मा संवेदनात्मकः स तु न प्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात् । न हि यथा नीलमहं जानामीत्यत्र नीलं कर्मतया चकास्ति तथात्मा कर्मत्वेन । अप्रतिभासमानस्य च न प्रत्यक्षत्वं, तस्य तेन व्याप्तत्वात् । आत्मानमहं जानामीत्यत्र कर्मतयात्मा भात्येवेति चायुक्तमुपचरितत्वात्तस्य तथा प्रतीतिः । जानातेरन्यत्र सकर्मकस्य दर्शनादात्मनि सकर्मकत्वोपचारसिद्धेः । परमार्थतस्तु पुंसः कर्मत्वे कर्ता स एव वा स्यादन्यो वा? न तावत्स एव विरोधात् । कथमन्यथैकरूपतात्मनः सिद्धयेत् । नानारूपत्वादात्मनो न दोष इति चेत् न, अनवस्थानुषंगत् । केनचिद्रूपेण कर्मत्वं केनचित्कर्तृत्वमित्यनेकरूपत्वे ह्यात्मनस्तदनेकं रूपं प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा? प्रत्यक्षं चेत्कर्मत्वेन भाव्यमन्येन तत्कर्तृत्वेन, तत्कर्मत्वकर्तृत्वयोरपि प्रत्यक्षत्वे परेण कर्मत्वेन कर्तृत्वेन चावश्यं भवितव्यमित्यनवस्था । तदनेकं रूपमप्रत्यक्षं चेत्, कथमात्मा प्रत्यक्षो नाम? पुमान् प्रत्यक्षस्तत्स्वरूपं

आत्मा कर्ता भी है और कर्म भी

मीमांसक कहता है कि- आत्मा संवेदनात्मक (ज्ञान स्वरूप) है, स्याद्वादियों का यह कथन सत्य है। परन्तु आत्मा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता है (वा प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है)। क्योंकि आत्मा की कर्मरूप से प्रतीति नहीं होती है। जैसे "मैं नील को जानता हूँ" इसमें नील कर्म रूप से प्रतीत हो रहा है। अर्थात् जानने रूप क्रिया का फल नील प्रतीत हो रहा है, वैसे आत्मा का कर्म रूप से प्रतिभास नहीं होता है।

भावार्थ- जानने रूप क्रिया का कर्ता आत्मा है, उस ज्ञप्ति क्रिया का आत्मा कर्म नहीं है। जो ज्ञप्ति क्रिया का कर्म नहीं है- वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय (कर्म) नहीं है। क्योंकि ज्ञप्ति क्रिया के कर्म होने के साथ उस प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होने की व्याप्ति है। जो अप्रतिभासमान है, उसके प्रत्यक्षत्व नहीं है। क्योंकि प्रतिभासपने की प्रत्यक्ष के साथ व्याप्ति है।

'मैं आत्मा को जानता हूँ' ऐसे प्रयोग में कर्मरूप से आत्मा प्रतिभासित होता ही है, ऐसा स्याद्वादियों का कहना भी अयुक्त (युक्तिसंगत नहीं) है। क्योंकि 'मैं आत्मा को जानता हूँ' ऐसी प्रतीति उपचार से होती है, वास्तविक नहीं है।

तथा सकर्मक जानन रूप क्रिया का अन्यत्र (घटादिक में) सकर्मत्व देखा जाता है। अर्थात् जानन रूप क्रिया सकर्मक है- क्योंकि कर्म रूप घटादिक को जानती है। इसलिए इस आत्मा में भी जानन रूप क्रिया के सकर्मत्व को उपचार से सिद्ध कर लिया जाता है। यदि परमार्थ से आत्मा को जानन क्रिया का कर्म स्वीकार करते हो तो 'उस ज्ञान क्रिया का कर्ता वही आत्मा है कि कोई अन्य ज्ञानक्रिया का कर्ता है?' आत्मा स्वयं ज्ञानक्रिया का कर्ता नहीं हो सकता। क्योंकि एक आत्मा में कर्ता और कर्म दोनों मानने में विरोध आता है। अर्थात् एक ही आत्मा कर्ता और कर्म इन दो विरुद्ध धर्मों को धारण नहीं कर सकता। अन्यथा (यदि आत्मा विरुद्ध दो धर्मों को धारण करेगी तो) आत्मा का एक धर्मस्वरूपपना कैसे सिद्ध होगा? (यह मीमांसकों को इष्ट है।)

'आत्मा के कर्ता-कर्म आदि अनेकरूपत्व होने से एक आत्मा के दो विरुद्ध धर्म धारण करने में कोई दोष नहीं है।' ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि एक में अनेक धर्म मानने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है।

न प्रत्यक्षमिति कः श्रद्दधीत? यदि पुनरन्यः कर्ता स्यात्तदा स प्रत्यक्षोऽप्रत्यक्षो वा? प्रत्यक्षश्चेत् कर्मत्वेन प्रतीयमानोऽसाविति न कर्ता स्याद्विरोधात्। कथमन्यथैकरूपतात्मनः सिद्धयेत्? नानारूपत्वादात्मनो न दोष इति चेन्न, अनवस्थानुषंगात्, इत्यादि पुनरावर्तत, इति महच्चक्रकम्। तस्याप्रत्यक्षत्वे स एवास्माकमात्मेति सिद्धोऽप्रत्यक्षः पुरुषः। परोक्षोऽस्तु पुमानिति चेत् न, तस्य कर्तृरूपतया स्वयं संवेद्यमानत्वात्। सर्वथा साक्षादप्रतिभासमानो हि परोक्षः परलोकादिवन्न पुनः केनचिद्रूपेण साक्षात्प्रतिभासमान, इत्यपरोक्ष एवात्मा व्यवस्थितिमनुभवति। इति केचित्।

अथवा यदि स्याद्वादी का यह कथन हो कि किसी रूप से आत्मा कर्ता है, और किसी रूप से वह कर्म है, तो इस प्रकार अनेकत्व रूप मानने पर उस आत्मा के वे अनेक धर्म प्रत्यक्ष हैं कि अप्रत्यक्ष हैं? यदि आत्मा के अनेक धर्म प्रत्यक्ष हैं- तो वह कर्म होने से किसी अन्य कर्ता के द्वारा प्रत्यक्ष होगा। अतः कोई अन्य कर्ता अवश्य होना चाहिए। यदि पृथक्-पृथक् कर्ता-कर्म का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं तो उन कर्ता-कर्म धर्म को भी प्रत्यक्ष मानना होगा। उन धर्मों को प्रत्यक्ष करने के लिए अन्य कर्ता कर्म की आवश्यकता होगी। अतः अनवस्था दोष आयेगा। यदि (जैन) आत्मा के अनेक धर्मों को अप्रत्यक्ष मानते हैं तो अनेक धर्मों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला आत्मा प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? आत्मा प्रत्यक्ष है और उसके गुण स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं है, ऐसा श्रद्धान कौन कर सकता है!

यदि आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए अन्य कर्ता को स्वीकार करते हो तो वह अन्य कर्ता ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष है कि अप्रत्यक्ष है? यदि अन्य कर्ता (आत्मा) प्रत्यक्ष है- तो वह कर्म रूप से प्रतीत होता है- अतः कर्मत्व होने से वह कर्ता नहीं हो सकता। क्योंकि कर्ता और कर्म का एक आधार में रहने का विरोध है। यदि कर्ता और कर्म दोनों में एकत्र रहने का विरोध नहीं है तो आत्मा की एकरूपता की सिद्धि कैसे हो सकती है?

आत्मा अनेकधर्मात्मक है- अतः एक आत्मा में एक साथ कर्ता और कर्म के रहने में कोई विरोध (वा दोष) नहीं है। जैनों का ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। अर्थात् किसी स्वभाव से कर्तापिन और किसी स्वभाव से कर्मत्व है, वह प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष है, आदि प्रश्नों की आकांक्षा शांत न होने से अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। तथा पुनःपुनः प्रश्नों की आवृत्ति होने से महान् चक्रक दोष का भी प्रसंग आता है।

यदि आत्मा अप्रत्यक्ष है, ऐसा मानते हैं तो हमारे (मीमांसक) मतानुसार आत्मा अप्रत्यक्ष सिद्ध होता है। आत्मा सर्वथा परोक्ष ही है- किसी का ऐसा मानना भी उचित नहीं है- क्योंकि कर्ता रूप से आत्मा का स्वयं प्रत्यक्षरूप संवेदन होता है। जो वस्तु सर्वथा साक्षात् अप्रतिभासमान है, वह परलोक (परलोक, आकाश, परमाणु, पुण्य पाप) आदि के समान परोक्ष मानी जाती है। इनकी ज्ञप्ति वेदवाक्य से होती है। परन्तु जो पुनः किसी रूप से कथंचित् साक्षात् प्रतिभासित होता है, वह सर्वथा परोक्ष नहीं हो सकता है। अर्थात् सर्वथा परोक्ष रूप से उसकी व्यवस्था अनुभव में नहीं आती है। ऐसा कोई (मीमांसक) कहता है।

तेषामप्यात्मकर्तृत्वपरिच्छेद्यत्वसंभवे ।

कथं तदात्मकस्यास्य परिच्छेद्यत्वनिहवः ॥२१५॥

कर्तृत्वेनात्मनः संवेदने तत्कर्तृत्वं तावत्परिच्छेद्यमिष्टमन्यथा तद्विशिष्टतयास्य संवेदनविरोधात्, तत्संभवे कथं तदात्मकस्यात्मनः प्रत्यक्षत्वनिहवो युक्तः ॥

ततो भेदे नरस्यास्य नापरोक्षत्वनिर्णयः ।

न हि विंध्यपरिच्छेदे हिमाद्रेरपरोक्षता ॥२१६॥

कर्तृत्वाद्भेदे पुंसः कर्तृत्वस्य परिच्छेदो न स्यात् विंध्यपरिच्छेदे हिमाद्रेरिवेति । सर्वथात्मनः साक्षात्परिच्छेदाभावात्परोक्षतापत्तेः कथमपरोक्षत्वनिर्णयः? ततो नैकांतेनात्मनः कर्तृत्वादभेदो भेदो वाऽभ्युपगंतव्यः ।

अब जैनाचार्य मीमांसक के सिद्धान्त का युक्तिपूर्वक खण्डन करते हैं—

ग्रन्थकार कहते हैं- उन मीमांसकों के दर्शन में आत्मा का कर्त्तापने से परिच्छेद्यत्व (जानने योग्य) संभव होने पर उस कर्त्ता के साथ तदात्मक सम्बन्ध रखने वाले इस आत्मा के कर्मत्व रूप से परिच्छेद्यत्व का निहव कैसे किया जा सकता है। अर्थात् आत्मा ज्ञप्ति क्रिया का कर्त्ता तो हो सकता है, परन्तु ज्ञप्ति क्रिया का कर्म नहीं हो सकता, ऐसा कहना युक्तिसंगत कैसे हो सकता है ॥२१५॥

आत्मा का कर्त्ता रूप से संवेदन होता है, ऐसा स्वीकार करने पर तो उस कर्तृत्व का परिच्छेद्य (कर्म) इष्ट होगा ही अर्थात् कर्त्ता को प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर उसके कर्म को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्यथा- यदि कर्त्ता को परिच्छित्ति (ज्ञप्ति) क्रिया का कर्म नहीं मानेंगे तो उस कर्त्तापने से सहित इस आत्मा के ज्ञान होने का विरोध आयेगा। किन्तु जब आत्मा के उस कर्तृत्व की परिच्छित्ति होना संभव है तो कर्तृत्व के साथ तादात्म्य रखने वाले आत्मा के प्रत्यक्षत्व का लोप करना (आत्मा ज्ञप्ति क्रिया के द्वारा जाना नहीं जाता है- ऐसा कहना) युक्तिसंगत कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता।

इस आत्मा को कर्त्तापन धर्म से सर्वथा भिन्न मानने पर आत्मा के अपरोक्षत्व का निर्णय नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे सर्वथा पृथक्-पृथक् स्थित विन्ध्याचल के परिच्छेद्य हो जाने पर (प्रत्यक्ष हो जाने पर) हिमालय पर्वत की अपरोक्षता नहीं रह सकती ॥२१६॥

कर्त्ता आत्मा से कर्तृत्व धर्म का भेद मानने पर पुरुष (आत्मा) की कर्तृता का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे विन्ध्याचल की ज्ञप्ति हो जाने पर भी विन्ध्याचल से सर्वथा भिन्न हिमाचल की ज्ञप्ति नहीं हो सकती। सर्वथा आत्मा के साक्षात् परिच्छेद का अभाव होने से सम्पूर्ण रूप से परोक्षपने का ही प्रसंग आता है। अतः आत्मा प्रत्यक्ष है- इसका निर्णय कैसे हो सकता है? इसलिए एकान्त से आत्मा के कर्तृत्व से भेद अथवा अभेद स्वीकार नहीं करना चाहिए।

भेदाभेदात्मकत्वे तु कर्तृत्वस्य नरात्कथम्।

न स्यात्तस्य परिच्छेद्ये नुः परिच्छेद्यता सतः ॥२१७॥

कथंचिद्भेदः कथंचिदभेदः कर्तृत्वस्य नरादिति चायुक्तमंशतो नरस्य प्रत्यक्षत्वप्रसंगात्। न हि प्रत्यक्षात्कर्तृत्वाद्येनांशेन नरस्याभेदस्तेन प्रत्यक्षत्वं शक्यं निषेद्धुं प्रत्यक्षादभिन्नस्याप्रत्यक्षत्वविरोधात्।

प्रत्यक्षत्वं ततोऽंशेन सिद्धं निहृतये कथम्।

श्रोत्रियैः सर्वथा चात्मपरोक्षत्वोक्तदूषणम् ॥२१८॥

ननु चात्मनः कर्तृरूपता कथंचिदभिन्ना परिच्छिद्यते न तु प्रत्यक्षा कर्तृरूपता, कर्मतया प्रतीयमानत्वाभावात्तन्नात्मनोऽंशेनापि प्रत्यक्षत्वं सिद्ध्यति; यस्य निहृत्वे प्रतीतिविरोध इति चेत्। कथमिदानीं कर्तृता परिच्छिद्यते? तस्य कर्तृतयैवेति चेत्, तर्हि कर्तृता कर्ता न पुनरात्मा, तस्यास्ततो भेदात्। न हान्यस्यां कर्तृतायां परिच्छिन्नायामन्यः कर्ता व्यवतिष्ठतेऽतिप्रसंगात्। नन्वात्मा धर्मी कर्ता कर्तृतास्य धर्मः कथंचित्तदात्मा, तन्नात्मा कर्ता प्रतीयत इति स एवार्थः सिद्धो

यदि आत्मा से कर्तृत्व धर्म का कथंचित् भेदाभेद स्वीकार करते हैं तो उस कर्तृत्व के परिच्छेद्य हो जाने पर कर्तृत्व के साथ विद्यमान आत्मा की परिच्छेद्यता क्यों नहीं होगी, अवश्य होगी ॥२१७॥

स्याद्वादियों के सदृश यदि मीमांसक भी आत्मा से कर्तृता का कथञ्चित् धर्म-धर्मी भाव से भेद मानेंगे और द्रव्य रूप से कथंचित् अभेद मानेंगे तो उनके सिद्धान्त का अपघात होगा। (उनके सिद्धान्त से युक्त नहीं होगा) क्योंकि जिस अंश से आत्मा का कर्ता से अभेद माना है, उस अंश से आत्मा के विशद रूप से प्रत्यक्ष होने का प्रसंग आयेगा। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात कर्तृत्व धर्म से जिस अंश के द्वारा आत्मा का अभेद है, उस अंश से आत्मा के प्रत्यक्ष होने का निषेध करना शक्य नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय हो चुके पदार्थ से अभिन्न मानी गई वस्तु का अप्रत्यक्षत्व विरुद्ध है।

अतः किसी अंश के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध आत्मा की प्रत्यक्षता क्रियावादी प्रभाकर मीमांसक के द्वारा कैसे लुप्त की जा सकती है। तथा आत्मा को परोक्ष मानने में उपर्युक्त दूषण आते हैं- अतः आत्मा सर्वथा परोक्ष नहीं है ॥२१८॥

शंका- (मीमांसक) आत्मा का कर्तृत्व धर्म आत्मा से कथंचित् अभिन्न ही जाना जाता है- किन्तु प्रत्यक्षरूप से नहीं। जैसे आत्मा का प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं- वैसे ही कर्मरूप से प्रतीति होने का अभाव होने से आत्मा के कर्तृत्व अंशमात्र से भी प्रत्यक्षत्व सिद्ध नहीं होता है, जिससे कि छिपाने पर प्रतीति विरोध होवे। इस प्रकार मीमांसक की शंका का आचार्य उत्तर देते हैं- कि जिसके सिद्धान्त में कर्ता आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है तो उस कर्तारूप आत्मा की परिच्छिन्ति (ज्ञान) कैसे हो सकेगी? सर्वथा आत्मा को कर्मत्व नहीं मानने पर आत्मा के उस कर्तृत्व धर्म की प्रतीति कैसे भी नहीं हो सकेगी।

मीमांसक कहता है कि आत्मा कर्मरूप नहीं है किन्तु कर्ता है- अतः उस आत्मा की कर्तृत्व रूप से जो प्रतीति होती है, वही कर्तृत्व की परिच्छिन्ति है। जैनाचार्य कहते हैं- कि प्रभाकर के इस

धर्मिधर्माभिधायिनोः शब्दयोरेव भेदात्ततः कर्तृता स्वरूपेण प्रतिभाति न पुनरन्यथा कर्तृतया, यतः सा कर्त्री स्यात्। कर्ता चात्मा स्वरूपेण चकास्ति नापरास्य कर्तृता यस्याः प्रत्यक्षत्वे पुंसोऽपि प्रत्यक्षत्वप्रसंग इति चेत्। तद्धर्मात्मा तद्धर्मो वा प्रत्यक्षः। स्वरूपेण साक्षात्प्रतिभासमानत्वाग्रीलादिवत्। नीलादिर्वा न प्रत्यक्षस्तत एवात्मवत्। नीलादिः प्रत्यक्षः साक्षात् क्रियमाणत्वादिति चेत्। तत एवात्मा प्रत्यक्षोऽस्तु। कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात् प्रत्यक्ष इति चेत्। व्याहतमेतत्। साक्षात्प्रतीयमानत्वं हि विषयीक्रियमाणत्वं, विषयत्वमेव च कर्मत्वं, तच्चात्मन्यस्ति। कथमन्यथा प्रतीयमानतास्य स्यात्।

कथन से आत्मा का कर्तृत्व धर्म ही कर्ता सिद्ध होता है। पुनः आत्मा कर्ता सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रभाकर के सिद्धान्त में कर्तृत्व धर्म से आत्मा सर्वथा भिन्न है। “कर्तृत्व धर्म से आत्मा का कर्तृत्व धर्म जाना जाता है और कर्तृत्व धर्म के ज्ञात हो जाने पर कर्तृत्व धर्म से सर्वथा भिन्न आत्मा कर्ता हो जाता है,” यह कथन व्यवस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने में अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् ऐसा मानने पर तो कोई भी किसी का कर्ता बन जायेगा।

शंका- (मीमांसक) कर्ता आत्मा धर्मी है और कर्तृत्व यह आत्मा का धर्म है। वह कथंचित् आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला है। अतः वहाँ वह आत्मा कर्ता रूप से प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार की प्रतीति का विषयभूत अर्थ है- वह आत्मा ही है, ऐसा सिद्ध होता है। क्योंकि धर्म और धर्मी को कहने वाले शब्दों में ही भेद है। अर्थात् धर्मी आत्मा है- और कर्तृत्व धर्म है- अर्थ में कोई भेद नहीं है; जैसे तत्त्वार्थ श्रद्धान और सम्यग्दर्शन इसमें शब्द भेद है- अर्थ भेद नहीं है। इसलिए आत्मा के अपने रूप से ही कर्तृत्व की प्रतीति होती है। आत्मा से भिन्न अन्य कर्तृत्व से वह नहीं जानी जाती है। जिससे कि वह कर्तृता ही ज्ञप्ति की कर्त्री हो सके। कर्ता आत्मा अपने स्वरूप से ही प्रकाशित है। इस आत्मा की कर्तृता भी आत्मा से भिन्न नहीं है। जिस कर्तृता का प्रत्यक्ष होने पर आत्मा के भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग आता है। उत्तर- जैनाचार्य कहते हैं कि- यदि मीमांसक इस प्रकार कहते हैं तब तो आत्मा और उस आत्मा का धर्म कर्तृत्व ये दोनों प्रत्यक्ष हो जायेंगे। क्योंकि जिस प्रकार नीलादि पदार्थ अपने स्वरूप से स्पष्ट होकर प्रतिभासित हो रहे हैं, उसी प्रकार आत्मा और आत्मा का धर्म कर्तापना भी अपने स्वरूप से साक्षात् प्रतिभासित हो रहा है।

यदि स्वरूप से प्रतिभासित आत्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं मानते हो तो आत्मा के समान नीलादि का प्रत्यक्ष प्रतिभास भी नहीं मानना चाहिए।

यदि कहो कि नीलादि बाह्य पदार्थों का विशद रूप से साक्षात् प्रतिभासन किया जा रहा है- इसलिए वे प्रत्यक्ष हैं तो हम भी कह सकते हैं कि आत्मा का भी साक्षात् विशद प्रतिभासन किया जा रहा है इसलिये आत्मा भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है।

‘जिस प्रकार घट पट आदि बाह्य पदार्थ कर्मत्व रूप से प्रतीत होते हैं वैसे आत्मा कर्मत्व रूप से प्रतीत नहीं होता है- अतः आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है’ इस प्रकार मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने में (इस कथन में) व्याघात दोष आता है। अर्थात् यह कथन स्ववचन बाधित है। क्योंकि पूर्वकथित

नात्मा प्रतीयते स्वयं किंतु प्रत्येति सर्वदा न ततो प्रतीयमानत्वात्तस्य कर्मत्वसिद्धिरसिद्धता साधनस्येति चेत् । सर्वथाऽप्रतीयमानत्वमसिद्धं कथंचिद्वा? न तावत्सर्वथा, परेणापि प्रतीयमानत्वाभावप्रसंगात् । कथंचित्पक्षे तु नासिद्धं साधनं, तथैवोपन्यासात् । स्वतः प्रतीयमानत्वमसिद्धमिति चेत् । परतः कथं तत्सिद्धं? विरोधाभावादिति चेत् । स्वतस्तत्सिद्धौ को विरोधः? कर्तृत्वकर्मत्वयोः सहानवस्थानमिति चेत्, परतस्तत्सिद्धौ समानं । यदैव स्वयमर्थं प्रत्येति

आत्मा कर्ता रूप से प्रतीत होता है और इस कर्तृत्व धर्म से ही आत्मा प्रतीति का कर्म बन जाता है, (प्रतीति का विषय बन जाता है) उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? उसका निषेध करना स्ववचन बाधित है। जो प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रतीयमान ('प्रति' उपसर्ग पूर्वक इण् धातु से कर्म में यक् विकरण कर कृदन्त में 'शानच्' प्रत्यय करने पर 'प्रतीयमान' शब्द की उत्पत्ति होती है।) है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अवश्य विषय किया जा रहा है और ज्ञप्ति (जानन रूप क्रिया) का विषयपन ही कर्मपना है। तथा वह कर्म आत्मा में विद्यमान है। अन्यथा, यदि वह आत्मा प्रतीति का विषयरूप कर्म नहीं है तो आत्मा प्रतीयमान (प्रतीति का विषय) कैसे हो सकता है?

इस पर मीमांसक कहता है कि आत्मा स्वयं प्रतीत नहीं होता है अपितु वह सर्वदा प्रतीति को करता है (स्वयं अनुभव कर रहा है) इसलिए आत्मा कर्ता है। अतः प्रतीति का विषय होने से यानी कर्म बना कर कह देने से उस आत्मा के कर्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः (जैनों का) प्रतीयमानत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। प्रत्युत्तर देते हुए जैनाचार्य कहते हैं- कि वह प्रतीयमानत्व हेतु सर्वथा असिद्ध है? कि कथंचित् असिद्ध है?

यदि प्रथम पक्ष लोगे यानी सर्वथा आत्मा की प्रतीति नहीं होती है- इसलिये यह हेतु सर्वथा असिद्ध है, ऐसा तो कथन कर नहीं सकते- क्योंकि ऐसा कहने पर तो दूसरों के द्वारा अनुमान और आगम प्रमाण से भी आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकेगी, आत्मा को जान लेने के अभाव का प्रसंग आयेगा।

यदि दूसरा पक्ष लोगे यानी कथंचित् आत्मा की प्रतीति नहीं होती है अर्थात् किसी अपेक्षा से आत्मा की प्रतीति होती है, ऐसा कहते हो तब तो स्याद्वाद के द्वारा कथित हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि स्याद्वाद मत में भी आत्मा को कथंचित् प्रत्यक्ष होना ही स्वीकार किया है। आत्मा की अनन्त अर्थपर्यायों को सर्वज्ञ ही जान सकते हैं- अतः आत्मा कथंचित् प्रत्यक्ष है। यह सिद्ध होता है।

यदि आत्मा को स्वतः असिद्ध माना जाता है अर्थात् आत्मा स्वयं अपने आप को नहीं जानता है तो वह आत्मा दूसरे के ज्ञान का विषय कैसे सिद्ध हो सकता है, दूसरे के द्वारा कैसे जाना जा सकता है। यदि दूसरे के द्वारा आत्मा जाना जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहते हो तो स्वतः आत्मा की सिद्धि में क्या विरोध है। आत्मा अपना अनुभव करता है, ऐसा कहने में क्या विरोध आता है। यदि कहो कि कर्ता और कर्म दोनों एक साथ नहीं रहते हैं- अतः इनमें सहानवस्थान नामक विरोध है (जैसे शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श एक साथ नहीं रहते हैं?) तो जैनाचार्य कहते हैं कि दूसरे के द्वारा आत्मा को जानने की सिद्धि में भी सहानवस्थान दोष समान ही है।

तदैव परेणानुमानादिनात्मा प्रतीयत इति प्रतीतिसिद्धत्वात् सहानवस्थानविरोधः । स्वयं कर्तृत्वस्य परकर्मत्वेनेति चेत् तर्हि स्वयं कर्तृत्वकर्मत्वयोरप्यात्मानमहं जानामीत्यत्र सहप्रतीतिसिद्धत्वाद्विरोधो माभूत् । न चात्मनि कर्मप्रतीतिरुपचरिता, कर्तृत्वप्रतीतेरप्युपचरितत्वप्रसंगात् । शक्यं हि वक्तुं दहत्यग्निर्धनमित्यत्र क्रियायाः कर्तृसमवायदर्शनात्, जानात्यात्माथमित्यत्रापि जानातीति क्रियायाः कर्तृसमवायोपचारः । परमार्थतस्तु तस्य कर्तृत्वे कर्म स एव वा स्यादन्यो वार्थः स्यात्? स एव

भावार्थ- आत्मा में कर्मपना नहीं है- तो अन्य ज्ञान उस को कैसे जानेगा । यदि आत्मा में कर्मपना है- तो कर्ता आत्मा में दूसरे के द्वारा जानने योग्य कर्मपने के रहने से सहानवस्थान विरोध दोष आता है । क्योंकि दोनों समान ही हैं ।

जिस समय यह आत्मा अपने विषयभूत घट-पटादि पदार्थों को जानता है- उस समय स्वयं आत्मा दूसरे पुरुषों के द्वारा अनुमान, अर्थापत्ति और आगम प्रमाण के द्वारा जाना जाता है । यह प्रतीति से प्रसिद्ध है । अतः स्वयं कर्ता भी आत्मा दूसरे के द्वारा ज्ञात होने से कर्मपने को प्राप्त हो जाता है अतः कर्ता और कर्म के एक साथ रहने से सहानवस्थान विरोध नहीं है । अर्थात् जो आत्मा घट, पट आदि को जानने रूप क्रिया का कर्ता है, वही आत्मा दूसरे के ज्ञान द्वारा अर्थापत्ति ज्ञान से अनुमान ज्ञान से जानने योग्य है । इसलिए कर्म भी है अतः कर्ता और कर्म का एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है ।

यदि मीमांसक यों कहे कि आत्मा स्वयं कर्ता है और पर के द्वारा जानने योग्य होने से कर्म होता है, इस प्रकार से एक आत्मा में कर्ता, कर्मत्व का विरोध नहीं है । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो आत्मा स्वयं अपने को जानता है- और स्व-पर-पदार्थों को जानता है अतः कर्ता है- और स्वयं स्व के द्वारा जानने योग्य होने से स्वयं कर्म भी है- इस प्रकार कर्ता-कर्म के एक साथ रहने में कोई सहानवस्थान नाम का विरोध नहीं है । क्योंकि 'मैं अपने को जानता हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रतीतियों में आत्मा स्वयं कर्ता और कर्म रूप से एक साथ सिद्ध हो रहा है । अर्थात् आत्मा स्वयं कर्ता है और स्वयं कर्म भी है । ऐसा प्रतीतिसिद्ध होने से कर्ता और कर्म के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है ।

आत्मा में कर्म की प्रतीति उपचार से होती है, (मीमांसक को) ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि ऐसा मानने पर तो आत्मा में कर्तापन की प्रतीति के भी उपचार का प्रसंग आता है । वया ऐसा भी कह सकते हैं कि 'ईन्धन को अग्नि जलाती है' । इसमें 'दहति' क्रिया का अग्नि रूप कर्ता में समवाय सम्बन्ध देखा जाता है (मीमांसक मतानुसार) उसी प्रकार आत्मा पदार्थों को जानता है, यहाँ भी जानना रूप क्रिया (जानाति क्रिया) के कर्ता (आत्मा) में समवाय सम्बन्ध से उपचार कर लिया जायेगा । क्योंकि तुम्हारे मतानुसार स्वात्मा में क्रिया नहीं हो सकती । जैसे आत्मा में कर्मत्व उपचार से है, वैसे आत्मा में कर्तापना भी उपचार से मानना पड़ेगा ।

चेद्विरोधः। कथमन्यथैकरूपतात्मनः। नानारूपत्वात्तस्यादोष इति चेन्न, अनवस्थानात्। यदि पुनरन्योऽर्थः कर्म स्यात्तदा प्रतिभासमानोऽप्रतिभासमानो वा? प्रतिभासमानश्चेत् कर्ता स्यात्ततोऽन्यत्कर्म वाच्यं, तस्यापि प्रतिभासमानत्वे कर्तृत्वादन्यत्कर्मेत्यनवस्थानान्न क्वचित्कर्मत्वव्यवस्था। यदि पुनरप्रतिभासमानोऽर्थः कर्मोच्यते तदा खरशृंगादेरपि कर्मत्वापत्तिरिति न किञ्चित्कर्म स्यादात्मवदर्थस्यापि प्रतिभासमानस्य कर्तृत्वसिद्धेः। यदि पुनरर्थः प्रतिभासजनकत्वादुपचारेण प्रतिभासत इति न वस्तुतः कर्ता तदात्मापि स्वप्रतिभासजनकत्वादुपचारेण कर्ताऽस्तु विशेषाभावात्।

स्वप्रतिभासं जनयन्नात्मा कथमकर्तेति चेदर्थः कथं? जडत्वादिति चेत्तत एव स्वप्रतिभासं माजीजनत्। कारणांतराज्जाते प्रतिभासेऽर्थः प्रतिभासते न तु स्वयं प्रतिभासं जनयतीति चेत्,

यदि आत्मा को जानना रूप क्रिया का वास्तविक कर्ता मानते हो तो उस कर्ता का कर्म क्या वस्तु है? क्या वह आत्मा ही जानना रूप क्रिया का कर्म है अथवा कोई अन्य पदार्थ कर्म है? यदि कहो कि वह आत्मा ही कर्म है तब तो मीमांसक दर्शन में विरोध आता है क्योंकि मीमांसक सिद्धान्त के अनुसार एक आत्मा में एक साथ दो धर्म नहीं रह सकते। यदि दो धर्म एक आत्मा में एक साथ रह जायेंगे तो “आत्मा की एकरूपता” घटित कैसे होगी?

(मीमांसक) आत्मा नाना रूप है, इसलिए उपर्युक्त दोष नहीं आते हैं, ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने पर अनवस्था दोष आता है। एकान्तवाद में वस्तु की व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती।

यदि कहो कि कर्ता (आत्मा) से भिन्न कर्म अन्य पदार्थ है। तो वह अन्य पदार्थ प्रतिभासमान (जानने योग्य) है? वा अप्रतिभासमान (नहीं जानने योग्य) है। यदि कर्म प्रतिभासमान स्वरूप है तो वह कर्ता ही है। उससे न्यारा कर्म दूसरा कहना पड़ेगा। क्योंकि मीमांसक मत में कर्ता और कर्म एक पदार्थ नहीं माने गये हैं। उस दूसरे भिन्न कर्म को भी प्रतिभासमान स्वरूप मानोगे तो वह फिर कर्ता हो जायेगा और उस कर्ता के द्वारा जानने योग्य फिर भिन्न कर्म तीसरा ही मानना पड़ेगा। अतः अनवस्था दोष आने से कहीं पर भी कर्मत्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

यदि कहो कि अप्रतिभासमान अर्थ कर्म है तब तो असत् पदार्थ स्वरूप ‘गधे के सींग’ के भी कर्मत्व का प्रसंग आयेगा। इस प्रकार कोई भी पदार्थ कर्म नहीं हो सकेगा। क्योंकि आत्मा के समान सभी पदार्थ प्रतिभासमान होने से उनके कर्तृत्व की सिद्धि होगी। अर्थात् सभी पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं। अतः सभी कर्ता हो जायेंगे, कर्मपना नहीं आ सकेगा।

यदि कहो कि- प्रतिभास क्रिया का मुख्य रूप से कर्ता आत्मा ही है, परन्तु प्रतिभास का जनक हो जाने के कारण उपचार से अर्थ प्रतिभासक्रिया का कर्ता आरोपित कर दिया जाता है, वास्तव में,

समानमात्मनि । सोऽपि हि स्वावरणविच्छेदाज्जाते प्रतिभासे विभासते न तन्निरपेक्षः स्वप्रतिभासं जनयतीति । तदेवमात्मनः कर्तृत्वकर्मत्वापलापवादिनौ नान्योन्यमतिशय्येते । ये तु प्रतीत्यनुसरणेनात्मनः स्वसंविदितात्मत्वमाहुस्ते करणज्ञानात्फलज्ञानाच्च भिन्नस्याभिन्नस्य वा भिन्नाभिन्नस्य वा?

भिन्नस्य करणज्ञानात्फलज्ञानाच्च देहिनः ।

स्वयं संविदितात्मत्वं कथं वा प्रतिपेदिरे ॥२१९॥

अर्थ प्रतिभासक्रिया का कर्ता नहीं है, तब तो स्याद्वादी भी कह सकते हैं कि अपने प्रतिभास का जनक होने से आत्मा भी प्रतिभास क्रिया का उपचार से कर्ता है, वास्तव में नहीं। क्योंकि जैसे प्रतिभास का जनक पदार्थ है, वैसे ही प्रतिभास का जनक आत्मा है- इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

यदि कहो कि अपने प्रतिभास का जनक आत्मा अकर्ता कैसे हो सकता है? तो जैनाचार्य कहते हैं कि अपने प्रतिभास का जनक पदार्थ भी अकर्ता कैसे हो सकता है?

यदि कहो कि अन्य पदार्थ जड़ हैं, इसलिए वे ज्ञप्ति रूप प्रतिभास के जनक नहीं हैं तो जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो वह पदार्थ अपने प्रतिभास का भी जनक नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है।

यदि कहो कि वह जड़ पदार्थ इन्द्रिय आदि अन्य कारणों के संयोग से प्रतिभास को उत्पन्न करता है और अर्थ को प्रतिभासित कराता है, किन्तु वह जड़ पदार्थ स्वयं अपने प्रतिभास को उत्पन्न नहीं कराता है। तो जैनाचार्य कहते हैं- कि यह कथन तो आत्मा में भी घटित हो सकता है कि वह आत्मा भी स्वकीय ज्ञानावरण कर्म के विच्छेद (क्षय वा क्षयोपशम) हो जाने से प्रतिभास के उत्पन्न हो जाने पर स्वयं प्रकाशित हो जाता है, निरपेक्ष (इन्द्रिय, ज्ञानावरण कर्मों के क्षय और क्षयोपशम के बिना) आत्मा स्वकीय प्रतिभास को उत्पन्न नहीं करता है।

इस प्रकार आत्मा के कर्तृत्व का लोप करने वाले (बौद्ध) और आत्मा के कर्मत्व के अपलापवादी (निषेध करने वाले मीमांसक) इन दोनों में परस्पर कोई अन्तर नहीं है। (दोनों के ही सिद्धान्त में वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। दोनों ही प्रतीति का अपलाप करने वाले हैं)।

आत्मा कथंचित् प्रत्यक्ष है और कथंचित् परोक्ष

जो भेदवादी प्रतीति के अनुसार आत्मा को स्वसंविदितस्वरूप कहते हैं, (स्व के द्वारा विदित (ज्ञात) होने को स्वसंविदित कहते हैं) उनके भी सिद्धान्त में वह स्वसंविदित प्रमाणात्मक करण ज्ञान से और ज्ञप्ति स्वरूप फल ज्ञान से भिन्न है कि अभिन्न है वा भिन्नाभिन्न है। अर्थात् वह स्वसंविदिता करणज्ञान और फलज्ञान से भिन्न आत्मा की होती है? कि अभिन्न आत्मा की होती है? कि भिन्नाभिन्न आत्मा की होती है?

प्रथम पक्ष में- करणज्ञान और फलज्ञान से सर्वथा भिन्न आत्मा का स्वयं द्वारा संविदित स्वरूपपना कैसे हो सकता है- स्वयं अपना स्वरूप कैसे जान सकता है ॥२१९॥ जो आत्मा करण और फलज्ञान से सर्वथा भिन्न है, वह स्वयं अपना वेदन कैसे कर सकता है?

यद्धि सर्वथा सर्वस्माद्देवनाद्भिन्नं तन्न स्वसंविदितं यथा व्योम तथात्मतत्त्वं श्रोत्रियाणामिति कथं तत्तस्येति संप्रतिपन्नाः ।

यदि हेतुफलज्ञानादभेदस्तस्य कीर्त्यते ।

परोक्षेतरूपत्वं तदा केन निषिध्यते ॥२२०॥

परोक्षात् करणज्ञानादभिन्नस्य परोक्षता ।

प्रत्यक्षाच्च फलज्ञानात्प्रत्यक्षत्वं हि युज्यते ॥२२१॥

परोक्षात् करणज्ञानात् फलज्ञानाच्च प्रत्यक्षादभिन्नस्यात्मनो न परोक्षता अहमिति कर्तृतया संवेदनात्रापि प्रत्यक्षता, कर्मतया प्रतिभासाभावादिति न मंतव्यं, दत्तोत्तरत्वात् ॥

तथैवोभयरूपत्वे तस्यैतद्दोषदुष्टता ।

स्याद्वादाश्रयणं चास्तु कथंचिदविरोधतः ॥२२२॥

यह नियम है कि जो सर्वथा सर्वज्ञानों से भिन्न है, वह स्वसंवेदी नहीं हो सकता। जैसे आकाश सर्व ज्ञानों से भिन्न है अतः वह अपना वेदन (अनुभव) नहीं कर सकता। आकाश के समान आत्मा भी मीमांसक मत में ज्ञान से सर्वथा भिन्न है, इसलिए वह स्व का वेदन कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

यदि प्रमाणस्वरूप करणज्ञान और ज्ञप्तिरूप फलज्ञान से आत्मा का अभेद कहते हैं तो आत्मा के परोक्षपने और प्रत्यक्षपने का निषेध किसके द्वारा किया जा सकता है यानी निषेध कौन कर सकता है- अर्थात् कोई नहीं कर सकता। मीमांसक प्रमाणात्मक करणज्ञान को परोक्ष मानते हैं। ज्ञप्ति स्वरूप फलज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं- अतः प्रमाणात्मक परोक्ष ज्ञान से अभिन्न होने से आत्मा की परोक्षता है। अर्थात् करणज्ञान की (इन्द्रियजन्यज्ञान की) अपेक्षा आत्मा परोक्ष है और अपने स्वरूप से अभिन्न फलज्ञान स्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा आत्मा की प्रत्यक्षता है। अतः एक ही आत्मा किसी ज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है और दूसरे ज्ञान की अपेक्षा आत्मा प्रत्यक्ष है- अतः कथंचित् भिन्नाभिन्न प्रत्यक्ष और परोक्षपना युक्ति संगत है ॥२२०-२२१॥

परोक्ष करणज्ञान से और प्रत्यक्ष फलज्ञान से अभिन्न (तादात्म्य) होने से आत्मा के सर्व प्रकार से परोक्षता नहीं है- क्योंकि 'मैं जानता हूँ', 'मैं देखता हूँ' इस प्रकार कर्ता रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन होता है। इसलिए आत्मा परोक्ष नहीं है। परन्तु इतने मात्र से आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा का कर्म रूप से प्रतिभास नहीं होता है। (कर्मरूप से प्रतिभास का अभाव है) ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इसका उत्तर पूर्व में दे दिया गया है कि आत्मा स्व को जानने की अपेक्षा कर्म होकर किसी अंश में प्रत्यक्ष का विषय होता है। अर्थात् आत्मा स्वसंवेदन की अपेक्षा प्रत्यक्ष है।

उसी प्रकार तृतीय पक्ष के अनुसार उस आत्मा को करणज्ञान और फलज्ञान से भेद और अभेद यों उभयरूप (भिन्नाभिन्न) स्वीकार करते हैं तो उभयरूप में भी इन्हीं दोषों से दूषित होने का प्रसंग आता है। परन्तु कथंचित् भेद, कथंचित् अभेद, कथंचित् उभय स्वरूप स्याद्वाद का आश्रय लेने पर अविरोध (बिना विरोध) वस्तु की सिद्धि हो जाती है ॥२२२॥ अर्थात् प्रमाणज्ञान और प्रमिति रूप फलज्ञान से आत्मा के कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद का अवलम्बन लेने पर कोई विरोध नहीं आता है।

सर्वथा भिन्नाभिन्नात्मकत्वे करणफलज्ञानादात्मनस्तदुभयपक्षोक्तदोषदुष्टता ।
कथंचिद्विन्नात्मकत्वे स्याद्वादाश्रयणमेवास्तु विरोधाभावात् ।

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणायाः शक्तेः करणज्ञानरूपायाः द्रव्यार्थाश्रयणादभिन्नस्यात्मनः
परोक्षत्वं, स्वार्थव्यवसायात्मकाच्च फलज्ञानादभिन्नस्य प्रत्यक्षत्वमिति स्याद्वादाश्रयणे न
किंचिद्विरोधमुत्पश्यामः । सर्वथैकांताश्रयणे विरोधात् । तस्मादात्मा स्यात्परोक्षः स्यात्प्रत्यक्षः ।
प्रभाकरस्याप्येवमविरोधः किं न स्यादिति चेत् न, करणफलज्ञानयोः परोक्षप्रत्यक्षयोरव्यवस्थानात् ।
तथाहि—

प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे स्वार्थाकारावभासिनि ।

किमन्यत्करणज्ञानं निष्फलं कल्प्यतेऽमुना ॥२२३॥

करणरूप (क्षयोपशम जानने की शक्ति को करणज्ञान कहते हैं) प्रमाणज्ञान और प्रमिति रूप
फलज्ञान (स्व पर अर्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को फलज्ञान कहते हैं) से आत्मा को सर्वथा (एकान्त
रूप से) भिन्न, अभिन्न वा भिन्नाभिन्न मानने पर सर्व दोषों का प्रसंग आता है। वह निर्दोष सिद्ध नहीं
होता है। परन्तु कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न और कथंचित् उभयात्मक मानने पर स्याद्वाद का आश्रय
होता है। उस स्याद्वाद के कथन में— कथंचित् भेद-अभेद आदि के कथन में विरोध का अभाव है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम स्वरूप जानने की शक्ति को अंतरंग करणात्मक ज्ञान कहते हैं।
(लब्धि आत्मक ज्ञान को करण कहते हैं) तथा अर्थ के निश्चय करने रूप उपयोगात्मक ज्ञान को
फलज्ञान कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा स्वावरण क्षयोपशम लक्षण करणज्ञान रूप शक्ति से अभिन्न
आत्मा के कथंचित् परोक्षपना है (क्योंकि शक्ति परोक्ष है, अतः शक्ति से अभिन्न आत्मा भी परोक्ष है)।

अपने और अर्थ के निश्चयात्मक फलज्ञान से अभिन्न आत्मा के कथंचित् प्रत्यक्षपना है।
(क्योंकि उपयोग स्वरूप फलज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव होता है) अतः फलज्ञान से अभिन्न आत्मा में भी
कथंचित् प्रत्यक्षपना है। इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रय लेने पर हमको कोई विरोध नहीं दिख रहा है।
क्योंकि सर्वथा एकान्त का आश्रय लेने पर ही विरोध आता है। इसलिए आत्मा कथंचित् प्रत्यक्ष है और
कथंचित् परोक्ष है।

मीमांसक कहता है कि स्याद्वादी के समान प्रभाकर सिद्धान्त के भी आत्मा के परोक्ष और प्रत्यक्ष
में विरोधरहितता क्यों नहीं है? जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि मीमांसक मत
में करणज्ञान के परोक्षत्व और फलज्ञान के प्रत्यक्षत्व व्यवस्थित नहीं है।

भावार्थ— जैन सिद्धान्त में करण (लब्धि) रूप ज्ञान परोक्ष है। क्योंकि हमारे इन्द्रियगोचर नहीं
है और उपयोगात्मक फलज्ञान प्रत्यक्ष है क्योंकि अनुभव में आ रहा है, इन्द्रियगोचर भी है। परन्तु
मीमांसक मत में इस प्रकार करणज्ञान और फलज्ञान की व्यवस्था नहीं है।

स्व-पर प्रकाशक अर्थज्ञान को प्रत्यक्ष (सर्वथा प्रत्यक्ष) मान लेने पर प्रभाकर के द्वारा दूसरे
करणज्ञान की निष्फल कल्पना क्यों की जाती है ॥२२३॥

अर्थपरिच्छेदे पुंसि प्रत्यक्षे स्वार्थाकारव्यवसायिनि सति निष्फलं करणज्ञानमन्यच्च फलज्ञानं, तत्कृत्यस्यात्मनैव कृतत्वादिति तदकल्पनीयमेव । स्वार्थव्यवसायित्वमात्मनोऽसिद्धं व्यवसायात्मकत्वात्तस्येति चेत् न । स्वव्यवसायिन एवार्थव्यवसायित्वघटनात् । तथा ह्यात्मार्थव्यवसायसमर्थः सोऽर्थव्यवसाय्येवेत्यनेनापास्तं । स्वव्यवसायित्वमंतरेणार्थव्यवसितेरनुपपत्तेः कलशादिवत् । सत्यपि स्वार्थव्यवसायिन्यात्मनि प्रमातरि प्रमाणेन साधकतमेन ज्ञानेन भाव्यं । करणाभावे क्रियानुपपत्तेरिति चेत् न । इन्द्रियमनसोरेव करणत्वात् । तयोरचेतनत्वादुपकरणमात्रत्वात् प्रधानं चेतनं करणमिति चेत् न । भावेन्द्रियमनसोः

स्व-पर अर्थ का निश्चय करने वाले आत्मा का यदि मीमांसक प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं तो दूसरे निष्प्रयोजन करणज्ञान और फलज्ञान को स्वीकार करना व्यर्थ है । क्योंकि उस ज्ञान से होने वाले कार्य को तो आत्मा ही कर देता है । अतः फलज्ञान और करणज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ है, अकल्पनीय है, फलज्ञान और करणज्ञान की कल्पना ही मीमांसकों को नहीं करनी चाहिए ।

स्व और पर अर्थ का निश्चयात्मकत्व आत्मा के असिद्ध है, आत्मा का स्वरूप ही निश्चित है । (पदार्थों का निश्चय करना आत्मा का स्वभाव नहीं है अतः स्व पर अर्थ का निश्चयात्मकपना आत्मा के सिद्ध नहीं है ।) मीमांसक का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि स्व का निश्चय करने वाले के ही अर्थ का निश्चय करना घटित हो सकता है । इस कथन से इस मत का भी खंडन हो जाता है- कि “आत्मा अर्थ के निश्चय करने में समर्थ है अतः वह अर्थ को ही निश्चय कर जान सकता है, स्व को नहीं” अर्थात् जो अर्थ का निश्चय करना तो मानते हैं परन्तु आत्मा स्व का निश्चय करता है, ऐसा नहीं मानते हैं- उनके कथन का भी उपर्युक्त कथन से निराकरण हो जाता है । क्योंकि अपना निश्चय किये बिना अर्थ का निश्चय करना सिद्ध नहीं होता है । जैसे घट, पट आदिक अपने को नहीं जानते हैं- अतः वे किसी अर्थ का निश्चय भी नहीं कर सकते हैं ।

मीमांसक मानते हैं कि स्व-पर अर्थ का निश्चय करने वाले प्रमाता (ज्ञाता) आत्मा के सिद्ध हो जाने पर भी ज्ञप्ति क्रिया का साधकतम प्रमाण (करण) ज्ञान तो अवश्य होना चाहिए । क्योंकि करणज्ञान के अभाव में क्रिया नहीं हो सकती है । जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसक का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि ज्ञप्ति क्रिया का कर्त्ता आत्मा है और उसके इन्द्रियों तथा मन का करणत्व विद्यमान है । इनसे भिन्न करण ज्ञान को मानना व्यर्थ है ।

इन्द्रिय-मन के अचेतन होने से उनके तो उपकरण मात्रता (सहायक कारणता) है । प्रधान करण तो चेतन आत्मा ही है, ऐसा भी मीमांसक का कहना युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में भावेन्द्रिय और भाव मन को चेतनात्मक रूप से व्यवस्थित माना है । अर्थात् जैन सिद्धान्त में कथंचित् भाव इन्द्रिय और भाव मन को चेतन माना है ।

परेषां चेतनतयावस्थितत्वात्। तदेव करणज्ञानमस्माकमिति चेत्, तत्परोक्षमिति सिद्धं साध्यते। लब्धयुपयोगात्मकस्य भावकरणस्य छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्। तज्जनितं तु ज्ञानं प्रमाणभूतं नाप्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्, तच्च नात्मनोऽर्थांतरमेवेति स एव स्वार्थव्यवसायी यदीष्टस्तदा व्यर्थं ततोऽपरं करणज्ञानं फलज्ञानं च व्यर्थमनेनोक्तं तस्यापि ततोऽन्यस्यैवासंभवात्।

अथवा प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे फलज्ञाने स्वार्थाकारावभासिनि सति किमतोऽन्यत्करणं ज्ञानं पोष्यते निष्फलत्वात्तस्य। तदेव तस्य फलमिति चेत्, प्रमाणादभिन्नं भिन्नं वा? यद्यभिन्नं प्रमाणमेव

मीमांसक कहता है कि हमारे सिद्धान्त में भी लब्धिरूप भावेन्द्रियों को करणज्ञान माना है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि लब्धिरूप इन्द्रियों को मीमांसक परोक्ष सिद्ध करते हैं तो सिद्धसाधन दोष आता है। अर्थात् जैन सिद्धान्त में भी लब्धि-आत्मक इन्द्रियों को परोक्ष स्वीकार किया गया है। क्योंकि वे लब्ध्यात्मक भावेन्द्रियाँ छद्मस्थ जीवों के प्रत्यक्ष नहीं हैं। परन्तु उन इन्द्रियों से उत्पन्न प्रमाणभूत ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा अप्रत्यक्ष नहीं है अर्थात् प्रत्यक्ष है। क्योंकि उस ज्ञान का स्वरूप है स्व और पर का निश्चय करना। वह स्व-पर का निश्चय कराने वाला ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है। यदि वह आत्मा ही स्व और पर के अर्थ का निश्चय करने वाला है तो उस आत्मा से भिन्न करणज्ञान को मानना व्यर्थ है। इस उक्त कथन से करणज्ञान के समान फलज्ञान को भी व्यर्थ कह दिया है। क्योंकि वह फलज्ञान भी आत्मा से सर्वथा भिन्न संभव नहीं है।

भावार्थ- लब्धिरूप ज्ञान आत्मा का अंतरंग परिणाम है। आत्मा की वह भाव शक्ति ही ज्ञान का अभ्यन्तर कारण है। वह सर्वज्ञ के अतिरिक्त छद्मस्थ जीवों के प्रत्यक्ष नहीं है। वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है, आत्मा का स्वरूप है, उस आत्मा से जब पदार्थों का निश्चय हो जाता है तो करणज्ञान और फलज्ञान को मानना व्यर्थ है।

अथवा- स्वयं को और पर-पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाले अर्थ ज्ञप्ति रूप फलज्ञान के प्रत्यक्ष हो जाने पर इस फलज्ञान से भिन्न करण ज्ञान को क्यों पुष्ट किया जाता है? क्योंकि वस्तु के प्रत्यक्ष हो जाने पर करणज्ञान निष्फल ही रहता है।

भावार्थ- यदि प्रभाकर आत्मा को प्रत्यक्ष मानता है तो करणज्ञान और फलज्ञान को मानना व्यर्थ है। यदि फलज्ञान को, स्व-पर पदार्थों को प्रत्यक्ष करना स्वीकार करते हैं तो करणज्ञान को मानना व्यर्थ है।

यदि कहो कि प्रमाणज्ञान का फल ही अर्थज्ञप्ति है तो वह फलज्ञान प्रमाण से भिन्न है कि अभिन्न है? यदि फलज्ञान प्रमाण से अभिन्न है तो वह अर्थज्ञप्तिरूप फलज्ञान प्रमाण स्वरूप हो जाता है। अतः फलज्ञान को प्रत्यक्ष मानना और उससे अभिन्न करणज्ञान को अप्रत्यक्ष (परोक्ष) मानना कैसे घटित हो सकता है। (अर्थात् प्रमाण का भी प्रत्यक्ष होना प्राभाकरों को स्वीकार करना पड़ेगा)

तदिति कथं फलज्ञाने प्रत्यक्षे करणज्ञानमप्रत्यक्षं? भिन्नं चेन्न करणज्ञानं प्रमाणं स्वार्थव्यवसायादर्थान्तरत्वाद् घटादिवत्। कथंचिदभिन्नमिति चेन्न सर्वथा करणज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं विरोधात्। प्रत्यक्षात्फलज्ञानात् कथंचिदभिन्नत्वात्।

कर्मत्वेनाप्रतिभासमानत्वात्करणज्ञानमप्रत्यक्षमिति चेन्न, करणत्वेन प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः। कथंचित्प्रतिभासते च कर्म च न भवतीति व्याघातस्य प्रतिपादितत्वात्। कथं चायं फलज्ञानं कर्मत्वेनाप्रतिभासमानमपि प्रत्यक्षमुपयन् करणज्ञानं तथा नोपैति न चेत्त्याकुलांतःकरणः। फलज्ञानं कर्मत्वेन प्रतिभासत एवेति चेत् न, फलत्वेन प्रतिभासनविरोधात्। ननु च प्रमाणस्य परिच्छित्तिः फलं सा चार्थस्य परिच्छिद्यमानता, तत्प्रतीतिः कर्मत्वप्रतीतिरेवेति

यदि प्रमाणज्ञान से फलज्ञान को भिन्न मानते हो तो करणज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि घटादिक के समान वह करणज्ञान अपने और पर-पदार्थों के निर्णय करने वाले फलज्ञान से सर्वथा भिन्न है। जैसे फलज्ञान से सर्वथा भिन्न घटादिक तटस्थ पदार्थ प्रमाण नहीं हो सकते, वैसे ही फलज्ञान से सर्वथा भिन्न करणज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकता।

यदि करणज्ञान को फलज्ञान से कथंचित् अभिन्न मानते हैं तो वह करणज्ञान सर्वथा अप्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। सर्वथा अभिन्न प्रत्यक्ष से युक्त करणज्ञान को अप्रत्यक्ष मानना विरुद्ध है। क्योंकि प्रत्यक्ष फलज्ञान से कथंचित् अभिन्न होने से वह प्रत्यक्ष होगा, अप्रत्यक्ष नहीं।

(मीमांसक) “जानना रूप क्रिया का जो कर्म होता है, वह प्रत्यक्ष होता है, परन्तु करणज्ञान ज्ञप्तिरूप क्रिया के कर्मरूप से प्रतिभासित नहीं है- अतः करणज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है” ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि जो ज्ञप्ति क्रिया का कर्म होता है वही प्रत्यक्ष होता है और जो ज्ञप्ति क्रिया का कर्म नहीं है, वह प्रत्यक्ष नहीं है। अर्थात् जो कथंचित् प्रतिभासता है वह कर्म नहीं होता है, ऐसा कहना पूर्वापरविरोध सहित है।

तथा- कर्म रूप से अप्रतिभासमान यह फलज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है और करणज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसा कहने वाला क्या अपने अन्तःकरण में व्याकुल नहीं है? अवश्य है।

फलज्ञान कर्मत्व रूप से प्रतिभासित है- ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि मीमांसक मत में कर्मत्व रूप से प्रतिभासित का फलरूप से प्रतिभास होने का विरोध है। (अर्थात् एकान्तवादियों के मत में फल और कर्म एक साथ नहीं रहते हैं। स्याद्वाद सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है।)

शंका- परिच्छित्ति (ज्ञप्ति) ही प्रमाण का फल है और अर्थ की परिच्छिद्यमानता (अर्थ को जानना) ज्ञप्ति है। उस परिच्छित्ति (ज्ञप्ति) क्रिया के द्वारा जो अर्थ की प्रतीति होती है, उसको ही ज्ञप्ति क्रिया के कर्मत्व की प्रतीति कहते हैं- अतः फलरूप परिच्छित्ति को कर्मत्व सिद्ध हो जाता है।

उत्तर- जैनाचार्य कहते हैं कि प्रमाण के फलरूप वह परिच्छित्ति (ज्ञप्ति) अर्थ का धर्म है? यदि ज्ञप्ति को अर्थ का धर्म मानते हैं तो अर्थ के समान ज्ञप्ति भी पदार्थ का धर्म (स्वभाव) होने से प्रमाण का फल नहीं हो सकेगी। अर्थात् जैसे पुद्गल का धर्म कृष्ण आदि प्रमाण का फल नहीं है, वैसे ज्ञप्ति भी अर्थ का धर्म होने से प्रमाण का फल नहीं हो सकेगी। उसको प्रमाण का फल मानने पर विरोध आयेगा (क्योंकि ज्ञप्ति चेतन स्वरूप है, उसको अचेतन पदार्थ का धर्म मानना विरुद्ध है।)

चेत् । किं पुनरियं परिच्छित्तिरर्थधर्मः? तथोपगमे प्रमाणफलत्वविरोधोऽर्थवत् । प्रमातृधर्मः सेति चेत् कथं, कर्मकर्तृत्वेन प्रतीतेः । न कर्मकारकं नापि कर्तृकारकं परिच्छित्तिः क्रियात्वात् क्रियायाः कारकत्वायोगात् । क्रियाविशिष्टस्य द्रव्यस्यैव कारकत्वोपपत्तेरिति चेत् । तर्हि न फलज्ञानस्य कर्मत्वेन प्रतीतिर्युक्ता क्रियात्वेनैव फलात्मना प्रतीतिरिति न प्रत्यक्षत्वसंभवः करणज्ञानवदात्मवद्वा ।

तस्यापि च परोक्षत्वे प्रत्यक्षोऽर्थो न सिद्ध्यति ।

ततो ज्ञानावसायः स्यात् कुतोऽस्यासिद्धवेदनात् ॥२२४॥

फलज्ञानमात्मा वा परोक्षोऽस्तु करणज्ञानवदित्ययुक्तमर्थस्य प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । प्रत्यक्षां स्वपरिच्छित्तिमधितिष्ठन्नेव ह्यर्थः प्रत्यक्षो युक्तो नान्यथा, सर्वस्य सर्वदा सर्वथार्थस्य

यदि अर्थ की ज्ञप्ति को प्रमाता (आत्मा) का धर्म मानोगे तब तो वह अर्थ की ज्ञप्ति कर्म रूप से प्रतीत कैसे हो सकती है। (क्योंकि मीमांसक सिद्धान्त में कर्ता और कर्म दोनों के एक साथ रहने का विरोध है।)

(मीमांसक) परिच्छित्ति कर्ताकारक भी नहीं है और कर्मकारक भी नहीं है। क्योंकि परिच्छित्ति क्रिया रूप है और क्रिया के कारकत्व का अयोग है। परन्तु क्रियाविशिष्ट द्रव्य के ही कारकत्व (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) की उत्पत्ति (निष्पत्ति) सिद्ध है। जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसक के इस कथन से फलज्ञान की कर्मपने से प्रतीति होना युक्त नहीं हो सकता। अर्थात् फलज्ञान की कर्मत्व से प्रतीति होती है, यह कथन युक्तिसंगत नहीं होगा। क्योंकि मीमांसक के कथनानुसार प्रमाण के फलस्वरूप ज्ञप्ति की क्रियारूप से ही प्रतीति होती है। अतः करणज्ञान के समान वा आत्मा के समान फलज्ञान का प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है। अर्थात् जैसे मीमांसक मत में प्रमाण ज्ञान और आत्मा कर्म न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है, वैसे फलज्ञान भी कर्म न होने से प्रत्यक्ष नहीं है।

तथा फलज्ञान का भी परोक्षत्व मान लेने पर घट, पट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध नहीं होगा। और जिस का प्रत्यक्ष होना असिद्ध है (वा जिसका वेदन होना ही असिद्ध है) उस ज्ञान से पदार्थों का निर्णय वा ज्ञान का निश्चय कैसे हो सकता है? ॥२२४॥

प्रमाणात्मक करणज्ञान के समान फलज्ञान और प्रमाता आत्मा भी परोक्ष है अर्थात् इन तीनों की स्वसंवेदन ज्ञान से वा ज्ञानान्तर से प्रत्यक्षता नहीं है। ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर पदार्थों की प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं हो सकती। जो ज्ञान स्व को जानने वाली प्रत्यक्षात्मक परिच्छित्ति पर आरुढ़ है- वही पदार्थ का निश्चय कर सकता है, यह कहना युक्त है। अन्यथा जो अपने विषयी ज्ञान की प्रत्यक्षरूप ज्ञप्ति होने पर आरुढ़ नहीं है उसका प्रत्यक्ष होना मानना अयुक्त है। यदि स्व का प्रत्यक्ष किये बिना ही पदार्थों का प्रत्यक्ष होना मान लिया जायेगा तो सभी काल में सभी जीवों के सर्व प्रकार से पदार्थों के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् ज्ञान के प्रत्यक्ष हुए बिना ही पदार्थ प्रत्यक्ष हो जायेंगे तो सभी के सर्वज्ञ होने का प्रसंग आयेगा।

प्रत्यक्षत्वप्रसंगात्। तथात्मनः परोक्षत्वे संतानांतरस्येवार्थः प्रत्यक्षो न स्यादन्यथा सर्वात्मांतरप्रत्यक्षः सर्वस्यात्मनः प्रत्यक्षोऽसौ किं न भवेत्? सर्वथा विशेषाभावात्। ततश्चाप्रत्यक्षादर्थात् न कुतश्चित्परोक्षज्ञाननिश्चयोऽस्य वादिनः स्यात् येनेदं शोभेत। ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छतीति। नाप्यसिद्धसंवेदनात्पुरुषात्तन्निश्चयो यतोऽनवस्था न भवेत्। तल्लिङ्गज्ञानस्यापि परोक्षत्वे अपरानुमानान्निर्णयान्तल्लिङ्गस्याप्यपरानुमानादिति। स्वसंवेद्यत्वादात्मनो नानवस्थेति चेत् न, तस्य ज्ञानासंवेदकत्वात्। तत्संवेदकत्वे वार्थसंवेदकत्वं तस्य किं न स्यात्? स्वतोऽर्थांतरं कथंचिद्

उसी प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष होना न मानकर आत्मा को परोक्षत्व स्वीकार करोगे तो सन्तानान्तर आत्माओं के समान अपनी आत्मा को भी पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होगा। अर्थात् दूसरे के ज्ञान से जैसे हम नहीं जान सकते, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं है; वैसे हमारी आत्मा हमारे स्वसंवेदन में नहीं आयेगी तो हम प्रत्यक्ष पदार्थों को नहीं जान सकेंगे। अन्यथा (अपनी आत्मा के परोक्ष-स्वसंवेदनप्रत्यक्ष न होने पर भी पदार्थों का प्रत्यक्ष होना मानोगे तो) सम्पूर्ण अन्य मानव, पशु-पक्षियों के द्वारा ज्ञात विषय सर्व प्राणियों के प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा। अर्थात् दूसरों के ज्ञात विषय सब को प्रत्यक्ष हो जाने चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण आत्मा और सम्पूर्ण ज्ञानों के परोक्ष होने में कोई विशेषता नहीं है। सर्वथा विशेषता का अभाव है।

तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के असत्य हो जाने पर किसी भी अप्रत्यक्ष अर्थ से परोक्षवादी मीमांसक के परोक्ष ज्ञान की सत्ता का निर्णय किसी भी अनुमान से न हो सकेगा। जिससे मीमांसकों का यह कथन शोभित हो सकता हो कि “पदार्थों के ज्ञात हो जाने पर अनुमान से बुद्धि (ज्ञान) को जान लिया जाता है।” अर्थात् जब ज्ञान का निर्णय नहीं है तो ज्ञान के विषयभूत पदार्थों का निर्णय कैसे हो सकता है और बिना हेतु के बुद्धि रूप साध्य का अनुमान कैसे हो सकता है?

असिद्ध संवेदन (जिसका संवेदन सिद्ध नहीं है ऐसे) वाले आत्मा के द्वारा स्वकीय परोक्षज्ञान की सत्ता का निर्णय नहीं हो सकता है। जिससे कि अनवस्था दोष न हो। अर्थात् अज्ञात अप्रत्यक्ष आत्मा से परोक्ष ज्ञान का निर्णय करने पर अनवस्था दोष अवश्य आता है। क्योंकि ज्ञान को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिया गया है- उस हेतु के ज्ञान को भी (आप) परोक्ष मानेंगे तो उस हेतु के ज्ञान का दूसरे अनुमान से निर्णय करना पड़ेगा और उसका तीसरे अनुमान से निश्चय करना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा।

(यदि मीमांसक यो कहें कि) आत्मा स्वसंवेद्य है इसलिए अनवस्था दोष नहीं है तो ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि मीमांसक मत में आत्मा को ज्ञान का स्वसंवेदन करने वाला नहीं माना है। यदि आत्मा को स्वसंवेदक- अपना संवेदन करने वाला मानेंगे तो आत्मा के अर्थ का संवेदन करना क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा। अर्थात् जो ज्ञान का संवेदन करता है वह अपना संवेदन अवश्य करता है और जो ज्ञान का संवेदक नहीं है वह स्व का संवेदक भी नहीं हो सकता। यदि आत्मा अपने ज्ञान का संवेदन करता है तो वह आत्मा अर्थ का संवेदक अवश्य होगा।

ज्ञानमात्मा संवेदयते न पुनरर्थमिति किंकृतोऽयं नियमः? संवेदयमानोपि ज्ञानमात्मा ज्ञानांतरेण संवेदयते स्वतो वा? ज्ञानांतरेण चेत्, प्रत्यक्षेणेतरेण वा? न तावत्प्रत्यक्षेण सर्वस्य सर्वज्ञानस्य परोक्षत्वोपगमात्। नापीतरेण ज्ञानेन संतानांतरज्ञानेनेव तेन ज्ञातुमशक्तेः। स्वयं ज्ञातेन चेत्? ज्ञानांतरेण स्वतो वा? ज्ञानांतरेण चेत्, प्रत्यक्षेणेतरेण वेत्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकमेतत्। स्वतो ज्ञानमात्मा संवेदयते स्वरूपवदिति चेत्, तथैव ज्ञानमर्थं स्वं च स्वतः किं न वेदयते? यतः परोक्षज्ञानवादो महामोहविजृम्भित एव किं न स्यात्।

कथंचित् स्व (अपने) से (अर्थान्तर) भिन्न ज्ञान का आत्मा संवेदन करता है तो फिर 'अपने से सर्वथा भिन्न पदार्थों को नहीं जानता है,' यह नियम किस लिए किया गया हैं? (ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है।)

ज्ञान का संवेदन करने वाला आत्मा दूसरे ज्ञान से अपना संवेदन करता है कि स्वतः अपने ज्ञान से अपना संवेदन करता है? यदि आत्मा स्वसंवेदन दूसरे ज्ञान से करता है तो वह दूसरे प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अपना संवेदन करता है कि परोक्ष ज्ञान के द्वारा अपना वेदन करता है; ऐसा मानना तो उचित नहीं है- क्योंकि ऐसा मानने पर अपसिद्धान्त दोष (आपके सिद्धान्त के विरुद्ध कथन) होगा। क्योंकि मीमांसक मत में सर्व आत्माओं और सर्व ज्ञानों को परोक्ष ही स्वीकार किया है। दूसरे अपने से भिन्न परोक्ष ज्ञान के द्वारा आत्मा अपना संवेदन करता है ऐसा मानना भी उचित नहीं है- क्योंकि अन्य संतानों के द्वारा ज्ञात पदार्थों को जैसे हम नहीं जान सकते हैं- क्योंकि उन अन्य आत्माओं का ज्ञान हमको प्रत्यक्ष नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा से भिन्न हमारे उस परोक्ष ज्ञान के द्वारा हम घट, पट आदि को नहीं जान सकेंगे।

स्वयं जाने हुए परोक्ष ज्ञान से आत्मा को जानना इष्ट करेंगे तो परोक्ष ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान ज्ञानान्तर से होता है कि स्वतः होता है? यदि ज्ञानान्तर से होता है तो प्रत्यक्षज्ञान से होता है कि परोक्ष ज्ञान से होता है? इस प्रकार बार-बार आवृत्ति होने से चक्रक दोष आयेगा।

जैसे अपने स्वरूप का आत्मा स्वयं वेदन करता है, वैसे ज्ञान का भी वेदन आत्मा स्वयं करता है। ऐसा मानते हो तब तो बहिरंग पदार्थों का संवेदन आत्मा स्वयं क्यों नहीं करता है- (अवश्य करता है) इसलिए मीमांसकों का परोक्ष ज्ञानवाद महामोह से विजृम्भित (व्याप्त) क्यों नहीं है।

भावार्थ- जैसे आत्मा स्व को और स्व ज्ञान को स्वयं वेदन करता है, जानता है, वैसे ज्ञान बाह्य पदार्थों को भी स्व शक्ति से जान लेता है- क्योंकि ज्ञान दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक है। परन्तु स्वयं अपने ज्ञान और आत्मा का अनुभव करते हुए भी मीमांसक अपने आत्मा को प्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं करते हैं, यह उनके मिथ्यात्व कर्म का उदय ही है जो स्वयं अनुभूत वस्तु का श्रद्धान नहीं करने देता है।

कथं चात्मा स्वसंवेद्यः संवित्तिर्नोपगम्यते ।

येनोपयोगरूपोऽयं सर्वेषां नाविगानतः ॥२२५॥

कुतः पुनरुपयोगात्मा नरः सिद्ध इति चेत्—

कथंचिदुपयोगात्मा पुमानध्यक्ष एव नः ।

प्रतिक्षणविवर्तादिरूपेणास्य परोक्षता ॥२२६॥

स्वार्थाकारव्यवसायरूपेणार्थालोचनमात्ररूपेण च ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकः पुमान् प्रत्यक्ष
एव तथा स्वसंविदितत्वात् । प्रतिक्षणपरिणामेन

आत्मा स्वयं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जानने योग्य है। यह प्रमिति स्वीकार क्यों नहीं की जाती है? जिससे कि सम्पूर्ण वादी-प्रतिवादियों को निर्दोष रूप से यह आत्मा ज्ञानोपयोग स्वरूप सिद्ध न हो सके। अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा उपयोग स्वरूप सिद्ध हो जाता है ॥२२५॥

आत्मा उपयोगात्मक है

शंका- आत्मा उपयोगात्मक है, ऐसा सिद्ध कैसे होता है?

उत्तर- आचार्य कहते हैं-

हमारे (स्याद्वाद) सिद्धान्त में आत्मा कथंचित् सर्वांग रूप से उपयोगात्मक है। वह उपयोगात्मक आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है तथा प्रतिक्षण होने वाली सूक्ष्म अर्थ पर्यायों की अपेक्षा आत्मा के परोक्षता भी है। अर्थात् अस्तित्व-वस्तुत्व गुणों का आधारभूत आत्मा कथंचित् प्रत्यक्ष है और कथंचित् प्रत्येक क्षण में होने वाली स्वभाव-विभाव आदि पर्यायों की अपेक्षा आत्मा परोक्ष रूप भी है। अंश अंशी में अभेद होने के कारण कथंचित् उपयोगात्मक आत्मा प्रत्यक्ष है और कथंचित् अप्रत्यक्ष है, ऐसा जानना चाहिए ॥२२६॥

अंतरंग (अपनी आत्मा) और बहिरंग पदार्थों का निश्चय करने वाले ज्ञान से आत्मा ज्ञानोपयोगात्मक है और पदार्थों का सत्तारूप अवलोकन करने वाले दर्शन की अपेक्षा आत्मा दर्शनोपयोगात्मक है। ऐसा ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने से प्रत्यक्ष है। अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के कारण आत्मा सभी जीवित आत्माओं के अनुभव में आ रही है 'जैसे मैं खा रहा हूँ' इसमें प्रत्यक्ष मैं (आत्मा) का अनुभव हो रहा है।

आत्मा अनुमेय है

प्रत्येक समय में होने वाली पर्यायों के द्वारा आत्मा अनुमेय (अनुमान का विषय) है। क्योंकि अनुमान के बिना एक समय में होने वाले विशेष परिणामों को पृथक्-पृथक् जानना शक्य नहीं है।

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा है, यह भी अनुमान से जाना जाता है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा में जानने-देखने की शक्ति में भेद प्रतीत होता है। अतः आत्मा क्षयोपशम विशेष से युक्त है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

स्वावरणक्षयोपशमविशिष्टत्वेनासंख्यातप्रदेशत्वादिना

चानुमेयः

प्रवचनसमधिगम्यक्षात्यंतपरोक्षरूपेणेति निर्णेतव्यं बाधकाभावात्।

स्वरूपं चेतना पुंसः सदीदासीन्यवर्तिनः।

प्रधानस्यैव विज्ञानं विवर्त इति चापरे ॥२२७॥

तेषामध्यक्षतो बाधा ज्ञानस्यात्मनि वेदनात्।

भ्रांतिश्चेन्नात्मनस्त्वेन शून्यस्यानवधारणात् ॥२२८॥

यथात्मनि चेतनस्य संवेदनं मयि चैतन्यं, चेतनोऽहमिति वा तथा ज्ञानस्यापि मयि ज्ञानं ज्ञाताहमिति वा प्रत्यक्षतः सिद्धेर्यथोदासीनस्य पुंसश्चैतन्यं स्वरूपं तथा ज्ञानमपि, तत्प्रधानस्यैव विवर्तं ब्रूवाणस्य प्रत्यक्षबाधा। ज्ञानस्यात्मनि संवेदनं भ्रांतिरिति चेत् न, स्यात्तदैवं यदि

संकोच-विस्तार वाला होने से आत्मा असंख्यातप्रदेशी है, सुख-दुःख का भोक्ता है, ऊर्ध्व गमन करने वाला है- इत्यादि के द्वारा भी आत्मा अनुमेय है। अर्थात् आत्मा के ये सब गुण अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं और आत्मा से वे गुण अभिन्न हैं- अतः आत्मा अनुमेय है।

आत्मा आगमगम्य भी है

यह आत्मा आगमगम्य भी है। क्योंकि आत्मा के ज्ञानादि गुणों के अविभागप्रतिच्छेद, अगुरुलघुगुण, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि गुण आगम के द्वारा जाने जाते हैं। इस प्रकार आत्मा किसी अपेक्षा से (स्वसंवेदनज्ञान की अपेक्षा से) प्रत्यक्ष है। किसी अपेक्षा आत्मा अनुमानगम्य है। तथा अत्यन्त परोक्ष ज्ञान गुणों के अविभागीप्रतिच्छेद, अगुरुलघुगुण, षट्गुणी हानि-वृद्धि आदि की अपेक्षा आत्मा आगमगम्य है। अतः अत्यन्त परोक्ष रूप आत्मा का प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम द्वारा निर्णय करना चाहिए। क्योंकि इसमें बाधक प्रमाणों का अभाव है।

इस प्रकार मीमांसक विवक्षा समाप्त हुई। अब सांख्य मत का विचार करते हैं—

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जड़ प्रकृति का पर्याय नहीं

निरन्तर उदासीनता से परिवर्तन (परिणमन) करने वाले वा रहने वाले आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। परन्तु विज्ञान तो प्रधान की पर्याय है। (प्रकृति का परिणाम है) इस प्रकार कोई (सांख्यमतानुयायी कपिल) कहता है। परन्तु उसका यह कथन प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, क्योंकि ज्ञान का आत्मा में प्रत्यक्ष वेदन हो रहा है। अतः ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जड़ प्रकृति की पर्याय नहीं है।

आत्मा में ज्ञान का वेदन होता है यह भ्रान्ति है, वास्तव में ऐसा नहीं है। (सांख्य का) ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि ज्ञान से (उपयोग से) रहित आत्मा का निर्णय नहीं हो सकता है। सर्वदा आत्मा ज्ञान सहित ही प्रतीत होता है। कभी भी आत्मा ज्ञानरहित प्रतीत नहीं होता है ॥२२७-२२८॥

जिस प्रकार आत्मा में चैतन्य का संवेदन होता है कि 'मेरे में चैतन्य है, अथवा मैं चैतन्य स्वरूप हूँ' (ऐसा अनुभव होता है) उसी प्रकार ज्ञान का भी 'मेरे में ज्ञान है' मैं ज्ञाता हूँ इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो रही है। इसलिए जैसे उदासीन आत्मा का स्वरूप चैतन्य है, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है। अतः ज्ञान को जड़ प्रकृति (प्रधान) की पर्याय कहना प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधित है।

ज्ञानशून्यस्यात्मनः कदाचित्संविदभ्रांता स्यात्। सर्वदा ज्ञानसंसर्गादात्मनो ज्ञानित्वसंवित्तिरिति चेत्—

औदासीन्यादयो धर्माः पुंसः संसर्गजा इति।

युक्तं सांख्यपशोर्वक्तुं ध्यादिसंसर्गवादिनः ॥२२९॥

ज्ञानसंसर्गतो ज्ञानी सुखसंसर्गतः सुखी पुमान् तु स्वयमिति वदतः सांख्यस्य पशोरिवात्मानमप्यजानतो युक्तं वक्तुमौदासीन्यस्य संसर्गादुदासीनः पुरुषः चैतन्यसंसर्गाच्चेतनो, भोक्तृत्वसंसर्गाद्भोक्ता, शुद्धिसंसर्गाच्च शुद्ध इति, स्वयं तु ततो विपरीत इति विशेषाभावात्। न हि तस्यानवबोधस्वभावतादौ प्रमाणमस्ति।

आत्मा में ज्ञान का संवेदन होता है, यह मानना भ्रान्ति है अर्थात् आत्मा और प्रधान का संसर्ग होने से- आत्मा में ज्ञान की भ्रान्ति होती है; ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार का कथन कि 'आत्मा में ज्ञान की भ्रान्ति है', सर्वथा ज्ञानशून्य आत्मा में घटित हो सकता है। अर्थात् किसी समय मूल रूप से ज्ञान रहित आत्मा का भ्रान्ति रहित संवेदन होता तो कह सकते थे कि आत्मा में ज्ञान की भ्रान्ति होती है। परन्तु इसके विपरीत ज्ञान सहित आत्मा का सर्वदा ही अभ्रान्त प्रतिभास हो रहा है।

सांख्य कहता है- सर्वदा ज्ञान का संसर्ग होने से आत्मा के ज्ञानीपन की संवित्ति-ज्ञप्ति होती है, वास्तव में आत्मा ज्ञानी नहीं है।

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि- बुद्धि सुख-दुःख आदि धर्मों को प्रकृति के संसर्ग से आत्मा में कहने वाले सांख्य रूप पशु के सिद्धान्त में "उदासीनता, भोक्तृत्व, चैतन्य आदि धर्म भी आत्मा में प्रकृति के संसर्ग से होते हैं"- ऐसा कहना युक्त होगा। अर्थात् जिस प्रकार सांख्य सिद्धान्तानुसार आत्मा में ज्ञान सुख दुःख आदि प्रकृति के संसर्ग से कहे जाते हैं, उसी प्रकार चैतन्य आदि गुण भी प्रकृति के संसर्ग से मानने युक्त होंगे ॥२२९॥

ज्ञान के संसर्ग से आत्मा ज्ञानी है, सुख के संसर्ग से आत्मा सुखी है- स्वयं स्वभाव से आत्मा ज्ञानी व सुखी नहीं है। इस प्रकार कहने वाले पशु के समान आत्मा को नहीं जानने वाले, सांख्य को ऐसा भी कहना युक्त हो सकता है कि उदासीनता के संसर्ग से आत्मा उदासीन है, चैतन्य के संसर्ग से आत्मा चैतन्य है, भोक्तृगुण के संसर्ग से आत्मा भोक्ता है। शुद्धि के संसर्ग से आत्मा शुद्ध है। स्वयं तो इससे विपरीत है। अर्थात् स्वयं स्वभाव से आत्मा न उदासीन है, न भोक्ता है और न शुद्ध है। क्योंकि ज्ञान गुण के संयोग से आत्मा ज्ञानी होता है, वैसे ही चेतन गुण के संयोग से आत्मा चेतन है। इन दोनों में विशेषता का अभाव है क्योंकि आत्मा के अज्ञान स्वभाव आदि मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

सदात्मानवबोधादिस्वभावश्चेतनत्वतः ।

सुषुप्तावस्थवन्नायं हेतुर्व्याप्यात्मवादिनः ॥२३०॥

स्वरूपासिद्धो हि हेतुरयं व्यापिनमात्मानं वदतः कुतः—

जीवो ह्यचेतनः काये जीवत्वाद्वाह्यदेशवत् ।

वक्तुमेवं समर्थोऽन्यः किं न स्याज्जडजीववाक् ॥२३१॥

कायाद्बहिरचेतनत्वेन व्याप्तस्य जीवत्वस्य सिद्धेः कायेऽप्यचेतनत्वसिद्धिरिति नानवबोधादिस्वभावत्वे साध्ये चेतनत्वं साधनमसिद्धस्यासाधनत्वात् ।

सांख्य कहता है-

आत्मा चेतन होने से ज्ञान सुख स्वभाव वाला है

सदा ही आत्मा अज्ञान स्वभाव और असुख स्वभाव वाला है, क्योंकि चेतन है। जो-जो चेतन स्वभाव वाला है, वह अज्ञान स्वभाव और असुख स्वभाव वाला है। जैसे गाढ़ निद्रा में सुप्त मानव ज्ञान और सुख से रहित अज्ञानी होता है; उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी आत्मा अज्ञान और असुख स्वभाव वाला है। जैनाचार्य कहते हैं कि आत्मा को व्यापक मानने वाले सांख्य द्वारा कथित चेतन हेतु असिद्ध हेत्वाभास है ॥२३०॥

अर्थात् चेतन होने से आत्मा अज्ञ है। इस प्रकार आत्मा को स्वभाव से अज्ञ सिद्ध करने के लिए दिया गया चेतनत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

तथा आत्मा को व्यापी कहने वाले सांख्य का यह चेतनत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

प्रश्न- स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कैसे है?

उत्तर- कोई इस प्रकार भी कह सकते हैं कि शरीर में स्थित आत्मा निश्चय से अचेतन है, जीवत्व होने से, जो-जो जीव होते हैं वे अचेतन होते हैं जैसे कि शरीर के बाह्य देश में स्थित जीव अचेतन हैं। इस हेतु के द्वारा जीव को सर्वथा जड़ होने का सिद्धान्त वचन क्यों नहीं होगा अर्थात् शरीर में भी जीव अचेतन हो जायेगा ॥२३१॥

सम्पूर्ण देश-देशान्तर में व्याप्त सम्पूर्ण मूर्त वा अचेतन द्रव्यों के साथ आत्मा संयोग रखता है। इसलिए जैसे शरीर के बाह्य सर्वत्र व्याप्त जीव के अचेतन की सिद्धि होने से काय में भी अचेतनत्व की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् वह जीवत्व हेतु विवादग्रस्त शरीर में स्थित आत्मा में ही देखा जाता है इसलिए अचेतनत्व साध्य को सिद्ध कर देता है। अतः आत्मा के ज्ञान, सुख आदि स्वभाव रहितता सिद्ध करने के लिए दिया गया चेतनत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि शरीर से बाह्य आत्मा के अचेतन होने से चेतनत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास, स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

शरीराद्बहिरप्येष चेतनात्मा नरत्वतः ।

कायदेशवदित्येतत्प्रतीत्या विनिवार्यते ॥२३२॥

काये चेतनत्वेन प्राप्तस्य नरत्वस्य दर्शनात्ततो बहिरप्यात्मनश्चेतनत्वसिद्धेर्नासिद्धसाधनमिति न मंतव्यं प्रतीतिबाधनात् । तथा हि—

तथा च बाह्यदेशेऽपि पुंसः संवेदनं न किम् ।

कायदेशवदेव स्याद्विशेषस्याप्यसंभवात् ॥२३३॥

यस्य हि निरतिशयः पुरुषस्तस्य कायेऽन्यत्र च न तस्य विशेषोऽस्ति यतः काये संवेदनं न ततो बहिरिति युज्यते ।

कायाद्बहिरभिव्यक्तेरभावात्तदवेदने ।

पुंसो व्यक्तेतराकारभेदान्नेदः कथं न ते ॥२३४॥

शरीर से बाह्य स्थित आत्मा भी चेतन है, क्योंकि वह आत्मा है। जो-जो आत्मा है वह चेतन है, जैसे शरीर में स्थित आत्मा चेतन है। इस प्रकार शरीर से बाह्य स्थित आत्मा भी चेतन है क्योंकि वह आत्मा है। इस प्रकार कापिलों का यह अनुमान तो प्रसिद्ध प्रतीति से रोक दिया जाता है ॥२३२॥

शरीर में स्थित आत्मा को चेतनत्व से व्याप्त देखकर शरीर के बाह्य भी आत्मा में चेतना सिद्ध की जाती है। अर्थात् शरीर के भीतर आत्मा को चेतनता व्याप्त देखा जाता है। अतः शरीर से बाह्य स्थित आत्मा में भी चेतनता असिद्ध नहीं है। अतः आत्मा को अज्ञ सिद्ध करने के लिए दिया गया चेतनत्व हेतु असिद्ध नहीं है। (जैनाचार्य कहते हैं कि कपिल को) ऐसा नहीं मानना चाहिए- क्योंकि शरीर से बाह्य घट-पटादि में आत्मा की सत्ता मानना प्रतीति से बाधित है। इसी कथन को स्पष्ट करते हैं-

(जैनाचार्य) यदि शरीर-बाह्य घट-पटादि पदार्थों में स्थित आत्मा में चेतन है तो उसका वेदन क्यों नहीं होता है? जैसे शरीर में स्थित आत्मा को सुख-दुःख आदि का वेदन होता है शरीर से बाह्य स्थित आत्मा में भी सुख दुःख का वेदन होना चाहिए। क्योंकि शरीर में स्थित और शरीर बाह्य स्थित दोनों आत्माओं में विशेषता की असंभवता है ॥२३३॥

जिस (कपिल) के मत में आत्मा निरतिशय (किसी भी अंश में कोई अतिशय नहीं है, अखण्ड रूप से सारे विश्व में व्याप्त) है। उनके मत में ऐसा कौनसा विशेष है जिससे शरीरस्थ आत्मा में सुख-दुःख आदि का वेदन होता है। शरीर से बाह्य स्थित आत्मा में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है। यह युक्तिसंगत नहीं है।

शरीरबाह्य आत्मा के अभिव्यक्ति का अभाव है अतः तिरोभूत आत्मा का शरीर से बाह्य संवेदन नहीं होता है। इस प्रकार कपिल के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार आत्मा के व्यक्त और अव्यक्त दो भेद क्यों नहीं होंगे, अवश्य होंगे। (और आत्मा के दो भेद सिद्ध हो जाने पर 'आत्मा अखण्ड एक सर्व जगद्व्यापी है' इस प्रकार के सिद्धान्त का व्याघात होता है) ॥२३४॥

कायेऽभिव्यक्तत्वात् पुंसः संवेदनं न ततो बहिरनभिव्यक्तत्वादिति ब्रुवाणः कथं तस्यैकस्वभावतां साधयेत्, व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदस्य सिद्धेः। यत्र व्यक्तसंसर्गस्तत्रात्मा संवेद्यते नान्यत्रेत्यप्यनेनापास्तम्।

निरंशस्य क्वचिदेव व्यक्तसंसर्गस्येतरस्य वा सकृदयोगात्। सकृदेकस्य परमाणोः परमाण्वंतरेण संसर्गं क्वचिदन्यत्र वासंसर्गं प्रतिपद्यत इति चेत् न, तस्यापि क्वचिद्देशे सतो देशांतरे च तदसिद्धेः। गगनवत्स्थादिति चेत् न, तस्यानंतप्रदेशतया प्रसिद्धस्य तदुपपत्तेरन्यथात्मवदघटनात्।

शरीर स्थित आत्मा अभिव्यक्त है- इसलिए आत्मा का वेदन होता है और शरीर बाह्य स्थित आत्मा अभिव्यक्त नहीं है- इसलिए उसका संवेदन नहीं होता है। इस प्रकार कहने वाला कपिल आत्मा की एकस्वभावता कैसे सिद्ध कर सकता है। क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त के भेद से आत्मा के दो भेद सिद्ध हो जाते हैं।

जहाँ आत्मा में व्यक्त (शरीर, इन्द्रिय, मन, पुण्य, पाप, श्वासोच्छ्वास आदि) प्रकृति की पर्यायों का संसर्ग होता है- वहाँ आत्मा का संवेदन होता है- परन्तु जहाँ शरीर आदि व्यक्त पदार्थों का संसर्ग नहीं है वहाँ शरीर से बाह्य अन्य स्थानों में स्थित आत्मा का संवेदन नहीं होता है। इस प्रकार कहने वाले कपिल का भी पूर्वोक्त कथन से खण्डन हो जाता है। क्योंकि कपिल द्वारा कल्पित निरंश आत्मा के कहीं पर शरीर आदि व्यक्त प्रकृति पर्याय का संसर्ग हो, और किसी स्थान पर अव्यक्त संसर्ग हो, इस प्रकार एक आत्मा में देशभेद से एक साथ भिन्न-भिन्न का अयोग है। अर्थात् एक निरंश अखण्ड जगद्व्यापी आत्मा में एक साथ व्यक्त और अव्यक्त संसर्ग घटित नहीं हो सकता।

अंशरहित एक परमाणु का जैसे किसी एक परमाणु से संसर्ग और उसी समय किसी दूसरे देश में अन्य परमाणुओं का असंसर्ग जाना जाता है (होता है)। अर्थात् जैसे निरंश एक परमाणु संसर्ग और असंसर्ग दोनों स्वभावों को एक समय में धारण करता है, वैसे ही निरंश आत्मा भी एक समय में व्यक्त के संसर्ग और असंसर्ग दोनों स्वभावों को धारण करती है। कपिल का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि वास्तव में परमाणु निरंश नहीं है। अतः किसी देश में विद्यमान हो रहे उस परमाणु का भी देशान्तर में स्थित रहना सिद्ध नहीं होता है। परमाणु व्यापक नहीं है। भावार्थ- परमाणु सर्वथा निरंश नहीं है- वह षट्कोणात्मक है- अतः उसका एक परमाणु के साथ सम्बन्ध और दूसरे परमाणु के साथ असम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। परन्तु कपिल के मत में आत्मा सर्वथा निरंश है, इसलिए निरंश व्यापक आत्मा के दो विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करने में परमाणु का दृष्टान्त सम नहीं है, अपितु विषम है। आत्मा और परमाणु दोनों ही सांश होकर ही संसर्ग और असंसर्ग इन दो विरुद्ध धर्मों को धारण कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

जिस प्रकार निरंश आकाश अनेक पदार्थों के साथ संसर्ग रखता हुआ व्यापक है, वैसे ही निरंश आत्मा भी व्यापक है परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है- क्योंकि अनन्त प्रदेशों से प्रसिद्ध उस आकाश के अनेक देशों में रहना (व्यापकपना) घटित हो सकता है अन्यथा (यदि आकाश अनन्तप्रदेशी न हो तो) आत्मा के समान उसका भी सर्व देशों में रहना घटित नहीं हो सकता।

नन्वेकं द्रव्यमनंतपर्यायान् सकृदपि यथा व्याप्नोति तथात्मा व्यक्तविवर्तशरीरेण संसर्गं क्वचिदन्यत्र वाऽसंसर्गं प्रतिपद्यत इति चेन्न, वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मकस्य जात्यंतरत्वात्, व्याप्यव्यापकभावस्य नयवशात्तत्र निरूपणात्। नैवं नानैकस्वभावः पुरुषो जात्यंतरतयोपेयते निरतिशयात्मवादविरोधादिति। कायेऽभिव्यक्तौ ततो बहिरभिव्यक्तिप्रसक्तेः सर्वत्र संवेदनमसंवेदनं नोचेत् नानात्वापत्तिर्दुःशक्या परिहर्तुं। ततो नैतौ सर्वगतात्मवादिनौ चेतनत्वमचेतनत्वं वा

भावार्थ- आकाश अनन्तप्रदेशी है, अतः सर्वव्यापी है। यदि आकाश अनन्त प्रदेशी (सावयवी) नहीं हो तो यह सर्वव्यापी नहीं हो सकता। परन्तु कपिल तो आत्मा को प्रदेश रहित निरंश मानता है, वह जगद्व्यापी कैसे हो सकता है। निरंश आत्मा में क्वचित् स्थान में व्यक्त संसर्ग से आत्मा का वेदन हो और किसी स्थान में व्यक्त संसर्ग का अभाव होने से आत्मा का वेदन न हो, यह घटित नहीं हो सकता।

प्रश्न- जैसे जैनमत में एक ही द्रव्य अनन्त पर्यायों को एक साथ व्याप्त कर लेता है- वैसे ही आत्मा व्यक्त पर्याय रूप शरीर के साथ संसर्ग को और अन्यत्र (पर्वत नदी आदि स्थानों में) असंसर्ग को धारण करता है।

उत्तर- इस प्रकार कपिल का कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि जैन सिद्धान्त में द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु को जात्यन्तर स्वभाव वाली स्वीकार किया गया है। अर्थात् वह वस्तु कथंचित् पर्याय से अभिन्न है, कथंचित् भिन्न है और कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक है। अतः नयों की विवक्षा से एक ही वस्तु के व्याप्य और व्यापक भाव का निरूपण कर देते हैं। अर्थात् पर्यायों से भिन्न द्रव्य नहीं है, गुण-पर्यायों का समुदाय ही द्रव्य है। अतः द्रव्य व्यापक है और व्याप्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में व्याप्य-व्यापक भाव घटित हो जाता है। अतः कथंचित् भिन्न स्वभावों से नित्य द्रव्य रूप अंशों में तथा अनित्य पर्याय रूप अंशों में वस्तु व्यापक रह जाती है परन्तु कपिल के मत में इस प्रकार स्याद्वाद मत के अनुसार अनेक स्वभावों को धारण करने वाला एक पुरुष स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात् जैनधर्म में द्रव्य की अपेक्षा एक अखण्ड और पर्याय की अपेक्षा भिन्न-भिन्न जात्यन्तर स्वभाव वाला (भिन्नाभिन्नात्मा) आत्मा स्वीकार किया गया है। क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त के समान आत्मा को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न स्वीकार कर लेने पर निरतिशय निरंश कूटस्थ नित्य आत्मवादी सांख्य के सिद्धान्त में विरोध आता है और स्याद्वाद की सिद्धि होती है।

शरीर में आत्मा की अभिव्यक्ति है ऐसा मानने पर शरीर के बाह्य भी आत्मा की अभिव्यक्ति होने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि आत्मा सर्वत्र एक समान व्यापक है। इसलिए या तो आत्मा का संवेदन सर्वत्र होना चाहिए अथवा सर्वत्र ही संवेदन नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा कपिल नहीं मानेंगे तो एक आत्मा के नानात्व का परिहार करना दुःशक्य हो जायेगा। उस आत्मा को एक निरंश स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिये आत्मा को सर्वत्र व्यापक मानने वाले सांख्य और नैयायिक आत्मा के चेतनत्व और अचेतनत्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं। जिससे उनका चेतनत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास न हो।

साधयितुमात्मनः समर्थो यतोऽसिद्धं साधनं न स्यात् । स्याद्वादिनः सांख्यस्य च प्रसिद्धमेव चेतनत्वं साधनमिति चेन्नानवबोधाद्यात्मकत्वेन प्रतिवादिनश्चेतनत्वस्येष्टेस्तस्य हेतुत्वे विरुद्धसिद्धेर्विरुद्धो हेतुः स्यात् । साध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तः सुषुप्तावस्थस्याप्यात्मनश्चेतनत्वमात्रेणानवबोधादिस्वभावत्वेन चाप्रसिद्धेः । कथम्—

सुषुप्तस्यापि विज्ञानस्वभावत्वं विभाव्यते ।

प्रबुद्धस्य सुखप्राप्तिस्मृत्यादेः स्वप्नदर्शिवत् ॥२३५॥

अर्थात् स्वयं 'आत्मा अज्ञानी है- चेतन होने से' यह सिद्ध नहीं कर सकते। चेतनत्व हेतु आत्मा का अज्ञान और असुख स्वभाव सिद्ध नहीं कर सकता।

सांख्य और स्याद्वादी दोनों के सिद्धान्त में चेतनत्व सिद्ध है, ऐसा कपिल का कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि कपिल सिद्धान्त में आत्मा के ज्ञानसुखरहितात्मक चेतनत्व को इष्ट किया है। अर्थात् आत्मा को चेतन मानकर भी अज्ञ और असुख स्वभाव वाला माना है।

स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार यदि आत्मा को चेतना सहित (ज्ञानी) स्वीकार किया जायेगा तो कपिलविरुद्ध ज्ञाता आत्मा को सिद्ध करने वाला चेतन हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होता है। अर्थात् कपिल द्वारा आत्मा को ज्ञानरहित सिद्ध करने के लिए दिया गया चेतनत्व हेतु उसके विपरीत आत्मा को ज्ञाता सिद्ध करता है। अतः यह हेतु विरुद्ध है।

आत्मा को अज्ञान स्वभाव सिद्ध करने के लिये दिया गया गाढ़ निद्रा में सुप्त मानव का दृष्टान्त भी साध्य^१ साधन विकल है। क्योंकि सुप्तावस्था वाली आत्मा के भी चेतनत्व मात्र हेतु से अज्ञान स्वभाव और असुख स्वभाव की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् वास्तव में, सुप्त अवस्था में भी आत्मा ज्ञान सुख स्वभाव वाला है।

शंका- आत्मा ज्ञान-सुख-स्वभाव वाला कैसे हो सकता है?

उत्तर- सुप्त अवस्था^२ में भी आत्मा के ज्ञान-स्वभावपना अनुभव में आ रहा है। क्योंकि जैसे गाढ़ निद्रा में सुप्त अवस्था में स्वप्न देखने वाले पुरुष के सुख और ज्ञान अनुभव में आ रहे हैं। वैसे ही गाढ़ निद्रा लेकर प्रबुद्ध (जागृत) हुए मानव को भी सुख की प्राप्ति और निद्रा में अनुभूत सुख का स्मरण आदि का अनुभव होता है। अतः सिद्ध होता है कि सुप्तावस्था में भी आत्मा के ज्ञान-सुख आदि विद्यमान हैं ॥२३५॥

१. जिस दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों नहीं रहते हैं, उसे साध्यसाधन विकल दृष्टान्त कहते हैं।

२. जिस शयनकाल में संकल्प-विकल्प रूप स्वप्न आते हैं, वह स्वप्नावस्था है और जिसमें गाढ़ निद्रा है, स्वप्न नहीं आते हैं, उसको सुप्तावस्था कहते हैं।

स्वप्नदर्शिने हि यथा सुप्तप्रबुद्धस्य सुखानुभवनादिस्मरणाद्विज्ञानस्वभावत्वं विभावयन्ति
तथा सुषुप्तस्यापि सुखमतिमुषुप्तोऽहमिति प्रत्ययात्।

कथमन्यथा सुषुप्तौ पुंसश्चेतनत्वमपि सिद्ध्येत् प्राणादिदर्शनादिति चेत्—

यथा चैतन्यसंसिद्धिः सुषुप्तावपि देहिनः।

प्राणादिदर्शनात्तद्बोधोधादिः किं न सिद्ध्यति ॥२३६॥

जाग्रतः सति चैतन्ये यथा प्राणादिवृत्तयः।

तथैव सति विज्ञाने दृष्टास्ताः बाधवर्जिताः ॥२३७॥

वीरणादौ चैतन्याभावे प्राणादिवृत्तीनामभावनिश्रयान्निश्चितव्यतिरेकाभ्यस्ताभ्यः सुषुप्तौ
चैतन्यसिद्धिरिति चेत्।

स्वप्नदर्शी पुरुष के सोकर उठने के पीछे जागृत दशा में होने वाले सुख के अनुभव आदि का स्मरण करने से स्वप्नदर्शी आत्मा के विज्ञान, सुख स्वभावत्व का जैसे अनुमान किया जाता है; उसी प्रकार स्वप्न रहित गाढ़ निद्रा में सुप्त मनुष्य के भी 'मैं बहुत देर तक सुखपूर्वक सोया था।' इस प्रकार का ज्ञान होता है (प्रतीति होती है)। अतः सुप्त अवस्था में भी आत्मा के ज्ञान और सुख की अनुमान से सिद्धि होती है। अन्यथा (यदि सुप्तावस्था में ज्ञान और सुख को स्वीकार नहीं किया जाता है तो) सुप्त अवस्था में आत्मा के चेतनत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है?

कपिल कहता है कि सुप्तावस्था में वायु चलना (श्वासोच्छ्वास का चलना), नाड़ी चलना आदि प्राण दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिये सुप्तावस्था में चेतनत्व की सिद्धि होती है। जैनाचार्य कहते हैं कि-

जैसे सुप्तावस्था में आत्मा के श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों के दृष्टिगोचर होने से चेतनत्व की सिद्धि होती है, उसी प्रकार सुप्तावस्था में आत्मा के ज्ञान, सुख आदि की सिद्धि क्यों नहीं होती है ॥२३६॥

किंच- जैसे जागृत अवस्था में आत्मा के चैतन्य होने पर श्वासोच्छ्वास का चलना, नेत्रों का उन्मेष-निमेष आदि प्राणों की वृत्तियाँ (प्राणों की क्रिया) देखी जाती है, उसी प्रकार जागृत अवस्था में आत्मा के विज्ञान के होने पर ही प्राणादिवृत्तियाँ देखी जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के होने में कोई बाधक नहीं है। वस्तुतः चेतनपने और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है अतः चेतना की सिद्धि से ज्ञान की सिद्धि होती ही है ॥२३७॥

सांख्य कहता है कि वीरण (तन्तुओं को स्वच्छ करने के लिए खस की बनी हुई कूची) तुरी, वेम, आदि में चैतन्य के अभाव में श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों की वृत्तियों का अभाव निश्चित है। इसलिए निश्चित प्राणादि वृत्तियों के व्यतिरेक से सुप्तावस्था में चैतन्य की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् जहाँ-जहाँ चैतन्य नहीं है, वहाँ-वहाँ श्वासोच्छ्वास नहीं है- जैसे वीरण, वेम, तुरी, पुस्तकादि। इनमें श्वासोच्छ्वास नहीं है, इसलिये ये चैतन्य नहीं हैं। और सुप्तावस्था में श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों की वृत्तियाँ

प्राणादयो निवर्तते यथा चैतन्यवर्जिते ।

वीरणादौ तथा ज्ञानशून्येऽपीति विनिश्चयः ॥२३८॥

न हि चेतनत्वे साध्ये निश्चितव्यतिरेकाः प्राणादिवृत्तयो न पुनर्ज्ञानात्मकतायामिति शक्यं वक्तुं, तदभावेऽपि तासां वीरणादावभावनिर्णयात् । चैतन्याभावादेव तत्र ता न भवन्ति न तु विज्ञानाभावादिति कोशपानं विधेयं । सत्यं । विज्ञानाभावे ता न भवन्ति, सत्यपि चैतन्ये मुक्तस्य तदभावादित्यपरे, तेषां सुषुप्तौ विज्ञानाभावसाधनमयुक्तं, प्राणादिवृत्तीनां सद्भावात् । तथा च न

हैं- इसलिए चैतन्य है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति के निश्चय से सुप्तावस्था में आत्मा में चैतन्य की सिद्धि होती है । जैनाचार्य कहते हैं कि- जिस प्रकार चैतन्य से रहित वीरण आदि में श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों की निवृत्ति है (प्राण नहीं हैं); उसी प्रकार ज्ञान रहित वीरणादि में प्राण नहीं हैं- ऐसा भी निश्चय होता है ॥२३८॥

भावार्थ- ज्ञान और चैतन्य दो पदार्थ नहीं हैं । इन दोनों में शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं है । चेतन और ज्ञान आत्मा का एक ही गुण है । त्रिकाल रहने वाला चेतन और ज्ञान आत्मा का अभिन्न गुण है ।

आत्मा के चैतन्य को साध्य करने पर श्वासोच्छ्वास आदि प्रवृत्तियों का व्यतिरेक निश्चित है और आत्मा को ज्ञानात्मक साध्य करने पर प्राण, अपान आदि प्रवृत्तियों का व्यतिरेक निश्चित नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि ज्ञान के अभाव में भी वीरण आदि में प्राण अपान आदि प्रवृत्तियों के अभाव का निश्चय है ।

चैतन्य का अभाव होने से वीरण आदि में श्वासोच्छ्वासादि प्राणों का अभाव है । ज्ञान का अभाव होने से वीरण आदि में प्राण अपान आदि का अभाव नहीं है । ऐसा कहना भी कदाग्रह के कारण शपथ खाने के समान है ।

भावार्थ- सांख्य श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों की प्रवृत्तियों को ज्ञान का कार्य न मानकर चैतन्य का कार्य मानता है । वह उसका कदाग्रह ही है । परमार्थ से ज्ञान और चेतना में कोई भेद नहीं है ।

सांख्य मत का कोई विद्वान् कहता है कि- स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार 'विज्ञान के हीन होने पर श्वासोच्छ्वास आदि प्रवृत्तियाँ नहीं होती हैं' यह कहना सत्य है- क्योंकि मुक्तावस्था में चैतन्य गुण के होने पर भी विज्ञान का अभाव होने से प्राण-अपान आदि की प्रवृत्ति नहीं है । यदि श्वासोच्छ्वास आदि को चैतन्य का कार्य मानेंगे तो मुक्तावस्था में भी श्वासोच्छ्वासादि प्राणों का प्रसंग आयेगा ।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाले सांख्यों के सुप्तावस्था में विज्ञान का अभाव सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं होगा । क्योंकि सुप्तावस्था में श्वासोच्छ्वास लेना, नाड़ी चलना, पाचन क्रिया होना आदि प्रवृत्तियों का सद्भाव पाया जाता है । तथा 'सुप्तावस्था में ज्ञान नहीं है इसलिये आत्मा का ज्ञान स्वभाव नहीं है' इस में दिया गया सुप्तावस्था का उदाहरण भी उदाहरणाभास है- क्योंकि सुप्तावस्था में विज्ञान की सिद्धि होती है अतः इस उदाहरण से साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है । अपितु आत्मा की सम्पूर्ण अवस्था में ज्ञान की सिद्धि होती है । सांख्य कहता है कि-

सोदाहरणमिति - कुतः साध्यसिद्धिः। सुखबुद्ध्यादयो नात्मस्वभावाः स्वयमचेतनत्वाद्गुणादिवदित्यनुमानादिति चेत्, कुतस्तेषामचेतनत्वसिद्धिः?

सुखबुद्ध्यादयो धर्माश्चेतनारहिता इमे।

भंगुरत्वादितो विद्युत्प्रदीपादिवदित्यसत् ॥२३९॥

हेतोरात्मोपभोगेनानेकांतात्परमार्थतः।

सोऽप्यनित्यो यतः सिद्धः कादाचित्कत्वयोगतः ॥२४०॥

पुरुषानुभवो हि नश्वरः कादाचित्कत्वादीपादिवदिति परमार्थतस्तेन भंगुरत्वमनैकांतिकमचेतनत्वे साध्ये। कादाचित्कः कुतः सिद्धः पुरुषोपभोगः स्वसद्भावादिति चेत्।

कादाचित्कः परापेक्ष्यसद्भावाद्विभ्रमादिवत्।

बुद्ध्यध्यवसितार्थस्य शब्दादेरुपलंभतः ॥२४१॥

परापेक्ष्यः प्रसिद्धोऽयमात्मनोऽनुभवोजसा।

परानपेक्षितायां तु पुंदुष्टेः सर्वदर्शिता ॥२४२॥

सुख, बुद्धि आदि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं- क्योंकि वे सुख आदिक स्वयं अचेतन हैं, जैसे रूपादि अचेतन होने से आत्मा के स्वभाव नहीं हैं? इस अनुमान से आत्मा के अज्ञत्व की सिद्धि होती है। जैनाचार्य कहते हैं कि- सुख, ज्ञान आदिक में अचेतनत्व किस प्रमाण से सिद्ध है? वा किस हेतु से सिद्ध है? सांख्य हेतु के द्वारा सुख और ज्ञान को अचेतन सिद्ध करता है?

ये सुख, ज्ञान आदिक धर्म अचेतन हैं, क्योंकि क्षणभंगुर हैं, जो-जो क्षण-भंगुर होते हैं, (शीघ्र नष्ट हो जाते हैं) वे अचेतन होते हैं- जैसे विद्युत् (बिजली) दीपक आदि। अर्थात् बिजली दीपक आदि के समान क्षणभंगुर होने से सुख, बुद्धि आदि धर्म अचेतन हैं। जैनाचार्य कहते हैं- कि सांख्य के द्वारा कथित यह अनुमान समीचीन नहीं है- क्योंकि क्षणभंगुरत्व हेतु आत्मा के उपभोग के द्वारा अनैकान्तिक हो जाता है। परमार्थ से आत्मा के उपभोग को कदाचित् होने वाली क्रिया के कारण अनित्य कहा है। अर्थात् आत्मा का उपभोग भी कादाचित्क का योग होने से परमार्थ से अनित्य है। परन्तु आत्मा के उपभोग अचेतन नहीं है। अतः क्षणभंगुर हेतु अचेतन से विपरीत चेतन में चले जाने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इसलिये क्षणभंगुरत्व हेतु प्रशस्त नहीं है ॥२३९-२४०॥

परमार्थ से दीपकलिका के समान कादाचित्कत्व होने से पुरुष (आत्मा) के भोग नश्वर हैं। अतः बुद्धि आदि को अचेतन सिद्ध करने के लिए दिया गया हेतु अनैकान्तिक है। क्योंकि आत्मा के उपभोग रूप विपक्ष चैतन्य में भी वह विद्यमान है।

सांख्य कहता है कि- जब आत्मा सदा विद्यमान रहता है तब आत्मा का उपभोग कभी-कभी होता है- यह किस प्रमाण से सिद्ध है? जैनाचार्य कहते हैं-

भ्रान्ति आदि ज्ञान के समान जिसमें दूसरों की अपेक्षा का सद्भाव पाया जाता है, वह कादाचित्क कहलाता है। अर्थात् जैसे संशय ज्ञान में कामला रोग आदि दूसरों की अपेक्षा का सद्भाव होने से संशय ज्ञान कभी-कभी होता है। भ्रान्त ज्ञान के समान बुद्धि के द्वारा निश्चित किये हुए शब्द, रूप, रस आदि विषयों का आत्मा को भोग होना देखा जाता है। अतः आत्मा का अनुभव (उपभोग) दूसरे की अपेक्षा रखने वाला स्पष्ट रूप से प्रसिद्ध है। अतः कादाचित्क है। यदि आत्मा के उपभोग में दूसरों (बुद्धि) की अपेक्षा नहीं है तो आत्मा के सर्वदर्शिता और सर्वभोक्तृत्व का प्रसंग आयेगा ॥२४१-२४२॥

परापेक्षितया कादाचित्कत्वं व्याप्तं, तेन चानित्यत्वमिति तत्सिद्धौ तत्सिद्धिः । परापेक्षिता पुरुषानुभवस्य नासिद्धा, परस्य बुद्ध्यध्यवसायस्यापेक्षणीयत्वात् । बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयत इति वचनात् । परानपेक्षितायां तु पुरुषदर्शनस्य सर्वदर्शितापत्तिः, सकलार्थबुद्ध्यध्यवसायापायेऽपि सकलार्थदर्शनस्योपपत्तेरिति योगिन इवायोगिनोऽमुक्तस्य च सार्वज्ञमनिष्टमायातम् ॥

सर्वस्य सर्वदा पुंसः सिद्धद्युपायस्तथा वृथा ।

ततो दृढबोधयोरात्मस्वभावत्वं प्रसिद्धयतु ॥२४३॥

कथंचिन्नश्वरत्वस्याविरोधान्नयपीक्षणात् ।

तथैवार्थक्रियासिद्धेरन्यथा वस्तुताक्षतेः ॥२४४॥

दूसरे कारणों की अपेक्षा रखने वाला हेतु व्याप्य है और कभी-कभी उत्पन्न होना साध्य व्यापक है। अतः परापेक्षिता से कादाचित्कत्वं हेतु व्याप्त है। अर्थात् जहाँ-जहाँ परापेक्षीपना है वहाँ कादाचित्कत्व भी अवश्य है और जब इस साध्य को हेतु बना लिया जाता है (कादाचित्कत्व को हेतु बना लिया जाता है) तो वह कादाचित्कत्व हेतु अनित्य के साथ व्याप्ति रखता है। तथा कादाचित्कत्व हेतु के अनित्यपना सिद्ध होने पर पुरुष के भोग भी अनित्य सिद्ध हो जाते हैं। तथा परापेक्षिता पुरुष के भोग में असिद्ध नहीं है। क्योंकि आत्मा का उपभोग अपनी उत्पत्ति में बुद्धि के द्वारा निर्णीत दूसरे कारणों की अपेक्षा रखता है। सांख्य दर्शन का वाक्य है कि “बुद्धि से निर्णीत किये गये अर्थ को ही आत्मा अनुभव करता है।” यदि पुरुष की चेतना के (अनुभव) करने में दूसरे कारणों की अपेक्षा नहीं मानी जायेगी तो आत्मा को सर्व पदार्थों के अनुभव करने का प्रसंग आने से आत्मा सर्वदर्शी बन जायेगा। क्योंकि सकल पदार्थों का बुद्धि के द्वारा निर्णय तभी करने पर भी सांख्य मत के अनुसार सकल पदार्थों का अनुभव अथवा दर्शन करना सिद्ध हो जाता है। अतः योगियों (सम्प्रज्ञात योग वाले सर्वज्ञों) के समान अयोगियों (असर्वज्ञ असंप्रज्ञात योगियों) के और अमुक्त (सर्व साधारण संसारी) जीवों के भी सार्वज्ञ (सर्वज्ञपना) प्राप्त हो जायेगा, सभी सर्वज्ञ बन जायेंगे। सब को सर्वज्ञ मानना सांख्य को इष्ट नहीं है, अतः अनिष्ट (स्वसिद्धान्त विरुद्ध) कथन का प्रसंग आयेगा।

यदि बिना उपाय (प्रयत्न) ही सर्व जीव सदाकाल सिद्ध हो जायेंगे, तब तो सर्व जीवों को सिद्धि के उपायों (दीक्षा धारण, तपश्चरण आदि सर्व क्रियाओं) का अवलम्बन व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए यह कहना ही प्रसिद्ध हो जाए कि ज्ञान और दर्शन दोनों ही आत्मा के स्वभाव हैं अर्थात् चेतना और ज्ञानदर्शन ये दोनों अभिन्न हैं। ज्ञान-दर्शन चेतना की पर्याय हैं। यह निर्बाध सिद्ध है ॥२४३॥

आत्मा नित्यानित्यात्मक है

तथा कथंचित् आत्मा को अनित्य मानने में कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता है। अनित्य मानना विरोध रहित है। क्योंकि आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले गुण एवं उत्पाद और व्यय प्रमाण सिद्ध हैं। तथा कथंचित् अनित्य आत्मा में ही अर्थक्रिया की सिद्धि होती है। “कुमतिज्ञानादि का नाश और सम्यग्ज्ञानादि की उत्पत्ति, नरक पर्यायादि का नाश और मनुष्यादि पर्याय की उत्पत्ति ही आत्मा की अर्थक्रिया है। अन्यथा (यदि आत्मा में अर्थक्रिया नहीं मानेंगे तो) आत्मा का वस्तुपना नष्ट हो जायेगा। प्रत्येक वस्तु ध्रुव होकर भी प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायों को प्राप्त होती रहती है, यह अनुभव सिद्ध है। अतः आत्मा कथंचित् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है और कथंचित् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है ॥२४४॥

सर्वस्य सर्वज्ञत्वे च वृथा सिद्ध्युपायः, साध्याभावात्। सिद्धिर्हि सर्वज्ञता मुक्तिर्वा कुतश्चिदनुष्ठानात्साध्यते? तत्र न तावत्सर्वज्ञता तस्याः स्वतः सिद्धत्वात्।

नापि मुक्तिः सर्वज्ञतापाये तदुपगमात्तस्य चासंभवात्। परानपेक्षितायाः सर्वदर्शितायाः परानिवृत्तावपि प्रसक्तेः। स्यान्मतं। न बुद्ध्यध्यवसितार्थालोचनं पुंसो दर्शनं तस्यात्मस्वभावत्वेन व्यवस्थितत्वादिति। तदपि नावधानीयं, बोधस्याप्यात्मस्वभावत्वोपपत्तेः। न ह्यहंकाराभिमतार्थाध्यवसायो बुद्धिस्तस्याः पुंस्वभावत्वेन प्रतीतेर्बाधकाभावात्। इति दर्शनज्ञानयोरात्मस्वभावत्वमेव प्रसिद्ध्यतु विशेषाभावात्।

सर्व जीवों के सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर तपश्चरण, वैराग्य आदि सिद्धि के उपाय व्यर्थ हो जायेंगे। तथा सर्वज्ञता के स्वयं में प्राप्त हो जाने पर साध्य का भी अभाव हो जायेगा। अर्थात् सर्वज्ञता के अतिरिक्त कोई वस्तु साध्य नहीं है।

जिस सिद्धि की प्राप्ति किसी अनुष्ठान आदि से सिद्ध की जाती है, वह सिद्धि सांख्य मत में क्या है? अर्थात् सांख्य मत में सिद्धि का क्या स्वरूप है, मुक्ति है? वा सर्वज्ञता। केवलज्ञान के द्वारा सर्व पदार्थों को एक साथ साक्षात् कर लेने रूप सर्वज्ञता की सिद्धि मानना तो सांख्य मत में उचित नहीं है। क्योंकि सांख्य मत में सर्वज्ञता प्रकृति का धर्म है और प्रकृति का संसर्ग आत्मा में स्वतः हो रहा है, अतः स्वयं सिद्ध होने से उसके लिए अनुष्ठान आदि करना व्यर्थ है।

ज्ञान, सुख आदि का नाश कर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन हो जाने स्वरूप मुक्ति के लिए तपश्चरण आदि करना भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञता के नाश हो जाने पर आत्मा का अपने में स्थिर हो जाना सांख्य मत में मोक्ष स्वीकार किया गया है। किन्तु जब सर्वज्ञता स्वतः सिद्ध है तो उसका नाश करना संभव नहीं है। पर (दूसरे) की अपेक्षा के बिना होने वाली सर्वदर्शिता (सर्वज्ञता) के पर की अनिवृत्ति होने पर भी विद्यमान रहने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् प्रकृति के संसर्ग से प्राप्त बुद्धि का मोक्ष में अभाव या सद्भाव होने पर भी सर्वज्ञता के अक्षुण्ण बने रहने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि दर्शन के समान ज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है, अतः दर्शन (चेतना) के समान सर्वज्ञता का भी मोक्ष में अभाव नहीं है।

शंका- बुद्धि के द्वारा निर्णीत वस्तु का देखना आत्मा का दर्शन नहीं है। क्योंकि पदार्थों का संचेतन (अनुभव) करना रूप दर्शन तो आत्मस्वभाव से व्यवस्थित है।

उत्तर- सांख्य को ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर तो ज्ञान को भी आत्मस्वभाव की सिद्धि हो जाती है।

‘सम्पूर्ण विषयों का मैं भोक्ता हूँ’ ऐसा अभिमान रूप ‘मैं, मैं’ इस प्रकार आत्मा का अर्थ निर्णय जड़ रूप प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि का कार्य नहीं है। प्रत्युत वह बुद्धि चेतन आत्मा का स्वभाव है। ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। इस प्रतीतिका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अर्थात् उस बुद्धि के पुरुषत्व रूप से प्रतीति होने में बाधक प्रमाण का अभाव है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञान के आत्मस्वभाव

ननु च नश्वरज्ञानस्वभावत्वे पुंसो नश्वरत्वप्रसंगो बाधक इति चेत् न, नश्वरत्वस्य नरेऽपि कथंचिद्विरोधाभावात्, पर्यायार्थतः परपरिणामाक्रांततावलोकनात्, अपरिणामिनः क्रमाक्रमाभ्यामर्थ-क्रियानुपपत्तेर्वस्तुत्वहानिप्रसंगान्नित्यानित्यात्मकत्वेनैव कथंचिदर्थक्रियासिद्धिरित्यलं प्रपंचेन, आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकस्य प्रसिद्धेः।

संसारव्याधिविध्वंसः क्वचिज्जीवे भविष्यति।

तन्निदानपरिध्वंससिद्धेर्ज्वरविनाशवत् ॥२४५॥

तत्परिध्वंसनेनातः श्रेयसा योक्ष्यमाणता।

पुंसः स्याद्वादिनां सिद्धा नैकांते तद्विरोधतः ॥२४६॥

की ही प्रसिद्धि होती है। दर्शन और ज्ञान में विशेषता का अभाव है। अर्थात् ऐसी कोई विशेषता नहीं है कि जिससे दर्शन आत्मा का स्वभाव और ज्ञान प्रकृति का स्वभाव सिद्ध हो सकता हो।

शंका- नाशवन्त ज्ञान को आत्मा का स्वभाव स्वीकार करने पर आत्मा के भी क्षणभंगुरत्व का प्रसंग आयेगा, यह बाधक है।

आत्मा परिणमनशील है

उत्तर- ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि आत्मा में कथंचित् नश्वरत्व (नाशस्वभाव) मानने में विरोध का अभाव है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा निरन्तर भिन्न-भिन्न पर्यायों में व्याप्त होता हुआ देखा जाता है। अर्थात् आत्मा निरन्तर परिणमन करता रहता है अतः पर्याय से नश्वर है। आत्म द्रव्य नित्य है। उसकी अभिन्न पर्यायें उत्पाद-विनाशशील है।

अपरिणामी कूटस्थ नित्य आत्मा के क्रम और अक्रम से होने वाली अर्थक्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है। और अर्थक्रिया न होने से आत्मा के वस्तुत्व की हानि का प्रसंग आता है। अतः आत्मा को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य स्वीकार करने से ही अर्थक्रिया की सिद्धि होती है। इस प्रकार अधिक विस्तार से क्या प्रयोजन है। आत्मा के ज्ञान और दर्शन उपयोग की प्रसिद्धि है। अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनों आत्मा के ही स्वभाव सिद्ध होते हैं।

संसार का क्षय होना सिद्ध है

किसी-किसी जीव में संसारव्याधि (सर्व सांसारिक दुःखों) का विनाश होगा। क्योंकि संसार की व्याधि के कारणों (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र वा रागद्वेष मोहादि विकार भावों) का क्षय होना सिद्ध है। जैसे ज्वर के कारणों का विनाश हो जाने से ज्वर का विनाश सिद्ध हो जाता है। तथा उन संसार के कारणों का नाश होने से आत्मा का मोक्षमार्ग में लगना सिद्ध होता है। अतः स्याद्वाद मत में नित्यानित्यात्मक ज्ञानदर्शनोपयोगी परिणामी आत्मा के मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य आत्मा में मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि सर्वथा कूटस्थ नित्य (सांख्य) वा सर्वथा क्षणिक (बौद्ध) में मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं हो सकती है। सर्वथा एकान्त में अर्थक्रिया का विरोध है ॥२४५-२४६॥

सन्नप्यात्मोपयोगात्मा न श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चित् सर्वदा रागादिसमाक्रान्तमानसत्वादिति केचित्संप्रतिपन्नाः । तान् प्रति तत्साधनमुच्यते । श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चित् संसारव्याधिविध्वंसित्वान्यथानुपपत्तेः । श्रेयोऽत्र सकलदुःखनिवृत्तिः । सकलदुःखस्य च कारणं संसारव्याधिः । तद्विध्वंसे कस्यचित्सिद्धं श्रेयसा योक्ष्यमाणत्वं, तल्लक्षणकारणानुपलब्धेः ।

न च संसारव्याधेः सकलदुःखकारणत्वमसिद्धं जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वात् । पारतंत्र्यं हि दुःखमिति । एतेन सांसारिकसुखस्य दुःखत्वमुक्तं, स्वातंत्र्यस्यैव सुखत्वात् । शक्रादीनां स्वातंत्र्यं सुखमस्त्येवेति चेन्न, तेषामपि कर्मपरतंत्रत्वात् । निराकांक्षतात्मकसंतोषरूपं तु सुखं न सांसारिकं,

(कोई प्रतिवादी कहता है कि) ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप होकर भी कोई आत्मा मोक्षमार्ग में नहीं लग सकती क्योंकि सभी आत्माओं के अन्तःकरण राग, द्वेष, मोह आदि से आक्रान्त हैं । अर्थात् सभी आत्मायें राग-द्वेष से आक्रान्त हैं । अतः मोक्षमार्ग में कैसे लग सकती हैं? उसके प्रति जैनाचार्य मोक्षमार्ग में लगने को सिद्ध करने वाला हेतु सहित अनुमान कहते हैं—

संसार व्याधि दुःखों की कारण है

कोई आत्मा कल्याणमार्ग से युक्त होने वाला है । क्योंकि संसार रूप व्याधियों का नाश करने वाला हेतु अन्यथा (इस साध्य के बिना) स्थित नहीं रह सकता (उत्पन्न नहीं हो सकता) । सकल दुःखों की निवृत्ति होना यहाँ श्रेय (मोक्ष) है । अर्थात् इस अनुमान में कल्याण का अर्थ है शारीरिक, मानसिक आदि सारे दुःखों की निवृत्ति हो जाना । तथा सकल दुःखों के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के हेतु संसार में परिभ्रमण करना ही संसार-व्याधि है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप कारणों के द्वारा संसार के ध्वंस (नाश) हो जाने पर किसी आत्मा के सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति रूप श्रेय (कल्याण) से संयुक्त हो जाना सिद्ध हो जाता है । तथा संसारव्याधिरूप कारण की अनुपलब्धि^१ हो जाने से कल्याणमार्ग में लग जाना रूप साध्य की सिद्धि हो जाती है ।

आत्मा की पराधीनता का कारण होने से संसार-व्याधि के सकल दुःखकारणत्व असिद्ध भी नहीं है । क्योंकि पराधीनता ही दुःख का कारण है । पराधीनता रूप हेतु से सांसारिक सुख भी दुःख रूप है, ऐसा कथन किया है । क्योंकि स्वाधीनता ही सुख है । इन्द्रियजन्य सुख स्वतंत्र नहीं है, पराधीन है, क्षणिक है, आकुलता का उत्पादक है, अतः दुःख रूप ही है ।

इन्द्र, चक्रवर्ती आदि तो स्वतंत्र हैं, स्वाधीन हैं, अतः उनके तो सुख है- अर्थात् इन्द्र चक्रवर्ती आदि वास्तव में सुखी हैं । ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के भी कर्मों की परतंत्रता है । अर्थात् सारे ही संसारी प्राणी कर्माधीन हैं, अतः दुःखी हैं । चक्रवर्ती, इन्द्र आदि भी स्वतंत्रता से सुखी नहीं हैं ।

इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों की आकांक्षाओं से रहित जो संतोषरूप सुख है, वह संसार का सुख नहीं है अपितु एकदेश मोक्ष का सुख है । एकदेश मोहनीय कर्म के (अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानवरण मिथ्यात्व कर्म के) क्षयोपशम, उपशम वा क्षय हो जाने पर आत्मा के विषयों की आसक्ति में निराकांक्षता (विरक्ति) उत्पन्न

१. यह हेतु 'विरुद्धकारणानुपलब्धि' है । यदि ध्वंस को भाव रूप माना जाय तो अविरुद्ध कारणोपलब्धि स्वरूप है ।

तस्य देशमुक्तिसुखत्वात् । देशतो मोहक्षयोपशमे हि देहिनो निराकांक्षता विषयरतो नान्यथातिप्रसंगात् । तदेतेन यतिजनस्य प्रशमसुखमसांसारिकं व्याख्यातं । क्षीणमोहानां तु कात्स्न्यतः प्रशमसुखं मोहपरतंत्रत्वनिवृत्तेः । यदपि संसारिणामनुकूलवेदनीयप्राप्तीतिकं सुखमिति मतं, तदप्यभिमानमात्रं । पारतंत्र्याख्येन दुःखेनानुषक्तत्वात्तस्य तत्कारणत्वात् कार्यत्वाच्चेति न संसारव्याधिर्जातुचित्सुखकारणं येनास्य दुःखकारणत्वं न सिद्ध्येत् । तद्विध्वंसः कथमिति चेत्, क्वचिन्निदानपरिध्वंससिद्धेः । यत्र यस्य निदानपरिध्वंसस्तत्र तस्य परिध्वंसो दृष्टो यथा क्वचिज्ज्वरस्य । निदानपरिध्वंसश्च संसारव्याधेः शुद्धात्मनीति कारणानुपलब्धिः । संसारव्याधेर्निदानं

हो जाती है। उससे जो सन्तोष रूप सुख उत्पन्न होता है- वह सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख नहीं है अपितु आत्मा के चारित्र गुण का विकास है। अन्यथा (यदि सन्तोष को एकदेश मोक्षसुख नहीं मानेंगे तो) अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् जैसे एकदेश कर्मों का क्षय मोक्षसुख नहीं है तो सम्पूर्ण कर्मों के नाश से होने वाला सुख भी मोक्षसुख नहीं होगा।

उपर्युक्त कथन से यतिजनों का प्रशम भाव रूप सुख भी संसार सम्बन्धी नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। तथा क्षीणमोही (सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से बारहवें गुणस्थान को प्राप्त) जीवों के सम्पूर्ण रूप से मोहनीय कर्म की पराधीनता की निवृत्ति हो जाने से उत्कृष्ट प्रशम (शान्तिरूप निराकुल) सुख उत्पन्न होता है। अर्थात् सर्वथा मोहनीय कर्मजन्य पराधीनता के नष्ट हो जाने पर अनन्त सुख उत्पन्न होता है।

यद्यपि संसारी प्राणियों के अनुकूल (साता) वेदनीय का उदय होने पर प्रतीति के अनुसार वैभाविक आनन्द का अनुभव करने रूप सुख होता है, ऐसा माना है। परन्तु उस सातावेदनीयजन्य सुख को सुख मानना अभिमान मात्र है, वह वास्तविक सुख नहीं है। क्योंकि वह सांसारिक सुख पराधीनता नामक दुःख से मिश्रित है। तथा साता वेदनीय जन्य सुख कर्मों की आधीनता-रूप दुःख के कारणों से उत्पन्न होने से उसका सांसारिक वैभव की प्राप्ति रूप सुख-कार्य भी दुःख रूप ही है, सुखाभास है। अर्थात् दुःख रूप कार्यों का उत्पादक है। अतः संसार की व्याधि रूप आकुलता के उत्पादक साता वेदनीयजन्य सुख कभी सुख के कारण नहीं हो सकते, जिससे कि संसारव्याधि को दुःख का कारणत्व सिद्ध न हो सके। अर्थात् संसार की आधि, व्याधि और उपाधि अनेक दुःखों की ही कारण हैं।

संसार व्याधियों का विनाश कैसे ?

प्रश्न- उन संसार-व्याधियों का विनाश कैसे होता है?

उत्तर- किसी निकट भव्यात्मा के मिथ्यादर्शन आदि संसार के कारणों का विनाश हो जाने पर संसारव्याधियों का विनाश होना सिद्ध हो जाता है। जहाँ पर जिस कार्य के कारणों का क्षय हो जाता है, वहाँ उस कार्य का नाश देखा जाता है। जैसे ज्वर के कारणभूत वात, पित्त, कफ आदि दोषों का विनाश हो जाने पर रोगी के ज्वर का विनाश देखा जाता है। संसाररोग के कारणों का विनाश शुद्धात्मा में है। क्योंकि शुद्धात्मा में संसार के कारणों की अनुपलब्धि है। अर्थात् कारण की अनुपलब्धि से कार्य का अभाव जान लिया जाता है।

मिथ्यादर्शनादि, तस्य विध्वंसः सम्यग्दर्शनादिभावनाबलात् क्वचिदिति समर्थयिष्यमाणत्वात् हेतोरसिद्धता शङ्कनीया । सरसि शंखकादिनानैकांतिकोऽयं हेतुः, स्वनिदानस्य जलस्य परिध्वंसेऽपि तस्यापरिध्वंसादिति चेन्न । तस्य जलनिदानत्वासिद्धेः । स्वारंभकपुद्गलपरिणामनिदानत्वात् शंखकादेस्तत्सहकारिमात्रत्वाजलादीनां । न हि कारणमात्रं केनचित्कस्यचिन्निदानमिष्टं नियतस्यैव कारणस्य निदानत्वात् । न च तन्नांशे कस्यचिन्निदानिनो न नाश इत्यव्यभिचार्येव हेतुः कथंचन संसारव्याधिविध्वंसनं साधयेद्यतस्तत्परिध्वंसनेन श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चिदुपयोगात्मकात्मा न स्यात् । निरन्वयविनश्वरं चित्तं श्रेयसा योक्ष्यमाणमिति न घंतव्यं, तस्य क्षणिकत्वविरोधात् ।

संसार-रोग का मुख्य कारण है- मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र । किसी आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पालन रूप भावना के सामर्थ्य से संसार-रोग के कारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का विनाश हो जाता है । उस सम्यग्दर्शन आदि के सामर्थ्य का कथन आगे करेंगे । अतः श्रेयोमार्ग से युक्त होना नामक साध्य को सिद्ध करने में दिया गया संसार-व्याधि- विध्वंसकत्व हेतु के असिद्ध हेत्वाभास की आशंका नहीं करनी चाहिए ।

शंका- 'कारण के नाश होने पर कार्य का नाश हो जाता है, यह हेतु तालाब में स्थित शंख, सीपादिक से अनैकान्तिक है । क्योंकि स्वकीय उत्पत्ति में कारणभूत जल के नाश हो जाने पर भी शंख, सीपादिक का विनाश नहीं होता है ।

उत्तर- ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि शंख, सीप आदि की उत्पत्ति में जल कारण की असिद्धि है । अर्थात् शंख, सीप आदि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जल नहीं है । शंख, सीप आदिक की उत्पत्ति का मुख्य कारण स्व शरीर की आरंभक (उत्पादक) पुद्गल वर्गणा रूप पर्याय है । अर्थात् शंख आदिक के शरीर की उत्पत्ति का मुख्य कारण आहारक पुद्गल वर्गणा है । और जलादिक शंख की उत्पत्ति के सहकारी कारण मात्र हैं । किसी कार्य के सम्पूर्ण कारणों को या चाहे किसी सामान्य कारण को उसका निदान मान लेना इष्ट नहीं है । क्योंकि अनेक कारणों में से किसी विशिष्ट नियत कारण को ही कार्य का निदान (कारण) माना जाता है । ऐसे प्रधान कारण का नाश हो जाने पर उसके कार्य का नाश न हो, ऐसा नहीं हो सकता । इसलिए यह निर्दोष हेतु संसार-व्याधि के नाश को सिद्ध करता ही है । और उस संसार-व्याधि के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि का नाश हो जाने पर कोई निकट भव्य उपयोग स्वरूप आत्मा मोक्षमार्ग में युक्त न हो, ऐसा नहीं हो सकता । कोई-न-कोई आत्मा मोक्षमार्ग में लगती ही है ।

प्रत्येक क्षण में निरन्वय नष्ट होने वाली आत्मा कल्याण (मोक्ष) मार्ग में लग जाती है, ऐसा (बौद्धों को) नहीं समझना चाहिए । क्योंकि जो कल्याण से युक्त होने वाला है- उसके क्षणिकत्व का विरोध है । अर्थात् सर्वथा क्षणिक आत्मा की कल्याण मार्ग में नियुक्ति नहीं बन सकती है ।

संसारनिदानरहिताच्चित्ताच्चित्तांतरस्य श्रेयःस्वभावस्योत्पद्यमानतैव श्रेयसा योक्ष्यमाणता, सा न क्षणिकत्वविरुद्धेति चेन्न, क्षणिकैकांते कुतश्चित्कस्यचिदुत्पत्त्ययोगात्। संतानः श्रेयसा योक्ष्यमाण इत्यप्यनेन प्रतिक्षिप्तं, संतानिव्यतिरेकेण संतानस्यानिष्टेः।

पूर्वोत्तरक्षणा एव ह्यपरामृष्टभेदाः(?) संतानस्स चावस्तुभूतः कथं श्रेयसा योक्ष्यते? प्रधानं श्रेयसा योक्ष्यमाणमित्यप्यसंभाव्यं, पुरुषपरिकल्पनविरोधात्। तदेव हि संसरति तदेव च विमुच्यत इति किमन्यत्पुरुषसाध्यमस्ति? प्रधानकृतस्यानुभवनं पुंसः प्रयोजनमिति चेत्, प्रधानस्यैव तदस्तु। कर्तृत्वात्तस्य तन्नेति चेत्। स्यादेवं यदि कर्तानुभविता न स्यात्। द्रष्टुः कर्तृत्वे मुक्तस्यापि

संसारकारण से रहित चित्त से कल्याण स्वभाव वाले चित्तान्तर का उत्पन्न हो जाना ही कल्याणमार्ग के साथ भावी नियुक्तपना है। और वह नियुक्ति क्षणिकत्व के विरुद्ध नहीं है। जैनार्थ कहते हैं- इस प्रकार का बौद्धों का कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि सर्वथा क्षणिक एकान्त मानने पर किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति का अयोग है।

भावार्थ- जो एक क्षण में उत्पन्न होकर शीघ्र ही नष्ट हो गया है, जिस पर्याय को आत्मलाभ करने का अवसर ही नहीं मिल पाया है- उसमें अर्थक्रिया कैसे हो सकती है और अर्थक्रिया के बिना वस्तु का वस्तुत्व कैसे रह सकता है? अर्थात् नहीं रह सकता है।

‘विज्ञान की संतान (संतति) कल्याणमार्ग में संयुक्त हो जावेगी।’ इस प्रकार बौद्धों का कथन भी पूर्वोक्त कथन से खण्डित हो जाता है। क्योंकि सन्तानी के बिना संतान का रहना इष्ट नहीं है। बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि “पूर्वोत्तर क्षणों में होने वाली सम्पूर्ण पर्यायों वास्तव में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।” एक दूसरे का स्पर्श करने वाली नहीं हैं। भ्रान्ति से उनका भेद न समझकर उनकी सन्तान कल्पित कर ली जाती है। यथार्थ में यह संतान वस्तुभूत नहीं है। अतः अपरमार्थ भूत वह संतान मोक्षमार्ग के साथ कैसे संयुक्त हो सकती है।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण युक्त प्रधान (प्रकृति) ही मोक्षमार्ग में संयुक्त होता है- ऐसा सांख्य का कथन भी असंभाव्य है। (संभव होने योग्य नहीं है) क्योंकि अचेतन प्रधान (प्रकृति) का मोक्षमार्ग में संयुक्त होना मान लेने पर आत्मतत्त्व की कल्पना करने में विरोध आता है। जबकि प्रकृति ही संसार में भ्रमण करती है, प्रकृति के ही बन्ध है, प्रकृति ही मोक्ष को प्राप्त करती है। ऐसा सिद्धान्त मान लेने पर आत्मा के द्वारा साध्य करने के लिए दूसरा कौनसा कार्य अवशेष रह जाता है। अर्थात् आत्मतत्त्व को मानने से क्या प्रयोजन है।

यदि कहो कि प्रधान के द्वारा कृत कार्यों का उपभोग करना ही आत्मा का साध्य प्रयोजन है। तब तो प्रकृति (प्रधान) कृत सुख, दुःख, अहंकार आदि भोग करना ही प्रकृति होना चाहिए।

प्रकृति कार्य करने वाली है, भोगने वाली नहीं है, ऐसा कहना तो तब हो सकता है जबकि कर्ता उपभोग करने वाला नहीं हो। (परन्तु करने वाला भोगता है, यह दृष्टिगोचर होता है)।

कर्तृत्वप्रसक्तिरिति चेत्, मुक्तः किमकर्तेष्टः? विषयसुखादेरकर्तृवेति चेत्, कुतः स तथा? तत्कारणकर्मकर्तृत्वाभावादिति चेत्, तर्हि संसारी विषयसुखादिकारणकर्मविशेषस्य कर्तृत्वाद्विषयसुखादेः कर्ता स एव चानुभविता किं न भवेत्? संसार्यवस्थायामात्मा विषयसुखादितत्कारणकर्मणां न कर्ता चेतनत्वान्मुक्तावस्थावदित्येतदपि न सुंदरं, स्वेष्टविधातकारित्वात्, कथं? संसार्यवस्थायामात्मा न सुखादेर्भोक्ता चेतनत्वान्मुक्तावस्थावदिति स्वेष्टस्यात्मनो भोक्तृत्वस्य विधातात्। प्रतीतिविरुद्धमिष्टविधातसाधनमिति चेत्, कर्तृत्वाभावसाधनमपि, पुंसः श्रोता घ्राताहमिति स्वकर्तृत्वप्रतीतेः।

यदि कहो कि द्रष्टा (चेतन) को भोग करने वाला कर्ता माना जायेगा तो मुक्तात्मा में भी कर्ता का प्रसंग आयेगा- क्योंकि मुक्तात्मा भी द्रष्टा है? जैनाचार्य कहते हैं कि- क्या सांख्य ने मुक्तात्मा को अकर्ता माना है?

भावार्थ- वास्तव में मुक्त जीव भी स्वकीय अगुरुलघुगुण की अपेक्षा होने वाली षट्गुणी हानिवृद्धि रूप अर्थक्रियाएँ करते हैं, कूटस्थ नित्य नहीं होते हैं। उनके भी प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य होता रहता है। वे सिद्धात्मा निरंतर अपने अनन्तज्ञान को अनुभव करते हुए अनन्त सुख में लीन रहते हैं।

सिद्धात्मा विषय सुखादिक के अकर्ता हैं? यह सांख्य ने कैसे जाना?

मुक्तावस्था में विषयसुख के कारणभूत ज्ञानावरण-मोहनीयादि कर्मों के कर्तापन का अभाव होने से विषयसुख का कर्ता मुक्तात्मा नहीं होता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता है। इस प्रकार सांख्य के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो संसारी जीव विषयसुखादि के कारणभूत कर्म के विशेषकर्ता होने से विषयसुखादिक के कर्ता और वही आत्मा उन सुखों का भोक्ता क्यों नहीं होगा अर्थात् संसारी आत्मा स्वकीय कर्मों का कर्ता है और आप ही उनके फल का भोक्ता है। भोक्ता और कर्ता का अधिकरण एक ही है। प्रधान कर्ता है और आत्मा भोक्ता है, ऐसा नहीं है।

चेतन होने से आत्मा संसार अवस्था में विषय-सुखादि का तथा उनके कारणभूत कर्मों का करने वाला नहीं है। जैसे मुक्त अवस्था में चेतन होने से विषय-सुखादिक और उसके कारणभूत कर्मों का कर्ता आत्मा नहीं है। सांख्य का इस प्रकार कहना भी सुन्दर नहीं है, क्योंकि यह कथन सांख्य के स्व इष्ट सिद्धान्त का विधातक है।

शंका- सांख्य के स्व इष्ट का विधातक यह कथन कैसे है?

उत्तर- क्योंकि ऐसा मानने पर, “जैसे चेतन होने से मुक्तावस्था में आत्मा सुख दुःखादि का भोक्ता नहीं है, वैसे संसार अवस्था में भी आत्मा चैतन्य होने से सुखादिक का भोक्ता नहीं होगा। परन्तु सांख्य मत में संसारावस्था में आत्मा को कर्ता तो नहीं माना है परन्तु उसके भोक्तापने का निषेध नहीं किया है। अतः सांख्य मत में संसार अवस्था में आत्मा के भोक्ता के कथन का निषेध होने से स्वमत के विधात का प्रसंग आता है।

श्रोताहमित्यादिप्रतीतेरहंकारास्पदत्वादहंकारस्य च प्रधानविवर्तत्वात्प्रधानमेव कर्तृतया प्रतीयत इति चेत्, तत एवानुभवितृ प्रधानमस्तु। न हि तस्याहंकारास्पदत्वं न प्रतिभाति शब्दादेरनुभविताहमिति प्रतीतेः सकलजनसाक्षिकत्वात्।

भ्रांतमनुभवितुरहंकारास्पदत्वमिति चेत्, कर्तुः कथमभ्रांतं? तस्याहंकारास्पदत्वादिति चेत्, तत एवानुभवितुस्तदभ्रांतमस्तु। तस्यौपाधिकत्वादहंकारास्पदत्वं भ्रांतमेवेति चेत्, कुतस्तदौपाधिकत्वसिद्धिः? पुरुषस्वभावत्वाभावादहंकारस्य तदास्पदत्वं पुरुषस्वभावस्यानुभवितृत्वस्यौपाधिकमिति चेत्, स्यादेवं यदि पुरुषस्वभावोऽहंकारो न स्यात्।

सांख्य कहता है कि संसार अवस्था में आत्मा के भोक्तृत्व का निषेध करना तथा सांख्य के इष्ट विघात सिद्ध करना प्रतीति विरुद्ध है, क्योंकि संसारी आत्मा के सुख, दुःख आदि का भोगना सभी के अनुभव में आ रहा है। जैनाचार्य कहते हैं जैसे संसारावस्था में आत्मा के भोक्तृत्व का निषेध करना प्रतीतिविरुद्ध है, सभी प्राणियों को भोग का अनुभव हो रहा है; उसी प्रकार संसार अवस्था में आत्मा के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करना प्रतीतिविरुद्ध है। क्योंकि “मैं शब्द को सुनने वाला हूँ, घ्राता (सूँघने वाला) हूँ, कार्य का करने वाला हूँ” इत्यादि रूप से सभी प्राणियों को स्वकर्तृत्व की प्रतीति हो रही है।

सांख्य कहता है कि- ‘मैं सुनता हूँ’, ‘सूँघता हूँ’, ‘देखता हूँ’ इत्यादि प्रतीतियाँ अहंकारास्पद हैं। (अहंकार से युक्त हैं) और अहंकार प्रधान की पर्याय है। अतः प्रधान ही कर्ता रूप से प्रतीत होता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो भोक्ता भी प्रधान का ही गुण होना चाहिए। क्योंकि भोक्तृत्व में भी ‘अहं’ पद लगा हुआ है। भोक्ता के अहंकार का समभिव्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि भोक्ता में भी “मैं शब्द का अनुभव करने वाला हूँ, मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ, मैं दुःख का अनुभव कर रहा हूँ” इत्यादि रूप से सम्पूर्ण संज्ञी आत्माओं को भोक्ता के साथ ‘अहं’ का अनुभव हो रहा है, जो सकलजन साक्षी है। अर्थात् सब को कर्ता के समान भोक्ता के साथ भी ‘अहं’ प्रतीति हो रही है।

यदि कहो कि- भोक्ता आत्मा का अहंकारास्पदत्व भ्रान्त है- तो कर्ता आत्मा का अहंकारास्पदत्व अभ्रान्त क्यों है, भ्रान्त क्यों नहीं है? यदि कहो कि कर्तापना तो अहंकार का स्थान ही है, अतः प्रधानरूप कर्ता को अहंकार का स्थान मानना उपयुक्त है। जैनाचार्य कहते हैं तब तो उसी प्रकार भोक्तापने का भी अहंपना अभ्रान्त मान लेना चाहिए। क्योंकि भोक्ता के साथ भी अहंकार का उल्लेख निर्बाध होता है।

यदि कहो कि भोक्ता के साथ स्थित अहंकारास्पदत्व (अहं, मैं, मैं की प्रतीति) औपाधिक होने से भ्रान्त ही है तो जैनाचार्य पूछते हैं कि भोक्ता के साथ स्थित अहंकारास्पदत्व के औपाधिकत्व किससे सिद्ध होता है?

सांख्य कहते हैं कि अनुभवन करना आत्मा का स्वभाव है, कर्तापना-अहंपना, मेरापना आत्मा का स्वभाव नहीं है। अतः पुरुषत्व के स्वभाव का अभाव होने से भोक्ता आत्मा का (मैं, मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ, दुःख का अनुभव कर रहा हूँ, इत्यादि) अहंकार के साथ समानाधिकरणपना प्रकृति की उपाधि से प्राप्त

मुक्तस्याहंकाराभावदपुरुषस्वभाव एवाहंकारः, स्वभावो हि न जातुचित्तद्वतं त्यजति, तस्य निःस्वभावत्वप्रसंगादिति चेन्न। स्वभावस्य द्विविधत्वात्, सामान्यविशेषपर्यायभेदात्। तत्र सामान्यपर्यायः शाश्वतिकः स्वभावः, कादाचित्को विशेषपर्याय, इति न कादाचित्कत्वात्पुंस्यहंकारादेरतत्स्वभावता ततो न तदास्पदत्वमनुभविष्यत्तुल्यपाधिकं, येनाध्यातं न भवेत् कर्तृत्ववत्। न चाध्याताहंकारास्पदत्वाविशेषेऽपि कर्तृत्वानुभविष्यत्तुल्ययोः प्रधानात्मकत्वमयुक्तं, यतः पुरुषकल्पनमफलं न भवेत्।

हुआ धर्म है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार सांख्यों का कथन तब घटित हो सकता है जब पुरुष का स्वभाव अहंकार न होता। परन्तु "मैं मैं" इस प्रतीति के उल्लेख करने योग्य आत्मा ही है। अतः अहंकार पुरुष (आत्मा) का ही स्वभाव है।

सांख्य कहता है कि मुक्त जीवों में अहंकार का अभाव होने से अहंकार अपुरुष (प्रधान) का ही स्वभाव है (आत्मा का स्वभाव नहीं है)। क्योंकि जो स्वभाव होता है, वह अपने स्वभाववान को कभी नहीं छोड़ता है। यदि स्वभाव स्वभाववान को छोड़ देता है तो वस्तु के निःस्वभावत्व का प्रसंग आयेगा। जैनाचार्य कहते हैं "यह सांख्य का कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय के भेद से वस्तु का स्वभाव दो प्रकार का है। उसमें जो सामान्य पर्याय है- वह शाश्वतिक स्वभाव है। उसका कभी नाश नहीं होता है। वह अनादि काल से अनन्त काल तक वस्तु के साथ रहता है। परन्तु विशेष पर्याय नाम का स्वभाव है, वह कादाचित्क है। कभी-कभी होता है। अतः वह सादि और सांत है। अतः क्रोधादिक कादाचित्क होने से निरंतर नहीं रहते हैं। पुरुष का अहंकार भी अतत्स्वभाव है। इसलिये अहंकार आदि आत्मा का स्वभाव नहीं है, विभाव है। अतः यह सिद्ध होता है कि भोग या अनुभव करने वाले आत्मा का अहंकार के साथ एकार्थपना अन्यद्रव्य से आया हुआ औपाधिक नहीं है, अपितु आत्मा का ही विभाव भाव है जिससे कि कर्तापने के समान अहंकार भाव आत्मा को न हो सके।

अथवा "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं सुनने वाला हूँ" इत्यादि वाक्यों में 'मैं' वा 'अहं' का अनुभव हो रहा है, वह अहंकार (मान कषाय) नहीं है- अपितु आत्मा का संवेदन है। वह प्रधान का गुण नहीं है, आत्मा का ही गुण है।

कर्तापिन और भोक्तापिन इन दोनों में अभ्रान्त और अहंकारास्पदत्व में अविशेषता (समानाधिकरण की समानता) होने पर भी दोनों प्रकृति स्वरूप ही हैं। ऐसा कहना अयुक्त नहीं है अर्थात् कर्ता और भोक्ता दोनों को ही प्रधान का ही गुण मान लेना चाहिये। जिससे कि सांख्यों के यहाँ आत्मतत्त्व की कल्पना करना व्यर्थ न होवे। अथवा इन दोनों को पुरुष का स्वरूप मान लिया जावे तो प्रधान की कल्पना करना व्यर्थ न होवे। (प्रधान की व्यर्थ कल्पना नहीं करनी पड़े)।

पुरुषात्मकत्वे वा तयोः प्रधानपरिकल्पनं । तथाविधस्य चासतः प्रधानस्य गगनकुसुमस्येव न श्रेयसा योक्ष्यमाणता । पुरुषस्य सास्तु इति चेन्न, तस्यापि निरतिशयस्य मुक्तावपि तत्प्रसंगात् । तथा च सर्वदा श्रेयसा योक्ष्यमाण एव स्यात्पुरुषो न चाऽऽयुज्यमानः । पूर्वं योक्ष्यमाणः पश्चात्तेनायुज्यमान इति चायुक्तं, निरतिशयैकांतत्वविरोधात् । स्वतो भिन्नैरतिशयैः सातिशयस्य पुंसः श्रेयसा योक्ष्यमाणता भवत्विति चेन्न, अनवस्थानुबंगात् ।

भावार्थ- कर्तापना और भोक्तापना एक ही द्रव्य में पाये जाते हैं। अतः प्रकृति और आत्मा में से एक ही तत्त्व मानना चाहिये, आत्मा मानना तो अत्यावश्यक है। क्योंकि आत्मा की सर्व प्राणियों को प्रतीति हो रही है। इसलिये इस प्रकार तथाविध असत् प्रधान की कल्पना करना आकाश के फूल के समान श्रेयोमार्ग में युक्त होना बन नहीं सकता है।

कल्याणमार्ग की अभिलाषा पुरुष के ही होती है, ऐसा एकान्त मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो सदा कूटस्थ नित्य आत्मा के और मुक्तावस्था में भी श्रेयोमार्ग की अभिलाषा का प्रसंग आयेगा। क्योंकि आत्मा तो मुक्तावस्था में भी है। तथा च, सर्वदा मोक्षमार्ग की अभिलाषा होने से सदा मोक्षमार्ग में लगा ही रहेगा, कभी बिना लगे नहीं रहेगा यदि आत्मा परिणमनशील हो। किसी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्यय होता है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य हो- तब आत्मा के श्रेयोमार्ग में लगने वा नहीं लगने की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

पूर्व अवस्था में आत्मा श्रेयोमार्ग से भावीयुक्त होने वाला है- और पश्चात् वर्तमान में श्रेयोमार्ग से संयुक्त हो जाता है, यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि निरतिशय (कूटस्थ, नित्य) एकान्त आत्मा में भूत में युक्त के सन्मुख होना और वर्तमान में संयुक्त हो जाना यह एकान्त नित्य का विरोधी है।

सांख्य कहता है कि कूटस्थ नित्य आत्मा से सर्वथा भिन्न अतिशयों के द्वारा सातिशयी पुरुष (आत्मा) के मोक्षमार्ग के साथ भावी काल में संयुक्तता हो जाती है। जैनाचार्य कहते हैं कि, सांख्य का यह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि इसमें अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। तथाहि- आत्मा अपने सर्वज्ञत्व आदि कल्याणमार्ग से युक्तता आदि अतिशयों के साथ सम्बन्ध करता हुआ यदि नाना स्वभावों के साथ सम्बन्ध करता है तब तो सम्बन्ध करने वाले उन स्वभावों के साथ भी, उन स्वभावों से भिन्न अनेक स्वभावों से (सम्बन्ध करेगा) और उन नाना स्वभावों के साथ सम्बन्ध करने के लिए दूसरे स्वभावों की आवश्यकता होगी। अतः अनवस्था दोष आयेगा। अर्थात् जिस प्रकार भिन्न अतिशयों के सम्बन्ध से आत्मा अतिशयवान होता है, वे अतिशय किस के संयोग से अतिशयवान थे? यदि वे दूसरे अतिशयों से अतिशयवान थे तो वे अतिशय किससे अतिशयवान थे? इस प्रकार अनवस्था दोष आता है।

पुरुषो हि स्वातिशयैः संबध्यमानो यदि नानास्वभावैः संबध्यते, तदा तैरपि संबध्यमानः परैर्नानास्वभावैरित्यनवस्था । स तैरकेन स्वभावेन संबध्यते इति चेत् न, अतिशयानामेकत्वप्रसंगात् । कथमन्यथैकस्वभावेन क्रियमाणानां नानाकार्याणामेकत्वापत्तेः पुरुषस्य नानाकार्यकारिणो नानातिशयकल्पना युक्तिमधितिष्ठेत् । स्वातिशयैरात्मा न संबध्यत एवेति चासंबंधे तैस्तस्य व्यपदेशाभावानुषंगत् । स्वातिशयैः कथंचित्तादात्म्योपगमे तु स्याद्वादसिद्धिः । इत्यनेकांतात्मकस्यैवात्मनः श्रेयोयोक्ष्यमाणत्वं न पुनरेकांतात्मनः, सर्वथा विरोधात् ।

कालादिलब्धयुपेतस्य तस्य श्रेयःपथे बृहत्- ।

पापापायाच्च जिज्ञासा संप्रवर्तेत रोगिवत् ॥२४७॥

वह आत्मा अनेक अतिशयों को धारण करने वाले अनेक स्वभावों के साथ एक ही स्वभाव से सम्बन्ध कर लेता है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है । क्योंकि अनेक स्वभावों से रहने वाले उन अनेक अतिशयों का और स्वभावों के एकपने का प्रसंग आयेगा । अन्यथा (ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे तो) एक स्वभाव द्वारा किये गये नाना कार्यों के भी एकपने की आपत्ति हो जाने से नाना कार्य करने वाले पुरुष के नाना अतिशयों की कल्पना करना कैसे युक्तिसंगत होगा ?

भावार्थ- जैसे आत्मा एक स्वभाव से अनेक अतिशयों को धारण कर लेता है, वैसे आत्मा एक स्वभाव से अनेक कार्यों को भी कर लेगा । परन्तु जैन सिद्धान्त 'यावन्ति कार्याणि तावन्तः स्वभावभेदाः ।' जितने कार्य होते हैं उतने ही स्वभाव भेद होते हैं, ऐसा मानता है और यह प्रतीति युक्त भी है ।

(आप सांख्य) यदि अपने भिन्न अतिशयों के साथ आत्मा सम्बन्ध ही नहीं करता है, इस कारण उन स्वभाव और अतिशयों के साथ उस आत्मा का सम्बन्ध नहीं मानोगे तो 'ये अतिशय आत्मा के हैं' इस व्यवहार के अभाव हो जाने का प्रसंग आता है । यदि उन स्वकीय ज्ञानादि अतिशयों के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करते हो तो स्याद्वाद सिद्धान्त की ही सिद्धि होती है । अतः अनेक धर्मात्मक आत्मा का ही भविष्य में मोक्षमार्ग में लगना सिद्ध हो सकता है । पुनः सर्वथा क्षणिक वा सर्वथा कूटस्थ नित्य मानने वाले एकान्तवादियों के श्रेयोमार्ग को प्राप्त करना सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वथा एकान्त में अर्थक्रिया का विरोध है ।

मोक्षमार्ग की जिज्ञासा

कालादि लब्धि (काललब्धि, आसन्नभव्यता, कषायों की मन्दता) आदि कारणों से युक्त आत्मा के महान् पापों का अपाय हो जाने से (अशुभ कर्मों के अनुभाग की हानि हो जाने पर वा कर्मों की स्थिति के अन्तःकोटा कोटी प्रमाण हो जाने पर) श्रेयोमार्ग के जानने की इच्छा प्रवृत्त होती है । जैसे रोगी के तीव्र पाप का क्षय होने से रोग की चिकित्सा की जिज्ञासा उत्पन्न होती है ॥२४७॥

श्रेयोमार्गजिज्ञासोपयोगस्वभावस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य कस्यचित्कालादिलब्धौ सत्यां बृहत्पापापायात् संप्रवर्तते श्रेयोमार्गजिज्ञासात्वात् रोगिणो रोगविनिवृत्तिजश्रेयोमार्गजिज्ञासावत् । न तावदिह साध्यविकलमुदाहरणं रोगिणः स्वयमुपयोगस्वभावस्य रोगविनिवृत्तिजश्रेयसायोक्ष्यमाणस्य कालादिलब्धौ सत्यां बृहत्पापापायात् संप्रवर्तमानायाः श्रेयोजिज्ञासायाः सुप्रसिद्धत्वात् । तत्त एव न साधनविकलं श्रेयोमार्गजिज्ञासात्वस्य तत्र भावात् । निरन्वयक्षणिकचित्तस्य संतानस्य प्रधानस्य वाऽनात्मनः श्रेयोमार्गजिज्ञासेति न भ्रंतव्यमात्मन इति वचनात्तस्य च साधितत्वात् । जडस्य चैतन्यमात्रस्वरूपस्य चात्मनः सेत्यपि न शङ्कनीयमुपयोगस्वभावस्येति प्रतिपादनात् । तथास्य समर्थनात् । निःश्रेयसेनासंपित्त्यमानस्य तस्य सेति च न चिंतनीयं, श्रेयसा योक्ष्यमाणस्येति निगदितत्वात् । तस्य तथा व्यवस्थापितत्वात् ।

उपयोग स्वभाव वाले और मोक्षमार्ग में लगने वाले किसी आत्मा के काललब्धि, देशनालब्धि आदि के प्राप्त होने पर तथा मोहनीय कर्मादि महान् पापों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर मोक्षमार्ग को जानने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। जैसे रोगी के रोगनिवृत्ति (कुछ असाता वेदनीय का उपशम) होने पर रोगनिवृत्ति रूप कल्याणमार्ग को जानने की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

इस अनुमान में दिया गया यह दृष्टान्त साध्यविकल (साध्य से रहित भी) नहीं है। क्योंकि स्वयं उपयोग (ज्ञान) स्वभाव तथा रोगनिवृत्ति से उत्पन्न श्रेयोमार्ग के साथ भविष्यत्काल में युक्त होने वाले रोगी के कालादिलब्धि (काललब्धि, साता वेदनीय कर्म का उदय, आयुष्य कर्म आदि की प्राप्ति) होने पर तथा असाता वेदनीय स्वरूप महान् पापकर्म का नाश होने पर कल्याणमार्ग (रोगनिवृत्ति-कारणों के निवृत्ति मार्ग) को जानने की इच्छा होना सुप्रसिद्ध ही है। तथा यह दृष्टान्त साधनविकल भी नहीं है। क्योंकि रोगी के कल्याणमार्ग की इच्छा में कल्याणमार्ग का जिज्ञासापन (साधन) विद्यमान है।

निरन्वय (अन्वयरहित मूल से) क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले चित्त के तथा उत्तरक्षण के भेद का स्पर्श नहीं करने वाले चित्तसंतान के और जड़ स्वरूप रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण रूप त्रिगुणात्मक प्रधान (प्रकृति) के मोक्षमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होती है ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि ये तीनों जड़ स्वरूप हैं और मोक्षमार्ग की जिज्ञासा आत्मा के ही उत्पन्न होती है। यह आप्तकथित आगम का वचन है। तथा आत्मद्रव्य की सिद्धि पूर्व में कर दी गई है।

ज्ञान से भिन्न (नैयायिक) जड़ स्वरूप आत्मा के, वा ज्ञान पराङ्मुख (वैशेषिक) चैतन्य स्वरूप आत्मा के मोक्षमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अनुमान में ज्ञानदर्शनोपयोगमय आत्मा के ही मोक्षमार्ग की जिज्ञासा का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् मोक्षमार्ग की जिज्ञासा उपयोग स्वभाव वाले आत्मा के ही उत्पन्न होती है। तथा उस आत्मा को युक्तियों से सिद्ध कर दिया है।

विशेषार्थ- आत्मा सामान्य-विशेष धर्मात्मक है। आत्मा का दर्शन उपयोग सामान्य रूप से पदार्थों का संवेदन करता है, और ज्ञान विशेष रूप से वेदन करता है। ये ज्ञान दर्शन दोनों आत्मा के स्वात्मभूत परिणाम हैं।

कालदेशादिनियममंतरेणैव सेत्यपि च न मनसि निधेयं, कालादिलब्धौ सत्यामित्यभिधानात्तथा प्रतीतेश्च ।

बृहत्पापापायमंतरेणैव सा संप्रवर्तत इत्यपि माभिमंस्त, बृहत्पापापायात्तत्संप्रवर्तनस्य प्रमाणसिद्धत्वात् । न हि क्वचित्संशयमात्रात् क्वचिजिज्ञासा, तत्प्रतिबंधकपापाक्रांतमनसः संशयमात्रेणावस्थानात् । सति प्रयोजने जिज्ञासा तत्रेत्यपि न सम्यक्, प्रयोजनानंतरमेव कस्यचिद्व्यासंगतस्तदनुपपत्तेः ।

कल्याणमार्ग में नहीं लगने वाले आत्मा को श्रेयोमार्ग को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, ऐसा भी नहीं विचारना चाहिए। क्योंकि अनुमान में 'श्रेयोमार्ग में युक्त होने वाले' यह विशेषण दिया गया है तथा श्रेयोमार्ग में युक्त होने वाली आत्मा की सिद्धि भी कर दी गई है।

विशिष्ट काल, देश-आदि के नियम के बिना ही श्रेयोमार्ग को जानने की इच्छा हो जाती है, ऐसी भी मन में धारणा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अंतरंग में मोक्षमार्ग को जानने के लिए उपादान रूप भव्यता कारण है। उसी प्रकार बाह्य में सुयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निमित्त कारण हैं, इन दोनों कारणों की समग्रता के बिना श्रेयोमार्ग के जानने की इच्छा प्रगट नहीं हो सकती। इसलिए इस अनुमान में "कालादि लब्ध्युपेतस्य वा कालादि लब्धौ सत्यां" कालादि लब्धि की प्राप्ति होने पर ही श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, ऐसा कथन किया है। और अनुभव में भी आ रहा है कि उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों से मोक्षमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

तीव्र पाप (अशुभ कर्मों के तीव्र अनुभाग तथा आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति) के अपाय (नाश) के बिना ही मोक्षमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अथवा- तीव्र पाप (मिथ्यात्व कर्म) के क्षय, क्षयोपशम वा उपशम के बिना ही श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि तीव्र पाप के नाश हो जाने पर ही श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा होती है वा भव्यात्मा श्रेयोमार्ग में प्रवृत्ति करता है, यह प्रमाण से सिद्ध है।

किसी पदार्थ में संशय हो जाने मात्र से किसी आत्मा में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि श्रेयोमार्ग के जानने वा प्रवृत्ति करने के प्रतिबन्धक तीव्र पाप कर्म से आक्रान्त मन वाले प्राणी के ही संशय उत्पन्न होता है। अर्थात् तीव्र पाप कर्म के उदय में संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती और वह संशयात्तु प्राणी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

किसी प्रयोजन से (वा सांसारिक सुख के लिए) मोक्षमार्ग की जिज्ञासा वा मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है (प्रशंसनीय नहीं है)। क्योंकि इच्छित प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर किसी आत्मा का चित्त (परिणाम) व्यासंग से (सांसारिक सुखों की आसक्ति से) इधर-उधर भटक जाता है और मोक्षमार्ग में लगने की वा श्रेयोमार्ग को जानने की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः प्रयोजन मोक्षमार्ग की इच्छा का कारण नहीं है।

‘दुःखत्रयाभिघाताजिज्ञासा तदपघातके हेतौ’ इति केचित्, तेऽपि न न्यायवादिनः । सर्वसंसारिणां तत्प्रसंगात्, दुःखत्रयाभिघातस्य भावात् । आम्नायादेव श्रेयोमार्गजिज्ञासेत्यन्ये, तेषामथातो धर्मजिज्ञासेति सूत्रेऽथशब्दस्यानंतर्याथे वृत्तेरथेदमधीत्याम्नायादित्याम्नायादधीतवेदस्य वेदवाक्यार्थेषु जिज्ञासाविधिरवगम्यत इति व्याख्यानं । तदयुक्तं । सत्यप्याम्नायश्रवणे तदर्थावधारणेऽभ्यासे च कस्यचिद्धर्मजिज्ञासानुपपत्तेः । कालान्तरापेक्षायां तदुत्पत्तौ सिद्धं कालादिलब्धौ तत्प्रतिबंधकपापापायाच्च श्रेयःपथे जिज्ञासायाः प्रवर्तनं ।

‘तीन दुःखों (शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक वा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन दुःखों) के नाशक कारणों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, ऐसा कोई कहता है (कपिलमतानुयायी) । परन्तु ऐसा कहने वाले न्याय का कथन करने वाले नहीं हैं । वा वह नैयायिक न्याय जानने वाला नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर सर्व संसारी प्राणियों को मोक्ष की जिज्ञासा का प्रसंग आयेगा । क्योंकि सारे संसारी प्राणी इन तीनों दुःखों से पीड़ित हैं । अर्थात् सभी संसारी प्राणियों के इन दुःखों का सद्भाव है अतः सभी प्राणियों के श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा । परन्तु सभी प्राणियों को मोक्षमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है । शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक पीड़ा दूर करने की इच्छा सभी प्राणियों की है, परन्तु मोक्षमार्ग की जिज्ञासा सब को नहीं है ।

आम्नाय (अनादिकाल से आगत वेद वाक्यों) से ही श्रेयोमार्ग में प्रवृत्त होने की जिज्ञासा (इच्छा) उत्पन्न होती है, ऐसा अन्य (मीमांसक) कहते हैं । उनके दर्शन में भी ‘इसके बाद यहाँ से धर्म के जानने की इच्छा उत्पन्न हुई है’, इस सूत्र के ‘अथ’ शब्द का यह व्याख्यान किया गया है कि ‘अथ’ शब्द की व्यवधान रहित उत्तरक्षण में होने वाले अर्थ में प्रवृत्ति है । प्रारंभ में इस वेदवाक्य को पढ़कर अर्थात् वेदवाक्य की अक्षुण्ण आम्नाय से पढ़ लिया है वेदवाक्य को जिसने (वेदवाक्य को जानने वाले उस) आत्मा को वेदवाक्यों के वाच्य अर्थों में जिज्ञासा का विधान जाना जाता है । जैनाचार्य कहते हैं कि इन का कथन युक्तिसंगत नहीं हो सकता । क्योंकि परम्परागत वेदवाक्य के श्रवण, निर्णय, धारणा और अभ्यास कर लेने पर भी किसी पुरुष को धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं भी होती है ।

यदि मीमांसक यों कहे कि कालान्तर (कुछ काल के बाद या कालादि सहकारी कारणों के मिलने पर) की अपेक्षा होने पर वेदवाक्य के श्रोता को धर्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है तो जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो ‘कालादिलब्धि के प्राप्त होने पर किसी भव्य के मोक्षमार्ग की जिज्ञासा वा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है ।’ यह स्याद्वाद का कथन सिद्ध होता है ।

संशयप्रयोजनदुःखत्रयाभिघाताम्नायश्रवणेषु सत्स्वपि कस्यचित्तदभावादसत्स्वपि भावात् । कदाचित्संशयादिभ्यस्तदुत्पत्तिदर्शनात्तेषां तत्कारणत्वे लोभाभिमानादिभ्योऽपि तत्प्रादुर्भावालोकनात्तेषामपि तत्कारणत्वमस्तु ।

नियतकारणत्वं तु तज्जनने बृहत्पापापायस्यैवांतरंगस्य कारणत्वं बहिरंगस्य तु कालादेरिति युक्तं, तदभावे तज्जननानीक्षणात् । कालादि न नियतं कारणं बहिरंगत्वात् संशयलोभादिवदिति चेन्न, तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात्, कार्यांतरसाधारणत्वात् बहिरंगं तदिष्यते, ततो न हेतोः साध्याभावेऽपि सद्भावः संदिग्धो निश्चितो वा, यतः संदिग्धव्यतिरेकता निश्चितव्यभिचारिता वा भवेत् ।

मीमांसकों आदि के द्वारा कथित संशय, प्रयोजन, शारीरिक, मानसिक आदि तीन दुःखों का अभिघात (नाश), आम्नाय-श्रवण आदि हेतु में अन्वय-व्यतिरेक नहीं होने से ये हेतु व्यभिचार दोषों से दूषित हैं। क्योंकि किसी पुरुष के संशय, प्रयोजन तथा त्रय दुःखों से ताड़न और वेदवाक्य के वाच्य अर्थों का श्रवण, मनन और धारण होने पर भी श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है (यह अन्वयव्यभिचार है) तथा किसी पुरुष के संशय, प्रयोजन, त्रयदुःखताड़न, वेद वाक्यार्थ श्रवण, मनन, धारण करनादि कारणों के नहीं होने पर भी श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा की उत्पत्ति देखी जाती है। यह व्यतिरेक व्यभिचार है।

यदि आप कहें कि कदाचित् संशय आदिक कारणों के होने पर भी धर्मजिज्ञासा की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः संशय आदि को धर्मजिज्ञासा की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। तब तो लोभ, अभिमान, ईर्ष्या आदि कारणों से भी धर्म-जिज्ञासा का प्रादुर्भाव देखा जाता है इसलिये लोभ-ईर्ष्या आदि को भी धर्मजिज्ञासा की उत्पत्ति का कारण मानना चाहिए? धर्मजिज्ञासा (श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा) की उत्पत्ति में संशय, प्रयोजन, दुःखत्रयाभिघात और वेदवाक्यार्थ-श्रवण, मनन, अवधारण आदि अनियत कारण हैं, नियत कारण नहीं हैं। (जिसके होने पर कार्य अवश्य हो और जिसके अभाव में कार्य न हो वह नियत कारण कहलाता है।) श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा की उत्पत्ति का अंतरंग नियत कारण बृहत् पाप (मिथ्यात्व) का अपाय (नाश) है। अर्थात् श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा की उत्पत्ति का अंतरंग कारण दर्शनमोहनीय का क्षय, उपशम और क्षयोपशम है। और बहिरंग कारण काललब्धि आदि है। यह कथन ही युक्तिसंगत है। मिथ्यात्व रूप पाप के अपाय के अभाव में तथा कालादि लब्धि के अभाव में श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है।

संशय, लोभ आदिक के समान बाह्य कारण होने से काललब्धि आदि भी श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा की उत्पत्ति में नियत कारण नहीं हैं, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा की उत्पत्ति में काललब्धि आदि निमित्त कारणों की अवश्य ही अपेक्षा होती है। दूसरे कार्यों में भी तो साधारण होने से इनको बहिरंग कारण कहते हैं। इसलिए साध्य के नहीं रहने पर भी हेतु के सद्भाव का सन्देह वा निश्चय नहीं है। अर्थात् साध्य के अभाव में हेतु के सद्भाव का सन्देह नहीं है, जिससे व्यतिरेक व्यभिचार वा संशय हो सके। तथा साध्य के न रहने पर हेतु के सद्भाव का निश्चय भी नहीं है जिससे कि निश्चय से व्यभिचार दोष आता हो।

ननु च स्वप्रतिबन्धकाधर्मप्रक्षयात्कालादिसहायादस्तु श्रेयःपथे जिज्ञासा, तद्वानेव तु प्रतिपाद्यते इत्यसिद्धं । संशयप्रयोजनजिज्ञासाशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासतद्वचनवतः प्रतिपाद्यत्वात् । तत्र संशयितः प्रतिपाद्यस्तत्त्वपर्यवसायिना प्रश्नविशेषणाचार्यं प्रत्युपसर्पकत्वात्, नाव्युत्पन्नो विपर्यस्तो वा तद्विपरीतत्वाद्बालकवदस्युवद्वा । तथा संशयवचनवान् प्रतिपाद्यः स्वसंशयं वचनेनाप्रकाशयतः संशयितस्यापि ज्ञातुमशक्तेः ।

भावार्थ- काल आदि बहिरंग कारणों के साथ भी जिज्ञासा का समीचीन व्यतिरेक बन जाता है, जो कि कार्य कारण भाव का प्रयोजक है इसलिये विपक्ष में वृत्तिपन के संशय और निश्चय करने से आने वाले व्यभिचार दोष यहाँ नहीं हैं।

प्रतिपाद्य कौन ?

शंका- स्वप्रतिबन्धक अधर्म का क्षय हो जाने से, काल लब्धि आदि की सहायता से कल्याण मार्ग में जानने की इच्छा हो सकती है परन्तु जानने की इच्छा वाला पुरुष ही उपदेश के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, इस प्रकार कहना सिद्ध नहीं है। क्योंकि संशय, प्रयोजन, जानने की इच्छा, शक्य की प्राप्ति और संशय को दूर करना इनसे युक्त तथा इनके प्रतिपादक वचनों को बोलने वाला पुरुष ही प्रतिपादित किया जा सकता है।

जो शिष्य संशयालु है, वही गुरुओं के द्वारा प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) है। क्योंकि संशयालु पुरुष ही तत्त्व निर्णय कराने वाले विशेष प्रश्न से प्रतिपादक आचार्य के निकट जाता है। जो अज्ञानी, मूर्ख, व्युत्पत्ति रहित है वह प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। तथा जो मिथ्या अभिनिवेश से विपरीत ज्ञानी है वे भी प्रतिपाद्य नहीं हैं। जो अज्ञानी है वह बालक के समान प्रतिपाद्य नहीं है और विपर्यय ज्ञानी है, वह चोर के समान प्रतिपाद्य नहीं है। अर्थात् अज्ञानी और विपरीत मानव तत्त्व के स्वरूप को समझ नहीं सकते हैं। जैसे अज्ञानी बालक और विपर्यय बुद्धि वाले चोर आदि तत्त्व को समझने का प्रयत्न नहीं करते हैं। इसलिये संशयालु प्रतिपाद्य है। संशय वचन वाले ही प्रतिपाद्य हैं, समझाने योग्य हैं। जो मानव अपने संशय को वचनों के द्वारा प्रगट नहीं कर रहा है, ऐसी अवस्था में संशय उत्पन्न पुरुष को प्रतिपादक जान नहीं सकता है। अतः अपने संशय को विनयपूर्वक कहने वाला शिष्य समझाने योग्य है अर्थात् संशयवचन प्रतिपाद्य है।

परिज्ञातसंशयोपि वचनात् प्रयोजनवान् प्रतिपाद्यो न स्वसंशयप्रकाशनमात्रेण विनिवृत्ताकांक्षः। प्रयोजनवचनवांश्च प्रतिपाद्यः, स्वप्रयोजनं वचनेनाप्रकाशयतः प्रयोजनवतोऽपि निश्चेतुमशक्यत्वात्। तथा जिज्ञासावान् प्रतिपाद्यः प्रयोजनवतो निश्चितस्यापि ज्ञातुमनिच्छतः प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। तद्वचनपि तद्वचनवान् प्रतिपाद्यते, स्वां जिज्ञासां वचनेनानिवेदयतस्तद्वत्तया निर्णेतुमशक्तेः। तथा जिज्ञासुर्निश्चितोऽपि शक्यप्राप्तिमानेव प्रतिपादनायोग्यस्तत्त्वमुपदिष्टं प्राप्तुमशक्नुवतः प्रतिपादने वैयर्थ्यात्। स्वां शक्यप्राप्तिं वचनेनाकथयतस्तद्वत्तेन प्रत्येतुमशक्तेः शक्यप्राप्तिवचनवानेव प्रतिपाद्यः। तथा संशयव्युदासवान्

प्रतिपाद्य का स्वरूप

वचन से परिज्ञात संशय (जिसका संशय ज्ञात हो गया है ऐसा) भी शिष्य प्रयोजनवान होने पर ही प्रतिपाद्य होता है। अर्थात् वचन के द्वारा जिसका संशय ज्ञात हो गया है, ऐसा शिष्य भी यदि उसे किसी कार्य की सिद्धि का प्रयोजन है, तभी समझाया जावेगा। अपने संशय का प्रकाशन करने मात्र से जिसकी आकांक्षा-निवृत्ति हो गई है वह शिष्य गुरु के समझाने योग्य नहीं है।

प्रयोजनवान प्रतिपाद्य है। परन्तु अपने प्रयोजन को वचन के द्वारा प्रगट नहीं करने वाला प्रयोजनवान भी प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। क्योंकि प्रयोजन का कथन किये बिना उसके अभिप्राय का निर्णय करना शक्य नहीं है अर्थात् प्रयोजनवान वचन ही प्रतिपाद्य है। तथा जिज्ञासु प्रतिपाद्य है। क्योंकि जिस शिष्य के प्रयोजन का निश्चय हो चुका है, परन्तु जिसके हृदय में तत्त्व को जानने की जिज्ञासा नहीं है, वह प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो तत्त्व को जानना नहीं चाहता है, उसको समझाना शक्य नहीं है।

जिज्ञासु पुरुष अपनी जिज्ञासा को गुरु के समक्ष प्रगट नहीं करता है, वह प्रतिपाद्य नहीं होता है। क्योंकि उसकी जिज्ञासा का निवेदन किये बिना जानना शक्य नहीं है। अतः जिज्ञासु होते हुए भी अपनी जिज्ञासा को वचन के द्वारा प्रगट करने वाला ही प्रतिपादन करने योग्य है।

यह जिज्ञासु है और यह इसकी जिज्ञासा है, ऐसा निश्चय हो जाने पर भी जो शक्य प्राप्तिमान है अर्थात् उपदिष्ट पदार्थ की प्राप्ति की योग्यता धारण करता है वही प्रतिपाद्य है (समझाने योग्य है)। जो उपदिष्ट तत्त्व को प्राप्त (ग्रहण) नहीं कर सकता है, उसके लिए तत्त्व का प्रतिपादन करना व्यर्थ है। गुरु के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को प्राप्त (ग्रहण) करने में समर्थ है, परन्तु अपने सामर्थ्य का वचन के द्वारा प्रतिपादन नहीं कर रहा है, उसके सामर्थ्य को प्रतिपादक जान नहीं सकता है। जो शक्य-प्राप्तिमान है (अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ है) ऐसा नहीं जाना गया है, वह शिष्य शिक्षण देने योग्य नहीं है अर्थात् बोलने की अवज्ञा से भयभीत शिष्य में उपदेश सुनने की योग्यता नहीं है। इसलिए उपदिष्ट पदार्थों की प्राप्ति के सामर्थ्य को वचनों से कहने वाला ही शिष्य प्रतिपाद्य (शिक्षा देने योग्य) है।

प्रतिपाद्यः सकृत्संशयितोभयपक्षस्य प्रतिपादयितुमशक्तेः। संशयव्युदासवानपि तद्वचनवान् प्रतिपाद्यते, किमयमनित्यः शब्दः किं वा नित्य इत्युभयोः पक्षयोरन्यतरत्र संशयव्युदासस्यानित्यः शब्दस्तावत्प्रतिपाद्यतामिति वचनमंतरेणावबोद्धुमशक्यत्वादिति केचित्। तान् प्रतीदमभिधीयते।

तद्वानेव यथोक्तात्मा प्रतिपाद्यो महात्मनाम्।

इति युक्तं मुनीन्द्राणामादिसूत्रप्रवर्तनम् ॥२४८॥

यः परतः प्रतिपाद्यमानश्रेयोमार्गः स श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावानेव, यथातुरः सद्ब्रह्मादिभ्यः प्रतिपद्यमानव्याधिविनिवृत्तिजश्रेयोमार्गः परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गश्च विवादापन्नः कश्चिदुपयोगात्मकात्मा भव्य इति। अत्र न धर्मिण्यसिद्धसत्ताको हेतुरात्मनः श्रेयसा

तथा अपने संशय को दूर करने वाला मानव ही समझाने योग्य है। परन्तु जिसने एक समय में दोनों ही पक्षों का संशय कर रखा है, वह समझाया नहीं जा सकता। अतः संशय-व्युदास (स्वकीय संशय को दूर करने वाला) ही प्रतिपाद्य होता है।

संशयव्युदास भी जब वचनों के द्वारा स्वकीय संशय के दूर करने का वचन बोलता है, तभी प्रतिपाद्य है, अन्यथा नहीं। जैसे शब्द नित्य है? अथवा अनित्य है? इन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष में संशय को दूर करने के लिए पहले आप शब्द की अनित्यता का प्रतिपादन कीजिये। इस प्रकार के वचन का उच्चारण किये बिना आचार्य उसके अभिप्राय को समझ नहीं सकते। इसलिए संशयव्युदास वचन वाला प्रतिपाद्य है। इस प्रकार संशय^१-संशय^२ वचन, प्रयोजन^३-प्रयोजन^४ वचन, जिज्ञासा^५-जिज्ञासावचन^६, शक्यप्राप्ति^७ शक्यप्राप्तिवचन^८, संशयव्युदास^९ और संशयव्युदासवचन^{१०} इन दस धर्मों से युक्त शिष्य ही गुरु के द्वारा समझाने योग्य है, ऐसा कोई कहता है। उसके प्रति जैनाचार्य उत्तर देते हैं, उसकी शंका का समाधान करते हैं—

कल्याणमार्ग का इच्छुक प्रतिपाद्य है

उपर्युक्त दस गुणों से विशिष्ट, कल्याण मार्ग का इच्छुक, उपयोगात्मक आत्मा ही महान् आत्माओं के द्वारा प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) है। इसलिए परमेश्वर्य के धारक गणधरदेव ने तथा गृद्धपिच्छ आचार्य ने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र की प्रवर्तना (रचना) की है, वह युक्तिसंगत है ॥२४८॥

जो भव्य प्राणी दूसरों के द्वारा प्रतिपद्यमान मोक्षमार्गवाला (गुरु के समीप मोक्षमार्ग को सुन रहा है) है वह मोक्षमार्ग का जिज्ञासु अवश्य है। जैसे रोगी श्रेष्ठ वैद्य, मंत्रवित्, तांत्रिक आदि के द्वारा प्रतिपादित व्याधि की निवृत्ति से उत्पन्न श्रेयोमार्ग (रोगदुःखनिवृत्ति) का इच्छुक होता है अर्थात् रोगी कल्याण मार्ग का जिज्ञासु अवश्य होता है। उसी प्रकार विवादापन्न कोई उपयोग स्वरूप भव्यात्मा दूसरों (मुनीन्द्रों) के द्वारा प्रतिपादित श्रेयोमार्ग का जिज्ञासु है। (मुनीन्द्र के द्वारा प्रतिपाद्य श्रेयोमार्ग वाला उपयोगात्मक भव्यात्मा है- अचेतन प्रधान आदि प्रतिपाद्य नहीं होते हैं)। इस अनुमान के पक्ष में (धर्म में) असिद्ध सत्ता वाला हेतु है- (हेतु असिद्ध हेत्वाभास है) ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि श्रेयोमार्ग

योक्ष्यमाणस्योपयोगस्वभावस्य च विशिष्टस्य प्रमाणसिद्धस्य धर्मित्वात्तत्र हेतोः सद्भावात् तद्विपरीते त्वात्मनि धर्मिणि तस्य प्रमाणबाधितत्वादसिद्धिरेव । न हि निरन्वयक्षणिकचित्तसंतानः, प्रधानम्, अचेतनात्मा, चैतन्यमात्रात्मा वा परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गः सिद्धयति; तस्य सर्वथार्थक्रियारहितत्वेनावस्तुत्वसाधनात् । नापि श्रेयसा शश्वदयोक्ष्यमाणस्तस्य गुरुतरमोहाक्रांतस्यानुपपत्तेः । स्वतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गेण योगिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत् न, परतो ग्रहणात् ।

परतः प्रतिपद्यमानप्रत्यवायमार्गेणानैकांतिक इति चायुक्तं, तत्र हेतुधर्मस्याभावात् । तत एव न विरुद्धो हेतुः, श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावन्तमंतरेण क्वचिदप्यसंभवात् । इति प्रमाणसिद्धमेतत्तद्वा नेव

में लगने वाले ज्ञाता, द्रष्टा, विशिष्ट प्रमाण सिद्ध आत्मा के धर्मी होने से इस पक्ष में हेतु का सद्भाव है अर्थात् मोक्षमार्ग को सुनने का जिज्ञासु ज्ञाता द्रष्टा आत्मा ही हो सकता है अतः 'जिज्ञासावान्' हेतु आत्मा में सिद्ध है । इस उपयोग स्वभावी आत्मा से भिन्न नैयायिक आदि के द्वारा कल्पित आत्मा रूपी धर्मी में उस हेतु (जिज्ञासावान्) का रहना प्रमाणबाधित होने से असिद्ध है अर्थात् अचेतन या ज्ञान से भिन्न आत्मा में मोक्षमार्ग की जिज्ञासा नहीं हो सकती है अतः जिज्ञासावान् हेतु अन्यत्र असिद्ध है परन्तु स्याद्वाद सिद्धान्त में यह हेतु असिद्ध नहीं है ।

बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित निरन्वय क्षणिक चित्तसन्तान, या कपिल के द्वारा कथित सत्त्व रज तमोगुण रूप प्रधान (प्रकृति) अथवा नैयायिक एवं वैशेषिक के द्वारा स्वीकृत ज्ञानचेतना से पराङ्मुख अचेतन स्वरूप आत्मा और ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा कथित केवल चैतन्य रूप आत्मा ये चारों तो दूसरों (गुरुजनों) के द्वारा प्रतिपाद्य श्रेयोमार्ग को जानने वाले सिद्ध नहीं होते हैं । अर्थात् निरन्वय क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली आत्मा, वा प्रकृति रूप अचेतनात्मा वा स्वयं ज्ञान रहित आत्मा मोक्षमार्ग को समझाने योग्य वा समझने वाली नहीं होती है । क्योंकि उपरि कथित स्वरूप वाली आत्मा अर्थक्रिया से रहित होने से अवस्तु है । उसका वस्तुपना ही सिद्ध नहीं है ।

जो आत्मा श्रेयोमार्ग का जिज्ञासु नहीं है, मोक्षमार्ग में हमेशा लगने वाला नहीं है, वह भी प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) नहीं है । क्योंकि महान् गुरुतर मोहनीय कर्म (मिथ्यात्व) से आक्रान्त चित्तवाला होने से उसके प्रति मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करना युक्त नहीं है । क्योंकि तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव के श्रेयोमार्ग में लगना या श्रेयोमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न होना नहीं बन सकता है ।

स्वयं मोक्षमार्ग को जानने वाले स्वयंभू-आत्मा रूप योगी के द्वारा जिज्ञासावान् हेतु व्यभिचारी होता है । अर्थात् वह स्वयं मोक्षमार्ग को जानता है, जिज्ञासु कैसे हो सकता है? ऐसा कहना (या हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कहना) उचित नहीं है । क्योंकि जैनाचार्य ने इस हेतु में 'परतः' यह विशेषण दिया है । अर्थात् दूसरों के द्वारा समझाने योग्य शिष्य का कथन किया है । अतः जिज्ञासावान् हेतु स्वयंभू के द्वारा अनैकान्तिक नहीं हो सकता । क्योंकि जो दूसरे के द्वारा मोक्षमार्ग को समझ रहा है, वह जिज्ञासु अवश्य है ।

दूसरों के द्वारा पापमार्ग को जानने वाले पुरुष से यह हेतु व्यभिचारी होता है । क्योंकि दूसरों से कुमार को सुनने वाले पुरुष में 'जिज्ञासु' हेतु विद्यमान है परन्तु मोक्षमार्ग की जिज्ञासा रूप साध्य उसमें नहीं है, अतः

यथोक्तात्मा प्रतिपाद्यो महात्मनां, नातद्वान्नायथोक्तात्मा वा तत्प्रतिपादने सतामप्रेक्षावत्त्वप्रसंगात्। परमकरुणया कांक्षन् श्रेयोमार्गं प्रतिपादयतां तत्प्रतिपित्सारहितानामपि नाप्रेक्षावत्त्वमिति चेन्न, तेषां प्रतिपादयितुमशक्यानां प्रतिपादने प्रयासस्य विफलत्वात्। तत्प्रतिपित्सामुत्पाद्य तेषां तैः प्रतिपादनात् सफलस्तत्प्रयास इति चेत्, तर्हि तत्प्रतिपित्सावानेव तेषामपि प्रतिपाद्यः सिद्धः। तद्वचनधानेवेति तु न नियमः, सकलविदां प्रत्यक्षत एवैतत्प्रतिपित्सायाः प्रत्येतुं शक्यत्वात्।

‘जिज्ञासावान्’ हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि पक्ष (श्रेयोमार्ग) विपक्ष (कुमार्ग) दोनों में जाता है। ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि पापमार्ग को जानने वाले में श्रेयोमार्ग को समझने रूप हेतु (धर्म) का अभाव है। अर्थात् हेतु में स्थित श्रेयोमार्ग को समझने रूप धर्म पापमार्ग को समझने वाले में घटित नहीं हो सकता। इसलिए ‘जिज्ञासावान्’ हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि मोक्षमार्ग की जिज्ञासा वाले जीव के, बिना दूसरों से मोक्षमार्ग को समझना कभी संभव नहीं है। अतः यह प्रमाणसिद्ध है कि श्रेयोमार्ग का जिज्ञासु और कालादि लब्धियों से युक्त ज्ञाता द्रष्टा आत्मा ही महात्माओं के द्वारा प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) होता है। परन्तु जो मोक्षमार्ग का जिज्ञासु नहीं है अथवा तीव्र मिथ्यात्व से आक्रान्त है, विपरीत बुद्धि वाला है, उपर्युक्त गुणों से युक्त नहीं है, वह महात्माओं के द्वारा समझाने योग्य वा उपदेश का पात्र नहीं है। ऐसे विपरीत मोही अभव्य आत्माओं को प्रतिपादन करने पर (उनके प्रति तत्त्व का कथन करना, उनको समझाना आदि चेष्टा करने पर) महात्माओं के अविचारत्व का प्रसंग आता है।

भावार्थ- जो पात्र-अपात्र का विचार न करके उपदेश देते हैं वे विचारशील नहीं होते हैं।

तत्त्वजिज्ञासु प्रतिपाद्य है

परम कारुण्य भाव से जिज्ञासा रहित किन्हीं जीवों के प्रति श्रेयोमार्ग का प्रतिपादन करने वाले गुरुजनों के विचारशील-रहितता (अविचारपने) का प्रसंग नहीं आता है। ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि जो समझने के लिए शक्य नहीं है (समझना नहीं चाहता है) उसके प्रति तत्त्व का प्रतिपादन करने में वक्ता के परिश्रम वा प्रयास की विफलता होती है अर्थात् जब श्रोता सुनने का इच्छुक ही नहीं है तो उसके लिए तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले को व्यर्थ का परिश्रम करना है।

यदि कहो कि जीवों को कल्याणमार्ग की जिज्ञासा उत्पन्न कराकर के उनके प्रति हितमार्ग का प्रतिपादन करने वाले गुरुजनों का प्रयास सफल हो जाता है, तब तो उन गुरुजनों के द्वारा मोक्षमार्ग का जिज्ञासु ही प्रतिपाद्य है, यह सिद्ध होता है।

जिज्ञासा को वचन के द्वारा प्रकाशित करने वाला ही प्रतिपाद्य होता है, यह भी नियम ठीक नहीं है। क्योंकि केवलज्ञानी अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ‘इसकी यह जिज्ञासा है’ इस प्रकार जानने में समर्थ हैं और दूसरे वक्ता वा आचार्य प्रतिपाद्य (शिष्य) के विकार, जानने की चेष्टा, प्रश्न पूछने के लिए आना आदि हेतुजन्य अनुमान से उसकी जिज्ञासा को समझ सकते हैं। अथवा आप के उपदेश से भी जिज्ञासाओं का जानना प्रतीत हो सकता है। अथवा आप के उपदेश से बिना कहे ही जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त हो जाती है।

परैरनुमानाद्वास्य विकारादिलिंगजादात्तोपदेशाद्वा तथा प्रतीतेः। संशयतद्वचनवांस्तु साक्षात् प्रतिपाद्यस्तत्त्वप्रतिपत्तिसारहितस्य तस्याचार्यं प्रत्युपसर्पणाभावात्।

परंपरया तु विपर्ययतद्वचनवानव्युत्पत्तितद्वचनवान् वा प्रतिपाद्योस्तु विशेषाभावात्। यथैव हि संशयतद्वचनानंतरं स्वप्रतिबंधकाभावात्तत्त्वजिज्ञासायां कस्यचित्प्रतिपाद्यता तथा विपर्ययाव्युत्पत्तितद्वचनानंतरमपि। विपर्यस्ताव्युत्पन्नमनसां कुतश्चिददृष्टविशेषात्संशये जाते तत्त्वजिज्ञासा भवतीति चायुक्तं, नियमाभावात्। न हि तेषामदृष्टविशेषात्संशयो भवति न पुनस्तत्त्वजिज्ञासेति नियामकमस्ति। तत्त्वप्रतिपत्तेः संशयव्यवच्छेदरूपत्वात् संशयितः प्रतिपाद्यत

संशयालु और संशयालु के वचनों को कारण मान कर तत्त्व का प्रतिपादन करना, अथवा संशयालु और उसके वचन प्रतिपाद्य है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि तत्त्व को जानने की जिज्ञासा से रहित पुरुष का आचार्य के समीप ज्ञान का अभाव है।

भावार्थ- प्रतिपाद्य (शिष्य) में साक्षात् कारण तत्त्व के जानने की इच्छा (अभिलाषा) है। यदि संशयालु के हृदय में तत्त्व के जानने की अभिलाषा है तो वह प्रतिपाद्य है। अपने वचनों के द्वारा संशय को कहने वाला भी प्रतिपाद्य है, परन्तु जिसके हृदय में तत्त्व को जानने की अभिलाषा ही नहीं ऐसा संशयवान् प्राणी गुरुजनों के समीप जाता ही नहीं है। अतः संशयालु और उसके वचन प्रतिपाद्य नहीं हैं।

यदि संशयालु और उसके वचनों को परम्परा से प्रतिपाद्य का कारण मानेंगे तो विपर्यय ज्ञानी और उसके वचनों के द्वारा विपरीत ज्ञान का करने वाला तथा अव्युत्पन्न (अज्ञानी) और अपने वचनों के द्वारा अज्ञान का निरूपण करने वाला भी प्रतिपाद्य हो जायेगा। क्योंकि 'संशय और संशयवान के वचन, विपरीत ज्ञान और विपरीत ज्ञानी के वचन और अव्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न के वचन' इन तीनों में विशेषता का अभाव है अर्थात् परम्परा से कारणता तीनों में समान है।

जिस प्रकार संशय और उसके वचनों में उत्तरकाल में स्वकीय प्रतिबन्धक (ज्ञानावरण मोहनीयादि कर्मों) का अभाव हो जाने से तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न होने पर प्रतिपाद्यता आ सकती है अर्थात् किसी काल में मिथ्यात्व का मन्द उदय हो जाने से संशयालु और उसके वचन प्रतिपाद्य हो सकते हैं, उसी प्रकार विपर्यय, अव्युत्पन्न और उनके वचन भी उत्तरकाल में जिज्ञासा उत्पन्न होने पर प्रतिपाद्य हो सकते हैं क्योंकि इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है।

विपरीत ज्ञानी और अव्युत्पन्न (अज्ञानी) इन दोनों के किसी पुण्यविशेष से संशय के उत्पन्न हो जाने पर ही तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः जिज्ञासा के पूर्ववर्ती संशय को कारण मान लो। विपर्यय और अज्ञान को कारण न मानो। ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि विपर्यय मति वाले और अव्युत्पन्न को संशय हो कर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, इस प्रकार के नियम का अभाव है। विपर्यय ज्ञानी और अज्ञानी के अदृष्ट (पुण्य) विशेष से संशय तो उत्पन्न हो जावे परन्तु अनन्तर काल में जिज्ञासा नहीं होवे, ऐसा एकान्त ठीक नहीं है। परन्तु पुण्य विशेष से विपरीत दृष्टि वाले और अव्युत्पन्न को भी जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है और वे गुरुजनों का संसर्ग पाकर सम्यग्ज्ञानी बन जाते हैं।

इति चेत्, तद्व्युत्पन्नो विपर्ययस्तो वा प्रतिपाद्यः संशयितवत् । तत्त्वप्रतिपत्तेरव्युत्पत्तिविपर्यासव्यवच्छेदरूपत्वस्य सिद्धेः संशयव्यवच्छेदरूपत्ववत् । संशयविपर्ययाव्युत्पत्तीनामन्यतमाव्यवच्छेदे तत्त्वप्रतिपत्तेर्यथार्थतानुपपत्तेः । यथा वाऽविद्यमानसंशयस्य प्रतिपाद्यस्य संशयव्यवच्छेदार्थं तत्त्वप्रतिपादनमफलं, तथैवाविद्यमानाव्युत्पत्तिविपर्ययस्य तदव्यवच्छेदार्थमपि । यथा भविष्यत्संशयव्यवच्छेदार्थं तथा भविष्यदव्युत्पत्तिविपर्ययव्यवच्छेदार्थमपि । इति तत्त्वप्रतिपत्तिसायां सत्यां त्रिविधः प्रतिपाद्यः, संशयितो विपर्यस्तबुद्धिरव्युत्पन्नश्च । प्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासतद्वचनवान् प्रतिपाद्य इत्यप्यनेनापास्तं । तत्प्रतिपत्तिसाविरहे तस्य प्रतिपाद्यत्वविरोधात् । सत्यां तु प्रतिपत्तिसायां

तत्त्व की प्रतिपत्ति करना ही संशय की निवृत्ति होना है-(संशय के व्यवच्छेद स्वरूप ही तत्त्व की प्रतिपत्ति है) इसलिये संशयालु पुरुष ही प्रतिपाद्य होता है। ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो संशयवान् के समान अज्ञानी और विपरीत दृष्टि वाले भी प्रतिपाद्य हो सकते हैं। क्योंकि जैसे तत्त्वों की प्रतिपत्ति संशय दूर होना रूप है वैसे ही अज्ञान और विपर्यास दूर होना रूप भी तत्त्व की प्रतिपत्ति सिद्ध है।

संशय, विपर्यय और अव्युत्पन्न (अनध्यवसाय) रूप अज्ञान तीन प्रकार का है। इन तीनों में से किसी एक का भी विनाश नहीं होने पर तत्त्वों की प्रतिपत्ति का यथार्थपना सिद्ध नहीं होता है। जैसे जिस शिष्य को संशय नहीं है उसके लिए संशय का व्यवच्छेद करने हेतु तत्त्व का प्रतिपादन करना निष्फल होता है, उसी प्रकार जिस शिष्य के अज्ञान और विपरीत ज्ञान नहीं है, उसके लिए भी अज्ञान और विपरीतता को दूर करने के लिए तत्त्व का निरूपण करना निरर्थक है।

यदि कहो कि भाविकाल में होने वाले संशय का व्यवच्छेद करने के लिए संशयालु को तत्त्व का उपदेश दिया जाता है तब तो भाविकाल में होने वाले विपरीत ज्ञान और अज्ञान को दूर करने के लिए भी विपरीत ज्ञानी और अज्ञानी भी प्रतिपाद्य हो सकते हैं। उनके लिए भी तत्त्व का प्रतिपादन कर सकते हैं। अतः तत्त्व की जिज्ञासा (तत्त्वों को जानने की इच्छा) होने पर संशयालु, विपरीत बुद्धि और अव्युत्पन्न ये तीन प्रकार के शिष्य प्रतिपाद्य होते हैं अर्थात् ये तीन प्रकार के प्राणी वक्ता के द्वारा समझाने योग्य हैं।

प्रयोजनवान् और प्रयोजन वचनों को बोलने वाले, तत्त्वों को प्राप्त कर सकने वाले और तत्त्वप्राप्ति प्रमेय को वचनों के द्वारा कथन करने वाले एवं संशय को दूर करने वाले और संशय को दूर करने के वचन कहने वाले (अर्थात् 'हे गुरुदेव! मेरे इस संशय को दूर कीजिये', इस प्रकार अनुनय के वचन बोलने वाले) ही प्रतिपाद्य होते हैं। इस कथन का भी उपर्युक्त कथन से खण्डन हो जाता है। क्योंकि तत्त्वों को जानने की इच्छा के बिना उपर्युक्त तीन प्रकार के प्राणियों के प्रतिपाद्यत्व का विरोध है अर्थात् जिसको तत्त्व को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हुई है, उसके लिए तत्त्व का प्रतिपादन करना उपयुक्त नहीं है। तथा तत्त्वों को जानने की इच्छा होने पर तो प्रयोजन आदि के अभाव में भी यथायोग्य

प्रयोजनाद्यभावेऽपि यथायोग्यं प्रतिपाद्यत्वप्रसिद्धेस्तद्वानेव प्रतिपाद्यते । इति युक्तं परापरगुरुणामर्थतो ग्रन्थतो वा शास्त्रे प्रथमसूत्रप्रवर्तनं, तद्विषयस्य श्रेयोमार्गस्य परापरप्रतिपाद्यैः प्रतिपित्सितत्वात् ।

ननु निर्वाणजिज्ञासा युक्ता पूर्वं तदर्थिनः ।

परिज्ञातेभ्युपेयेऽर्थे तन्मार्गो ज्ञातुमिष्यते ॥२४९॥

यो येनार्थी स तत्प्रतिपित्सावान् दृष्टो लोके, मोक्षार्थी च कश्चिद्भव्यस्तस्मान्मोक्षप्रतिपित्सावानेव युक्तो न पुनर्मोक्षमार्गप्रतिपित्सावान्, अप्रतिज्ञाते मोक्षे तन्मार्गस्य प्रतिपित्साऽयोग्यतोपपत्तेरिति मोक्षसूत्रप्रवर्तनं युक्तं तद्विषयस्य बुभुत्सितत्वात् पुनरादावेव तन्मार्गसूत्रप्रवर्तनमित्ययं मन्यते ॥

तत्र प्रायः परिक्षीणकल्मषस्यास्य धीमतः ।

स्वात्मोपलब्धिरूपेऽस्मिन् मोक्षे संप्रतिपत्तिः ॥२५०॥

प्रतिपाद्यत्व सिद्ध होने से तत्त्वज्ञाता तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। अतः तत्त्व का जिज्ञासु ही प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) होता है। इसलिए पर (उत्कृष्ट) गुरु अर्हन्तदेव ने और अपर गुरु गणधरदेव ने अर्थ की और ग्रन्थरचना की अपेक्षा शास्त्र की आदि में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र की रचना की है। यह युक्तिसंगत है। क्योंकि उन पर और अपर गुरुओं के द्वारा प्रतिपादित सूत्र के मोक्षमार्ग रूप विषय को समझने के लिये जिज्ञासा सिद्ध होती है अर्थात् किसी जिज्ञासु भव्य शिष्य के लिए आचार्यदेव ने मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया है।

शंका- मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के इच्छुक पुरुष को निर्वाण की जिज्ञासा उत्पन्न कराना उपयुक्त है। पुनः परिज्ञात अभ्युपेय अर्थ में (प्राप्त करने योग्य अर्थ को जान लेने पर) मार्ग को जानना इष्ट होता है ॥२४९॥

इस संसार में जो प्राणी जिस पदार्थ की अभिलाषा रखता है, वह उसको जानने की इच्छा वाला देखा जाता है। उसी प्रकार कोई आसन्न भव्य जीव मोक्ष का अभिलाषी है, इसलिए उसके मोक्ष के जानने की इच्छा होना युक्त ही है। परन्तु मोक्षमार्ग के जानने की इच्छा रखने वाला होना तो उचित नहीं है। क्योंकि मोक्ष को नहीं जानने पर (वा मोक्ष को नहीं जानने वाले के) मोक्षमार्ग को जानने की इच्छा की योग्यता ही नहीं बन सकती है। अर्थात् मोक्ष के स्वरूप को जाने बिना मोक्षमार्ग के जानने की अभिलाषा नहीं हो सकती। इसलिए शास्त्र के प्रारम्भ में मोक्ष के स्वरूप के प्रतिपादक सूत्र की रचना करना तो युक्तिसंगत है क्योंकि उस सूत्र से मोक्षरूपी विषय का जानना अभीष्ट है। परन्तु शास्त्र के प्रारंभ में मोक्षमार्ग के प्रतिपादक सूत्र की रचना करना युक्त नहीं है। इस प्रकार कोई मानते हैं।

उत्तर- आचार्य समाधान करते हैं कि शंकाकार की यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि जिसके कर्मों का भार कुछ क्षीण हो गया है, ऐसे बुद्धिमान शिष्य के शुद्धात्मोपलब्धि रूप इस मोक्ष के प्रति पूरी समझ है, सम्प्रतिपत्ति है ॥२५०॥

न हि यत्र यस्य संप्रतिपत्तिस्तत्र तस्य प्रतिपित्सानवस्थानुबंगात् । संप्रतिपत्तिश्च मोक्षे स्वात्मोपलब्धिरूपे प्रकृतस्य प्रतिपाद्यस्य प्रायशः परिक्षीणकल्मषत्वात्, सातिशयप्रज्ञत्वाच्च । ततो न तदर्थिनोपि तत्र प्रतिपित्सा तदर्थित्वमात्रस्य तत्प्रतिपित्सया व्याप्त्यसिद्धेः । सति विवादेऽर्थित्वस्य प्रतिपित्साया व्यापकत्वमिति चेन्न, तस्यासिद्धत्वात् न हि मोक्षेऽधिकृतस्य प्रतिपत्तुर्विवादोस्ति । नानाप्रतिवादिकल्पनाभेदादस्त्येवेति चेत्—

प्रवादिकल्पनाभेदाद्विवादो योपि संभवी ।

स पुंरूपे तदावारपदार्थे वा न निर्वृतौ ॥२५१॥

स्वरूपोपलब्धिनिर्वृतिरिति सामान्यतो निर्वृतौ सर्वप्रवादिनां विवादोऽसिद्ध एव । यस्य तु स्वरूपस्योपलब्धिस्तत्र विशेषतो विवादस्तदावरणे वा कर्मणि कल्पनाभेदात् । तथाहि—

जिस विषय में जिसकी सम्प्रतिपत्ति है (जिसमें विवाद नहीं है) उस विषय में उसको जानने की इच्छा नहीं होती है। यदि ज्ञात विषय में भी फिर जानने की इच्छा होगी तो अनवस्था दोष आता है। सभी प्रकृत प्रतिपाद्य के यानी यहाँ प्रकरण से सम्बद्ध समझाने योग्य जीवों के, मिथ्यात्व कर्म का विनाश हो जाने से और सातिशय प्रज्ञा उत्पन्न हो जाने से (सम्यग्ज्ञान होने से) स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्ष के स्वरूप में प्रायः सम्प्रतिपत्ति है (पूरी समझ है)। इसलिए मोक्ष के अभिलाषी जीव के भी मोक्ष की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है। किसी पदार्थ को प्राप्त करने की अर्थिता (इच्छा) मात्र से उसके ही जानने की अभिलाषा होने की व्याप्ति सिद्ध नहीं है। परन्तु उसकी प्राप्ति के उपायों को जानने की इच्छा के साथ व्याप्ति सिद्ध है।

मोक्ष के स्वरूप में विवाद नहीं, विवाद आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप में अथवा मोक्ष को रोकने वाले पदार्थों में है

यदि शंकाकार यों कहे कि प्राप्तव्य अर्थ के विषय में विवाद हो जाने पर उसके अर्थीपन का प्रतिपित्सा से (जानने की इच्छा के साथ) व्यापकत्व सिद्ध है, तो उसका ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि प्रकरण को (मोक्षतत्त्व को) जानने की इच्छा की असिद्धि है। क्योंकि अधिकृत को यानी प्रतिपाद्यों को मोक्ष के स्वरूप में विवाद नहीं है। किसी ज्ञानी का विवाद नहीं है, सभी मोक्ष को स्वीकार करते हैं।

नाना (सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती, बौद्ध आदि) प्रतिवादियों के द्वारा कल्पना-भेद से मोक्ष में विवाद है ही, ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं—

अनेक प्रवादियों की कल्पनाओं के भेद से मोक्ष में जो भी विवाद संभव है, वह विवाद आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप में है अथवा मोक्ष के आवरण करने वाले कर्म, अविद्या, मिथ्याज्ञान आदि पदार्थों में विवाद है, परन्तु स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्ष के स्वरूप में कोई विवाद नहीं है ॥२५१॥

स्व स्वरूप की उपलब्धि वा शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाना ही मोक्ष है। इस प्रकार सामान्य रूप से मोक्ष के विषय में सर्व प्रवादियों का विवाद असिद्ध ही है अर्थात् कोई विवाद नहीं है। परन्तु मोक्ष में आत्मा को जिस स्वरूप की प्राप्ति होती है, उसमें विशेष रूप से विवाद है। तथा उस आत्मा के स्वरूप का आवरण करने वाले कर्मों के विषय में भी अनेक कल्पनाओं के भेद से विवाद है। इसी का जैनाचार्य कथन करते हैं—

प्रभास्वरमिदं प्रकृत्या चित्तं निरन्वयक्षणिकं, अविद्यातृष्णे तत्प्रतिबन्धिके, तदभावात्रिरास्रवचित्तोत्पत्तिर्मुक्तिरिति केषांचित्कल्पना। सर्वथा निःस्वभावमेवेदं चित्तं, तस्य धर्मिधर्मपरिकल्पना प्रतिबन्धिका, तदपक्षयात्सकलनैरात्म्यं प्रदीपनिर्वाणवत्स्वातन्त्र्यानिर्वाणमित्यन्येषां। सकलागमरहितं परमात्मनो रूपमद्वयं, तत्प्रतिबन्धिकानाद्यविद्या, तद्विलयात्प्रतिभासमात्रस्थितिर्मुक्तिरिति परेषां। चैतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपं, तत्प्रतिपक्षः प्रकृतिसंसर्गस्तदपायात् स्वरूपेऽवस्थानं निःश्रेयसमित्यपरेषां। सर्वविशेषगुणरहितमचेतनमात्मनः स्वरूपं, तद्विपरीतो बुद्ध्यादिविशेषगुणसंबन्धस्तत्प्रतिबन्धकस्तत्प्रक्षयादाकाशवदचेतनावस्थितिः परा

किन्हीं (सौत्रान्तिक बौद्धों) की कल्पना है कि विज्ञानस्वरूप आत्मा (चित्त) स्वभाव से अतीव प्रभास्वर (प्रकाशमान) है। परन्तु निरन्वय होकर क्षण-क्षण में नष्ट होता रहता है। अर्थात्- पूर्व समय का चित्त उत्तर समय में सर्वथा नष्ट हो जाता है और दूसरे समय में नवीन चित्त उत्पन्न होता है। स्वभाव से प्रकाशमान उस चित्त के प्रतिबन्धक अविद्या और तृष्णा हैं। उस अविद्या और तृष्णा का अभाव हो जाने पर निरास्रव चित्त की उत्पत्ति होती है। उसी का नाम मुक्ति है।

यह शुद्ध विज्ञान स्वरूप चित्त सर्वथा निःस्वभाव है, धर्म-धर्मों की परिकल्पना उस निःस्वभाव शुद्धचित्त की प्रतिबन्धिका है। तत्त्वज्ञान के द्वारा उस धर्म-धर्मों की कल्पना का ध्वंस (विनाश) हो जाने पर सम्पूर्ण स्वभावों के निषेध रूप अपने कल्पित धर्मों का नाश हो जाना ही मोक्ष है। जैसे दीपक के बुझ जाने पर दीपक की लौ किसी दिशा-विदिशा में न जाकर वहीं शान्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा का नाश हो जाना ही मोक्ष है। यह अन्य (वैभाषिक बौद्धों) की कल्पना है।

सम्पूर्ण आगम (शब्दयोजना) से रहित हो रहे परम ब्रह्म का स्वरूप अद्वैत है। उस अद्वैत स्वरूप की प्रतिबन्धक अनादिकालीन अविद्या है। उस अविद्या के नाश से चैतन्यरूप प्रतिभास मात्र स्थिति ही मुक्ति है। अर्थात् तब आत्मा परम ब्रह्म में लीन हो जाता है, उसी को मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार अन्य वेदान्तवादियों का सिद्धान्त है।

पुरुष (आत्मा) का स्व स्वरूप चैतन्य है। उस चैतन्य स्वरूप का प्रतिपक्षी प्रकृति का संसर्ग है। उस प्रकृति के संसर्ग का नाश हो जाने से आत्मा का स्वकीय चैतन्य स्वरूप में अवस्थान हो जाना ही मुक्ति है। इस प्रकार अन्य (सांख्यों) का सिद्धान्त है।

सर्व विशेष बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, धर्म, अधर्म रूप नौ विशेष गुणों से रहित आत्मा का अचेतन हो जाना ही मोक्ष स्वरूप है। अर्थात् आत्मा के बुद्धि आदि नौ विशेष गुणों का नाश हो जाना ही आत्मा का स्वभाव है। उससे विपरीत बुद्धि आदि विशेष गुणों का सम्बन्ध आत्मा के स्वभाव का प्रतिबन्धक है। अर्थात् बुद्धि आदि नौ गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध हो जाना ही मोक्ष की प्राप्ति का प्रतिबन्धक है।

मुक्तिरितीतरेषां । परमानंदात्मकमात्मनो रूपं, बुद्ध्यादिसंबंधस्तत्प्रतिधाती, तदभावादानंदात्मकतया स्थितिः परा निर्वृतिरिति च मीमांसकानां । नैवं निर्वृतिसामान्ये कल्पनाभेदो यतस्तत्र विवादः स्यात् । मोक्षमार्गसामान्येऽपि न प्रवादिनां विवादः, कल्पनाभेदाभावात् । सम्यग्ज्ञानमात्रात्मकत्वादावेव तद्विशेषे विप्रतिपत्तेः । ततो मोक्षमार्गेऽस्य सामान्ये प्रतिपित्सा विनयेविशेषस्य माभूत् इति चेत् । सत्यमेतत् । निर्वाणमार्गविशेषे प्रतिपित्सोन्यतेः । कथमन्यथा तद्विशेषप्रतिपादनं सूत्रकारस्य प्रयुक्तं स्यात् । मोक्षमार्गसामान्ये हि विप्रतिपन्नस्य

तत्त्वज्ञान के द्वारा बुद्धि आदि विशेष गुणों का क्षय हो जाने से आकाश के समान आत्मा की अचेतन अवस्था रह जाना ही मुक्ति है, ऐसा नैयायिक और वैशेषिकों का कथन है।

आत्मा का स्वभाव परमानन्द स्वरूप है। आत्मा के बुद्धि, इच्छा आदि नौ गुणों का जो समवाय सम्बन्ध है, वही आत्मा के परमानन्द का घातक है। उन बुद्धि आदि नौ गुणों का नाश हो जाने से (अभाव हो जाने से) आत्मा की नित्य आनन्द स्वरूप अवस्था ही उत्कृष्ट निर्वृति (मोक्ष) है। इस प्रकार मीमांसकों की मुक्ति-कल्पना है।

उपर्युक्त कथनों से मोक्ष के विशेष स्वरूप में बौद्धादिक का विवाद है। परन्तु इस प्रकार मोक्ष के सामान्य स्वरूप में कल्पनाभेद नहीं है जिससे कि वहाँ विवाद होता। अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप की प्राप्ति को सभी प्रवादी मोक्ष मानते हैं।

सामान्य मोक्षमार्ग में भी विवाद नहीं, विवाद मोक्षमार्ग के विशेष स्वरूप में है

प्रश्न—कल्पनाभेद का अभाव होने से सामान्य मोक्षमार्ग में भी प्रवादियों का विवाद नहीं है अर्थात् मोक्षमार्ग के सामान्य स्वरूप में मीमांसक, नैयायिक आदि प्रवादियों की भिन्न-भिन्न कल्पना नहीं है। परन्तु सम्यग्ज्ञान, चारित्र, श्रद्धान आदि मोक्षमार्ग के विशेष स्वरूप में विवाद है।

भावार्थ—कोई ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति मानता है। कोई ज्ञान और वैराग्य से मुक्ति मानते हैं। कोई श्रद्धान मात्र से, इत्यादि विशेष मोक्षमार्ग में विवाद है। इसलिए शिष्यविशेष की मोक्षमार्ग के सामान्य को जानने की भी जिज्ञासा नहीं हो सकती। जैसे सामान्य मोक्ष को जानने की अभिलाषा नहीं होती है। उत्तर—जैनाचार्य कहते हैं कि यह कथन सत्य है कि 'शिष्य की मोक्षमार्ग के विशेष को जानने की इच्छा उत्पन्न हुई है'। अन्यथा (यदि ऐसा नहीं होता तो) सूत्रकार आचार्य का रत्नत्रय को विशेष रूप से मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करना प्रयुक्त (विशिष्ट युक्तियों से युक्त) कैसे माना जाता। क्योंकि सामान्य रूप से मोक्षमार्ग में विवाद करने वाले शिष्य के केवल सामान्य मोक्षमार्ग को जानने की अभिलाषा होने पर 'संसार में मोक्षमार्ग है' ऐसा कहना उपयुक्त था। इससे मोक्षमार्ग की सिद्धि हो जाती है और उसका कथन करना भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि शिष्य की जिज्ञासा के अनुसार ही सूत्रकार के वचनों की प्रवृत्ति होती है।

तन्मात्रप्रतिपित्साद्याम- 'स्ति मोक्षमार्ग' इति वक्तुं युज्येत, विनेयप्रतिपित्सानुरूपत्वात् सूत्रकारप्रतिवचनस्य। तर्हि मोक्षविशेषे विप्रतिपत्तेस्तमेव कस्मात्त्राप्राक्षीत् इति चेत्। किमेवं प्रतिपित्सेत विनेयः सर्वत्रेदृक्कार्यस्य संभवात्। तत्प्रश्नेऽपि हि शक्येत चोदयितुं किमर्थं मोक्षविशेषमप्राक्षीन्न पुनस्तन्मार्गविशेषं, विप्रतिपत्तेरविशेषादिति। ततः कस्यचित्क्वचित् प्रतिपित्सामिच्छता मोक्षमार्गविशेषप्रतिपित्सा न प्रतिक्षेप्तव्या। ननु च सति धर्मिणि धर्मचिन्ता प्रवर्तते नासति। न च मोक्षः सर्वथास्ति येन तस्य विशिष्टत्वकारणं जिज्ञास्यत, इति न साधीयः। यस्मात्—

येऽपि सर्वात्मना मुक्तेरपह्वकृतो जनाः।

तेषां नात्राधिकारोऽस्ति श्रेयोमार्गावबोधने॥२५२॥

को हि सर्वात्मना मुक्तेरपह्वकारिणो जनान्मुक्तिमार्गं प्रतिपादयेत्तेषां तत्रानधिकारात्। को

शंका— मोक्षमार्ग के विशेष अंश के समान मोक्ष के विशेष स्वरूप में भी नाना प्रवादियों का विवाद है। अतः शिष्य ने आचार्यवर्य से मोक्षमार्ग ही क्यों पूछा? मोक्ष का विशेष स्वरूप क्यों नहीं पूछा? उत्तर— जैनाचार्य कहते हैं कि वह शिष्य गृद्धपिच्छ आचार्य से मोक्ष विशेष का स्वरूप क्यों पूछता है? इस प्रकार से कुतर्क करना सर्वत्र संभव है। अर्थात् ऐसी भी शंका कर सकते हैं कि शिष्य ने गुरुवर्य से 'मोक्ष का विशेष' स्वरूप ही क्यों पूछा? मार्गविशेष क्यों नहीं पूछा? क्योंकि उसके प्रश्नानुसार तो हम ऐसी भी शंका कर सकते हैं कि— "शिष्य ने किस लिये मोक्षविशेष को जानने की अभिलाषा की। मोक्षविशेष को क्यों पूछा? मोक्ष के मार्गविशेष को क्यों नहीं पूछा? दोनों (मोक्षविशेष और मोक्ष के मार्ग विशेष) में ही विवाद होने में कोई विशेषता नहीं है। दोनों समान हैं। इसलिए किसी जीव की किसी भी विषय (मोक्षविशेष या मोक्षमार्गविशेष) में जानने की अभिलाषा को स्वीकार करने वाले नैयायिक आदि के द्वारा शिष्य के मोक्षमार्ग विशेष को जानने की अभिलाषा का खण्डन नहीं करना चाहिए।

शंका— धर्मी के सिद्ध हो जाने पर ही धर्म की चिन्ता होती है, धर्मी के सिद्ध नहीं होने पर धर्म की चिन्ता (धर्म का विचार) नहीं हो सकती। मोक्षरूप धर्मी सर्वथा असिद्ध है। अतः मोक्षमार्ग के विशिष्ट कारणत्व रूप धर्म की जिज्ञासा कैसे हो सकती है? अर्थात् मोक्षतत्त्व की सिद्धि होने पर ही मोक्षप्राप्ति के कारणों को जानने की इच्छा हो सकती है, परन्तु मोक्षतत्त्व की सिद्धि ही नहीं है तो मोक्ष के कारणों के जानने की अभिलाषा कैसे हो सकती है?

उत्तर— ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि जिस कारण से जो भी चार्वाक, शून्यवादी आदि सम्पूर्ण रूप से मोक्ष का अपह्व (लोप, छिपाना) कर रहे हैं, उन लोगों का इस मोक्षमार्ग को समझाने के प्रकरण में अधिकार नहीं है॥२५२॥

ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है, जो सम्पूर्ण रूप से मोक्ष का निषेध करने वाले मनुष्यों के प्रति मुक्तिमार्ग का प्रतिपादन करे। क्योंकि जीवादि सात तत्त्वों का निषेध करने वाले उन नास्तिकों को 'तत्त्वार्थ

वा प्रमाणसिद्धं निःश्रेयसमपह्वीत, अन्यत्र प्रलापमात्राभिधायिनो नास्तिकात्। कुतस्तर्हि प्रमाणात्तन्निश्चीयत इति चेत्—

परोक्षमपि निर्वाणमागमात्संप्रतीयते।

निर्बाधाद्वाविसूर्यादिग्रहणाकारभेदवत् ॥२५३॥

परोक्षोऽपि हि मोक्षोऽस्मादृशामागमात्तज्ज्ञैः संप्रतीयते। यथा सांवत्सरैः सूर्यादिग्रहणाकारविशेषस्तस्य निर्बाधत्वात्। न हि देशकालनरांतरापेक्षयापि बाधातो निर्गतोयमागमो न भवति, प्रत्यक्षादेर्बाधकस्य विचार्यमाणस्यासंभवात्। नापि निर्बाधस्याप्रमाणत्वमास्थातुं युक्तं, प्रत्यक्षादेरप्यप्रमाणत्वानुषक्तेः। सूर्यादिग्रहणस्यानुमानात्प्रतीयमानत्वाद्विषमोयमुपन्यास इति चेत् न।

सूत्र' ग्रन्थ के सुनने का अधिकार नहीं है। तथा व्यर्थ की बकवाद करने वाले नास्तिक के अतिरिक्त ऐसा कौन मूर्ख प्राणी होगा जो प्रमाणसिद्ध मोक्ष का अपह्व (लोप) करे अर्थात् मूर्ख को छोड़कर विचारशील पुरुष मोक्ष का निषेध नहीं कर सकते।

आगम प्रमाण से मोक्ष की सिद्धि

शंका— तब तो किस प्रमाण से मोक्ष का निश्चय किया जाता है? उत्तर— परोक्षभूत मोक्ष का भी निर्बाध आगम प्रमाण से निर्णय कर लिया जाता है, जैसे भविष्य काल में होने वाले सूर्य आदि ग्रहण और इनके आकारभेद का ज्योतिष शास्त्र से निश्चय कर लिया जाता है ॥२५३॥

अल्प बुद्धि वाले हम लोगों को मोक्ष अत्यन्त परोक्ष है फिर भी आसकथित आगम को जानने वाले पुरुषों के द्वारा आगम से मोक्ष का निश्चय कर लिया जाता है। जैसे अनेक वर्षों की आगे पीछे की बातों को बताने वाले ज्योतिष विद्या के पारगामियों के द्वारा सूर्यादि ग्रहण, उनका आकार (अल्पग्रासी, सर्वग्रासी, पूर्वदिशा से या पश्चिम दिशा से राहु, केतु के) आदि विशेष भेद जान लिया जाता है। क्योंकि यह ज्योतिषशास्त्र बाधा रहित होने से आगम प्रमाण रूप है।

अन्य देश, भिन्न काल आदि की अपेक्षा इसमें बाधा आती है- ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि यह आगम बाधा से रहित है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से बाधक आगमप्रमाण नहीं होता है। इस ज्योतिषशास्त्र का विचार करने पर प्रत्यक्ष, अनुमानादि बाधा की असंभवता है। तथा जो प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से निर्बाध है उसको अप्रमाण मानना युक्त नहीं है। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित आगम को अप्रमाण माना जायेगा तो प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों के अप्रमाणत्व का प्रसंग आवेगा। शंकाकार का यह कहना भी कि सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों का अनुमान ज्ञान से निश्चय कर लिया जाता है परन्तु मोक्ष का निर्णय आगम के सिवाय अन्य प्रमाणों से नहीं होता है; इसलिए सूर्य, चन्द्रमा के ग्रहण का दृष्टान्त विषम है, उचित नहीं है। क्योंकि सूर्य, चन्द्र के ग्रहण के आकार विशेष को जानने के लिए अविनाभावी हेतु का अभाव होने से किसी अनुमान प्रमाण का अवतार नहीं होता है। नियत दिशा, काल अथवा नियत प्रमाण या फलरूप से सूर्य, चन्द्रमा के ग्रहण के साथ व्याप्ति रखने वाले किसी पदार्थ को जानना शक्य नहीं है। अर्थात् सामान्य रूप से ग्रहण को अनुमान के द्वारा जान लेने पर भी उसके विशेष आकार-प्रकार को जानने के लिए आगम की शरण लेनी पड़ती है। किस काल में होगा, किस दिशा में होगा, इसका विश्वास भी आगम से ही होता है। अतः विशेष आकार को जानने रूप सूर्यादि ग्रहण का दृष्टान्त विषम नहीं है।

तदाकारविशेषलिङ्गाभावादानुमानानवतारात् । न हि प्रतिनियतदिग्बेलाप्रमाणफलतया सूर्याचंद्रमसोर्ग्रहणेन व्याप्तं किंचिदवगंतुं शक्यं । विशिष्टांकमाला लिंगमिति चेत् । सा न तावत्तत्त्वभावस्तद्वदप्रत्यक्षत्वप्रसंगात् । नापि तत्कार्यं ततः प्राक् पश्चाच्च भावात् ।

सूर्यादिग्रहणाकारभेदो भाविकारणं विशिष्टांकमालाया इति चेन्न । भाविनः कारणत्वायोगात् भावितमवत् कार्यकाले, सर्वथाप्यसत्त्वादतीततमवत् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तस्यास्तत्कारणत्वमिति चेन्न, तस्यासिद्धेः । न हि सूर्यादिग्रहणाकारभेदे भाविनि विशिष्टांकमालोत्पद्यते न पुनर्भाविनीति नियमोस्ति, तत्काले ततः पश्चाच्च तदुत्पत्तिप्रतीतेः । कस्याश्चिदंकमालायाः स भाविकारणं कस्याश्चिदतीतकारणमपरस्याः

यदि कहो कि गणित की विशिष्ट अंकमाला ही सूर्य-चन्द्रग्रहण के विशेष आकारों की ज्ञापक हेतु है तो जैनाचार्य पूछते हैं कि वह अंकमाला स्वभाव हेतु है? या कार्य हेतु है? वह विशिष्ट अंकमाला स्वभाव हेतु तो हो नहीं सकती- क्योंकि यदि साध्य रूप विशेष आकारों का स्वभाव वह अंकमाला होगी तो उस आकार विशेष रूप साध्य के समान उस अंकमाला के अप्रत्यक्ष होने का प्रसंग आयेगा । (क्योंकि अप्रत्यक्ष साध्य का स्वभाव हेतु होने से अंकमाला के अप्रत्यक्ष होने का प्रसंग आयेगा ।)

गणित अंकमाला कार्य हेतु भी नहीं है- क्योंकि अंकमाला का लिखना ग्रहण के बहुत काल पूर्व और बहुत काल पीछे भी हो सकता है । परन्तु कार्य हेतु को तो कारण के अव्यवहित उत्तर काल में होना चाहिए ।

सूर्य, चन्द्रमा के ग्रहण का आकारभेद विशिष्ट अंकमाला का भावी कारण है । ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि भविष्य में होने वाले पदार्थों को वर्तमान कार्य का कारणपना सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि कार्य के समय सर्वथा भी नहीं रहने वाला हेतु कारण नहीं हो सकता है । जैसे भूतकाल और भावीकाल वर्तमान कार्य का हेतु नहीं हो सकता है ।

इस अंकमाला के ग्रहण के आकार विशेषों के साथ अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान (अविनाभाव सम्बन्ध) घटित होता है । अतः अंकमाला कार्य हेतु है । ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि उस अन्वय-व्यतिरेक का घट जाना सिद्ध नहीं है । (भविष्य काल में होने वाले सूर्य, चन्द्रमा के ग्रहण के आकार भेद में विशिष्ट अंकमाला उत्पन्न नहीं होती है ।)

अथवा- सूर्यादि ग्रहण के होने पर ही विशिष्ट अंकमाला उत्पन्न होती है, सूर्यादि ग्रहण के विशेष आकारभेद नहीं होने पर विशिष्ट अंकमाला उत्पन्न नहीं होती है, ऐसा नियम नहीं है । अपितु उस काल में और उससे बहुत पीछे उसकी उत्पत्ति प्रतीत होती है ।

वह ग्रहण का आकारभेद किसी अंकमाला का तो भावी कारण है । किसी अंकमाला का अतीत

स्वसमानकालवर्तिन्याः कारणकार्यमेकसामग्र्यधीनत्वादिति चेत्, किमिन्द्रजालमभ्यस्तमनेन सूर्यादिग्रहणाकारभेदेन, यतोऽयमतीतानागतवर्तमानाखिलांकमालाः स्वयं निर्वर्तयेत्। कथं वा क्रमाक्रमभाव्यनंतकार्याणि नित्यैकस्वभावो भावः स्वयं न कुर्यात्, ततो विशेषाभावात्। भवन् वा स तस्याः कारणं, उपादानं सहकारि वा? न तावदुपादानं खटिकादिकृतायास्तदुपादानत्वात्। नापि सहकारिकारणमुपादानसमकालत्वाभावात्। यथोपादानभिन्नदेशं सहकारिकारणं तथोपादानभिन्नकालमपि दृष्टत्वादिति चेत्। किमेवं कस्य सहकारि न स्यात्। पितामहादेरपि हि जनकत्वमनिवार्यं विरोधाभावात्। ततो नांकमाला सूर्यादिग्रहणाकारभेदे साध्ये लिंगं स्वभावकार्यत्वाभावात्। तदस्वभावकार्यत्वेऽपि तदविनाभावात्सा तत्र लिंगमित्यपरे। तेषामपि

कारण है। तथा सामान्य काल में होने वाली किसी अन्य अंकमाला का वर्तमान कारण है। भिन्न कालवर्ती वह आकारभेद उसी एक सामग्री के आधीन है जिसके आधीन होकर अंकमाला उत्पन्न होती है। ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि- क्या इस सूर्य आदिक के ग्रहणभेद ने इन्द्रजाल का अभ्यास किया है कि जिससे यह भूतकाल और वर्तमान काल की होने वाली सम्पूर्ण संख्या अक्षरों की लिपियों को अपने आप बना देता है।

अथवा- क्रम और अक्रम से होने वाले अनन्त कार्य नित्य एक स्वभाव भाव वाले स्वयं क्यों नहीं हो सकते हैं। इस सिद्धान्त से तो कापिलों के नित्यत्व के मतव्य में कोई अन्तर नहीं है।

अथवा- सूर्यादि ग्रहण का आकार भेद उस अंकमाला का उपादान कारण है कि सहकारी कारण है? सूर्यादि ग्रहण का आकार भेद अंकमाला का उपादान कारण तो हो नहीं सकता? क्योंकि अंकमाला का उपादान कारण खटिकादि से निर्मित पैसिल आदि है। क्योंकि वह पैसिल ही पट्टी पर संख्या अक्षर रूप से परिणत होती है। सूर्यग्रहण का आकार आदि भेद अंकमाला का सहकारी कारण भी नहीं है। क्योंकि उपादान कारण के काल में रहकर कार्य करने में निमित्त होने वाले को सहकारी कारण कहते हैं। परन्तु- अंकमाला के लिखने के समय ग्रहण के आकार भेद के उत्पन्न होने का अभाव है।

जैसे उपादान का भिन्न देश, सहकारी कारण देखा जाता है वैसे उपादान का भिन्न काल भी कार्य का सहकारी कारण देखा जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर कोई किसी का सहकारी कारण नहीं हो सकेगा। पितामह (दादा) आदि के भी पौत्र का जनकत्व अनिवार्य होगा। अर्थात् उपादान काल से भिन्न स्थित को सहकारी कारण मानने पर पौत्र की उत्पत्ति का कारण प्रपितामह वा पितामह भी हो सकेंगे। इसमें विरोध का अभाव होगा। इसलिए अंकमाला सूर्यादि ग्रहण के आकारभेद को साध्य करने में लिंग नहीं है (ज्ञापक हेतु नहीं है)। क्योंकि सूर्यादि ग्रहण के आकार भेद साध्य का अंकमाला स्वभाव नहीं है और कार्य भी नहीं है।

वैशेषिक कहता है कि यद्यपि अंकमाला सूर्यादि ग्रहण के आकार भेद साध्य में स्वभाव हेतु और कार्य हेतु नहीं है। फिर भी सूर्यादि ग्रहणों के आकार भेद साध्य के साथ अंकमाला का अविनाभाव सम्बन्ध है, अतः अंकमाला सूर्यादि ग्रहणों के आकार भेद में ज्ञापक हेतु है। जैनाचार्य कहते हैं- कि

कुतो व्याप्तेर्ग्रहः? न तावत्प्रत्यक्षतो, भाविनोऽतीतस्य वा सूर्यादिग्रहणाकारभेदस्यास्मदाद्यप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यनुमानादनवस्थानुसंगात्। यदि पुनरागमात्तद्व्याप्तिग्रहस्तदा युक्त्यनुगृहीतात्तदननुगृहीताद्वा? न तावदाद्यः पक्षस्तत्र युक्तेरप्रवृत्तेस्तदसंभवात्।

द्वितीयपक्षे स्वतः सिद्धप्रामाण्यात् परतो वा? न तावत्स्वतः स्वयमनभ्यस्तविषयेऽत्यंतपरोक्षे स्वतःप्रामाण्यासिद्धेरन्यथा तदप्रामाण्यस्यापि स्वतः सिद्धिप्रसंगात्। परतः सिद्धप्रामाण्यादागमात्तद्व्याप्तिग्रह इति चेत्। किं तत्परं प्रवृत्तिसामर्थ्यं बाधकाभावो वा?

आकार भेद साध्य में अंकमाला का अविनाभाव किस प्रमाण से ग्रहण होता है? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो इस व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि भविष्य और भूतकाल में होने वाले ग्रहणों के आकारों का भेद हमारे जैसे चर्म चक्षु वाले मानवों के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। (अतः साध्य और हेतु के प्रत्यक्ष किये बिना दोनों में रहने वाले अविनाभाव सम्बन्ध को हम जान नहीं सकते हैं।)

अनुमान प्रमाण से भी अंकमाला की ग्रहणों के आकारभेदों के साथ होने वाली व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि अनुमान का उत्थान व्याप्तिग्रहण पूर्वक होता है। अतः उस अनुमान को ग्रहण करने के लिए दूसरी व्याप्ति की आवश्यकता होगी और उसको जानने के लिये तीसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा (अतः व्याप्ति के अभाव में अनुमान ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण करना नहीं हो सकता)।

यदि आगमज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण करना स्वीकार करते हैं- तो प्रश्न है कि युक्तियों से युक्त हो रहे आगम से व्याप्ति का ग्रहण होता है? या युक्तियों के कृपाभार से रहित भी आगम से सम्बन्ध का ग्रहण करते हैं? इसमें प्रथम पक्ष (युक्तियुक्त आगम से व्याप्ति का ग्रहण होता है) तो ठीक नहीं है। क्योंकि अत्यन्त परोक्ष विषय का प्रतिपादन करने वाले आगम में युक्तियों की प्रवृत्ति होना असंभव है। अर्थात् ज्योतिष शास्त्र में युक्तियाँ प्रवृत्त नहीं हो सकतीं।

द्वितीय पक्ष (युक्तियों से अननुगृहीत आगम से व्याप्ति का ग्रहण होता है) में भी वह आगम स्वतःप्रमाण से सिद्ध है कि परतःप्रमाण से सिद्ध है? उस आगम की प्रमाणता स्वतःसिद्ध नहीं है क्योंकि जिस विषय का हमें स्वयं अभ्यास नहीं है, उन अत्यन्त परोक्ष पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि का कथन करने वाले वेद, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों को स्वतःप्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती। अन्यथा (यदि अत्यन्त परोक्ष पदार्थ का प्रतिपादन करने वाले आगम को स्वतः प्रमाण मानोगे तो) प्रमाणता के समान अप्रमाणता के भी स्वतः सिद्ध होने का प्रसंग आयेगा।

यदि परतःसिद्ध प्रमाण वाले आगम से व्याप्ति का ग्रहण होता है, ऐसा कहते हैं तो आगम में प्रमाणता का उत्पादक वह पर-पदार्थ क्या है? प्रवृत्ति का सामर्थ्य आगम में प्रमाणता का उत्पादक है, या बाधक कारणों का अभाव आगम में प्रमाणता का उत्पादक है? यदि कहो कि प्रवृत्ति का सामर्थ्य प्रमाणता का उत्पादक है (अर्थात् जैसे जल को जानकर जल में स्नान-पान आदि प्रवृत्ति के सामर्थ्य से जलज्ञान में प्रमाणता आती है) तो वह इस प्रवृत्ति का सामर्थ्य फल के साथ सम्बन्ध युक्त हो जाना है कि उस ज्ञान में सजातीय ज्ञान का उत्पाद हो जाना है?

प्रवृत्तिसामर्थ्यं चेत्, फलेनाभिसंबंधः सजातीयज्ञानोत्पादो वा? प्रथमकल्पनायां किं तद्व्याप्तिफलं? सूर्यादिग्रहणानुमानमिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। प्रसिद्धे हि आगमस्य प्रामाण्ये ततो व्याप्तिग्रहादनुमाने प्रवृत्तिस्तत्सिद्धौ चानुमानफलेनाभिसंबंधादागमस्य प्रामाण्यमिति। सजातीयज्ञानोत्पादः प्रवृत्तिसामर्थ्यमिति चेत्, तत्सजातीयज्ञानं न तावत्प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा, अनवस्थानुषंगत्, तदनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वात्। तद्व्याप्तेरपि तदागमादेव ग्रहणसंभवात्तदागमस्यापि सजातीयज्ञानोत्पादादेव प्रमाणत्वांगीकरणात्।

बाधकाभावः पर इति चेत्, तर्हि स्वतोभ्याससामर्थ्यसिद्धाद्बाधकाभावात्प्रसिद्धप्रामाण्यादागमादंकमालायाः सूर्यादिग्रहणाकारभेदेन व्याप्तिः परिगृह्यते न पुनः सूर्यादिग्रहणाकारभेद एव, इति मुग्धभाषितम्। ततो न विषमोऽयमुपन्यासो

यदि प्रथम कल्पना को स्वीकार करते हैं तो उस व्याप्ति का फल क्या है जिसके साथ व्याप्ति का सम्बन्ध किया जाता है?

यदि सूर्य, चन्द्र आदि के ग्रहण का अनुमान करना भी व्याप्ति का फल है, तब तो अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। वह अन्योऽन्याश्रय दोष इस प्रकार है। आगम की प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर प्रामाणिक आगम से व्याप्ति को ग्रहण कर सूर्यादिकों के ग्रहणों के आकार भेदों के अनुमान करने में प्रवृत्ति होगी। और अनुमान में प्रवृत्ति होना सिद्ध हो जाने पर व्याप्ति के अनुमान रूप फल के साथ सम्बन्ध हो जाने से प्रवृत्ति सामर्थ्य द्वारा आगम के प्रमाणता की सिद्धि होती है। यह अन्योऽन्याश्रय दोष आता है।

यदि कहो कि प्रवृत्ति का सामर्थ्य है सजातीय ज्ञान का उत्पाद (उत्पन्न) होना। तो उस सजातीय ज्ञान का उत्पाद किस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है? प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना जाता है कि अनुमान ज्ञान से जाना जाता है? प्रवृत्ति के सामर्थ्य रूप सजातीय ज्ञान का उत्पाद प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा तो जाना नहीं जा सकता- क्योंकि वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। अनुमानज्ञान से सजातीय ज्ञान का उत्पाद जाना जाता है- ऐसा भी नहीं कह सकते, इसमें अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। क्योंकि वह अनुमान भी व्याप्तिग्रहण पूर्वक है। अर्थात् अनुमान भी व्याप्तिग्रहण के पीछे होता है। (व्याप्तिग्रहण पूर्वक होता है)। और उस व्याप्ति का ग्रहण भी आगम के द्वारा ही संभव है। और आगम की प्रमाणता सजातीय ज्ञान के उत्पाद से ही स्वीकार की गई है। इस प्रकार चक्रकार्भित अनवस्था दोष आता है।

भावार्थ- इस प्रकार अनुमान से भी सजातीय का ज्ञान नहीं हो सकता।

यदि कहो कि आगम को परतःप्रमाण मानने में बाधा का अभाव है तब तो स्वतः अभ्यास के सामर्थ्य से प्रसिद्ध हुए बाधक अभाव वाले प्रसिद्ध प्रमाणीभूत आगम से अंकमाला की सूर्य, चन्द्र ग्रहण के आकार भेद के साथ व्याप्ति ग्रहण कर ली जाती है, किन्तु पुनः सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के आकारों का भेद नहीं ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार का कथन मुग्ध प्राणी ही कर सकता है, ज्ञानी नहीं। अर्थात् जैसे सूर्यादि ग्रहणों का ज्ञान आगम से होता है, वैसे ही उनके आकारों का भेद भी आगम से ही जाना जाता है। यह निश्चय करना चाहिए। सूर्य-चन्द्रग्रहणों को आगम से जानना स्वीकार करें- और उनके आकार-प्रकार-भेदों को आगम से जानना स्वीकार नहीं करें तो यह तो मूढ़ बुद्धि का कार्य है, विचारशील का नहीं। इसलिए अत्यन्त परोक्ष मोक्ष का

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरगमात्संप्रत्ययप्रसिद्धेः । सामान्यतो दृष्टानुमानाच्च निर्वाणं प्रतीयते । तथाहि—
शारीरमानसासातप्रवृत्तिर्विनिवर्तते ।

क्वचित्तत्कारणाभावाद् घटीयंत्रप्रवृत्तिवत् ॥२५४॥

यथा घटीयंत्रस्य प्रवृत्तिर्भ्रमणलक्षणा स्वकारणस्यारगतभ्रमणस्य विनिवृत्तेर्निवर्तते तथा क्वचिज्जीवे शारीरमानसासातप्रवृत्तिरपि चतुर्गत्यरगतभ्रमणस्य । तत्तत्कारणं कुत इति चेत्, तद्भाव एव भावाच्छारीरमानसासातभ्रमणस्य । न हि तच्चतुर्गत्यरगतभ्रमणाभावे संभवति । मनुष्यस्य मनुष्यगतिबाल्यादिविवर्तपरावर्तने सत्येव तस्योपलंभात् । तद्वर्तित्यक्सुरनारकाणामपि । यथा स्वतिर्यगत्यादिषु नानापरिणामप्रवर्तने सति तत्तत्संवेदनं इति न तस्य तदकारणत्वम् ।

आगम से निर्णय करने के लिए दिया गया, सूर्य चन्द्रमा आदिक ग्रहणों के आकारभेद रूप यह दृष्टान्त (उदाहरण) विषम कथन नहीं है। क्योंकि दृष्टान्त रूप सूर्यादि ग्रहणों का आकारभेद और दृष्टान्त का उपमेय मोक्ष रूप दार्ष्टान्तिक का प्रमाणत्व आगम से भलेप्रकार सिद्ध है।

अनुमान प्रमाण से मोक्ष की सिद्धि

मोक्ष को आगम से सिद्ध करके अब जैनाचार्य इसे अनुमान से सिद्ध करते हैं— नैयायिकों ने तीन प्रकार का अनुमान माना है (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् और (३) सामान्यतो दृष्ट। उसमें सामान्यतः दृष्ट (अन्वयव्यतिरेक) अनुमान से निर्वाण की प्रतीति होती है— उसी को आचार्य स्पष्ट करते हैं।

किसी भव्यात्मा में शारीरिक, मानसिक असाता रूप प्रवृत्ति अतिशयपने से निवृत्त हो जाती है। क्योंकि असाता आदि दुःखों के कारणभूत ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों का अभाव हो गया है। जैसे घटीयंत्र के परिभ्रमण की कारणभूत कील आदि का अभाव होने से उसका परिभ्रमण रुक जाता है ॥२५४॥

जैसे भ्रमणलक्षण (भ्रमण करना ही जिसका लक्षण है ऐसे) घटीयंत्र की प्रवृत्ति स्वकीय कारणभूत कील के निकलने या बैल के भ्रमण की निवृत्ति हो जाने से, निवृत्त हो जाती है यानी घटीयंत्र का घूमना बंद हो जाता है, उसी प्रकार किसी मुक्त जीव में शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी असाता रूप दुःखों की प्रवृत्ति भी चार गति रूप धुरे के भ्रमण की निवृत्ति हो जाने से निवृत्त हो जाती है। क्योंकि जैसे घटीमाला के घूमने का कारण गड्ढे में घूमने वाला चार आंरों से युक्त चक्का है, वैसे ही संसार के दुःखों का कारण चार गतियों में भ्रमण करना है।

शंका— चारों गतियों में भ्रमण ही दुःख का कारण है, यह कैसे जाना जाता है? उत्तर— चार गति रूप धुरा के घूमने पर ही शारीरिक, मानसिक आदि वेदना रूपी घटी यंत्र का भ्रमण होता है। और चतुर्गति रूपी चक्र के रुक जाने पर शारीरिक, मानसिक, असाता वेदनीय जन्य दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार चतुर्गति भ्रमण के साथ शारीरिक, मानसिक दुःखों का अन्वयव्यतिरेक^१ है। नारक आदि चारों गतियों में भ्रमण करने पर ही शरीर और मन सम्बन्धी दुःखों की उत्पत्ति होती रहती है और उस चारगति भ्रमण रूप चक्र के रुक जाने पर आधियाँ-व्याधियाँ भी नष्ट हो जाती हैं।

जैसे मनुष्यों के मनुष्यगति में होने वाले बालक, कुमार, वृद्ध आदि अवस्थाओं के परावर्तन होने पर ही आधि-व्याधि, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि दुःखों की उपलब्धि होती है, तिर्यच गति में छेदन, भेदन, भारवहन आदि दुःख भी तिर्यचभवों में परावर्तन करने पर ही होते हैं, वैसे ही देवगति में देवों के देवायु कर्म की पराधीनता से इष्टवियोग, माला मुरझाना, देवों की पराधीनता आदि के दुःख देवगति में परावर्तन करने पर ही होते हैं, अन्यथा नहीं।

१. जिसके होने पर जो होता है उसको अन्वय कहते हैं और जिसके नहीं होने पर नहीं होता है उसको व्यतिरेक कहते हैं।

तन्निवृत्तिः कुत इति चेत्, स्वकारणस्य कर्मोदयभ्रमणस्य निवृत्तेः । बलीवर्दभ्रमणस्य निवृत्तौ तत्कार्यारगतभ्रमणनिवृत्तिवत् । न च चतुर्गत्यरगतभ्रमणं कर्मोदयभ्रमणनिमित्तमित्यसिद्धं दृष्टकारणव्यभिचारे सति तस्य कदाचिद्भावात् । तस्याकारणत्वे दृष्टकारणत्वे वा तदयोगात् । तन्निवृत्तिः पुनस्तत्कारणमिथ्यादर्शनादीनां सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभावनासात्मीभावात्

उसी प्रकार नरक गति सम्बन्धी मारण, ताड़न, शूलारोहण, कुंभीपाक आदि दुःखों की उत्पत्ति नरकगति में जाने से ही होती है। अतः शारीरिक, मानसिक दुःख बिना कारण नहीं होते हैं। तथा चारों गतियों में भ्रमण कर्मों के उदय से होता है। जैसे अरहट का परिभ्रमण बैल के कारण होता है। नाना परिणाम परिवर्तन होने पर ही दुःखों का वेदन होता है। शंका— अरहट के भ्रमण की निवृत्ति या संसार-भ्रमण की निवृत्ति किससे होती है?

संसार परिभ्रमण की निवृत्ति का उपाय

उत्तर— चारों गतियों में भ्रमण का कारण है- स्वकीय कर्मों का उदय। उन कर्मों के उदय का अभाव हो जाने से चारों गतियों के चक्रभ्रमण की निवृत्ति हो जाती है। जैसे बलीवर्द (बैल) के भ्रमण का अभाव हो जाने पर चक्र के भ्रमण का भी अभाव हो जाता है अर्थात् बैल के भ्रमण का कार्य था- गड्ढे में स्थित चक्र का घूमना। बैल के घूमने रूप कारण के अभाव में उसके कार्य रूप (गड्ढे में स्थित) चक्र का घूमना बन्द हो जाता है।

चार गति रूप चार अर वाले गड्ढे के चक्रभ्रमण का निमित्त कारण कर्मों का उदय है, वह असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर दृष्ट कारण के साथ व्यभिचार आता है। अर्थात् सांसारिक सुख-दुःखों का शरीर, पुत्र, धन आदि के साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं है। (क्योंकि कोई प्राणी नीरोग शरीरी और धनाढ्य होते हुए भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि दुःखों से दुःखी है। तपस्वी, संयमी धन, पुत्र-पौत्र आदि के अभाव में भी सुखी हैं) इत्यादि दृष्टान्तों से दृष्ट सामग्री का लौकिक सुख-दुःखों से व्यभिचार देखा जाता है। तिर्यश्च आदि गति में होने वाले भिन्न-भिन्न जाति के अनेक दुःखों को भोगते हुए वे परिभ्रमण कभी-कभी होते हैं।

भावार्थ— यह जीव कभी नरक गति के दुःखों को भोगता है और कभी तिर्यश्च, मनुष्य और देव गति के दुःखों को भोगता है। अतः ये दुःख कभी-कभी होते हैं और जो कभी-कभी होता है, वह अकारण नहीं होता है। उन कदाचित्क कार्यों को अकारण मानने पर उनके नित्यता का प्रसंग आता है। तथा उनको अकारण मानने पर दृष्ट कारणों के साथ व्यभिचार आता है अथवा परिभ्रमण के अभाव में दुःख आदि के वेदन होने का अयोग है।

शंका— उन परिभ्रमण के कारणों की निवृत्ति कैसे होती है?

उत्तर— कर्मों के आगमन के कारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के प्रतिपक्षी

कस्यचिदुत्पद्यत इति समर्थयिष्यमाणत्वात् तत्सिद्धिः । प्रकृतहेतोः कुम्भकारचक्रादिभ्रान्त्यानैकांतः, स्वकारणस्य कुम्भकारस्य व्यापारस्य निवृत्तावपि तदनिवृत्तिदर्शनात्, इति चेत्—

न कुम्भकारचक्रादिभ्रान्त्यानैकांतसंभवः ।

तत्कारणस्य वेगस्य भावे तस्याः समुद्भवात् ॥२५५॥

न हि सर्वा चक्रादिभ्रान्तिः कुम्भकारकरव्यापारकारणिका, प्रथमाया एव तस्यास्तथाभावात्, उत्तरोत्तरभ्रान्तेः पूर्वपूर्वभ्रान्त्याहितवेगकृतत्वावलोकनात् । न चोत्तरा तद्भ्रान्तिः स्वकारणस्य वेगस्या

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से समरस रूप होने वाली भावना के बल से किसी आत्मा के कर्मों की निवृत्ति हो जाती है। इसका समर्थन आगे के सूत्र में करेंगे।

भावार्थ— घटीयंत्र की प्रवृत्ति के रोकने का कारण अरहट के भ्रमण की निवृत्ति है और अरहट के भ्रमण की निवृत्ति का कारण बैल के घूमने की निवृत्ति होना है। यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्त में भी शारीरिक, मानसिक दुःखों की निवृत्ति का कारण चतुर्गति में भ्रमण की निवृत्ति है और चतुर्गति के भ्रमण की निवृत्ति का कारण ज्ञानावरण आदि कर्मों का नाश है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना से होता है। अतः कारणों की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति होना सिद्ध होता है।

शंका— कारण के भ्रमण की निवृत्ति हो जाने से कार्य के भ्रमण की निवृत्ति को सिद्ध करने वाले प्रकरण में प्राप्त हेतु का कुम्भकार के चक्रादि की भ्रान्ति के साथ अनैकान्तिक होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है। क्योंकि चक्र के घूमने के स्व कारण कुम्भकार के हस्तव्यापार आदि की निवृत्ति हो जाने पर भी चक्र के घूमने की निवृत्ति नहीं देखी जाती है अर्थात् चक्र का घूमना बन्द नहीं होता है। उत्तर— ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं—

कुम्भकार के चक्र या बालकों के खेलने के लड्डू आदि के भ्रमण द्वारा कारण के निवृत्ति रूप हेतु का व्यभिचार होना संभव नहीं है। क्योंकि उस कुम्भकार के चाक आदि के घूमने का कारण उनमें भरा हुआ वेग है। उस वेग के सद्भाव में ही चक्र वा लड्डू घूमता रहता है। चक्र का भ्रमण कारण (कुम्भार) के अभाव में भी होता रहता है ॥२५५॥

चक्र का आगे, पीछे, बीच में सर्वभ्रमण कुम्भकार के हस्तव्यापार के कारण ही होता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि सर्वप्रथम भ्रमण कुम्भकार के हस्तव्यापार से हुआ है, और आगे-आगे होने वाला चक्र का भ्रमण पूर्व-पूर्व भ्रमण से प्राप्त वेग के द्वारा (पूर्व संस्कार के द्वारा) उत्पन्न हुआ देखा जाता है। क्योंकि वह आगे-आगे होने वाला चक्र का भ्रमण (घूमना) अपने कारण वेग के न होने पर बराबर उत्पन्न हो जाता है, ऐसा नहीं है क्योंकि पूर्व संस्कार जनित वेग के सद्भाव में ही, हस्त का व्यापार नहीं होते हुए भी, चक्र के भविष्य के परिभ्रमणों की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए चक्र के परिभ्रमण से उपरिक्थित हेतु अनैकान्तिक नहीं हो सकता है।

भावे समुद्भवति, तद्भावे एव तस्याः समुद्भवदर्शनात् । ततो न तथा हेतोर्व्यभिचारः । पावकापायेऽपि धूमेन गोपालघटिकादिषूपलभ्यमानेनानैकांत इत्यप्यनेनापास्तं । शारीरमानसासातप्रवृत्तेः परापरोत्पत्तेरुपायप्रतिषेध्यत्वात् संचितायास्तु फलोपभोगतः प्रक्षयात् । न चापूर्वधूमादिप्रवृत्तिः स्वकारणपावकादेरभावेऽपि न निवर्तते यतो व्यभिचारः स्यात् ।

अतोऽनुमानतोऽप्यस्ति मोक्षसामान्यसाधनम् ।

सार्वज्ञादिविशेषस्तु तत्र पूर्व प्रसाधितः ॥२५६॥

न हि निरवद्यादनुमानात् साध्यसिद्धौ संदेहः संभवति, निरवद्यं च मोक्षसामान्येऽनुमानं निरवद्यहेतुसमुत्थत्वादित्यतोऽनुमानात्तस्य सिद्धिरस्त्येव न केवलमागमात्, सार्वज्ञत्वादिमोक्षविशेषसाधनं तु प्रागेवोक्तमिति नेहोच्यते ।

तत्सिद्धेः प्रकृतोपयोगित्वमुपदर्शयति -

एवं साधीयसी साधोः प्रागेवासन्ननिर्वृतेः ।

निर्वाणोपायजिज्ञासा तत्सूत्रस्य प्रवर्तिका ॥२५७॥

अग्नि के अभाव में भी इन्द्रजालिया आदि में उपलभ्यमान धूम के द्वारा हेतु व्यभिचारी है। अर्थात्- इन्द्रजालिया अथवा रेलगाड़ी के निकल जाने के बाद अग्नि कारण के बिना भी धूम कार्य देखा जाता है- अतः 'कारण के बिना कार्य नहीं होता' यह हेतु व्यभिचारी है। इस प्रकार कथन करके हेतु में दोषों का उद्भावन करने वाले का भी उपर्युक्त कथन से खण्डन कर दिया है। क्योंकि प्रथम धूम की उत्पत्ति का कारण अग्नि ही है।

शारीरिक, मानसिक असाता दुःख रूप प्रवृत्तियों की उत्तरोत्तर काल में उत्पत्ति-उपायों (व्रत, समिति, गुप्ति आदि) से निवृत्त हो जाने योग्य है। तथा पूर्वसंचित कर्म फल देकर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु अपूर्व धूमादिक की प्रवृत्ति स्वकीय कारण माने गये अग्नि के अभाव में भी नष्ट नहीं होती है, यह नहीं समझ बैठना जिससे कि हेतु में व्यभिचार हो सके। **भावार्थ-** कारण के अभाव से दुःखों का निवृत्त हो जाना सिद्ध है, इसमें कोई दोष नहीं है।

अतः मोक्ष सामान्य का साधन (सामान्य मोक्षतत्त्व की सिद्धि) अनुमान से भी हो रहा है। तथा मोक्ष में सर्वज्ञादि (अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त वीर्यादि) विशेष गुणों की सिद्धि पूर्व में कर ही चुके हैं ॥२५६॥

निर्दोष अनुमान से साध्य की सिद्धि हो जाने पर साध्य में संशय नहीं रहता है। तथा मोक्ष सामान्य सिद्धि में निर्दोष हेतु से उत्पन्न निर्दोष अनुमान है- अतः निर्दोष हेतु से उत्पन्न अनुमान से मोक्ष की सिद्धि है ही, केवल आगम से ही नहीं। सर्वज्ञत्व आदि विशेष मोक्ष साधन की सिद्धि तो पूर्व में कर दी है। अतः यहाँ पर उसका वर्णन नहीं किया गया है।

अब उस मोक्ष की आगम और अनुमान से सिद्धि करने का इस प्रकरण में क्या उपयोग हुआ सो दिखाते हैं- इस प्रकार प्रथम आसन्न (निकट) भव्य सज्जन शिष्य के निर्वाण (मोक्ष) के उपाय (मार्ग) की जिज्ञासा सिद्ध (उत्पन्न) होती है, वह जिज्ञासा ही प्रथम सूत्र की प्रवर्तिका है ॥२५७॥

सर्वस्याद्वादिनामेव प्रमाणतो मोक्षस्य सिद्धौ तत्राधिकृतस्य साधोरुपयोगस्वभावस्यासन्ननिर्वाणस्य प्रज्ञातिशयवतो हितमुपलिप्सोः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य साक्षादसाक्षाद्वाप्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थप्रक्षीणकल्मषपरापर-गुरुप्रवाह-सभामधितिष्ठतो निर्वाणे विप्रतिपत्त्यभावात्तन्मार्गे विवादात् तत्प्रतिपित्साप्रतिबन्धकविध्वंसात् साधीयसी, प्रतिपित्सा। सा च निर्वाणमार्गोपदेशस्य प्रवर्तिका। सत्यामेव तस्यां प्रतिपाद्यस्य तत्प्रतिपादकस्य यथोक्तस्यादिसूत्रप्रवर्तकत्वोपपत्तेरन्यथा तदप्रवर्तनादिति प्रतिपत्तव्यं प्रमाणबलायत्तत्वात्।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

तत्र सम्यग्दर्शनस्य कारणभेदलक्षणानां वक्ष्यमाणत्वादिहोद्देशमात्रमाह:-

प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्यं रूपमात्मनः।

यथास्थितार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमुद्दिशेत् ॥१॥

प्रणिधानं विशुद्धमध्यवसानं, तस्य विशेषः परोपदेशानपेक्षत्वं तदपेक्षत्वं च, तस्मादुक्ता यस्य तत्प्रणिधानविशेषोत्थं। द्वे विधे प्रकारौ निसर्गाधिगमजविकल्पाद्यस्य तद्विधेयं, तस्य भावो

सर्व स्याद्वादियों के प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम प्रमाण) से मोक्ष की सिद्धि हो जाने पर उस मोक्षमार्ग में अधिकृत उपयोगस्वभावी, आसन्न (निकट) मोक्ष में जाने वाले, प्रज्ञावान, हित के इच्छुक, कल्याण मार्ग में सम्बन्ध रखने वाले और प्रत्यक्ष वा अनुमान से प्रबुद्ध अशेष तत्त्वार्थ से प्रक्षीण हो गये हैं सर्व कल्मष जिनके, ऐसे पर-अपर गुरुओं की प्रवाहसभा में निष्ठा रखने वाले साधु पुरुष के निर्वाण के प्रति अविवाद होने से तथा मोक्षमार्ग के प्रति विवाद होने से, मोक्षमार्ग के जानने की इच्छा के प्रतिबन्धक (मिथ्यादर्शन आदि) का ध्वंस (नाश) हो जाने से मोक्षमार्ग के जानने की इच्छा उत्पन्न होती है और वह मोक्षमार्ग की जिज्ञासा ही निर्वाणमार्ग के उपदेश की प्रवर्तिका है। प्रतिपादक (गुरु) को प्रतिपाद्य (शिष्य) के मोक्षमार्ग के जानने की इच्छा जागृत होने पर ही यथोक्त (सम्यग्दर्शनादि) आदि के सूत्र का प्रवर्तकपना ठीक सिद्ध हो जाता है, मोक्षमार्ग की जिज्ञासा नहीं होने पर आदिसूत्र की रचना नहीं होती- इस प्रकार अनुमान प्रमाण के बल से जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय मोक्षमार्ग है, (मोक्ष प्राप्ति का उपाय है) ॥१॥

इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के कारण, भेद, लक्षण आदि का आगे वर्णन करेंगे। यहाँ इस के उद्देश (नाम) मात्र का कथन किया जा रहा है। सो ही कहते हैं-

सम्यग्दर्शन

प्रणिधान (स्वच्छ चित्त की एकाग्रता के) विशेष से उत्पन्न द्वैविध्य रूप आत्मा के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ॥१॥

प्रणिधान, उपयोग, विशुद्ध अध्यवसान ये एकार्थवाची हैं। प्रणिधान विशेष यानी परोपदेश अपेक्षा वा परोपदेश की अपेक्षा बिना उत्पत्ति है जिसकी उसको प्रणिधानविशेष से उत्पन्न कहते हैं। द्वैविध दो प्रकार-निसर्गज और अधिगमज हैं जिसके, उसे द्विविध कहते हैं। द्विविध का भाव द्वैविध्य कहलाता है। प्रणिधानविशेष से उत्पन्न द्वैविध्य जिसके होता है वह है प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्य। प्रणिधान विशेष से उत्पन्न निसर्गज और अधिगमज भाव आत्मा का स्वरूप है।

द्वैविध्यं, प्रणिधानविशेषोत्थं द्वैविध्यमस्येति प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्यं, तच्चात्मनो रूपं । यथास्थितार्थास्तत्त्वार्थास्तेषां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिहोद्देष्टव्यं तथैव निर्दोषवक्ष्यमाणत्वात् ।

सम्यग्ज्ञानलक्षणमिह निरुक्तिलभ्यं व्याचष्टे —

स्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो बाधवर्जितः ।

सदा सर्वत्र सर्वस्य सम्यग्ज्ञानमनेकधा ॥२॥

परिच्छेदः सम्यग्ज्ञानं न पुनः फलमेव ततोऽनुमीयमानं परोक्षं सम्यग्ज्ञानमिति तस्य निराकरणात् । स चाकारस्य भेदस्य न पुनरनाकारस्य किञ्चिदिति प्रतिभासमानस्य परिच्छेदः तस्य दर्शनत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । स्वाकारस्यैव परिच्छेदः सोऽर्थाकारस्यैव वेति च नावधारणीयं तस्य तत्त्वप्रतिक्षेपात् । संशयितोऽकिञ्चित्करो वा स्वार्थाकारपरिच्छेदस्तदिति च न प्रसज्यते, निश्चित

अर्थात्— साधारणतया स्वयमेव तत्त्व स्वरूप जानकर श्रद्धान करना निसर्गज और परोपदेश की अपेक्षा से होने वाला श्रद्धान अधिगमज कहलाता है। यथास्थित अर्थ (वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही होना) तत्त्वार्थ है- उन तत्त्वार्थों का जो श्रद्धान करना है उसे सम्यग्दर्शन के नाम से कहना चाहिए। क्योंकि उसी प्रकार से सम्यग्दर्शन का दोषरहित निरूपण आगे करेंगे।

सम्यग्ज्ञान

यहाँ पर सम्यग्ज्ञान का निरुक्तिलभ्य लक्षण कहते हैं— बाधा से, रहित होते हुए सर्व देश में, सर्वकाल में सर्व प्राणियों को, स्व को एवं अर्थ को आकार (विकल्प) सहित निश्चित रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है और वह अनेक प्रकार का है ॥२॥

परिच्छेद यानी अपनी प्रत्यक्षरूप ज्ञप्ति कराने वाले करणरूप ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं किन्तु फिर फलरूप ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान नहीं कहते। क्योंकि इस पद में दिये गये सम्यग्ज्ञान इस विशेषण से ज्ञान के फल का निराकरण किया गया है। ज्ञान का फल अनुमान से जानने योग्य है और परोक्ष है। आकार सहित भेद को ग्रहण करने वाला ही सम्यग्ज्ञान है। किञ्चित् प्रतिभासमान निराकार का ग्रहण करने वाला सम्यग्ज्ञान नहीं है— क्योंकि निराकार का ग्रहण करने वाला दर्शन होता है— उसका दर्शनोपयोग रूप से आगे कथन करेंगे। आकार का परिच्छेद इस पद से स्व आकार का ही परिच्छेद है— वा पर (अर्थ) के आकार का परिच्छेद ऐसी एकान्त अवधारणा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्वार्थाकार इस विशेषण से ज्ञान 'स्व वा अर्थ के आकार का परिच्छेद है'— इसका खण्डन कर दिया है और यह सिद्ध किया है कि ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है।

'निश्चित' इस विशेषण से संशय रूप वा अकिञ्चित्कर यानी कुछ भी प्रमिति को नहीं करने वाला ऐसा अनध्यवसाय रूप ज्ञान भी अपने और अर्थ के कुछ सच्चे झूठे आकारों को जान रहा है। इसको सम्यग्ज्ञानपने का प्रसंग न हो जावे इसलिए निश्चित विशेषण दिया है अर्थात् निश्चित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, न कि संशय और अनध्यवसाय ज्ञान।

इति विशेषणात्। विपर्ययात्मा स तथा स्यादिति चेन्न, बाधवर्जित इति वचनात्। बाधकोत्पत्तेः पूर्व स एव तथा प्रसक्त इति चेन्न, सदेति विशेषणात्। क्वचिद्विपरीतस्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो देशान्तरगतस्य सर्वदा तद्देशमवाप्नुवतः सदा बाधवर्जितः सम्यग्ज्ञानं भवेदिति च न शङ्कनीयं सर्वत्रेति वचनात्। कस्यचिदतिमूढमानसः सदा सर्वत्र बाधकरहितोऽपि सोऽस्तीति तदवस्थोऽतिप्रसंग इति चेन्न, सर्वस्येति वचनात्। तदेकमेव सम्यग्ज्ञानमिति च प्रक्षिप्तमनेकधेति वचनात्। तत्र निश्चिततत्त्वादिविशेषणत्वं सम्यग्ग्रहणाल्लब्धं। स्वार्थाकारपरिच्छेदस्तु ज्ञानग्रहणात् तद्विपरीतस्य ज्ञानत्वायोगात्।

स्वपर परिच्छेदक विपरीत ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, बाधवर्जित विशेषण होने से। ज्ञान का बाधवर्जित यह विशेषण विपरीत ज्ञान का निराकरण करने के लिए है। सदा (सर्वकाल) इस विशेषण से किसी काल में ज्ञान में कभी बाधा की उत्पत्ति (विपरीतता) का खण्डन किया गया है।

किसी देश में और अर्थ के आकार को परिच्छेद करने वाला निश्चयात्मक विपरीत ज्ञान हुआ और वह मनुष्य तत्काल देशान्तर को चला गया और कभी लौट कर नहीं आया, ऐसी दशा में 'बाधावर्जित' विशेषण भी घट गया तब तो वह भ्रमज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाना चाहिए अर्थात् किसी देश की अपेक्षा विपरीत अर्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि 'सर्वत्र' इस वचन से किसी देश में होने वाला विपरीत ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः सर्वकाल, सर्व क्षेत्र और सर्व प्राणियों में बाधा रहित निश्चित स्वार्थाकार का ग्रहण करने वाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, अन्य नहीं। किसी मूढमति को सदा सर्वत्र बाधकरहित भी विपरीत ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाएगा, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि 'सर्वस्य' इस विशेषण से उसका निराकरण किया गया है। इसमें निश्चित एवं बाधावर्जित यह पद सम्यग् शब्द से ग्रहण होते हैं और ज्ञानग्रहण से स्वार्थाकार के ज्ञान का ग्रहण होता है अर्थात् सम्यग्, निश्चित, संशय विपर्यय रहित 'ज्ञान' स्वार्थाकार परिच्छेद ही सम्यग्ज्ञान है। इससे विपरीत (अनिश्चित, बाधा सहित, स्वार्थाकार का अपरिच्छेद) में ज्ञानत्व का अयोग है- अर्थात् वह ज्ञान नहीं हो सकता। जो स्वार्थाकार का परिच्छेदक नहीं है, संशयादि बाधाओं से युक्त है- वह अज्ञान है ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान को एक ही मानता है उसका निराकरण करने के लिए अनेक यह विशेषण दिया गया है।^१ मोक्षमार्ग के प्रकरण में सूत्र में कथित सम्यग्ज्ञान शब्द से ही सम्यग्ज्ञान का लक्षण निकल जाता है। निश्चितपना, बाधा रहितपना 'सम्यग्' इस विशेषण से प्राप्त होते हैं और ज्ञान के ग्रहण से स्वपर अर्थ के आकार का परिच्छेद करना अर्थ निकलता है। जो समीचीन से विपरीत है, उसके ज्ञानत्व का अयोग है।

१. सामान्यतः ज्ञान एक होते हुए भी मति आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

सम्यक्चारित्रं निरुक्तिगम्यलक्षणमाह; —

भवहेतुप्रहाणाय बहिरभ्यन्तरक्रिया—।

विनिवृत्तिः परं सम्यक्चारित्रं ज्ञानिनो मतम् ॥३॥

विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रमित्युच्यमाने शीर्षापहारादिषु स्वशीर्षादि द्रव्य निवृत्तिः सम्यक्त्वादि स्वगुणनिवृत्तिश्च तन्माभूदिति क्रियाग्रहणम्। बहिःक्रियायाः कायवायुगोरूपायाः एवाभ्यन्तर-क्रियाया एव च मनोयोगरूपाया दिनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रं माभूदिति क्रियाया बहिरभ्यन्तरविशेषणं। लाभाद्यर्थं तादृशक्रियानिवृत्तिरपि न सम्यक्चारित्रं भवहेतुप्रहाणायेति वचनात्। नापि मिथ्यादृशः सा तद्भवति, ज्ञानिन इति वचनात्। प्रशस्तज्ञानस्य सातिशयज्ञानस्य वा संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमस्यैव सम्यक्चारित्रत्वप्रकाशनात् अन्यथा तदाभासत्वसिद्धेः। सम्यग्विशेषणादिह ज्ञानाश्रयता भवहेतुप्रहाणता च लभ्यते। चारित्रशब्दाद्बहिरभ्यन्तरक्रियाविनिवृत्तिता सम्यक्चारित्रस्य सिद्धा, तदभावे तद्भावानुपपत्तेः।

सम्यक्चारित्र

अब सम्यक्चारित्र का निरुक्तिगम्य लक्षण कहते हैं—

संसार के कारणों का नाश करने के लिए सम्यक् ज्ञानी की बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं की विशेषरूप से निवृत्ति हो जाना ही सम्यक् चारित्र माना गया है ॥३॥

विनिवृत्ति चारित्र है, ऐसा कहने पर तो शीर्षापहारादि में अपने शिर आदि द्रव्य से निवृत्त होना वा सम्यक्त्वादि अपने गुणों से निवृत्त होना भी सम्यक्चारित्र हो जाता परन्तु वह चारित्र नहीं है। वह न होवे अतः 'क्रिया' का ग्रहण किया गया है। भावार्थ— क्रियाओं की निवृत्ति चारित्र है, द्रव्य और गुणों की निवृत्ति नहीं।

काय और वचन रूप बाह्य क्रिया की, वा मनोयोग रूप अभ्यन्तर क्रिया की निवृत्ति चारित्र नहीं है— अपितु बाह्य और अभ्यन्तर दोनों क्रियाओं की निवृत्ति चारित्र है। इसलिए क्रिया का बाह्याभ्यन्तर यह विशेषण दिया गया है। सांसारिक लाभादि के लिए बाह्य अभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध करना भी चारित्र नहीं है अपितु संसार के कारणों का नाश करने के लिए क्रियाओं का निरोध करना चारित्र है। इसलिये 'भवहेतुप्रहाणाय' यह विशेषण है। मिथ्यादृष्टि के क्रियाओं का निरोध चारित्र नहीं होता, सम्यग्ज्ञानी के ही चारित्र होता है इसलिए 'ज्ञानिनः' ज्ञानी के इस शब्द का प्रयोग किया है। प्रशस्त तथा सातिशय ज्ञान वाले, संसार के कारणों की निवृत्ति में तत्पर ज्ञानी के बाह्याभ्यन्तर क्रिया विशेष के उपरम (निरोध) को ही सम्यक्चारित्र कहा गया है अर्थात् संसार के कारणों का नाश करने वाले ज्ञानी के बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध सम्यक्चारित्र है। अज्ञानी के क्रियाओं का निरोध चारित्राभास है।^१

सम्यक्चारित्र में 'सम्यक्' इस विशेषण से ज्ञानाश्रयता और भवहेतुप्रहाणता (संसार-कारणों की नाशता) जानी जाती है और चारित्र शब्द से बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध प्रकट होता है। 'संसार-कारणों का नाश करने के लिए ज्ञानी के बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध' यह सम्यक्चारित्र का लक्षण है, सम्यक्चारित्र लक्ष्य है। क्योंकि सम्यक्चारित्र की सिद्धि इनके होने पर ही होती है— इनके अभावं में नहीं।

१. चारित्र न होकर के भी जो चारित्र के समान दिखाई देता है, वह चारित्राभास कहलाता है।

सम्प्रति मोक्षशब्दं व्याचष्टे-

निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स्वात्मलाभोऽभिधीयते ।

मोक्षो जीवस्य नाऽभावो न गुणाभावमात्रकम् ॥४॥

न कतिपयकर्मनिर्मोक्षोऽनुपचरितो मोक्षः प्रतीयते स निःशेष कर्मनिर्मोक्ष इति वचनात् । नाप्यस्वात्मलाभः स स्वात्मलाभ इति श्रुतेः । प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वथाप्यभावश्चित्तसंतानस्य मोक्षो न पुनः स्वरूपलाभ इत्येतन्न हि युक्तिमत्, तत्साधनस्यागमकत्वात् ।

नापि बुद्ध्यादिविशेषगुणाभावमात्रमात्मनः सत्त्वादिगुणाभावमात्रं वा मोक्षः, स्वरूपलाभस्य मोक्षतोपपत्तेः । स्वरूपस्य चानंतज्ञानादिकदम्बकस्यात्मनि व्यवस्थितत्वात् ।

नास्ति मोक्षोऽनुपलब्धेः खरविषाणवदिति चेत् न, सर्वप्रमाणनिवृत्तेरनुपलब्धे-
रसिद्धत्वादागमानुमानोपलब्धेः साधितत्वात्, प्रत्यक्षनिवृत्तेरनुपलब्धेरनैकान्तिकत्वात्, सकल-

मोक्ष का लक्षण

अब मोक्ष शब्द का लक्षण कहते हैं-

‘सम्पूर्ण कर्मों का नाश और स्वात्म-लाभ ही मोक्ष कहा जाता है। जीव का अभाव तथा जीव के विशिष्ट गुणों का नाश मोक्ष नहीं है ॥४॥

कुछ कर्मों का नाश मोक्ष प्रतीत नहीं होता। अतः ‘निःशेष कर्म निर्मोक्ष’ ऐसा कहा गया है। अस्वात्मलाभ भी मोक्ष नहीं है- इसलिए स्वात्मलाभ यही मोक्ष है ऐसा कहा गया है। शंका- प्रदीप के निर्वाण हो (बुझ) जाने के समान चित्तसंतान का सर्वथा नाश हो जाना ही मोक्ष है, स्वरूप लाभ नहीं।^१

उत्तर- ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि आत्मा के अभाव रूप मोक्ष को सिद्ध करने वाले हेतु का अभाव है। बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म-अधर्म और संस्कार इन विशेष गुणों का अभावमात्र^२ तथा सत्त्व-यानी सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का अभाव भी आत्मा की मुक्ति नहीं है, क्योंकि स्वरूपलाभ के ही मोक्ष की उपपत्ति होती है, स्वरूप के नाश से नहीं। क्योंकि आत्मा में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनंतवीर्यादि आत्मस्वरूप का अवस्थान रहता है अर्थात् अनन्त चतुष्टय स्वरूप आत्मस्वभाव का लाभ ही मोक्ष है, आत्मस्वभाव का नाश नहीं।

प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होने से मोक्ष नामक वस्तु है ही नहीं जैसे गधे के सींग अर्थात् जैसे उपलब्ध न होने से गधे के सींग नहीं हैं उसी प्रकार उपलब्ध न होने से मोक्ष भी नहीं है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि सर्व प्रमाणों से अनुपलब्धि की असिद्धि है, आगम प्रमाण और अनुमान प्रमाण से मोक्ष की सिद्धि साधित है। आगम और अनुमान प्रमाण से मोक्ष प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष प्रमाण से मोक्ष अनुपलब्ध है अतः मोक्ष का अभाव है, यह भी हेतु अनैकान्तिक होने से आत्मा के अभाव को सिद्ध नहीं कर

१. बौद्ध आत्मा के अभाव को मोक्ष मानते हैं।

२. यौगिकबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारलक्षणानां नवात्मविशेषगुणानां अत्यन्तोच्छेदो मोक्ष इति मन्यते।

शिष्टानामप्रत्यक्षेष्वर्थेषु सद्भावोपगमात् । तदनुपगमे स्वसमयविरोधात् । न हि सांख्यादि-
समयेऽस्मदाद्यप्रत्यक्षः कश्चिदर्थो न विद्यते । चार्वाकस्य न विद्यत इति चेत्, किं पुनस्तस्य
स्वगुरुप्रभृतिः प्रत्यक्षः । कस्यचित्प्रत्यक्ष इति चेत्, भवतः कस्यचित्प्रत्यक्षता प्रत्यक्षा न वा । न
तावत्प्रत्यक्षा अतीन्द्रियत्वात् । सा न प्रत्यक्षा चेत् यद्यस्ति तदा तयैवानुपलब्धिरनैकांतिकी ।

नास्ति चेत् तर्हि गुर्वादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः संतीत्यायातं । कथं च तैरनैकांतानुपलब्धि-
मोक्षाभावं साधयेद्यतो मोक्षोऽप्रसिद्धत्वाद्यथोक्तलक्षणेन लक्ष्यो न भवेत् ।

कः पुनस्तस्य मार्ग इत्याह—

स्वाभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायो निरूपद्रवः ।

सद्भिः प्रशस्यते मार्गः कुमार्योऽन्योऽवगम्यते ॥५॥

सकता । क्योंकि सर्व ही शिष्ट (सज्जन) पुरुष अप्रत्यक्ष पदार्थ के सद्भाव को स्वीकार करते हैं । प्रत्यक्ष
प्रमाण से अनुपलब्ध पदार्थ के सद्भाव को स्वीकार नहीं करने पर अपने सिद्धान्त में ही विरोध आता
है- क्योंकि सांख्य, वैशेषिक बौद्ध आदि में भी हम लोगों के जो वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है, उसका अभाव
है- ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है ।

शंका- चार्वाक मत में तो जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, उसका अभाव ही मानते हैं? उत्तर- यदि
चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध ही वस्तु को मानते हैं तो उनके स्वगुरु अभी इस समय प्रत्यक्ष हैं क्या? यदि
कहो कि वे गुरु किसी के प्रत्यक्ष थे, तो हम पूछते हैं कि किसी के प्रत्यक्ष जो गुरु थे, वे तुम्हारे प्रत्यक्ष
हैं कि नहीं? तुम्हारे प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकते- क्योंकि तुम्हारे इन्द्रियों के वे इस समय विषय नहीं हैं ।
यदि इस समय गुरु आदि की प्रत्यक्षता नहीं है, परन्तु पूर्वकाल में वे थे अवश्य? ऐसा मानते हो तो
'जो प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुपलब्ध है, उसका अभाव है ।' यह हेतु अनैकान्तिक है अर्थात् यह अप्रत्यक्ष
पदार्थ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता । यदि यह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी हेत्वाभास) नहीं है
तो किसी के प्रत्यक्षप्रमाण के गोचर नहीं होते हुए भी गुरु आदि हैं- उनका प्रत्यक्ष न होते हुए अभाव
नहीं है- यह सिद्ध होता है । अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास स्वरूप अनुपलब्धि हेतु से चार्वाक मोक्ष का
अभाव कैसे सिद्ध कर सकते हैं । जिससे अप्रसिद्ध होने से यथोक्त लक्षण से मोक्ष लक्ष्य नहीं बन सकता
हो । अर्थात् उपर्युक्त लक्षण से मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध है- आगम और अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध
होने से ।

मोक्ष का मार्ग

मोक्ष का मार्ग क्या है? ऐसा पूछने पर मोक्ष के मार्ग का कथन करते हैं-

अपने अभिप्रेत (इष्ट) प्रदेश की प्राप्ति का निरूपद्रव उपाय विद्वानों के द्वारा (मोक्ष का) मार्ग
माना गया है । जो अभिप्रेत प्रदेश की प्राप्ति का उपाय नहीं है, वा जो उपद्रव सहित है- वह मार्ग नहीं,
वह तो कुमार्ग है ॥५॥

न हि स्वयमनभिप्रेत-प्रदेशाप्तेरुपायोऽभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायो वा मार्गो नाम, सर्वस्य सर्वमार्गत्व प्रसंगात्। नापि तदुपाय एव सोपद्रवः सद्भिः प्रशस्यते तस्य कुमार्गत्वात्।

तथा च मार्गेरन्वेषणक्रियस्य करणसाधने घञि? सति मार्ग्यतेऽनेनान्विष्यतेऽभिप्रेतः प्रदेश इति मार्गः, शुद्धिकर्मणो वा मृजेमृष्टः शुद्धोसाविति मार्गः प्रसिद्धो भवति। न चेवार्थाभ्यन्तरीकरणात् सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्ग इति युक्तं, तस्य स्वयं मार्गलक्षणयुक्तत्वात्। पाटलिपुत्रादिमार्गस्यैव तदुपमेयत्वोपपत्तेः मार्गलक्षणस्य निरुपद्रवस्य कात्स्न्यतोऽसंभवात्। तदेकदेशदर्शनात् तत्र तदुपमानप्रवृत्तेः प्रसिद्धत्वादुपमानं पाटलिपुत्रादिमार्गोऽप्रसिद्धत्वान्मोक्षमार्गोऽस्तूपमेय इति चेन्न, मोक्षमार्गस्य प्रमाणतः प्रसिद्धत्वात्। समुद्रादेरसिद्धस्याप्युपमानत्वदर्शनात् तदागमादेः प्रसिद्धस्योपमेयत्वप्रतीतेः। न हि सर्वस्य तदागमादिवत्समुद्रादयः प्रत्यक्षतः प्रसिद्धाः। समुद्रादेरप्रत्यक्षस्यापि महत्त्वादुपमानत्वं तदागमादेः प्रत्यक्षस्याप्युपमेयत्वमिति चेत्, तर्हि मोक्षमार्गस्य महत्त्वादुपमानत्वं युक्तमितरमार्गस्योपमेयत्वमिति न मार्ग इव मार्गोऽयं स्वयं प्रधानमार्गत्वात्।

जो स्वयं को इष्ट नहीं है ऐसे प्रदेश की प्राप्ति का उपाय तथा जो अन्य लोलुपीजनों को इष्ट है, ऐसे प्रदेश की प्राप्ति का उपाय ये दोनों सच्चे मार्ग नहीं बन सकते क्योंकि ऐसा मानने पर तो सबके मार्गत्व का प्रसंग आयेगा।

सोपद्रव मार्ग भी विद्वानों के द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि सोपद्रव मार्ग के कुमार्गत्व है अर्थात् जैसे चोर आदि से उपद्रवित मार्ग से जाने वाले सुखपूर्वक इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते हैं उसी प्रकार उपद्रवित (मिथ्यादर्शन आदि से युक्त) मार्ग से मोक्षपथिक मोक्ष पद को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः मार्ग का निरुपद्रव विशेषण है।

अन्वेषण क्रिया से मार्ग शब्द की उत्पत्ति करण साधन से होती है। जिसके द्वारा अभिप्रेत प्रदेश का अन्वेषण किया जाता है, वह मार्ग होता है।

मृज् धातु शुद्धि अर्थ में होती है। शुद्धि कर्म से मृष्टः शुद्ध है, वह मार्ग प्रसिद्ध होता है। अर्थात् जो कंटकादि से रहित शुद्ध स्वच्छ होता है, वह मार्ग कहलाता है। उस शुद्ध मार्ग से यात्री सुखपूर्वक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि से शुद्ध मार्ग से सुखपूर्वक मोक्ष स्थान पर पहुँच जाते हैं। इव समान, अर्थ अभ्यन्तरीकरण होने से सम्यग्दर्शनादि मार्ग के समान मोक्षमार्ग है, ऐसा कहना ठीक नहीं है^१ क्योंकि मोक्षमार्ग तो स्वयं ही मार्गत्व लक्षण से युक्त है। सम्पूर्ण रूप से निरुपद्रव मार्गलक्षण की असंभवता होने से पाटलिपुत्रादि मार्ग के ही उपमेयत्व की उत्पत्ति हो सकती है और उसी के एकदेश निरुपद्रव दृष्टिगोचर होने से वहीं पर उपमान की प्रवृत्ति होती है अर्थात् पाटलिपुत्र मार्ग आदि ही उपमान एवं उपमेय बन सकते हैं, मोक्षमार्ग के प्रति इन मार्गों की उपमा नहीं दी जा सकती। अतः 'मार्ग इव मार्गः' ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है।

शंका- प्रसिद्ध होने से पाटलिपुत्रादि देश के मार्ग तो उपमान हैं और अप्रसिद्ध होने से मोक्षमार्ग उपमेय है अतः 'मार्ग इव मार्गः' ऐसा मोक्षमार्ग के प्रति व्यपदेश होता है, इसमें क्या हानि है?

उत्तर- मोक्षमार्ग अप्रसिद्ध नहीं है क्योंकि प्रमाण के द्वारा मोक्षमार्ग प्रसिद्ध है। तथा ऐसा भी एकान्त नहीं है कि प्रसिद्ध उपमान होता है और अप्रसिद्ध उपमेय। क्योंकि अप्रसिद्ध समुद्रादि के भी उपमानत्व देखा

१. अकलंक देव तथा पूज्यपाद स्वामी ने 'मृजेःशुद्धिकर्मणो मार्ग इवार्थाभ्यन्तरीकरणात् मार्ग इव मार्गः' ऐसा लिखा है- कि मार्ग के समान मार्ग है परन्तु विद्यानन्द आचार्य इस ग्रन्थ में इसका खण्डन करते हैं- इवार्थाभ्यन्तरीकरण नहीं है, यह तो स्वयं प्रसिद्ध मार्ग है।

तत्र भेदविवक्षायां स्वविवर्तविवर्तिनोः ।
 दर्शनं ज्ञानमित्येषः शब्दः करणसाधनः ॥६॥
 पुंसो विवर्तमानस्य श्रद्धानज्ञानकर्मणा ।
 स्वयं तच्छक्तिभेदस्य साविध्येन प्रवर्तनात् ॥७॥
 करणत्वं न बाध्येत वह्नेर्दहनकर्मणा ।
 स्वयं विवर्तमानस्य दाहशक्तिविशेषवत् ॥८॥

यथा वह्नेर्दहनक्रियया परिणमतः स्वयं दहनशक्तिविशेषस्य तत्साविध्येन वर्तमानस्य साधकतमत्वात् करणत्वं न बाध्यते, तथात्मनः श्रद्धानज्ञानक्रियया स्वयं परिणमतः साविध्येन वर्तमानस्य श्रद्धानज्ञानशक्तिविशेषस्यापि साधकतमत्वाविशेषात्, ततो दर्शनादिपदेषु व्याख्यातार्थेषु दर्शनं ज्ञानमित्येषस्तावच्छब्दः करणसाधनोऽवगम्यते । दर्शनविशुद्धिशक्तिविशेषसन्निधाने तत्त्वार्थान् पश्यति श्रद्धाज्ञेऽनेनात्मेति दर्शनं, ज्ञानशुद्धिशक्तिसन्निधाने जानात्यनेनेति ज्ञानमिति ।

जाता है^१ और प्रसिद्ध आगमादि के उपमेयत्व की प्रतीति होती है।^२ क्योंकि आगमादि के समान समुद्र आदि सर्व प्राणियों के प्रत्यक्ष प्रसिद्ध नहीं है ।

महत्त्व (महान्) होने से अप्रत्यक्ष भी समुद्रादि के उपमानत्व और प्रत्यक्ष प्रसिद्ध आगमादि के उपमेयत्व हो जाता है, ऐसा कहने पर तो महान् होने से मोक्षमार्ग के उपमानत्व और शेष लौकिक मार्गों के उपमेयत्व कहना ही ठीक है- अतः यह 'मार्ग इव मार्ग' (मार्ग के समान मोक्षमार्ग) है- यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि मोक्षमार्ग तो स्वयं प्रधान मार्ग है ।

स्वकीय पर्याय-पर्यायी में भेदविवक्षा करने पर दर्शन और ज्ञान शब्द करण साधन हैं अर्थात् 'ज्ञायते इति ज्ञानं दर्शयते इति दर्शनं' । स्वयं दहनक्रिया के द्वारा विवर्तमान (परिणत) अग्नि के दाहशक्ति विशेष के समान स्वकीय श्रद्धान, ज्ञान और क्रिया के शक्तिभेद के सहकारित्व से प्रवर्तमान होने से विवर्तमान पुरुष के ज्ञान-दर्शन के करण साधनत्व बाधित नहीं है ॥६-७-८॥

जिस प्रकार दहनक्रियाविशेष से परिणत अग्नि के दहनक्रियाविशेष के सहकारित्व से वर्तमान दहनक्रिया के करणत्व बाधित नहीं है उसी प्रकार स्वयं परिणत श्रद्धान, ज्ञान, क्रिया के सहकारित्व से वर्तमान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, शक्ति विशेष के साधकतमत्व हैं । क्योंकि अग्नि के दाह परिणाम और आत्मा के ज्ञान-दर्शन में कोई विशेषता नहीं है । इसलिए व्याख्यात अर्थ वाले ज्ञान दर्शन आदि पदों में 'दर्शन और ज्ञान' ये शब्द करण साधन हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

जिस दर्शनविशुद्धि की विशेष शक्ति का सन्निधान होने पर आत्मा जीवादि पदार्थों को देखता है या श्रद्धान करता है, उस शक्तिविशेष को दर्शन कहते हैं ।

जिस ज्ञानशुद्धि की शक्तिविशेष का सन्निधान होने पर आत्मा जीवादि पदार्थों को जानता है, वह शक्तिविशेष ज्ञान है ।

१. जैसे अप्रसिद्ध समुद्र, मेरु आदि पर्वत, देव आदि की उपमा दी जाती है सागर के समान गंभीर है, मेरु के समान अचल है, देव के समान रूपवान है, आदि ।

२. जिनवचन दीपक के समान सन्मार्ग दिखाने वाले हैं ।

नन्वेवं स एव कर्ता स एव करणमित्यायातं तच्च विरुद्धमेवेति चेत् न, स्वपरिणामपरिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात् दर्शनज्ञानपरिणामो हि करणमात्मनः कर्तुः कथञ्चिद् भिन्नं बह्वेर्दहनपरिणामवत्, कथमन्यथाऽग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेनेत्यविभक्तकर्तृकं करणमुपपद्यते। स्यान्मतं। विवादापन्नकरणं कर्तुः सर्वथा भिन्नं करणत्वाद्विभक्तकरणवदिति। तदयुक्तं। हेतोरतीतकालत्वात्। प्रत्यक्षतो ज्ञानादिकरणस्यात्मादेः कर्तुः कथंचिदभिन्नस्य प्रतीतेः।

समवायात्तथा प्रतीतिरिति चेन्न, कथंचित्तादात्म्यादन्यस्य समवायस्य निराकरणात्। पक्षस्यानुमानबाधितत्वाच्च नायं हेतुः। तथाहि— “करणशक्तिः शक्तिमतः कथंचिदभिन्ना तच्छक्तित्वात्, या तु न तथा सा न तच्छक्तिर्यथा व्यक्तिरन्या, तच्छक्तिश्चात्मादेः करणशक्तिस्तस्माच्छक्तिमतः कथंचिदभिन्ना।

नन्वेवमात्मनो ज्ञानशक्तौ ज्ञानध्वनिर्यदि।

तदार्थग्रहणं नैव करणत्वं प्रपद्यते ॥९॥

कर्ता और करण की एकता

शंका— दर्शन आदि शब्दों की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर कर्ता और करण एक हो जाता है किन्तु यह बात विरुद्ध है?

समाधान— ऐसा नहीं कहना क्योंकि स्वपरिणाम और परिणामी में भेदविवक्षा होने पर उक्त प्रकार से कथन किया गया है। क्योंकि अग्नि के दाह परिणाम की तरह कर्ता आत्मा के ज्ञान, दर्शन परिणाम कथंचित् भिन्न होने से करण हैं। अन्यथा (कथंचित् भेदविवक्षा नहीं मानने पर) अग्नि दाह परिणाम के द्वारा ईंधन को जलाती है, ऐसा कर्ता को अविभक्त करने वाला करण कैसे उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्न— विवादापन्न करण, कर्ता से सर्वथा भिन्न होता है करण होने से, भिन्न (परशुआदि) करण के समान। उत्तर— इस प्रकार कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस अनुमान में दिया गया करणत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है। साधन काल के व्यतीत हो जाने पर कहे गये बाधित हेत्वाभास को अतीत काल हेतु कहते हैं। अथवा ‘कर्ता से करण भिन्न ही होता है— करण होने से’ इस हेतु का पूर्व में खण्डन कर चुके हैं कि प्रत्यक्षज्ञान से आत्मा कर्ता से ज्ञानादि करण के कथंचित् भेद प्रतीत होता है। (अयुतसिद्ध लक्षण) समवाय सम्बन्ध ‘इसमें यह है’ इस प्रकार की बुद्धि प्रवृत्ति का कारण होती है। अतः कर्ता और करण में अभेद का व्यपदेश (प्रतीति) कराती है, ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई अन्य समवाय सम्बन्ध है, इसका पूर्व में खण्डन कर चुके हैं। तथा करण होने से ज्ञान दर्शन आत्मा से भिन्न होने चाहिए, इसमें जो करण हेतु दिया है वह पक्ष के अनुमान बाधित होने से हेतु ही नहीं है। करणरूप शक्ति (पक्ष) अपने शक्तिमान से कथंचित् द्रव्य रूप से अभिन्न है (साध्य) उस शक्तिमान की शक्ति होने से (हेतु)। जो करण रूप शक्ति कथंचित् अभिन्न नहीं है अपने शक्तिमान से, वह तो उसकी शक्ति ही नहीं जैसे कि अन्य दूसरी व्यक्ति। करण शक्ति आत्मा की है, वह शक्तिमान आत्मा आदि से कथंचित् अभिन्न ही है।

शंका— यदि आत्मा की ज्ञानशक्ति में ज्ञान शब्द का प्रयोग करते हो अर्थात् ज्ञानशक्ति को ज्ञान कहते हो, तब तो अर्थग्रहण रूप उपयोगात्मक ज्ञान कथमपि करणपने को प्राप्त नहीं हो सकता है।

न ह्यर्थग्रहणशक्तिज्ञानमन्यत्रोपचारात्, परमार्थतोऽर्थग्रहणस्य ज्ञानत्वव्यवस्थिते; तदुक्तमर्थग्रहणं बुद्धिरिति, ततो न ज्ञानशक्तौ ज्ञानशब्दः प्रवर्तते येन तस्य करणसाधनता स्याद्वादिनां सिद्धयेत्।

पुरुषाद्विन्नस्य तु ज्ञानस्य गुणस्यार्थप्रमितौ साधकतमत्वात् करणत्वं युक्तं, तथा प्रतीतेर्बाधकाभावात्। भवतु ज्ञानशक्तिः करणं तथापि न सा कर्तुः कथंचिदभिन्ना युज्यते।

शक्तिः कार्ये हि भावानां सान्निध्यं सहकारिणः।

सा भिन्ना तद्वतोत्यंतं कार्यतश्चेति कश्चन ॥१०॥

ज्ञानादिकरणस्यात्मादेः सहकारिणः सान्निध्यं हि शक्तिः स्वकार्योत्पत्तौ न पुनस्तद्वत् स्वभावकृता शक्तिमतः कार्याच्चात्यंतं भिन्नत्वात्तस्या इति कश्चित्।

तस्यार्थग्रहणे शक्तिरात्मनः कथ्यते कथम्।

भेदादर्थान्तरस्येव संबन्धात् सोऽपि कस्तयोः ॥११॥

शक्ति एवं शक्तिमान का सम्बन्ध

आत्मा की अर्थग्रहण शक्ति ज्ञान नहीं है, सिवाय उपचार होने से। अर्थात् उपचार से अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को ज्ञान कहा जा सकता है, परन्तु परमार्थ से तो अर्थ के विशेषाकारों को ग्रहण करने वाले के ज्ञानपने की व्यवस्था हो रही है। (अर्थग्रहण करने वाला तो ज्ञान ही है) सो ही कहा है 'अर्थग्रहणं बुद्धिरिति' अर्थ ग्रहण करने वाला गुण बुद्धि ही है। अतः ज्ञानशक्ति में ज्ञान शब्द प्रवृत्त नहीं होता, जिस ज्ञान शब्द से स्याद्वादी करणत्व सिद्ध करते हैं। अर्थात् जिस शक्ति से स्याद्वादी ज्ञान शब्द से करणत्व सिद्ध करते हैं, वह ज्ञान शब्द ज्ञान शक्ति में प्रवृत्त नहीं होता।

अतः पुरुष (आत्मा) से भिन्न ज्ञानगुण के ही अर्थ की प्रमिति के प्रति साधकतम होने से करणत्व मानना युक्त है- क्योंकि इस प्रकार आत्मा से भिन्न ज्ञान गुण की प्रतीति होने में बाधक प्रमाण का भी अभाव है। अथवा- जैन मतानुसार ज्ञान शक्ति को करणत्व मान ही लिया जाय (कि ज्ञानशक्ति के द्वारा आत्मा अर्थ ग्रहण करता है) तो भी वह अर्थग्रहणशक्ति शक्तिमान कर्ता आत्मा से कथंचित् अभिन्न नहीं हो सकती अर्थात् वह आत्मा से सर्वथा भिन्न ही होती है कथंचित् अभिन्न नहीं।

कोई (नैयायिक) कहता है कि कार्य की उत्पत्ति में सहकारी कारणों का सान्निध्य ही पदार्थ की शक्ति है और वह शक्ति कार्य होने से शक्तिमान पदार्थ से अत्यन्त भिन्न (पृथक्) है ॥१०॥

सहकारी ज्ञानादिकरणों की आत्मादि के स्वकार्य की उत्पत्ति में सान्निध्य (निकटता) ही शक्ति कहलाती है- वह शक्तिमान के समान शक्ति स्वभावकृत नहीं है और शक्तिमान का कार्य होने से शक्तिमान से शक्ति की अत्यन्त भिन्नता है।

जैनाचार्य का प्रश्न- अर्थग्रहण करने की शक्ति यदि आत्मा से सर्वथा पृथक् है, तो वह आत्मा की कैसे कहलाती है? यदि कहो कि सम्बन्ध से आत्मा की कहलाती है तो शक्ति एवं शक्तिमान का सम्बन्ध कौन सा है? ॥११॥

न ह्यात्मनोऽत्यन्तं भिन्नार्थग्रहणशक्तिस्तस्येति व्यपदेशं शक्या, संबंधतः शक्येति चेत्, कस्तस्यास्तेन संबन्धः?

संयोगो द्रव्यरूपायाः शक्तेरात्मनि मन्यते।

गुणकर्मस्वभावायाः समवायश्च यद्यसौ ॥१२॥

चक्षुरादिद्रव्यरूपायाः शक्तेरात्मद्रव्ये संयोगः सम्बन्धोऽन्तःकरणसंयोगादिगुणरूपायाः समवायश्च शब्दाद्विषयीक्रियमाणरूपायाः संयुक्तसमवायः सामान्यादेश्च विषयीक्रियमाणस्य संयुक्तसमवेतसमवायादिर्यदि मतः।

तदाप्यर्थान्तरत्वेऽस्य संबन्धस्य कथं निजात्।

सम्बन्धिनोऽवधार्येत तत्सम्बन्धस्वभावता ॥१३॥

सम्बन्धान्तरतः सा चेदनवस्था महीयसी।

गत्वा सुदूरमप्यैक्यं वाच्यं सम्बन्धतद्वतोः ॥१४॥

जो अर्थग्रहण शक्ति आत्मा से अत्यन्त भिन्न है उसको आत्मा की है, ऐसा नहीं कह सकते। यदि कहो कि शक्तिमान का शक्ति के साथ सम्बन्ध है, इसलिये अर्थग्रहणशक्ति आत्मा की कहलाती है, तो उस शक्तिमान आत्मा के साथ अर्थग्रहणशक्ति का सम्बन्ध कौन सा है?

भावार्थ- संयोग सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध, संयुक्त समवाय सम्बन्ध, संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध इनमें से कौन सा सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान के साथ है?

घटादि द्रव्य के साथ चक्षु का सम्बन्ध संयोगसम्बन्ध है। घट रूप (गुण) के प्रत्यक्ष होने में संयुक्त समवाय सम्बन्ध होता है। घटरूपत्व के प्रत्यक्ष होने में जो कारण पड़ता है वह संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध है। शब्द के प्रत्यक्ष होने में समवाय सम्बन्ध होता है। शब्दत्व के प्रत्यक्ष होने में समवेत समवाय सम्बन्ध होता है और वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होने में विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध होता है।

यदि आत्मा में द्रव्य रूप शक्ति का संयोग सम्बन्ध वा गुण कर्म स्वभाव रूप समवाय सम्बन्ध मानते हो क्योंकि आपने (वैशेषिकों ने) द्रव्य का दूसरे द्रव्य से संयोग सम्बन्ध माना है तथा चौबीस गुण और पाँच कर्म रूप सहकारी कारणों के सान्निध्य रूप शक्ति का उपादान कारण के साथ समवाय सम्बन्ध माना है ॥१२॥ तो चक्षुरादि द्रव्य रूप शक्ति का आत्म द्रव्य में संयोग है। अन्तःकरण (मन) की संयोगादि गुणरूप शक्ति का आत्मा में समवाय सम्बन्ध है। शब्दादि को विषय करने वाली शक्ति का संयुक्त समवाय सम्बन्ध है। तथा सामान्यादि का विषय करने वाले का संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध है तो-

अपने सम्बन्धी से इस सम्बन्ध को भिन्न पदार्थ मानने पर इस सम्बन्ध की निज (अपने) सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध स्वभावता है, यह कैसे जाना जा सकता है? अर्थात् यह सम्बन्ध इस सम्बन्धी का है, यह जानना दुष्कर होगा ॥१३॥

यदि कहो कि वह सम्बन्ध सम्बन्धान्तर से होता है तो महान् अनवस्था दोष आयेगा। अतः सुदूर जाकर भी सम्बन्ध और सम्बन्धवान में एकत्व मानना ही पड़ेगा ॥१४॥

तथा सति न सा शक्तिस्तद्वतोऽत्यन्तभेदिनी ।

सम्बन्धाभिन्नसम्बन्धिरूपत्वात्तत्स्वरूपवत् ॥१५॥

ननु गत्वा सुदूरमपि सम्बन्धतद्वतो नैक्यमुच्यते येनात्मनो द्रव्यादिरूपा शक्तिस्तत्संबन्धाभिन्नसम्बन्धिरूपत्वादभिन्ना साध्यते, परापरसम्बन्धादेव सम्बन्धस्य सम्बन्धिताव्यपदेशोपगमात् । न चैवमनवस्था, प्रतिपत्तुराकांक्षानिवृत्तेः क्वचित् कदाचिदवस्थानसिद्धेः प्रतीतिनिबन्धनत्वात्तत्त्वव्यवस्थाया इति परे । तेषां संयोगसमवायव्यवस्थैव तावन्न घटते, प्रतीत्यनुसरणे यथोपगमप्रतीत्यभावात् । तथाहि-

संयोगो युतसिद्धानां पदार्थानां यदीष्यते ।

समवायस्तदा प्राप्तः संयोगस्तावके मते ॥१६॥

तथा अनवस्था दोष के भय से सम्बन्ध और सम्बन्धी में एकत्व स्वीकार कर लेने पर सम्बन्ध से अभिन्न सम्बन्धी होने से स्वस्वरूप के समान शक्ति शक्तिमान से अत्यन्त भिन्न नहीं है, यह मानना ही पड़ेगा ॥१५॥

नैयायिक कहते हैं कि जिसके द्वारा आत्मा की द्रव्यादि रूप शक्ति, शक्तिमान के (आत्मा के) साथ में अभिन्न सम्बन्धी स्वभाव होने से अभिन्न सिद्ध की जाती है, वह बहुत दूर जाकर भी सम्बन्ध और सम्बन्धी में (तादात्म्य रूप) एकत्व को नहीं कह सकती- अर्थात् शक्ति और शक्तिमान में एकत्व नहीं हो सकता क्योंकि पर और अपर (भिन्न-भिन्न दो पदार्थों) के सम्बन्ध भाव से ही सम्बन्ध के सम्बन्धीत्व का व्यपदेश होता है । और इस प्रकार के कथन में अनवस्था दोष भी नहीं आता । क्योंकि ज्ञाता की आकांक्षा की निवृत्ति हो जाने से, कभी-न-कभी किसी स्थल पर ज्ञाता की अवस्थिति हो ही जाती है तथा प्रतीति को कारण मानकर तत्त्वों की व्यवस्था मानी जाती है । भावार्थ- नैयायिक कहते हैं कि सम्बन्ध-सम्बन्धी में एकता नहीं है- क्योंकि भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के ही सम्बन्ध से सम्बन्धता होती है- ऐसा मानने पर अनवस्था (सम्बन्धी सम्बन्ध किसने कराया? गुणी में गुण का सम्बन्ध किसने कराया, सम्बन्ध किससे हुआ- संयोग से, संयोग किससे हुआ, समवायादि प्रकार से आदि आदि) दोष भी नहीं हो सकता- क्योंकि ज्ञाता जिज्ञासु की इस प्रकार पूछने की जिज्ञासा ही किसी स्थल पर समाप्त हो जाती है तथा किसी में किसी काल में स्वयं सम्बन्ध भी रहता है । तत्त्व व्यवस्था प्रतीति को कारण मान कर मानी जाती है ।

जैनाचार्य कहते हैं- कि प्रतीति (ज्ञान) के अनुसरण में इस प्रकार की प्रतीति-भिन्न-भिन्न गुण-गुणी की प्रतीति का अभाव होने से उन नैयायिकों के संयोग और समवाय व्यवस्था ही घटित नहीं हो सकती । अर्थात् भिन्न दो पदार्थों का सम्बन्ध होने से संयोग समवाय घटित नहीं होता, प्रतीति के अनुसार तत्त्वव्यवस्था तो इष्ट है पर आपने संयोग और समवाय का जैसा स्वरूप माना है, उसके अनुसार प्रतीति नहीं होती है । सो देखो-

यदि तुम्हारे मत में पृथक्-पृथक् आश्रयों में रहने वाले युतसिद्ध (भिन्न-भिन्न) पदार्थों का संयोग सम्बन्ध होना ही इष्ट है तो वह संयोग ही है यानी उस समवाय सम्बन्ध को संयोगपना प्राप्त हो जावेगा ॥१६॥

कस्मात् समवायोऽपि संयोगः प्रसज्यते मामके मते?

युतसिद्धिर्हि भावानां विभिन्नाश्रयवृत्तिता ।

दधिकुण्डादिवत्सा च समाना समवायिषु ॥१७॥

नन्वयुतसिद्धानां समवायित्वात् समवायिनां युतसिद्धिरसिद्धेति चेत् ।

तद्वद्वृत्तिगुणादीनां स्वाश्रयेषु च तद्वताम् ।

युतसिद्धिर्यदा न स्यात्तदान्यत्रापि सा कथम् ॥१८॥

गुण्यादिषु गुणादीनां वृत्तिगुण्यादीनां तु स्वाश्रये वृत्तिरिति कथं न गुणगुण्यादीनां समवायिनां युतसिद्धिः? पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरिति वचनात् । तथापि तेषां युतसिद्धेरभावे दधिकुण्डादीनामपि सा न स्याद्विशेषलक्षणाभावात् ।

शंका— हमारे मत (वैशेषिक/नैयायिक) में समवाय को भी संयोगपना कैसे हो जाता है? जैनाचार्य उत्तर देते हैं— क्योंकि आपके मत में पदार्थों की भिन्न-भिन्न आश्रयों में वृत्ति रहना ही युतसिद्धि मानी गई है। भिन्न-भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध युतसिद्ध कहलाता है जैसे दही और कुण्डे का सम्बन्ध। इन दोनों का सम्बन्ध सर्वथा भिन्न होने से युतसिद्ध यानी संयोग सम्बन्ध कहलाता है। वही युतसिद्धि समवायी पदार्थों में भी समान रूप से विद्यमान है। अर्थात् समवायी (गुण-गुणी) में भी तुम्हारे मत में सर्वथा भेद ही माना जाता है— अर्थात् समवाय और संयोग एक ही हैं ॥१७॥

शंका— नैयायिक कहते हैं कि अयुतसिद्ध (अपृथक्भूत गुण-गुणी) पदार्थों के ही समवायित्व होने से युतसिद्धि असिद्ध है? क्योंकि पृथक्भूत पदार्थों का सम्बन्ध युतसिद्ध होता है।

उत्तर— जैनाचार्य कहते हैं कि जब भिन्न-भिन्न पदार्थों के समान गुण (ज्ञान) आदि की और गुणी की स्व आश्रय में वृत्ति युतसिद्ध नहीं होगी तब तो वह युतसिद्धि अन्यत्र (घट दूधादि में) कैसे होगी? ॥१८॥

गुण, सत्ता, कर्म आदि का गुणी (आत्मा आदि) में सम्बन्ध होता है और गुणी का अपने आश्रय में सम्बन्ध होता है इस प्रकार भिन्न गुण-गुणी समवायियों का सम्बन्ध युतसिद्ध कैसे नहीं है। क्योंकि पृथक् आश्रय-आश्रितों के सम्बन्ध को ही युतसिद्ध माना है (आपके मत में गुण-गुणी सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं।) यदि पृथक्भूत गुण-गुणी के सम्बन्ध में भी युतसिद्धि का अभाव मानोगे तो पृथक्भूत दधि और कुण्डादि का सम्बन्ध भी युतसिद्ध नहीं होगा; क्योंकि दधि-कुण्ड के सम्बन्ध में और गुण-गुणी के सम्बन्ध में विशेष लक्षण का अभाव है।

लौकिको देशभेदश्चेद्युतसिद्धिः परस्परम् ।

प्राप्ता रूपरसादीनामेकत्रायुतसिद्धता ॥१९॥

विभूनां च समस्तानां समवायस्तथा न किम् ।

कथंचित्तादात्म्यान्नाविष्वग्भवनं परम् ॥२०॥

लौकिको देशभेदो युतसिद्धिर्न शास्त्रीयो यतः समवायिनां युतसिद्धिः स्यादित्येतस्मिन्नपि पक्षे रूपादीनामेकत्र द्रव्ये विभूनां च समस्तानां लौकिकदेशभेदाभावाद्युतसिद्धेरभावप्रसंगात् समवायप्रसक्तिः ।

अविष्वग्भवनमेवायुतसिद्धिर्विष्वग्भवनं युतसिद्धिरिति चेत्, तत्समवायिनां कथंचित्तादात्म्यमेव सिद्धं ततः परस्याविष्वग्भवनस्याप्रतीतेः ।

यदि कहो कि जिसमें प्रदेश भेद है, वह लौकिक युतसिद्ध है और परस्पर एकत्र प्राप्त रूपरसादि की अयुतसिद्धता है तो समस्त विभुओं का समवाय कथंचित् अर्थ के तादात्म्य से सिद्ध क्यों नहीं होगा। तथा तादात्म्य सम्बन्ध से भिन्न (दूसरा) 'अविष्वग्भवन' (कभी पृथक् था अब पृथक् नहीं होगा) समवाय सम्बन्ध कैसे होगा ॥१९-२०॥

कोई कहता है— देशभेद युतसिद्धि लौकिक है, उस लौकिक युतसिद्धि से शास्त्रीय समवायियों के युतसिद्धि नहीं हो सकती?

उत्तर— इस पक्ष में (अर्थात् समवायियों की शास्त्रीय युतसिद्धि रूप पक्ष में) भी देशभेद का अभाव होने से युतसिद्धि का अभाव हो जाने पर विभु सारे रूपादि का एक द्रव्य में समवाय होने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि उनमें लौकिक देशभेद नहीं है— अतः सारे रूप रसादि का एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध हो जायेगा।

शंका— हम तो अविष्वग्भवन (पृथक् नहीं होने) को अयुतसिद्ध और विष्वग्भवन (पृथक्-पृथक् पदार्थों का मेल होकर फिर पृथक् हो जाने) को युतसिद्ध कहते हैं।

उत्तर— अविष्वग्भवन समवायी कहने पर तो समवायियों का सम्बन्ध कथंचित् तादात्म्य ही है अर्थात् देशभेद न होने से अभेद और संज्ञा, लक्षण आदि की अपेक्षा भेद रूप कथंचित् तादात्म्य है। इस तादात्म्य सम्बन्ध से पृथक् समवाय सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है।

(अतः संयोग सम्बन्ध और तादात्म्य सम्बन्ध को छोड़कर तीसरा कोई सम्बन्ध नहीं है। दधि कुण्ड आदि का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है और गुण-गुणी का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है, इससे ज्ञान के करणत्व कर्ता (आत्मा) से कथंचित् भेद मानने में कोई विरोध नहीं है।)

• तदेवाबाधितज्ञानमारूढं शक्तितद्वतोः ।

सर्वथा भेदमाहन्ति प्रतिद्रव्यमनेकधा ॥२१॥

कथंचित्तादात्म्यमेव समवायिनामेकममूर्तं सर्वगतमिहेदमिति प्रत्ययनिमित्तं समवायोऽर्थभेदाभावादिति मामंस्त, तस्य प्रतिद्रव्यमनेकप्रकारत्वात्, तथैवाबाधितज्ञानारूढत्वात् । मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायतादात्म्यं हि मूर्तिमज्जायते नामूर्तं, अमूर्तद्रव्यपर्यायतादात्म्यं पुनरमूर्तमेव तथा सर्वगतद्रव्यपर्यायतादात्म्यं सर्वगतं, असर्वगतद्रव्यपर्यायतादात्म्यं पुनरसर्वगतमेव, तथा चेतनेतरद्रव्यपर्यायतादात्म्यं चेतनेतररूपमित्यनेकधा तत्सिद्धं शक्तितद्वतोः सर्वथा भेदमाहन्येव ।

ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिज्ञानमिहात्मनः ।

करणत्वेन निर्दिष्टा न विरुद्धा कथञ्चन ॥२२॥

न ह्यन्तरंगबहिरंगार्थग्रहणरूपाऽऽत्मनो ज्ञानशक्तिः करणत्वेन कथंचिन्निर्दिश्यमाना विरुध्यते, सर्वथा शक्तितद्वतोर्भेदस्य प्रतिहननात् । ननु च ज्ञानशक्तिर्यदि प्रत्यक्षा तदा सकलपदार्थशक्तेः

तादात्म्य सम्बन्ध

तथा यही अबाधित आरूढ ज्ञान (तादात्म्य सम्बन्ध का ज्ञान) शक्ति और शक्तिमान के सर्वथा भेद का खण्डन करता है और प्रत्येक द्रव्य में वह कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध न्यारा-न्यारा होकर अनेक प्रकार का है, इसको सिद्ध करता है ॥२१॥

वह कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध ही समवायियों (गुण-गुणी) का एक अमूर्तिक सर्वगत 'इसमें यह है' इस प्रकार की बुद्धि का निमित्त समवाय है- क्योंकि समवाय सम्बन्ध और तादात्म्य सम्बन्ध में अर्थभेद का अभाव है अतः ये दोनों एकार्थवाची हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि अबाधित ज्ञान में आरूढ होने से तथा प्रत्येक द्रव्य के प्रति अनेक प्रकार का होने से वह समवाय एक, अमूर्तिक और सर्वगत नहीं है । उस कथंचित्तादात्म्य के अनेकपना और अबाधित ज्ञानरूढ की सिद्धि करते हैं-

मूर्तिमान् द्रव्य पर्याय का तादात्म्य मूर्तिमान् होता है अमूर्त नहीं^१ । अमूर्त द्रव्य और पर्याय का तादात्म्य अमूर्त होता है । सर्वगत द्रव्य और पर्यायों का तादात्म्य सर्वगत है । असर्वगत द्रव्य पर्यायों का तादात्म्य असर्वगत ही है, चेतन और अचेतन द्रव्य पर्याय का तादात्म्य चेतन-अचेतन रूप है, इस प्रकार अनेक प्रकार का तादात्म्य सिद्ध है और यह कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध ही शक्ति और शक्तिमान (गुण-गुणी) में सर्वथा भेद के भाव का खण्डन करता है ।

इसी तादात्म्य सम्बन्ध से आत्मा की विकल्प स्वरूप अर्थग्रहण के संचेतन को धारण करने वाली शक्ति ही यहाँ ज्ञान मानी गयी है और वही शक्ति ज्ञप्ति क्रिया का करण कही गयी है, ऐसा कहना कथंचित् विरुद्ध भी नहीं है अर्थात् ज्ञान का और शक्ति का अभेद है तो प्रमाणज्ञान के समान लब्धिरूप शक्ति भी प्रमिति का करण बन जाती है ॥२२॥

कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से शक्ति और शक्तिमान में सर्वथा भेद का निषेध कर देने पर करणरूप से निर्दिष्ट अंतरंग बहिरंग अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण करने वाली ज्ञानशक्ति आत्मा की है- ऐसा कहना कथंचित् विरुद्ध भी नहीं है । (ज्ञानशक्ति आत्मा से कथंचित् अभिन्न है)

१. जैसे पुद्गल और रूप उस का क्योंकि पुद्गल भी मूर्तिमान् है और उसकी गुण और पर्यायें भी मूर्तिमान् हैं । अमूर्त जीव, धर्म, अधर्म आदि के स्वकीय-स्वकीय गुण-पर्यायों का तादात्म्य सम्बन्ध अमूर्तिक है, आकाशादि सर्वगत पदार्थों का तादात्म्य सर्वगत है ।

प्रत्यक्षत्वप्रसंगादनुमेयत्वविरोधः । प्रमाणबाधितं च शक्तेः प्रत्यक्षत्वं । तथाहि-ज्ञानशक्तिर्न प्रत्यक्षास्मदादेः शक्तित्वात् पावकादेर्दहनादिशक्तिवत् । न साध्यविकलमुदाहरणं पावकादिदहनादिशक्तेः प्रत्यक्षत्वे कस्यचित्तत्र संशयानुपपत्तेः । यदि पुनरप्रत्यक्षा ज्ञानशक्तिस्तदा तस्याः करणज्ञानत्वे प्रभाकरमतसिद्धिः, तत्र करणज्ञानस्य परोक्षत्वव्यवस्थितेः फलज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वोपगमात् ।

ततः प्रत्यक्षं करणज्ञानमिच्छतां न तच्छक्तिरूपमेवितव्यं स्याद्वादिभिरिति चेत् । तदनुपपन्नं । एकान्ततोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वस्य करणज्ञानेऽन्यत्र वा वस्तुनि प्रतीतिविरुद्धत्वेनानभ्युपगमात् । द्रव्यार्थतो हि ज्ञानमस्मदादेः प्रत्यक्षं, प्रतिक्षणपरिणामशक्त्यादिपर्यायार्थतस्तु न प्रत्यक्षं । तत्र स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वसंविदितं फलं प्रमाणाभिन्नं वदतां करणज्ञानं प्रमाणं कथमप्रत्यक्षं नाम ?

न च येनैव रूपेण तत्प्रमाणं तेनैव फलं, येन विरोधः । किं तर्हि? साधकतमत्वेन प्रमाणं

शंका— यदि ज्ञानशक्ति प्रत्यक्ष है तो सकल पदार्थों की शक्ति के प्रत्यक्षत्व का प्रसंग होने से अनुमेयत्व (अनुमान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ) का विरोध होगा । अर्थात् सब पदार्थों के प्रत्यक्ष हो जाने पर अनुमेय पदार्थ नहीं रहेगा अतः शक्ति का प्रत्यक्षत्व प्रमाणबाधित है । इसमें अनुमान का प्रयोग करते हैं- ज्ञान शक्ति हम लोगों के प्रत्यक्ष नहीं है शक्ति होने से, अग्नि आदि की दहन शक्ति के समान । यह दहन शक्ति का उदाहरण साध्यविकल भी नहीं है,^१ क्योंकि पावकादि की दहन शक्ति के प्रत्यक्ष हो जाने पर उसमें किसी का संशय नहीं रहेगा (अतः अनुमान का विषय नहीं रहेगा) । यदि पुनः ज्ञान शक्ति अप्रत्यक्ष है तो उस ज्ञान शक्ति के करणत्व मानने पर प्रभाकर मत की सिद्धि होती है । क्योंकि प्रभाकर मत में ही ज्ञप्ति के करणरूप प्रमाणज्ञान को परोक्ष और फलज्ञान को प्रत्यक्ष माना है । अतः करणज्ञान को प्रत्यक्ष मानने वाले जैनों को करणज्ञान को शक्तिरूप इष्ट नहीं करना चाहिए । उत्तर— इस प्रकार कहना समीचीन नहीं है- क्योंकि हमारे एकान्त रूप से सर्वथा प्रत्यक्ष हो जाना करणज्ञान में वा अन्य घट पट आदि वस्तुओं में प्रतीतिविरुद्ध होने से स्वीकार नहीं किया गया है अतः हम लोगों के द्रव्य की अपेक्षा ज्ञान प्रत्यक्ष है और प्रतिक्षण परिणाम करने वाली शक्ति आदि पर्याय की अपेक्षा प्रत्यक्ष नहीं है- अर्थात् द्रव्य से तो ज्ञान प्रत्यक्ष है, पर्याय से प्रत्यक्ष नहीं है । उसमें स्वार्थव्यवसायात्मक (स्व पर का निर्णय करने वाले) को ज्ञान और प्रमाण से अभिन्न स्वसंविदित को फल कहने वालों के करण रूप प्रमाणात्मक ज्ञान अप्रत्यक्ष कैसे हो सकता है । हम ऐसा भी नहीं कहते हैं कि जिस रूप से प्रमाण है, उसी रूप से फल है; जिससे प्रमाण और फल में एकता होने से विरोध आ सकता है ।

शंका— तो आप कैसा मानते हैं?

१. जिस उदाहरण की साध्य के साथ व्याप्ति न हो, वह साध्यविकल उदाहरण है ।

साध्यत्वेन फलं । साधकतमत्वं तु परिच्छेदनशक्तिरिति प्रत्यक्षफलज्ञानात्मकत्वात् प्रत्यक्षं शक्तिरूपेण परोक्षं । ततः स्यात् प्रत्यक्षं स्यादप्रत्यक्षमित्यनेकांतसिद्धिः । यदा तु प्रमाणाद्विभ्रं फलं हानोपादानोपेक्षाज्ञानलक्षणं तदा स्वार्थव्यवसायात्मकं करणसाधनं ज्ञानं प्रत्यक्षं सिद्धमेवेति न परमतप्रवेशस्तच्छक्तेरपि सूक्ष्मायाः परोक्षत्वात् । तदेतेन सर्वं कर्त्रादिकारकत्वेन परिणतं वस्तु कस्यचित् प्रत्यक्षं परोक्षं च कर्त्रादिशक्तिरूपतयोक्तं प्रत्येयं । ततो ज्ञानशक्तिरपि च करणत्वेन निर्दिष्टा न स्वागमेन युक्त्या च विरुद्धेति सूक्तं ।

आत्मा चार्थग्रहाकारपरिणामः स्वयं प्रभुः ।

ज्ञानमित्यभिसंधान-कर्तृसाधनता मता ॥२३॥

तस्योदासीनरूपत्वविवक्षायां निरुच्यते ।

भावसाधनता ज्ञानशब्दादीनामबाधिता ॥२४॥

ननु च जानातीति ज्ञानमात्मेति विवक्षायां करणमन्यद्वाच्यं, निःकरणस्य कर्तृत्वायोगादिति

उत्तर— जैन लोग प्रमाण को साधकतमत्व^१ से और फल को साध्यत्व रूप से^२ मानते हैं । अर्थात् प्रमाण साधक है और फल साध्य है तथा परिच्छेदन (ज्ञानस्वरूप) शक्ति साधकतमत्व है वह साधकतम प्रत्यक्षफल ज्ञानात्मक होने से प्रत्यक्ष है और शक्ति रूप से परोक्ष है । अतः ज्ञानशक्ति कथंचित् प्रत्यक्ष है और कथंचित् अप्रत्यक्ष है; इस प्रकार अनेकान्त की सिद्धि होती है ।

जब प्रमाण से हानोपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप भिन्न फल स्वीकार करते हैं तब अपने और अर्थ को निश्चय करने स्वरूप करण साधन ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रत्यक्षसिद्ध ही है अतः सूक्ष्म शक्ति के परोक्ष होने से परमत (अन्यमत, प्रभाकर के मत) का प्रवेश नहीं होता । इसलिये इस कर्त्रादि (कर्ता आदि) कारकत्व से परिणत सर्व वस्तु किसी के प्रत्यक्ष है और कर्ता आदि शक्तिरूप से कथित सर्व वस्तु किसी के परोक्ष है, ऐसा समझना चाहिए । अतः करणत्व से निर्दिष्ट ज्ञान शक्ति आगम से और युक्ति से भी कर्ता से अभिन्न विरुद्ध नहीं है । ऐसा कहना युक्त ही है (श्रेष्ठ ही है) ।

अर्थग्रहाकार (ज्ञानाकार) से परिणत स्वयं प्रभु आत्मा ही है (ज्ञान पर्याय से परिणत आत्मा ही जानता है) आत्मा ही ज्ञान है, इस प्रकार कर्तृसाधनता मानी गई है । ज्ञान के उदासीन रूप की विवक्षा करने पर भावसाधन (जानना मात्र ज्ञान है) भी है । अतः ज्ञानादि शब्दों के कर्तृसाधनता, करण साधनता और भाव साधनता अबाधित है ॥२३-२४॥ इसी प्रकार दर्शन और चारित्र में करण, कर्ता और भाव साधन जानना चाहिए ।

शंका— जानता है वह ज्ञान आत्मा ही है, ऐसी विवक्षा करने पर करण तो अन्य ही होना चाहिये क्योंकि करण (साधन) के बिना कर्ता नहीं हो सकता अर्थात् निःकरण के कर्तृता भी नहीं बन सकती ।

१. जिसके द्वारा कार्य सिद्ध किया जाता है वह साधकतम है ।

२. जो सिद्ध होता है वह साध्य है ।

चेन्न । अविभक्तकर्तृकस्य स्वशक्तिरूपस्य करणस्याभिधानात् । भावसाधनतायां ज्ञानस्य फलत्व-
व्यवस्थितेः प्रमाणत्वाभाव इति चेन्न, तच्छक्तेरेव प्रमाणत्वोपपत्तेः ।

तथा चारित्रशब्दोऽपि ज्ञेयः कर्मानुसाधनः ।

कारकाणां विवक्षातः प्रवृत्तेरेकवस्तुनि ॥२५॥

चारित्रमोहस्योपशमे क्षये क्षयोपशमे वात्मना चर्यते तदिति चारित्रं, चर्यतेऽनेन चरणमात्रं
वा चरतीति वा चारित्रमिति कर्मादिताधनश्चारित्रशब्दः प्रत्येयः । ननु च “भूवादिदृग्भ्यो णित्र”
इत्यधिकृत्य “चरेर्वृत्ते” इति कर्मणि णित्रस्य विधानात्, कर्त्रादिसाधनत्वे लक्षणाभाव इति चेत्
न, बहुलापेक्षया तद्भावात् । एतेन दर्शनज्ञानशब्दयोः कर्तृसाधनत्वे लक्षणाभावो व्युदस्तः “युद्ध्य

उत्तर- कर्ता को कार्य करने के लिए भिन्न करण होना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है।
क्योंकि अभिन्न कर्ता (कर्ता और करण जहाँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं) के निज शक्ति रूप को ही करण का
अभिधान किया है। अर्थात्- विभक्त कर्ता और अविभक्त कर्ता के भेद से करण दो प्रकार के हैं- जिसमें
करण और कर्ता पृथक्-पृथक् होते हैं उसे विभक्त कर्तृक करण कहते हैं- जैसे ‘देवदत्त परशु से वृक्ष
को काटता है।’ इसमें परशुरूपकरण देवदत्त रूप कर्ता से भिन्न है। जिसमें कर्ता से अभिन्न करण होता
है उसे अविभक्त कर्तृक करण कहते हैं जैसे अग्नि की उष्णता। उष्णता अग्नि से अभिन्न करण ईंधन को
जलाती है। उसी प्रकार अविभक्त कर्तृक करण आत्मा की शक्ति है- उससे ही आत्मा जानता है। वह
आत्मा से भिन्न नहीं है। शंका- भावसाधन ज्ञान शब्द में ज्ञान के फलत्व की व्यवस्थिति होने से
प्रमाणता का अभाव होगा? उत्तर- ऐसा नहीं कहना- अर्थात् भावसाधन से निष्पन्न ज्ञान में प्रमाणत्व
का अभाव नहीं है- क्योंकि भावसाधन में ज्ञानशक्ति के ही प्रमाणत्व की उपपत्ति होती है।

इस प्रकार (ज्ञान के समान) चारित्र शब्द भी कर्मसाधन, कर्तृसाधन और भावसाधन रूप है,
ऐसा जानना चाहिए- क्योंकि एक ही वस्तु में विवक्षावश कारकों की प्रवृत्ति होती है ॥२५॥

चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय वा क्षयोपशम के सद्भाव में आत्मा आचरण करता है
(कर्तृसाधन) आत्मा के द्वारा आचरण किया जाता है (करण साधन) वा उदासीन रूप से आचरण मात्र
(भावसाधन) है- वह चारित्र कहलाता है, इस प्रकार चारित्र शब्द भी कर्तृ, करण और भाव साधन
से युक्त है, ऐसा जानना चाहिए।

शंका- ‘भूवादिदृग्भ्यो णित्रश्चरेर्वृत्तेः’^१ इस सूत्र से कर्मसाधन में “णित्र” (युद्) प्रत्यय होकर
कर्म साधन बनता है, कर्तृ और भाव साधन नहीं बनता अतः कर्तृ और भावसाधनत्व में लक्षण का
अभाव है। उत्तर- कर्तृ और भाव साधन में लक्षण का अभाव है। ऐसा नहीं कहना क्योंकि बहुलता
से व्याकरण शास्त्र में कर्मसाधन में कहे गये ‘युद् और णित्र’ प्रत्यय कर्ता आदि सभी साधनों में पाये
जाते हैं।

अतः ‘बहुलापेक्षया तद्भावात्’ इस वचन से दर्शन ज्ञान शब्द में ‘कर्तृसाधनत्वे लक्षण का

बहुलं" इति वचनात् तथा दर्शनाच्च । दृश्यते हि करणाधिकरणभावेभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगो यथा निरदंति तदिति निरदनम्, स्यंदतेऽस्मादिति स्यंदनमिति ।

कथमेकज्ञानादि वस्तु कर्त्राद्यनेककारकात्मकं विरोधात् इति चेन्न, विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तेरेकत्राप्यविरोधात् । कुतः पुनः कस्येति कारकमावसति विवक्षा कस्यचिदविवक्षेति चेत्—

विवक्षा च प्रधानत्वाद्भूतुरूपस्य कस्यचित् ।

तदा तदन्यरूपस्याविवक्षा गुणभावतः ॥२६॥

नन्वसदेव रूपमनाद्यविद्यावासनोपकल्पितं विवक्षेतरयोर्विषयो न तु वास्तवं रूपं यतः परमार्थसती षट्कारकी स्यादिति चेत् ।

भावस्य वासतो नास्ति विवक्षा चेतुरपि वा ।

प्रधानेतरतापायाद्गुणान्भोरुहादिवत् ॥२७॥

अभाव है' इस बात का खण्डन कर दिया गया है- क्योंकि व्याकरण शास्त्र में 'युड्व्या बहुलं' इस सूत्र से कर्म में कहे गये 'युद्' और 'णित्र' प्रत्यय कर्तृसाधन में भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार करण अधिकरण भाव से भिन्न कारकों में भी 'युद्' प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है। जैसे कि जो नहीं खाया जाता है- वह निरदन, जिससे चलना होता है, वह स्यन्दन, इत्यादि; इस प्रकार सातों ही विभक्ति से होने वाले शब्दों में 'युद्' प्रत्यय होता है।

विवक्षाकथन

प्रश्न- विरोध होने से एक ज्ञानादि वस्तु कर्तृ आदि अनेक कारकात्मक कैसे हो सकती है? अर्थात् एक ज्ञानादि वस्तु में कर्तृ आदि कारकों के रहने का विरोध है।^१

उत्तर- एक ही ज्ञानादि वस्तु का कर्तृ आदि अनेक कारकात्मक होने में कोई दोष नहीं है क्योंकि विवक्षावश कारकों की प्रवृत्ति होती है, अतः अविरोध है।

प्रश्न- पुनः, क्यों किसके कारक की विवक्षा होती है और किसके अविवक्षा होती है?

उत्तर- किसी वस्तु के स्वरूप की प्रधानता होने से किसी भी एक स्वरूप की विवक्षा होती है और अन्य किसी स्वरूप की गौणता होने से अविवक्षा होती है ॥२६॥

शंका- विवक्षा अविवक्षा का रूप अनादि अविद्या की वासना से कल्पित होने से असत् है और उनका विषय भी अवास्तव है, वास्तव नहीं है। षट् कारक की प्रवृत्ति तो परमार्थ होती है- अर्थात् षट् कारक की प्रवृत्ति परमार्थ है और विवक्षा और अविवक्षा अपरमार्थ है- अपरमार्थ से परमार्थ में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर- प्रधान और गौण का अभाव होने से आकाश के फूल के समान असत् (अभावरूप) पदार्थ के विवक्षा और अविवक्षा नहीं है ॥२७॥

प्रधानेतरताभ्यां विवक्षेतरयोर्व्याप्तिवत्त्वात् पररूपादिभिरिव स्वरूपादिभिरप्यसत्तद-
भावात्तदभावसिद्धिः ।

सर्वथैव सतोऽनेन तदभावो निवेदितः ।

एकरूपस्य भावस्य रूपद्वयविरोधतः ॥२८॥

न हि सदेकान्ते प्रधानेतररूपे स्तः । कल्पिते स्त एवेति चेन्न, कल्पितेतररूपद्वयस्य
सत्ताद्वैतविरोधिनः प्रसंगात् । कल्पितस्य रूपस्यासत्त्वादकल्पितस्यैव सत्त्वान्न रूपद्वयमिति चेत्तर्ह्यसतां
प्रधानेतररूपे विवक्षेतरयोर्विषयतामास्कन्दत इत्यायातं, तच्च प्रतिक्षिप्तं । स्याद्वादिनां तु नायं दोषः ।
चित्रैकरूपे वस्तुनि प्रधानेतररूपद्वयस्य स्वरूपेण सतः पररूपेणासतो
विवक्षेतरयोर्विषयत्वाविरोधात् ।

प्रधान और गौण के साथ विवक्षा और अविवक्षा की व्याप्ति है- अर्थात् प्रधान और गौण के
होने पर ही विवक्षा और अविवक्षा की सिद्धि होती है । परस्वरूप के समान स्वस्वरूप के भी असत्
(अभाव) होने से गौण-मुख्य का अभाव है और गौण-मुख्य के अभाव में विवक्षा और अविवक्षा का
भी अभाव सिद्ध होता है । (विवक्षा और अविवक्षा व्याप्य है और प्रधानता और गौणता धर्म व्यापक
हैं ।)

इसी हेतु से पदार्थ के सर्वथा (एकान्त से) सत् के मुख्य और गौण के अभाव का वर्णन किया
है- अर्थात् सर्वथा (सभी पदार्थ की अपेक्षा सत्) के प्रधान गौण का अभाव होने से विवक्षा एवं
अविवक्षा नहीं बन सकती । क्योंकि एक रूप पदार्थ के दो रूप का विरोध है ॥२८॥

‘पदार्थ अस्ति ही है’ इस एकान्त सत् में भी प्रधान और अप्रधान का वर्णन नहीं हो सकता तथा
प्रधान और गौण तो कल्पित हैं ऐसा भी नहीं कह सकते- क्योंकि सत्ताद्वैत (सत्ता को ही मानने वालों)
का विरोधी कल्पित और अकल्पित रूप द्वैत का प्रसंग आता है । यदि कहो कि कल्पित रूप के असत्त्व
और अकल्पित के ही सत्त्व होने से दो रूप (सत्ता द्वैत) का प्रसंग नहीं आयेगा, तो असत् (नास्ति रूप)
भी प्रधान और अप्रधान रूप में विवक्षा और अविवक्षा के विषय को प्राप्त होता है, यह सिद्ध हो ही
गया । इन सब का खण्डन भी पूर्व में कर दिया गया है ।

ये सर्वदोष स्याद्वाद मत (जैनमत) में नहीं आ सकते क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु में अपने
द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा सत् और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा असत् इस मुख्य गौण रूप
दोनों की विवक्षा और अविवक्षा में विषयत्व का अविरोध है । अर्थात् एक ही वस्तु स्वरूप की अपेक्षा
अस्ति है और पर-रूप की अपेक्षा नास्ति है अतः एक को गौण और दूसरे को मुख्य की विवक्षा करके
कथन करने में एक की विवक्षा दूसरे की अविवक्षा सिद्ध हो ही जाती है ।

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनंतधर्मिणि ।

सतो विशेषणस्यात्र नासतः सर्वथोदिता ॥२९॥

न सर्वथापि सतो धर्मस्य नाप्यसतोऽनंतधर्मिणि वस्तुनि विवक्षा चाविवक्षा च भगवद्भिः समन्तभद्रस्वामिभिरभिहितास्मिन् विचारे, किं तर्हि? कथंचित् सदसदात्मन एव प्रधानताया गुणतायाश्च सद्भावात् ।

कुतः कस्यचिद्रूपस्य प्रधानेतरता च स्याद्येनासौ वास्तवीति चेत्:-

स्वाभिप्रेतार्थ संप्राप्ति हेतोरेव प्रधानता ।

भावस्य विपरीतस्य निश्चीयेताप्रधानता ॥३०॥

नैवातः कल्पनामात्रवशतोऽसौ प्रवर्तिता ।

वस्तुसामर्थ्यसंभूततनुत्वादर्थदृष्टिवत् ॥३१॥

कर्तृपरिणामो हि पुंसो यदा स्वाभिप्रेतार्थसंप्राप्तेर्हेतुस्तदा प्रधानमन्यदात्वप्रधानं स्यात्, तथा करणादिपरिणामोऽपि । ततः न प्रधानेतरता कल्पनामात्रात्प्रवर्तितास्या वस्तुसामर्थ्यायत्तत्वादर्थदर्शनवत् ।

स्याद्वाद मत में अनन्त धर्म वाले विशेष्य में सर्वथा असत् या असत् विशेषण के विवक्षा और अविवक्षा नहीं कही गई है ॥२९॥

इस विवक्षा और अविवक्षा के विचार में भगवान् समन्तभद्र स्वामी ने सर्वथा (एकान्ततः) सत् (अस्ति) वा असत् (नास्ति) धर्म की अनन्त धर्मात्मक वस्तु में विवक्षा वा अविवक्षा नहीं कही है। शंका- तो फिर कैसे कही है? उत्तर- अनन्त धर्मात्मक वस्तु में कथंचित् सत् रूप और कथंचित् असत् रूप तदात्मक धर्म का ही प्रधानता और गौणता से सद्भाव माना है। अर्थात् कथंचित् वस्तु सत् रूप है कथंचित् असत् रूप है। स्व-पर रूप अपेक्षा से उसमें गौण मुख्यता की विवक्षा से वर्णन किया गया है।

शंका- किसी रूप की प्रधानता और किसी रूप (धर्म) की अप्रधानता क्यों होती है जिससे विवक्षा और अविवक्षा वास्तविक होती है? उत्तर- यहाँ अपने अभिप्रेत (इच्छित) अर्थ की प्राप्ति में कारणभूत धर्म की प्रधानता होती है और इससे विपरीत धर्म की अप्रधानता (गौणता) कही गई है। अतः पदार्थ के दर्शन के समान वस्तु के स्वभावभूत सामर्थ्य से प्रधानता और अप्रधानता का शरीर उत्पन्न (संभूततनु) होने से यह विवक्षा (वक्ता की इच्छा) और अविवक्षा कल्पना मात्र से प्रवर्तित नहीं है ॥३०-३१॥

क्योंकि जिस समय आत्मा का कर्तारूप परिणाम अपने इच्छित पदार्थ की प्राप्ति में कारण होता है उस समय वह प्रधान-मुख्य कहलाता है, तथा उससे भिन्न काल में (इच्छित पदार्थ की प्राप्ति में कारण नहीं होता है उस समय) वह अप्रधान (गौण) कहलाता है। इसी प्रकार करण-कारकादि भी समझने चाहिए। अतः पदार्थ के दर्शन की तरह वस्तुसामर्थ्य के आधीन होने से विवक्षा, अविवक्षा की प्रधानता और अप्रधानता कल्पना मात्र से प्रवर्तित नहीं है।

नन्वभिप्रेतोऽर्थो न परमार्थः सन्मनोराज्यादिवत्ततः तत्संप्राप्त्यप्राप्ति न वस्तुरूपे यतस्तद्धेतुकयोः प्रधानेतरभावयोर्वस्तुसामर्थ्यसंभूततनुत्वं सिद्ध्यत् तयोर्वास्तवतां साधयेत् इति चेत् । स्यादेवम्, यदि सर्वोऽभिप्रेतोऽर्थोऽपरमार्थः सन् सिद्ध्येत् । कस्यचिन्मनोराज्यादेरपरमार्थत्वसत्त्व-प्रतिपत्तेरबाधिताभिप्रायविषयीकृतस्याप्यपरमार्थसत्त्वसाधने चन्द्रद्वयदर्शनविषयस्यावस्तुत्वसंप्रत्ययादबाधिताखिलदर्शनविषयस्यावस्तुत्वसाध्यतामभिप्रेतत्वदृष्टत्वहेतोरविशेषात् । स्वसंवेदनविषयस्य च स्वरूपस्य कुतः परमार्थसत्त्वसिद्धिर्यतः संवेदनाद्वैतं चित्राद्वैतं वा स्वरूपस्य स्वतो गतिं साधयेत् । यदि पुनः स्वरूपस्य स्वतोऽपि गतिं नेच्छेत्तदा न स्वतः संवेद्यते नापि परतोऽस्ति च तदिति किमधशीलवचनं । न स्वतः

शंका- अभिप्रेत अर्थ (इष्ट पदार्थ) परमार्थ सत् नहीं है- मनोराज्य के समान । जिस प्रकार मानसिक विकल्प परमार्थ (वास्तविक) नहीं होते उसी प्रकार अभिप्रेत अर्थ भी वास्तविक नहीं है । अभिप्रेत अर्थ वास्तविक नहीं होने से उसकी प्राप्ति और अप्राप्ति भी वास्तविक नहीं है । जिससे अभिप्रेत वस्तु की प्राप्ति और अप्राप्ति हेतुक प्रधानता और अप्रधानता की वस्तुसामर्थ्यसंभूत (वस्तु के सामर्थ्य से उत्पन्न) शरीरत्व की सिद्धि करता हुआ प्रधानता और अप्रधानता की वास्तविकता को सिद्ध कर सके अर्थात् कारण के अवास्तविक होने से उसका कार्य वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकता ?

उत्तर- आचार्य उत्तर देते हैं कि यदि सर्व ही अभिप्रेत अर्थ अपरमार्थ भूत हो तो तुम्हारा कथन सिद्ध हो सकता है (अन्यथा नहीं, परन्तु ऐसा है नहीं) क्योंकि किसी मानसिक विकल्प के अपरमार्थ सत्त्व की प्रतिपत्ति से, अबाधित अभिप्राय के द्वारा विषयीकृत को भी अपरमार्थ साधन में, दो चन्द्रमा के दर्शन विषय के अवस्तुत्व संप्रत्यय (ज्ञान) से अबाधित अखिल दृष्टिगोचर होने वाली वस्तु के अवस्तुत्व सिद्ध होगा क्योंकि अभिप्रेतत्व और दृष्टत्व इस हेतु में कोई विशेषता नहीं है । अर्थात् सभी अभिप्रेतार्थ को मनोराज्य के समान अवस्तु हो जाने पर जैसे दो चन्द्रमा का दिखना अवस्तु है उसी प्रकार सत्य चन्द्रमा दर्शन भी अपरमार्थ हो जायेगा । क्योंकि अभिप्रेतत्व सभी समान है ।

अथवा- सभी अभिप्रेतार्थ मनोराज्य के समान अपरमार्थ कहने वालों के स्वसंवेदन और स्वरूप की परमार्थ सत्त्व सिद्धि किससे होगी, जिससे संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत और स्वरूप की गति को स्वतः सिद्ध किया जा सके ।

यदि पुनः स्वरूप की स्वतः गति (स्वरूप का जानना स्वतः) नहीं होती है ऐसा मानते हो तो जिसका संवेदन स्वतः नहीं होता है, उसका संवेदन पर से भी नहीं है- फिर 'वह है' ऐसे अधशील (पापशील, असत्य) वचनों से क्या प्रयोजन है?

संवेद्यते संवेदनं नापि परतः किन्तु संवेद्यत एवेति तस्य सत्त्ववचने, न क्रमान्नित्योऽर्थः कार्याणि करोति नाप्यक्रमात् किं तर्हि? करोत्येवेति ब्रुवाणः कथं प्रतिक्रियते? नैकदेशेन स्वावयवेष्ववयवी वर्तते नापि सर्वात्मना किन्तु वर्तते एवेति च। नैकदेशेन परमाणुः परमाण्वन्तरैः संयुज्यते नापि सर्वात्मना किं तु संयुज्यत एवेत्यपि ब्रुवन्न प्रतिक्रियाहोऽनेनापादितः।

यदि पुनः क्रमाक्रमव्यतिरिक्तप्रकारासंभवात्ततः कार्यकारणादेरयोगादेवं ब्रुवाणस्य प्रतिक्रियते तदा स्वपरव्यतिरिक्तप्रकाराभावात् ततः संवेदनं संवेद्यत एवेत्यप्रतिक्रियाहः सिद्ध्येत्। संवेदनस्य प्रतिक्रिये सकलशून्यता सर्वस्यानिष्टा स्यादिति चेत्, समानमन्यत्रापि। ततः स्वयं संवेद्यस्य

स्वतः ही सत्त्व का संवेदन नहीं होता है, और परतः भी नहीं होता है परन्तु संवेदन होता है, ऐसा कहकर पदार्थ के सत्त्व का सिद्ध करने वाले “नित्य पदार्थों में क्रम से भी कार्य (क्रिया) नहीं होता है और अक्रम से भी नहीं होता है परन्तु कार्य होते हैं” ऐसा कहने वालों का निराकरण कैसे कर सकते हैं?

“अपने अवयवों में अवयवी एकदेश से भी नहीं रहता है और सर्वदेश से भी नहीं रहता है, तथा परमाणु एकदेश से भी परमाणु अन्तर के (दूसरे परमाणु के) साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता है और सर्वदेश के द्वारा भी परमाणु अन्तर के सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता है परन्तु दूसरे परमाणु के साथ सम्बन्ध को प्राप्त अवश्य होता है- इसी प्रकार स्व और पर से संवेदन न होते हुए भी वस्तु है” इस प्रकार कहने वाला भी हमारी बात का खण्डन नहीं कर सकता क्योंकि ऊपर कथित हेतु से इसका खण्डन कर दिया गया है। यदि पुनः क्रम और अक्रम से अतिरिक्त कार्यों के कर देने या पर्यायों के प्रकट होने का दूसरा कोई उपाय नहीं सम्भवता है और नित्य पक्ष में पदार्थ से कार्य-कारण का अयोग है (अर्थात् नित्य पदार्थ के कार्य-कारण भाव नहीं होता है) ऐसा कहकर उसका (सांख्य का) खण्डन निराकरण किया जाता है तो संवेदन के जानने का स्व-पर से व्यतिरिक्त (भिन्न) प्रकारान्तर का अभाव होने से संवेदन भी संवेद्य नहीं (संवेदन का संवेदन नहीं) होता, ऐसी दशा में आपका (बौद्धों का) संवेदन भी खण्डन करने योग्य नहीं है, ऐसा सिद्ध नहीं होता है।

यदि (बौद्ध) कहें कि संवेदन की सत्ता का लोप कर देने पर तो सब के अनिष्ट सकलशून्यता (सर्वपदार्थों से रहितता) हो जायेगी तो स्वाभिप्रेत अर्थ को भी अवास्तव मान लेने पर सब को अनिष्ट सकलशून्यता हो जायेगी- क्योंकि संवेदन में और स्वाभिप्रेतार्थ में समानता ही है। इसलिए सर्वथा विशेषता (संवेदन और अभिप्रेतार्थ में विशेषता) का अभाव होने से स्वयं संवेद्य और दृष्टिगोचर होने वाले रूपादि के परमार्थ सत्त्व स्वीकार करने वालों को अव्यभिचारी (वास्तव रूप से दृष्टिगोचर होने वाले परमार्थ सत्त्व) अभिप्रेतार्थ का भी खण्डन नहीं करना चाहिए। तथा सुनय विषय वाले स्वाभिप्रेतार्थ के परमार्थ सत्त्व में, उसकी प्राप्ति और अप्राप्ति के वास्तव रूप सिद्ध हो जाने पर तद्धेतुक (स्वाभिप्रेतार्थ

दृश्यस्य वा रूपादेः परमार्थसत्त्वमुपयताभिप्रेतस्याप्यव्यभिचारिणस्तत्र प्रतिक्षेपव्यं, सर्वथा विशेषाभावात्। परमार्थसत्त्वे च स्वाभिप्रेतार्थस्य सुनयविषयस्य तत्संप्राप्त्यसंप्राप्ती वस्तुरूपे सिद्धे तद्धेतुकयोश्च प्रधानेतरभावयोः वस्तुसामर्थ्यसंभूततनुत्वं नासिद्धं यतस्तयोर्वास्तवत्वं न साधयेदिति। तत्र विवक्षा चाविवक्षा च न निर्विषया येन तद्वशादेकत्र वस्तुन्यनेककारकात्मकत्वं न व्यवतिष्ठेत्।

निरंशस्य च तत्त्वस्य सर्वथानुपपत्तिः।

नैकस्य बाध्यतेऽनेककारकत्वं कथंचन ॥३२॥

नात्मादितत्त्वे नानाकारकात्मता वास्तवी तस्य निरंशत्वात्, कल्पनामात्रादेव तदुपपत्तेरिति न शङ्कनीयं, बहिरंतर्वा निरंशस्य सर्वथार्थक्रियाकारित्वायोगात्। परमाणुः कथमर्थक्रियाकारीति चेन्न, तस्यापि सांशत्वात्। न हि परमाणोरंश एव नास्ति द्वितीयाद्यंशाभावाच्चिरन्वयत्ववचनात्। न च यथा परमाणुरेकप्रदेशमात्रस्तथात्मादिरपि शक्यो वक्तुं सकृन्नानादेशव्यापित्वविरोधात्। तस्य

की संप्राप्ति और असंप्राप्ति के कारण से सिद्ध होने वाले) प्रधान (मुख्य) और अप्रधान (गौण) भाव के वस्तु सामर्थ्य संभूततनुत्वं असिद्ध नहीं है, जिससे उन दोनों के वास्तविकता सिद्ध न हो- अर्थात् प्रधान और अप्रधान का कारण अभिप्रेतार्थ की संप्राप्ति एवं असंप्राप्ति वास्तविक है तो उनका कार्य प्रधान और अप्रधान भी परमार्थ सत् है (वास्तविक है) जब प्रधान और अप्रधान वास्तविक हैं तो उनको सिद्ध करने वाली विवक्षा और अविवक्षा भी निर्विषया (किसी का विषय नहीं करने वाली) नहीं है- जिससे उस विवक्षा-अविवक्षा के वश से (कारण से) एक ही वस्तु में अनेक कारकत्व नहीं रह सकता हो- अर्थात् गौण और मुख्य की अपेक्षा से एक ही वस्तु में छहों कारक सिद्ध हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।

अतः निरंश (अंश रहित) तत्त्व की सर्वथा अनुपपत्ति (अभाव) होने से कथंचित् एक ही वस्तु के अनेककारकत्व बाधित नहीं है ॥३२॥

(बौद्धों को) ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए कि निरंश होने से आत्मादि तत्त्व में नानाकारकत्व वास्तविक नहीं है अपितु एक ही आत्मादि वस्तु में नानाकारकपना कल्पना मात्र से उत्पन्न होता है क्योंकि सर्वथा निरंश वस्तु के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों ही कारणों से क्रियाकारित्व का अयोग है।

प्रश्न- (बौद्ध) यदि निरंश वस्तु में क्रियाकारित्व का अयोग कहते हो तो निरंश परमाणु अर्थक्रिया को करने वाले कैसे हैं?

उत्तर- ऐसा कहना युक्त नहीं है- क्योंकि परमाणु के भी अंश सहितता है। दो आदि अंश का अभाव होने से वा निरवयवत्व का कथन होने से परमाणु के सर्वथा निरंशत्व नहीं है और जैसे परमाणु एकदेश मात्र है वैसे आत्मा आदि द्रव्य भी एकप्रदेश मात्र है, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि एकप्रदेशी एक साथ नानादेशव्यापी नहीं हो सकता है, उसके एक साथ नानादेश-व्याप्तत्व का विरोध है।

विभुत्वान्न तद्विरोध इति चेत्, व्याहतमेतत् । विभुश्चैकप्रदेशमात्रश्चेति न किञ्चित्सकलेभ्योऽशोभ्यो निर्गतं तत्त्वं नाम सर्वप्रमाणगोचरत्वात् खरशृंगवत् । यदा त्वंशा धर्मास्तदा तेभ्यो निर्गतं तत्त्वं न किञ्चित् प्रतीतिगोचरता मंचतीति सांशमेव सर्वतत्त्वमन्यथार्थक्रियाविरोधात् ।

तत्र चानेककारकत्वमबाधितमवबुद्ध्यामहे भेदनयाश्रयणात् । तथा च दर्शनादिशब्दानां सूक्तं कर्त्रादिसाधनत्वं ।

पूर्व दर्शनशब्दस्य प्रयोगोऽभ्यर्हिततत्त्वतः ।

अल्पाक्षरादपि ज्ञानशब्दाद् द्वंद्वोऽत्र सम्मतः ॥३३॥

दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्राणीति इतरेतरयोगे द्वंद्वे सति ज्ञानशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसक्तिरल्पाक्षरत्वादिति न चोद्यं, दर्शनस्याभ्यर्हितत्वेन ज्ञानात्पूर्वप्रयोगस्य संमतत्वात् । कुतोऽभ्यर्हो दर्शनस्य न पुनर्ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिनिबन्धनस्येति चेत्,-

ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्हो दर्शनस्य हि ।

तदभावे तदुद्धूतेरभावाद्दूरभव्यवत् ॥३४॥

विभु होने से आत्मा एक साथ नाना देशों में व्याप्त हो जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते- इसका पूर्व में खण्डन किया है कि आत्मा सर्वव्यापी विभुद्रव्य है। और विभु एकप्रदेश मात्र द्रव्य भी नहीं है क्योंकि सर्व अंशों से रहित कोई भी द्रव्य प्रतीतिगोचर नहीं हो रहा है अपितु सर्व ही सत्त्व सांश ही प्रतीत हो रहे हैं- अन्यथा (सांश न होने से) अर्थक्रियाकारित्व का विरोध आता है। अतः एक ही वस्तु में भेदनय के आश्रय से अनेककारकत्व अबाधित हम जानते हैं (अबाधित सिद्ध होता है।) और एक ही वस्तु में युक्तिपूर्वक अनेककारकत्व सिद्ध हो जाने पर दर्शन आदि शब्दों के कर्तृ साधन-करण साधन एवं भावसाधन कहना युक्त (अबाधित) ही है। इस प्रकार शब्दशास्त्र के अनुसार आदिसूत्र में कहे हुए शब्दों की निरुक्ति करके अभीष्ट अर्थ को निकालने का प्रकरण पूर्ण हुआ।

ज्ञान से पूर्व दर्शन शब्द के प्रयोग का कारण

इस सूत्र में द्वन्द्व समास से युक्त अल्प अक्षर वाले भी ज्ञान शब्द से पूर्व दर्शन शब्द का प्रयोग पूज्य होने से किया गया है ॥३३॥ दर्शन, ज्ञान और चारित्र शब्द में इतरेतर योग में द्वन्द्व समास होने पर अल्प अक्षर वाले ज्ञान शब्द का सूत्र में प्रथम निपात (प्रयोग) करना चाहिए, ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए- क्योंकि अल्प अक्षर से भी जो पूज्य होता है, उसका पूर्व निपात होता है और ज्ञान से दर्शन पूज्य होता है अतः दर्शन का प्रयोग पूर्व में किया है, यह ठीक ही है।

प्रश्न- सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि के साधनभूत ज्ञान की अपेक्षा दर्शन में पूज्यता कैसे है?

उत्तर- ज्ञान में 'सम्यग्' शब्द का (सम्यक्त्व का) हेतुत्व होने से दर्शन के पूज्यता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान का अभाव है, जैसे दूरभव्य के सम्यग्दर्शन आदि का अभाव है ॥३४॥

इदमिह संप्रधार्य ज्ञानमात्रनिबन्धना सर्वपुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धना वा? न तावदाद्यः पक्षः, संशयादिज्ञाननिबन्धत्वानुषंगात्, सम्यग्ज्ञाननिबन्धना चेत्, तर्हि ज्ञानसम्यक्त्वस्य दर्शनहेतुकत्वात् तत्त्वार्थश्रद्धानमेवाभ्यर्हितं। तदभावे ज्ञान सम्यक्त्वस्यानुद्भूतेदूरभव्यस्येव। न चेदमुदाहरणं साध्यसाधनविकलमुभयोः संप्रतिपत्तेः। नन्विदमयुक्तं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वं दर्शनसम्यग्ज्ञानयोः सहचरत्वात्, सव्येतरगोविषाणवद्धेतुहेतुमद्धावाघटनात्। तत्त्वार्थश्रद्धानस्याविर्भावकाले सम्यग्ज्ञानस्याविर्भावतत्तद्धेतुरिति चासंगतं, सम्यग्ज्ञानस्य तत्त्वार्थ-श्रद्धानहेतुत्वप्रसंगात्। मत्यादिसम्यग्ज्ञानस्याविर्भावकाल एव तत्त्वार्थश्रद्धानस्याविर्भावात्। ततो न दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हितत्वं ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वाव्यवस्थितेरिति कश्चित्। तदसत्। अभिहितानवबोधात्। न हि सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वादर्शनस्याभ्यर्होऽभिधीयते। किं तर्हि?

अथवा हम पूछते हैं कि सर्वार्थसिद्धि ज्ञान मात्र के निमित्त से होती है कि सम्यग्ज्ञान से होती है- इनमें आदि पक्ष (ज्ञान मात्र) तो मानना ठीक नहीं है- क्योंकि सामान्य ज्ञान मात्र से सर्वार्थसिद्धि मान लेने पर संशयादि ज्ञान के कारण भी सर्वार्थसिद्धि का प्रसंग आयेगा। यदि कहो कि सम्यग्ज्ञान से सर्वार्थसिद्धि होती है- तो ज्ञान में सम्यक्त्व का हेतु दर्शन होने से तत्त्वार्थ श्रद्धान ही पूज्य है। श्रद्धान के अभाव में सम्यग् ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे दूरभव्य को सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति नहीं होती है। दूरभव्य का उदाहरण साध्य-साधन विकल भी नहीं है क्योंकि वादी और प्रतिवादी दोनों का ही इसमें विवाद नहीं है।

शंका- कोई कहता है कि- तत्त्वार्थ श्रद्धान को ज्ञान की समीचीनता का हेतु कहना उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं; जैसे गाय का दायँ और बायाँ सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं अतः इनमें हेतुहेतुमत् भाव नहीं है। उसी प्रकार एक साथ उत्पन्न होने से दर्शन और ज्ञान में भी हेतुहेतुमद् (कारण कार्य) भाव नहीं है। तथा तत्त्वार्थश्रद्धान के उत्पत्तिकाल में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का हेतु है, ऐसा भी कहना असंग (ठीक नहीं) है। ऐसा कहने पर तो सम्यग्ज्ञान के भी तत्त्वार्थ श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) के हेतुत्व का प्रसंग आता है- अर्थात् सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन का हेतु होता है क्योंकि मति आदि सम्यग्ज्ञान के उत्पत्ति काल में ही तत्त्वार्थश्रद्धान उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान में सम्यक्त्व के हेतु की अव्यवस्था होने से (सम्यग्ज्ञान में सम्यग्दर्शन के हेतु सिद्ध नहीं होने से) ज्ञान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन पूज्य नहीं हो सकता।

उत्तर- इस प्रकार शंका करना असत् (अनुचित) है- क्योंकि इस प्रकार कहने वाले ने आचार्य के अभिप्राय को नहीं समझा। आचार्य ऐसा नहीं कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति का कारण होने से सम्यग्दर्शन के पूज्यता कही जाती है। तो फिर किस लिए सम्यग्दर्शन को पूज्य कहते हो? उत्तर-

ज्ञानसम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात् । पूर्वं हि दर्शनोत्पत्तेः साकारग्रहणस्य मिथ्याज्ञानव्यपदेशो मिथ्यात्वसहचरित्वेन यथा, तथा दर्शनमोहोपशमादेर्दर्शनोत्पत्तौ सम्यग्ज्ञानव्यपदेश इति । नन्वेवं सम्यग्ज्ञानस्य दर्शनसम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्होऽस्तु मिथ्याज्ञानसहचरितस्यार्थश्रद्धानस्य मिथ्यादर्शनव्यपदेशात् । मत्यादिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मत्यादिज्ञानोत्पत्तौ तस्य सम्यग्दर्शनव्यपदेशात् । न हि दर्शनं ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशनिमित्तं न पुनर्ज्ञानं दर्शनस्य सहचारित्वाविशेषादिति चेत् न । ज्ञानविशेषापेक्षया दर्शनस्य ज्ञानसम्यक्त्वव्यपदेशहेतुत्वसिद्धेः । सकलश्रुतज्ञानं हि केवलमनःपर्ययज्ञानवत् प्रागुद्धृतसम्यग्दर्शनस्यैवाविर्भवति न मत्यादिज्ञानसामान्यवद्दर्शनसहचारीति सिद्धं ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वं दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हसाधनं । ततो दर्शनस्य पूर्वं प्रयोगः । कश्चिदाह- ज्ञानमभ्यर्हितं तस्य प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तौ भवांतराभावात्, न तु दर्शनं । तस्य क्षायिकस्यापि नियमेन भवांतराभावहेतुत्वाभावादिति । सोऽपि चारित्रस्याभ्यर्हितत्वं

ज्ञान में सम्यग् व्यपदेश का हेतु होने से सम्यग्दर्शन पूजनीय कहलाता है । क्योंकि जैसे सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने के पूर्व मिथ्यादर्शन का सहचर होने से ज्ञान के 'मिथ्याज्ञान' ऐसा व्यपदेश होता है- उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम आदि से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर ज्ञान के 'सम्यग्ज्ञान' यह व्यपदेश (संज्ञा) हो जाता है ।

प्रश्न- हम ऐसा भी कह सकते हैं कि दर्शन के सम्यक्त्व का हेतुत्व होने से ज्ञान पूजनीय है, क्योंकि मिथ्याज्ञान के साथ होने से तत्त्वार्थश्रद्धान की 'मिथ्यादर्शन' यह संज्ञा होती है- और मति आदि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मति आदि ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर मिथ्यादर्शन के 'सम्यग्दर्शन' यह व्यपदेश (संज्ञा) हो जाता है । अथवा न तो दर्शन, ज्ञान के सम्यग् व्यपदेश का निमित्त है और न ज्ञान, दर्शन के सम्यग् व्यपदेश का निमित्त है क्योंकि दोनों में ही सहचारित्व की अविशेषता है?

उत्तर- ऐसा कहना उचित नहीं है- क्योंकि यहाँ ज्ञान विशेष की अपेक्षा से दर्शन के ज्ञान के सम्यक्त्व व्यपदेश हेतुत्व सिद्ध है अर्थात् विशेष ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान में समीचीनता लाने वाला सम्यग्दर्शन है अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान की समीचीनता का कारण है- क्योंकि जैसे मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान पूर्व में उत्पन्न सम्यग्दर्शन वाले (सम्यग्दृष्टि) के ही होते हैं, उसी प्रकार सकल श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि वाले के ही होता है अतः सामान्य मतिज्ञान आदि के साथ दर्शन के सहचारित्व सिद्ध नहीं है, विशेष ज्ञान के साथ सहचारित्व सिद्ध है ।

इस विशेष ज्ञान की अपेक्षा दर्शन के 'ज्ञान के सम्यक्त्व का हेतुत्व सिद्ध होने से' ज्ञान से दर्शन के पूज्यत्व सिद्ध ही है । इसलिये 'ज्ञान' से पूर्व 'दर्शन' का प्रयोग किया गया है ।

कोई प्रतिवादी प्रश्न करता है कि- ज्ञान ही पूजनीय है क्योंकि ज्ञान के प्रकर्ष (उत्कृष्ट) ता प्राप्त होने पर भवान्तर (संसारभ्रमण) का अभाव हो जाता है अर्थात् वह आत्मा उसी भव से मोक्ष चला जाता है । सम्यग्दर्शन पूजनीय नहीं है- क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने पर भी नियम से भवान्तर के अभाव के हेतुत्व का अभाव है- अर्थात् केवलज्ञानी के समान क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी भव से मोक्ष में जाता है- ऐसा नियम नहीं है ।

ब्रवीतु तत्प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ता भवान्तराभावसिद्धेः । केवलज्ञानस्यानन्तत्वाच्चारित्रादभ्यर्हो न तु चारित्रस्य मुक्तौ तथा व्यपदिश्यमानस्याभावादिति चेत् । तत एव क्षायिकदर्शनस्याभ्यर्होऽस्तु मुक्तावपि सद्भावात् अनन्तत्वसिद्धेः । साक्षाद् भवान्तराभावहेतुत्वाभावाद्दर्शनस्य केवलज्ञानादनभ्यर्हो केवलस्याप्यभ्यर्हो माभूत् तत एव । न हि तत्कालादिविशेषनिरपेक्षं भवान्तराभावकारणमयोगिकेवलचरमसमयप्राप्तस्य दर्शनादित्रयस्य साक्षान्मोक्षकारणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । ततः साक्षात्परम्परया वा मोक्षकारणत्वापेक्षया दर्शनादित्रयस्याभ्यर्हितत्वं समानमिति न तथा कस्यचिदेवाभ्यर्हव्यवस्था येन ज्ञानमेवाभ्यर्हितं स्यात् दर्शनात् । नन्वेवं विशिष्टसम्यग्ज्ञानहेतुत्वेनापि दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हं सम्यग्दर्शनहेतुत्वेन ज्ञानस्य दर्शनादभ्यर्होऽस्तु श्रुतज्ञानपूर्वकत्वादधिगमजसद्दर्शनस्य, मत्त्यवधिज्ञानपूर्वकत्वान्निसर्गजस्येति चेत् । दर्शनोत्पत्तेः पूर्वं श्रुतज्ञानस्य मत्त्यवधिज्ञानयोर्वा अनाविर्भावात् । मत्त्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानपूर्वकत्वात्

उत्तर- इस प्रकार कहने वाले को 'चारित्र के ही पूज्यता है' ऐसा कहना चाहिए क्योंकि चारित्र की परम प्रकर्षता प्राप्त होने पर भवान्तर का अभाव सिद्ध ही है । यदि कहो कि केवलज्ञान अनन्त है अतः वह चारित्र की अपेक्षा पूजनीय है, चारित्र के पूज्यता नहीं है- क्योंकि मुक्त अवस्था में चारित्र के कथन का अभाव है- अर्थात् मुक्त अवस्था में चारित्र का व्यपदेश (कथन) नहीं है- परन्तु केवलज्ञान का कथन है इसलिए अनन्त होने से चारित्र की अपेक्षा ज्ञान पूजनीय है तो हम भी यह कह सकते हैं कि क्षायिक दर्शन सबकी अपेक्षा विशेष आदरणीय है- क्योंकि मुक्ति की अवस्था में क्षायिक दर्शन का सद्भाव होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन के अनन्तत्व सिद्ध ही है । यदि कहो कि साक्षात् भवान्तर के अभाव के हेतुत्व का अभाव होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान से अधिक पूजनीय नहीं है । तो "केवलज्ञान के भी भवान्तराभाव का साक्षात् हेतु न होने से पूज्यता नहीं होगी । क्योंकि साक्षात् भवान्तर के अभाव के हेतुत्व का अभाव दोनों में समान है । कालादि विशेष हेतु निरपेक्ष केवलज्ञान भवान्तर के अभाव का कारण नहीं हो पाता है क्योंकि अयोगकेवली (चौदहवें गुणस्थान) के चरम समय में प्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के ही साक्षात् मोक्ष का कारणत्व है, ऐसा आगे कहेंगे । इसलिए साक्षात् या परम्परा से मोक्षकारणत्व की अपेक्षा सम्यग्दर्शनादि तीनों के पूज्यता समान ही है, इसलिए किसी एक सम्यग्दर्शन आदि के पूज्यता की व्यवस्था नहीं है, जिससे दर्शन की अपेक्षा ज्ञान ही पूजनीय है, ऐसा सिद्ध किया जाय ।

शंका- यदि ऐसा है तो विशिष्ट सम्यग्ज्ञान के हेतुत्व से दर्शन के, ज्ञान की अपेक्षा पूज्य सिद्ध हो जाने पर, सम्यग्दर्शन का हेतुत्व होने से दर्शन की अपेक्षा ज्ञान के भी पूज्यता सिद्ध होती है, क्योंकि श्रुतज्ञान पूर्वक ही अधिगमज सम्यग्दर्शन होता है और मतिज्ञान और अवधिज्ञान पूर्वक निसर्गज सम्यग्दर्शन होता है अतः सम्यग्दर्शन का कारण ज्ञान होने से ज्ञान ही पूज्य है । उत्तर- ऐसा नहीं कहना, क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पूर्व श्रुतज्ञान, मतिज्ञान और अवधिज्ञान की उत्पत्ति का अभाव ही है । सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पूर्व ज्ञान मत्त्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगावधि अज्ञान कहलाता है । तथा इस के मिथ्यात्व का प्रसंग भी नहीं है, क्योंकि इसमें मिथ्यात्व का प्रसंग मानने पर मिथ्याज्ञान पूर्वक होने से सम्यग्ज्ञान के भी मिथ्याज्ञान का प्रसंग आयेगा । अर्थात् मिथ्याज्ञान पूर्वक उत्पन्न यदि सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व है तो मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने से सम्यग्ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो जायेगा ।

प्रथमसम्यग्दर्शनस्य। न च तथा तस्य मिथ्यात्वप्रसंगः सम्यग्ज्ञानस्यापि मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गेः। सत्यज्ञानजननसमर्थान्मिथ्याज्ञानात्सत्यज्ञानत्वेनोपचर्यमाणादुत्पन्नं सत्यज्ञानं न मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते मिथ्यात्वकारणादृष्टाभावादिति चेत्, सम्यग्दर्शनमपि तादृशान्मिथ्याज्ञानादुपजातं कथं मिथ्या प्रसज्यते तत्कारणस्य दर्शनमोहोदयस्याभावात्।

सत्यज्ञानं मिथ्याज्ञानानन्तरं न भवति तस्य धर्मविशेषानन्तरभावित्वादिति चेत्, सम्यग्दर्शनमपि न मिथ्याज्ञानानन्तरभावि तस्याधर्मविशेषाभावानन्तरभावित्वोपगमात्। मिथ्याज्ञानानन्तरभावित्वाभावे च सत्यज्ञानस्य सत्यज्ञानानन्तरभावित्वं सत्यासत्यज्ञानपूर्वकत्वं वा स्यात्? प्रथमकल्पनायां सत्यज्ञानस्यानादित्वप्रसङ्गो मिथ्याज्ञानसंतानस्य चानन्तत्त्वप्रसक्तिरिति प्रतीतिविरुद्धं सत्येतरज्ञानपौर्वापर्यदर्शननिराकरणमायातं।

द्वितीयकल्पनायां तु सत्यज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं सकलज्ञानशून्यस्यात्मनोऽनात्मत्वानुषङ्गो दुर्निवारः तस्योपयोगलक्षणत्वेन साधनात्।

यदि कहो कि सत्यज्ञानजनन सामर्थ्य वाले होने से सत्यज्ञान से उपचर्यमाण (सत्यज्ञान का जिसमें उपचार किया गया है) मिथ्याज्ञान से उत्पन्न सत्य ज्ञान मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है, मिथ्यात्व करणों के अदृष्ट अभाव होने से, तो मिथ्यादर्शन के कारणभूत मोहनीय कर्म के उदय का अभाव होने से, तथा सत्यज्ञानजनन सामर्थ्य वाले सत्यज्ञान से उपचर्यमाण मिथ्याज्ञान से उत्पन्न सम्यग्दर्शन भी मिथ्या कैसे हो सकता है? यदि कहा जाय कि “सम्यग्ज्ञान के धर्म विशेषान्तर भावित्व (विशेष धर्मान्तरों से उत्पत्ति) होने से सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान के अनन्तर (मिथ्याज्ञान के अभाव से) नहीं होता है” तो सम्यग्दर्शन भी मिथ्याज्ञान के अनन्तर भावी नहीं है, ऐसा भी हम कह सकते हैं क्योंकि अधर्म विशेष (अश्रद्धान विशेष) के अभाव में ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

अथवा— मिथ्याज्ञानानन्तर भावित्व के (मिथ्याज्ञान के नाश होने के) अभाव में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति मानते हो या सत्यासत्यज्ञान पूर्वकत्व सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति मानते हो? यदि प्रथम कल्पना (सत्य ज्ञान के सत्यज्ञानानन्तर से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है इस कल्पना) को स्वीकार करते हैं तो सत्यज्ञान के अनादित्व का प्रसंग आयेगा अर्थात् सत्यज्ञान के पहले भी सत्यज्ञान का अस्तित्व था तथा मिथ्याज्ञान की संतति के अनन्त का प्रसंग आयेगा— क्योंकि मिथ्यात्व का अभाव तो सम्यग्ज्ञान से हुआ नहीं। परन्तु सम्यग्ज्ञान की अनादिता और मिथ्याज्ञान की अनन्तता प्रतीतिविरुद्ध है। तथा सत्येतर ज्ञान के पूर्व परदर्शन का निराकरण होता है अर्थात् सत्य पूर्ववर्ती है और असत्य ज्ञान उत्तरवर्ती है, इस बात का निराकरण हो जाता है।

द्वितीय विकल्प मानने पर (सत्यासत्यज्ञान पूर्वक सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है ऐसा मानने पर) सत्यज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व सकल ज्ञान से शून्य होते जाने से आत्मा के अनात्मा का अनुषंग दुर्निवार होगा— क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है और उपयोग रूप ज्ञान का अभाव होने से आत्मा का भी अभाव होगा।

स चानुपपन्नः एवात्मनः प्रसिद्धेरिति 'मिथ्याज्ञानपूर्वकमपि सत्यज्ञानं किञ्चिदभ्युपेयं। तद्वत्सम्यग्दर्शनमपि' इत्यनुपालंभः। क्षायोपशमिकस्य क्षायिकस्य च दर्शनस्य सत्यज्ञान-पूर्वकत्वात्सत्यज्ञानं दर्शनादभ्यर्हितमिति च न चोद्यं, प्रथमसम्यग्दर्शनस्यौपशमिकस्य सत्यज्ञानाभावेऽपि भावात्। नैवं किञ्चित्सम्यग्वेदनं सम्यग्दर्शनाभावे भवति। प्रथमं भवत्येवेति चेत् न, तस्यापि सम्यग्दर्शनसहचारित्वात्। तर्हि प्रथममपि सम्यग्दर्शनं न सम्यग्ज्ञानाभावेऽस्ति तस्य सत्यज्ञानसहचारित्वादिति। न सत्यज्ञानपूर्वकत्वमव्यापि दर्शनस्य, सत्यज्ञानस्य दर्शन-पूर्वकत्ववत्, ततः प्रकृतं चोद्यमेवेति चेन्न। प्रकृष्टदर्शनज्ञानापेक्षया दर्शनस्याभ्यर्हितत्व-वचनादुक्तोत्तरत्वात्। न हि क्षायिकं दर्शनं केवलज्ञानपूर्वकं येन तत्कृताभ्यर्हितं स्यात्। अनन्त-भवप्रहाणहेतुत्वाद्वा सदर्थनस्याभ्यर्हः।

विशिष्टज्ञानतः पूर्वभावाच्चास्यास्तु पूर्ववाक्।

तथैव ज्ञानशब्दस्य चारित्रात् प्राक् प्रवर्तनम् ॥३५॥

आत्मा की प्रसिद्धि होने से हमारा यह कथन असिद्ध भी नहीं है। अतः मिथ्याज्ञान के अभाव पूर्वक ही किञ्चित् (कथञ्चित्) सत्य ज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिए। उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के नाश से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, इसमें कोई उल्लाहना (दोष) नहीं है।

सत्यज्ञानपूर्वक ही क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। अतः सम्यग्दर्शन से सत्यज्ञान अभ्यर्हित (पूजनीय) है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति सत्य ज्ञान के अभाव में ही होती है तथा 'सम्यग्दर्शन के अभाव में किञ्चित् सम्यग्वेदन होता है' ऐसा भी नहीं है।

'सम्यग्दर्शन के पूर्व भी किञ्चित् सम्यग्वेदन होता है' ऐसा भी नहीं है, क्योंकि उसमें भी सम्यग्दर्शन का सहचारित्व है अर्थात् प्रथम सम्यग् वेदन में भी सम्यग्दर्शन का सहचारीपना है।

प्रश्न - सत्यज्ञान का सहचर होने से प्रथम सम्यग्दर्शन तो सत्यज्ञान के अभाव में नहीं हो सकता अतः सत्यज्ञान के सम्यग्दर्शन पूर्वकत्व के समान दर्शन के भी सत्यज्ञानपूर्वकत्व अव्यापी नहीं है (जैसे सम्यग्ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है) उसी प्रकार प्रथम दर्शन (उपशम सम्यग्दर्शन) सम्यग्ज्ञान पूर्वक होता है इसलिए प्रकृत शंका तो बनी रहती है?

उत्तर - ऐसी शंका करना उचित नहीं है- क्योंकि इस सूत्र में प्रकृष्ट दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के पूज्यपना कहा है, ऐसा पूर्व में भी कथन कर चुके हैं।

अथवा, क्षायिकदर्शन केवलज्ञान पूर्वक नहीं होता है। यदि केवलज्ञान पूर्वक होता तो क्षायिक दर्शन से केवलज्ञान को पूज्य कहकर ज्ञान का पूर्व निपात करते। अथवा, अनन्त संसार के नाश का कारण होने से सम्यग्दर्शन पूज्य है इसलिए आचार्य ने सूत्र में सम्यग्दर्शन शब्द का पूर्व में निपात किया है।

अथवा, "विशिष्ट ज्ञान से पहले सम्यग्दर्शन होने से ज्ञान के पूर्व सम्यग्दर्शन और विशिष्ट चारित्र के पूर्व ज्ञान होने से चारित्र के पूर्व ज्ञान का प्रयोग किया है" ॥३५॥

यद्यत्कालतया व्यवस्थितं तत्तथैव प्रयोक्तव्यमार्षान्न्यायादिति क्षायिकज्ञानात्पूर्व-
कालतयावस्थितं दर्शनं पूर्वमुच्यते, चारित्राच्च समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानलक्षणात् सकलकर्म-
क्षयनिबन्धनात् ससामग्रीकात् प्राक्कालतयोद्भवात् सम्यग्ज्ञानं ततः पूर्वमिति निरवद्यो दर्शनादि-
प्रयोगक्रमः ।

प्रत्येकं सम्यगित्येतत्पदं परिसमाप्यते ।

दर्शनादिषु निःशेषविपर्यासनिवृत्तये ॥३६॥

सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति प्रत्येकपरिसमाप्त्या सम्यगिति पदं संबध्यते,
प्रत्येकं दर्शनादिषु निःशेषविपर्यासनिवृत्त्यर्थत्वात्तस्य । तत्र दर्शने विपर्यासमौढ्यादयो मिथ्यात्वभेदाः
शंकादयश्चातीचाराः वक्ष्यमाणाः, संज्ञाने संशयादयः, सच्चारित्रे मायादयः, प्रतिचारित्र-
विशेषमतीचाराश्च यथासंभविनः प्रत्येयाः । तेषु सत्सु दर्शनादीनां सम्यक्त्वानुपपत्तेः । तदेवं
सकलसूत्रावयवव्याख्याने तत्समुदायव्याख्यानात् 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गो' वेदितव्य
इति व्यवतिष्ठते । तत्र किमयं सामान्यतो मोक्षस्य मार्गस्त्रयात्मकः सूत्रकारमतमारूढः किं वा
विशेषतः ? इति शंकायामिदमाह; -

आगम और न्याय के अनुसार जो जिस काल में व्यवस्थित है उसका उसी के अनुसार प्रयोग करना
चाहिए। अतः क्षायिक ज्ञान के पूर्व सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने से सूत्र में सम्यग्दर्शन का प्रथम उल्लेख किया
है। तथा सकल कर्म के क्षय के कारणभूत ससामग्रीक (सम्पूर्ण) समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान लक्षण चारित्र से
पूर्वकाल में उत्पन्न होने से ज्ञान शब्द का चारित्र से प्रथम प्रयोग किया गया है। अतः इस सूत्र में दर्शनादि का
प्रयोगक्रम निर्दोष है।

‘सम्यक्’ पद दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रत्येक के साथ

दर्शन आदि में सम्पूर्ण विपर्यास की निवृत्ति करने के लिए यह सम्यक् पद प्रत्येक में लगा लेना
चाहिए ॥३६॥

दर्शन आदि प्रत्येक में सम्पूर्ण विपर्यास की निवृत्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र
इस प्रकार सम्यक् इस पद की परिसमाप्ति से प्रत्येक के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। (क्योंकि यह सम्यक् पद
ही दर्शनादि के सम्पूर्ण विपर्यासों का निराकरण करने वाला है।) यहाँ सम्यग्दर्शन में मूढता (एकान्त, विपरीत,
अज्ञान, विनय, संशय) आदि मिथ्यात्व के भेद और आगे कहे जाने वाले शंका आदि अतिचार विपर्यास हैं।
संशय, विपरीतता, विमोहादि सम्यग्ज्ञान में विपर्यास हैं और सम्यक्चारित्र में माया आदि विपर्यास है। इसी प्रकार
यथासंभव चारित्र के प्रति विशेष अतिचार भी सम्यक्चारित्र के दोष समझने चाहिए। अर्थात् जो-जो व्रतों के
अतिचार हैं वे सब चारित्र के विपर्यास हैं। क्योंकि इन दोषों के रहने पर सम्यग्दर्शन आदि में समीचीनता नहीं
हो सकती।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इस सूत्र के सकल अवयवभूत सम्यग्दर्शनादि के
व्याख्यान में सकल समुदाय रूप सूत्र का व्याख्यान हो जाने से 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही
मोक्षमार्ग है' ऐसा जानना चाहिए; यह निश्चय हो जाता है।

त्रयात्मक मोक्षमार्ग- सामान्य से या विशेष से

सूत्रकार ने यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप त्रयात्मक मोक्षमार्ग सामान्य से माना
है या विशेष से? इस प्रकार की शंका होने पर आचार्य कहते हैं-

तत्सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्गो विशेषतः ।

सूत्रकारमतारूढो न तु सामान्यतः स्थितः ॥३७॥

कालादेरपि तद्धेतुसामान्यस्याविरोधतः ।

सर्वकार्यजनौ तस्य व्यापारादन्यथास्थितेः ॥३८॥

साधारणकारणापेक्षया हि सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकं मोक्षमार्गमाचक्षाणो न सकलमोक्ष-कारणसंग्रहपरः स्यात् कालादीनामवचनात् । न च कालादयो मोक्षस्योत्पत्तौ न व्याप्रियन्ते, सर्व-कार्यजनने तेषां व्यापारात्, तत्र व्यापारे विरोधाभावात् । यदि पुनः सम्यग्दर्शनादीन्येवेत्यवधारणा-भावात् कालादीनामसंग्रहस्तदा सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्ग इति वक्तव्यं, सम्यग्दर्शनमेवेत्यवधारणा-भावादेव ज्ञानादीनां कालादीनामिव संग्रहसिद्धेस्तत्तद्वचनाद्विशेषकारणापेक्षयायं त्रयात्मको मोक्षमार्गः सूत्रित इति बुद्ध्यामहे ।

पूर्वावधारणं तेन कार्यं नाऽन्यावधारणम् ।

यथैव तानि मोक्षस्य मार्गस्तद्वद्भि संपदः ॥३९॥

सम्यग्दर्शनादि को मोक्षमार्ग विशेष है, सामान्य नहीं; ऐसा सूत्रकार का मत है क्योंकि सर्वकार्य की उत्पत्ति में अविरोध रूप से व्यापार होने से काल आदि के सामान्य हेतु की व्यवस्था है। अर्थात् काल, द्रव्य, क्षेत्र आदि मोक्षमार्ग के सामान्य हेतु व्यवस्थित हैं, यह विशेष है ॥३७-३८॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप त्रयात्मक मोक्षमार्ग को साधारण की अपेक्षा कहने वाले काल आदि का कथन न होने से सकल मोक्ष-कारणों का संग्रह करने वाला नहीं है। काल आदि मोक्ष की उत्पत्ति में कारण नहीं होते हैं, ऐसा भी नहीं है क्योंकि काल आदि का सर्व कार्यों की उत्पत्ति में व्यापार होने से मोक्षमार्ग में भी व्यापार होने में विरोध का अभाव है, अर्थात् सर्व कार्यों की उत्पत्ति में सहकारी कारण होने से मोक्षमार्ग की उत्पत्ति में भी सहकारी कारण मानने में कोई विरोध नहीं है।

यदि पुनः, सम्यग्दर्शन आदि ही मोक्ष के कारण हैं, ऐसी अवधारणा नहीं होने से कालादि का असंग्रह नहीं है (कालादि का ग्रहण होता ही है) ऐसा कहते हो तो 'सम्यग्दर्शन' ही मोक्ष का मार्ग है ऐसी अवधारणा नहीं होने से 'सम्यग्दर्शन' मोक्षमार्ग है ऐसा भी कह सकते हैं क्योंकि जैसे अवधारणा न होने से कालादि का ग्रहण होता है उसी प्रकार 'सम्यग्दर्शन' ही मोक्ष का कारण है ऐसी अवधारणा न होने से ज्ञानादि का संग्रह होना सिद्ध होता है। अतः "सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है" यह विशेष की अपेक्षा होने से त्रयात्मक मोक्षमार्ग है, ऐसा सूत्र में कथित है। ऐसा मैं समझता हूँ।

सम्यग्दर्शनादि स्वर्गादि अभ्युदय के भी कारण हैं

सम्यग्दर्शनादि ही मोक्ष के मार्ग हैं, ऐसी पूर्व के साथ अवधारणा करनी चाहिए, ये मोक्ष के ही मार्ग हैं, ऐसी अवधारणा नहीं करनी चाहिए- क्योंकि जिस प्रकार ये मोक्ष के मार्ग हैं उसी प्रकार ये अन्य के भी कारण माने गये हैं ॥३९॥

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्ग’ इत्यवधारणं हि कार्यमसाधारणकारणनिर्देशादेवान्यथा तदघटनात्। तानि मोक्षमार्ग एवेति तु नावधारणं कर्तव्यं। तेषां स्वर्गाद्यभ्युदयमार्गत्वविरोधात्। न च तान्यभ्युदयमार्गो नेति शक्यं वक्तुं, सदृशनादेः स्वर्गादिप्राप्तिश्रवणात्। प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तानि तानि नाभ्युदयमार्ग इति चेत्, सिद्धं तर्ह्यपकृष्टानां तेषामभ्युदयमार्गत्वं, इति नोत्तरावधारणं न्याय्यं व्यवहारात्। निश्चयनयात् तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनन्तरसमयनिर्वाणजननसमर्थानामेव सदृशनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः परेषामनुकूलमार्गताव्यवस्थानात्। एतेन मोक्षस्यैव मार्गो मोक्षस्य मार्ग एवेत्युभयावधारणमिष्टं प्रत्यायनीयम्।

पूर्वावधारणेऽप्यत्र तपो मोक्षस्य कारणम्।

न स्यादिति न मन्तव्यं तस्य चर्यात्मकत्वतः ॥४०॥

न ह्यसाधारणकारणाभिधित्सायामपि व्यवहारनयात् सम्यग्दर्शनादीन्येव मोक्षमार्ग-
इत्यवधारणं श्रेयस्तपसो मोक्षमार्गत्वाभावप्रसंगात्। न च तपो मोक्षस्यासाधारणकारणं न भवति,

इस सूत्र में असाधारण कारण का निर्देश होने से ‘सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग है’, ऐसी अवधारणा करनी चाहिए क्योंकि अन्यथा- सम्यग्दर्शन आदि के अभाव में मोक्षमार्ग की उत्पत्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये मोक्ष के ही मार्ग हैं, ऐसी अवधारणा नहीं करनी चाहिए क्योंकि इनके अभ्युदय का मार्गत्व भी विरोधी नहीं है अर्थात् ये सम्यग्दर्शनादि स्वर्गादि अभ्युदय के भी कारण हैं।

ये सम्यग्दर्शनादि स्वर्गादि अभ्युदय के कारण नहीं हैं ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि आगम में सम्यग्दर्शनादि से स्वर्गादि की प्राप्ति सुनी जाती है। यदि कहो कि ‘परम उत्कृष्टता को प्राप्त सम्यग्दर्शन आदि अभ्युदय की प्राप्ति में कारण नहीं हैं’ तो इस कथन से यह सिद्ध होता है कि जघन्य सम्यग्दर्शनादि स्वर्गादि अभ्युदय के कारण हैं। अतः सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के ही कारण हैं- ऐसी अवधारणा करना व्यवहार नय से ठीक नहीं है। परन्तु निश्चय नय से दोनों ही अवधारणा इष्ट है- क्योंकि अनन्तर समय (सम्यग्दर्शनादि की परिपूर्णता के अनन्तर) निर्वाणजनन में समर्थ सम्यग्दर्शन आदि के ही मोक्षमार्गत्व उत्पन्न होता है; दूसरों के अनुकूल मार्गता की व्यवस्था न होने से। अर्थात् ये अभ्युदय के भी कारण हैं, उन के अनुकूल मार्ग की व्यवस्था होने से। इससे दोनों प्रकार से अवधारणा होती है कि सम्यग्दर्शनादि ही मोक्ष के मार्ग हैं वा सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के ही मार्ग हैं। निश्चयनय से दोनों ही अवधारणाएँ ठीक हैं, ऐसा जानना चाहिए, विश्वास करना चाहिए।

चारित्रात्मक तप मोक्ष का कारण है-

मोक्षमार्ग में पूर्व में अवधारणा करने पर तप मोक्ष का कारण नहीं होगा, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि तप चारित्रात्मक ही है ॥४०॥

प्रश्न - सम्यग्दर्शन आदि के असाधारण कारण की स्वीकारता में भी “व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं” ऐसी अवधारणा (निश्चय) करना श्रेय

तस्यैवोत्कृष्टस्याभ्यन्तरसमुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानलक्षणस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षकारणत्व-
व्यवस्थितेः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि मोक्षमार्ग इति सूत्रे क्रियमाणे तु युज्येत पूर्वावधारणं ।
अनुत्पन्नतादृक्तपोविशेषस्य च सयोगकेवलीनः समुत्पन्नरत्नत्रयस्यापि धर्मदेशना न
विरुध्यतेऽवस्थानस्य सिद्धेः । ततः सकलचोद्यावतारणनिवृत्तये चतुष्टयं मोक्षमार्गो वक्तव्यः । तदुक्तं ।
'दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधना भणितेति केचित् । तदप्यचोद्यं; तपसश्चारित्रात्मकत्वेन
व्यवस्थानात् सम्यग्दर्शनादित्रयस्यैव मोक्षकारणत्वसिद्धेः ।

ननु रत्नत्रयस्यैव मोक्षहेतुत्वसूचने ।

किं वार्हतः क्षणादूर्ध्वं मुक्तिं संपादयेन्न तत् ॥४१॥

प्रागेवेदं धोदितं परिहृतं च न पुनः शङ्कनीयमिति चेत् न, परिहरांतरोपदर्शनार्थत्वात्
पुनश्चोद्यकरणस्य । तथाहि—

(श्रेष्ठ) नहीं है- क्योंकि ऐसी अवधारणा करने पर तप के मोक्षमार्गत्व के अभाव का प्रसंग आता है।
तथा 'तप मोक्षप्राप्ति का असाधारण कारण नहीं है', ऐसा भी नहीं कह सकते- क्योंकि उत्कृष्ट अभ्यन्तर
समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान लक्षण वाले तप के ही सम्पूर्ण कर्मों का नाश रूप मोक्ष-कारणत्व व्यवस्थित
है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि मोक्षमार्गः' इस प्रकार से सूत्र की रचना करने पर तो पूर्व की अवधारणा
(सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप ही मोक्षमार्ग है यह कथन) करना ठीक हो सकता है। तथा
समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान जिसके नहीं है परन्तु रत्नत्रय से परिपूर्ण है ऐसे सयोगकेवली के धर्मदेशना
भी विरुद्ध नहीं पड़ती- क्योंकि समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान रूप तप का अभाव होने से सयोगकेवली
का संसार में अवस्थान सिद्ध ही है। अतः सारी शंकाओं का परिहार करने के लिए सम्यग्दर्शन ज्ञान
चारित्र तप रूप चतुष्टय ही मोक्षमार्ग मानना चाहिए। ऐसी 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतप' की आराधना कही
भी है अर्थात् आराधना ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप स्वरूप चार
आराधना मानी भी है?

उत्तर - इस प्रकार कहना उचित नहीं है। तप के चारित्रात्मकत्व से व्यवस्थित होने से सम्यग्दर्शन
आदि तीन रत्नत्रय के ही मोक्ष के कारणत्व की सिद्धि है- अर्थात् तप का चारित्र में अन्तर्भाव हो जाता
है। तप चारित्र का ही भेद है अतः रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है।

रत्नत्रय की परिपूर्णता के उत्तर समय में मुक्ति की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

शंका - रत्नत्रय को ही मोक्ष का कारण सूचित करने पर अर्हन्त भगवान को उत्तर समय में
ही मुक्ति प्राप्त क्यों नहीं होती है? ॥४१॥

उत्तर - इस शंका का निराकरण पूर्व में कर दिया है इसलिए यह प्रश्न पुनः उठना नहीं चाहिए,
किन्तु ऐसा कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि पूर्व में निराकरण किया उससे भिन्न दूसरा शंका-परिहार रूप
समाधान दिखाने के लिए पुनः शंका की जा रही है।

उसी को आचार्य स्पष्ट करते हैं-

सहकारिविशेषस्यापेक्षणीयस्य भाविनः ।

तदैवासत्त्वतो नेति स्फुटं केचित् प्रचक्षते ॥४२॥

कः पुनरसौ सहकारी सम्पूर्णनापि रत्नत्रयेणापेक्ष्यते? यदभावात्तन्मुक्तिमर्हतो न संपादयेत् ?
इति चेत् -

स तु शक्तिविशेषः स्याज्जीवस्याऽघातिकर्मणाम् ।

नामादीनां त्रयाणां हि निर्जराकृद्धि निश्चितः ॥४३॥

दंडकपाटप्रतरलोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरङ्गः सहकारी निश्चयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्निःश्रेयसानुत्पत्तेः । आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा, न पुनरुपक्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात् । तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलीनः प्रथमसमये मुक्तिं न संपादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात् ।

क्षायिकत्वात् सापेक्षमर्हद्रत्नत्रयं यदि ।

किन्तु क्षीणकषायस्य दृक्चारित्रे तथा मते ॥४४॥

भविष्यत् काल में होने वाले अपेक्षणीय सहकारी विशेष का असत्त्व होने से अर्हन्त के उसी क्षण में ऊर्ध्वगमन नहीं होता है, कोई ऐसा कहते हैं (वह योग्य है) ॥४२॥

शंका - वे सहकारी कारण कौन से हैं जिनकी परिपूर्ण रत्नत्रय के द्वारा अपेक्षा की जाती है और उन सहकारी विशेष के अभाव में रत्नत्रय की पूर्णता होने पर भी अर्हन्त (सयोगकेवली) को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है?

उत्तर - नामादि तीन (नाम, गोत्र, वेदनीय) अघातिया कर्मों की निर्जरा करने वाली जीव की शक्ति को ही विशेष सहकारी कारण माना गया है ॥४३॥

दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया के द्वारा अनुमेय भगवान केवली के कर्मों के संक्रमण-अपकर्षण में हेतु स्वपरिणाम विशेष ही मोक्ष की उत्पत्ति में रत्नत्रय के अंतरंग सहकारी कारण माने गये हैं । अर्थात् कर्मों के परप्रकृति रूप संक्रमण-अपकर्षण आदि में कारण भगवान के परिणाम विशेष ही मोक्ष के कारण हैं । जिनके अभाव में नामादि तीन घातिया कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती और न मोक्ष की उत्पत्ति हो सकती है । दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के परिणाम विशेष से तीन अघातिया कर्मों की निर्जरा होती है । आयु कर्म की निर्जरा यथाकाल अनुभव से ही होती है, उपक्रम से नहीं होती क्योंकि केवली भगवान के आयु का अपवर्तन नहीं होता है । उस सहकारी कारण की पूर्णता न होने से ही क्षायिक रत्नत्रयधारी सयोगकेवली प्रथम समय में मुक्ति को संपादन नहीं करते हैं । क्योंकि उस समय सहकारी कारणों का अभाव है ।

यदि कहो कि क्षायिक होने से अर्हन्त भगवान का रत्नत्रय सापेक्ष नहीं है तो क्षीणकषायी के क्षायिक दर्शन और क्षायिक चारित्र भी क्षायिक होने से सापेक्ष नहीं होने चाहिए ॥४४॥

केवलापेक्षिणी ते हि यथा तद्वच्च तत्रयम्।

सहकारिव्यपेक्षं स्यात् क्षायिकत्वेनपेक्षिता ॥४५॥

न क्षायिकत्वेऽपि रत्नत्रयस्य सहकारिविशेषापेक्षणं क्षायिकभावानां न हानिनांऽपि वृद्धिरिति प्रवचनेन बाध्यते, क्षायिकत्वे निरपेक्षत्ववचनात्। क्षायिको हि भावः सकलस्वप्रति-
बंधक्षयादाविर्भूतो नात्मलाभे किंचिदपेक्षते, येन तदभावे तस्य हानिस्तत्प्रकर्षे च वृद्धिरिति।
तत्प्रतिषेधपरं प्रवचनं कृत्स्नकर्मक्षयकरणे सहकारिविशेषापेक्षणं कथं बाधते? न च क्षायिकत्वं
तत्र तदनपेक्षत्वेन व्याप्तं, क्षीणकषायदर्शनचारित्रयोः क्षायिकत्वेऽपि मुक्त्युत्पादने केवलापेक्षित्वस्य
सुप्रसिद्धत्वात्। ताभ्यां तद्बाधकहेतोर्व्यभिचारात्। ततोऽस्ति सहकारी तद्रत्नत्रयस्यापेक्षणीयो
युक्त्यागमाविरुद्धत्वात्।

यदि कहो कि क्षीणकषायी के दर्शन, चारित्र केवलज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, तो उसी प्रकार
अर्हन्त का रत्नत्रय भी सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है, ऐसा कह सकते हैं। अर्हन्त का रत्नत्रय
क्षायिक होने से दूसरे कारणों की अपेक्षा नहीं रखता है, ऐसा नहीं कह सकते ॥४५॥

प्रश्न - अर्हन्त के रत्नत्रय का क्षायिकत्व होने से सहकारी कारणों की अपेक्षा नहीं है- क्योंकि
क्षायिक भावों के सापेक्ष होने पर 'क्षायिक भावों की हानि और वृद्धि नहीं होती' इस प्रवचन वचन
में बाधा आती है, क्षायिकत्व में निरपेक्षत्व वचन होने से। अर्थात् ग्रन्थों में क्षायिक भावों को निरपेक्ष
तथा हानिवृद्धि रहित माना है। कहा भी है कि क्षायिक भाव सकल स्वप्रतिबंध के क्षय से उत्पन्न होते
हैं। इसलिए अपने आत्मलाभ में दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं करते, जिससे सहकारी के अभाव में उनकी
हानि तथा सहकारी कारणों के प्रकर्ष में उनकी वृद्धि होती हो। अर्थात् यदि क्षायिक भाव दूसरे सहकारी
की अपेक्षा करते तो उन में हानि-वृद्धि अवश्य होती, परन्तु क्षायिक भावों में हानि-वृद्धि नहीं है अतः
ये भाव निरपेक्ष हैं।

उत्तर - आचार्य ऊपरकथित हेतु का खण्डन करते हैं। कृत्स्न (सम्पूर्ण) कर्मों के क्षय करने
में सहकारी विशेष की अपेक्षा बाधित क्यों है? इसमें क्षायिकत्व होने से वह अनपेक्षत्व से व्याप्त नहीं
है- अर्थात् जो-जो क्षायिक होता है, वह सहकारी विशेष की अपेक्षा नहीं करता है, ऐसी व्याप्ति नहीं
है- क्योंकि क्षीणकषाय के दर्शन और चारित्र का क्षायिकत्व होने पर भी मुक्ति की उत्पत्ति में केवलज्ञान
की अपेक्षा सुप्रसिद्ध ही है। उस क्षायिक दर्शन और क्षायिक चारित्र के द्वारा 'क्षायिक भाव किसी की
अपेक्षा नहीं करते निरपेक्ष होने से' इस हेतु के बाधित होने से क्षायिकत्व हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी)
हेत्वाभास है। अर्थात् क्षायिकपना होने से रत्नत्रय निरपेक्ष ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। अतः अर्हन्त
भगवान के क्षायिक रत्नत्रय के सहकारी विशेष की अपेक्षा है, यह आगम और युक्ति (अनुमान) ज्ञान
से अविरोध है। अर्थात् क्षायिक रत्नत्रय को सापेक्ष मानने में युक्ति और आगम से कोई विरोध नहीं
आता है।

• न च तेन विरुध्येत त्रैविध्यं मोक्षवर्त्मनः ।

विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तिः ॥४६॥

क्षायिकरत्नत्रयपरिणामतो ह्यात्मैव क्षायिकरत्नत्रयं । तस्य विशिष्टकालापेक्षः शक्तिविशेषः
ततो नार्थांतरं येन तत्सहितस्य दर्शनादित्रयस्य मोक्षवर्त्मनस्त्रैविध्यं विरुध्यते ।

तेनाऽयोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम् ।

रत्नत्रयमशेषाघविघातकरणं ध्रुवम् ॥४७॥

ततो नान्योऽस्ति मोक्षस्य साक्षान्मार्गो विशेषतः ।

पूर्वावधारणं येन न व्यवस्थाभियति नः ॥४८॥

नन्वेवमप्यवधारणे तदेकांतानुषंग इति चेत्, नायमनेकांतवादिनामुपालंभो
नयार्पणादेकांतस्येष्टत्वात्, प्रमाणार्पणादेवानेकांतस्य व्यवस्थितेः ।

ज्ञानादेवाशरीरत्वसिद्धिरित्यवधारणम् ।

सहकारिविशेषस्याऽपेक्षयाऽस्त्विति केचन ॥४९॥

इसलिए विशिष्ट काल से युक्त रत्नत्रय की शक्ति होने से मोक्षमार्ग का त्रिविधत्व भी विरुद्ध नहीं होता ॥४६॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं, इसमें आगम और अनुमान से विरोध नहीं आता है । क्योंकि क्षायिक रत्नत्रय से परिणत होने से आत्मा ही क्षायिक रत्नत्रय है- अतः विशिष्टकाल की अपेक्षा शक्तिविशेष भी आत्मा की है, आत्मा से अर्थान्तर (भिन्न) नहीं है जिससे काल सहित सम्यग्दर्शनादि तीनों के मोक्षमार्ग का त्रैविध्य विरुद्ध होता है । अर्थात् विशिष्ट काल की अपेक्षा सहित रत्नत्रय आत्मपरिणाम है, वही मोक्ष का कारण है, काल को सहकारी कारण मान लेने से 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र बाधित नहीं होता ।

अतः निश्चय से अयोगिजिन के अन्त्यक्षणवर्ती रत्नत्रय ही अशेष (सम्पूर्ण) अघ (कर्म-पापों) का क्षय करने वाला कहा गया है । इसलिए रत्नत्रय के सिवाय कोई दूसरा विशेष रूप से साक्षात् मोक्ष का अव्यवहित पूर्ववर्ती मार्ग नहीं है । जिससे हमारी पूर्वावधारणा (सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग है यह) व्यवस्था को प्राप्त नहीं होती है अर्थात् हमारी यह 'रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है' अवधारणा निर्दोष है ॥४७-४८॥

शंका - 'रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है' ऐसी अवधारणा करने पर एकान्तवाद का प्रसंग आता है?

उत्तर - अनेकान्तवादियों के यह उलाहना लागू नहीं पड़ता- क्योंकि स्याद्वादियों को नय की अपेक्षा एकान्त इष्ट ही है, प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त की व्यवस्था होने से अर्थात् स्याद्वादियों के मत में नय की अपेक्षा एकान्त है और प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त । अतः अनेकान्त और समीचीन एकान्त दोनों ही इष्ट हैं ।

क्या मात्र तत्त्वज्ञान मुक्ति का हेतु है ?

कोई कहता है कि ज्ञान से ही अशरीरत्व (मुक्ति) की सिद्धि होती है, ऐसी अवधारणा करके उस ज्ञान के ही विशेष कारणों की अपेक्षा करनी चाहिए ॥४९॥

तत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयसहेतुरित्यवधारणमस्तु, सहकारिविशेषापेक्षस्य तस्यैव निःश्रेयससंपादनसमर्थत्वात्। तथा सति समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य योगिनः सहकारिविशेषसंनिधानात्पूर्वं स्थित्युपपत्तेरुपदेशप्रवृत्तेरविरोधात्, तदर्थं रत्नत्रयस्य मुक्तिहेतुत्वकल्पनानर्थक्यात्, तत्कल्पनेऽपि सहकार्यपेक्षणस्यावश्यंभावितात्, तत्रयमेव मुक्तिहेतुरित्यवधारणं माभूदिति केचित्।

तेषां फलोपभोगेन प्रक्षयः कर्मणां मतः।

सहकारिविशेषोऽस्य नाऽसौ चारित्रतः पृथक् ॥५०॥

तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानस्य सहजस्याहार्यस्य चानेकप्रकारस्य प्रतिप्रमेयं देशादिभेदादुद्भवतः प्रक्षयात्तद्धेतुकदोषनिवृत्तेः प्रवृत्त्यभावादनागतस्य जन्मनो निरोधादुपात्तजन्मनश्च प्रावृत्तधर्माधर्मयोः फलभोगेन प्रक्षयणात् सकलदुःखनिवृत्तिरात्यंतिकी मुक्तिः, दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनंतरापायान्निःश्रेयसमिति कैश्चिद्वचनात्। साक्षात्कार्यकारणभावोपलब्धेस्तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमित्यपरैः प्रतिपादनात्, ज्ञानेन चापवर्गः

प्रश्न - तत्त्वज्ञान ही मुक्ति का हेतु है, ऐसी अवधारणा होनी चाहिए। (तत्त्वज्ञान होते ही मोक्ष हो जाने से केवली के धर्मोपदेश की प्रवृत्ति कैसे होगी, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए) क्योंकि सहकारी विशेष के सन्निधान के पूर्व स्थिति की उत्पत्ति होने से (सहकारी विशेष के अभाव में मुक्ति न होने से) धर्मोपदेश की प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं है (अर्थात् जब तक सहकारी विशेष का अभाव होगा तब तक तत्त्वज्ञानी संसार में रहकर धर्मोपदेश देंगे, इसमें कोई विरोध नहीं है।) अतः धर्मोपदेश के लिए रत्नत्रय के मुक्ति के हेतुत्व की कल्पना करना व्यर्थ है। तथा रत्नत्रय को मोक्ष का कारण मान लेने पर भी उसके सहकारी विशेष की अपेक्षा तो अवश्यम्भावी होगी, अतः “रत्नत्रय ही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है” यह अवधारणा नहीं हो सकती।

उत्तर - फलभोग से कर्मों का क्षय हो जाना ही ज्ञान का सहकारी विशेष है, वह चारित्र से पृथक् नहीं है अर्थात् ज्ञान का सहकारी चारित्र ही है ॥५०॥

कर्मों के फल में समता भाव रखना ज्ञान का कार्य है और समता का सहकारी कारण चारित्र ही है। कोई (नैयायिक) कहता है कि सहज और आहार्य मिथ्याज्ञान अनेक प्रकार का है। प्रत्येक प्रमेय (पदार्थ) में देशादि भेद से उत्पन्न मिथ्याज्ञान का तत्त्वज्ञान से क्षय हो जाता है। मिथ्याज्ञान के क्षय हो जाने से, उससे होने वाले दोषों की निवृत्ति हो जाती है, दोष के नाश हो जाने से प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है, प्रवृत्ति के अभाव में अनागत जन्म का निरोध और प्रकृत धर्माधर्म का फल भोगकर उपात्त जन्म का क्षय होता है तथा अनागत जन्म का निरोध एवं उपात्त जन्म के नाश हो जाने से सकल दुःखों का आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही मुक्ति है।

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर नाश हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है अर्थात् मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर मिथ्याज्ञान के कार्य दोष भी नष्ट हो जाते हैं। मिथ्याज्ञान कारण है और दोष (विषयवासनादि) कार्य हैं। दोषरूप कारण के नष्ट होने पर दोष में प्रवृत्ति रूप कार्य नष्ट हो जाता है, प्रवृत्ति रूप कारण के नष्ट हो जाने पर उसके अभाव में जन्मरूप कार्य भी नहीं हो सकता। जन्मरूप कारण

इत्यन्यैरभिधानात्, - विद्यात एवाविद्यासंस्कारादिक्षयान्निर्वाणमितीतरैरभ्युपगमात्, फलोपभोगेन संचितकर्मणां प्रक्षयः सम्यग्ज्ञानस्य मुक्त्युत्पत्तौ सहकारी ज्ञानमात्रात्मकमोक्षकारणवादिनामिष्टो न पुनरन्योऽसाधारणः कश्चित्। स च फलोपभोगो यथाकालमुपक्रमविशेषाद्वा कर्मणां स्यात्? न तावदाद्यः पक्ष इत्याह;—

भोक्तुः फलोपभोगो हि यथाकालं यदीष्यते।

तदा कर्मक्षयः क्वातः कल्पकोटिशतैरपि ॥५१॥

न हि तज्जन्मन्युपात्तयोर्धर्माधर्मयोः जन्मान्तरफलदानसमर्थयोर्यथाकालं फलोपभोगेन जन्मान्तरादृते कल्पकोटिशतैरप्यात्यंतिकः क्षयः कर्तुं शक्यो, विरोधात्। जन्मान्तरे शक्य इति चेन्न, साक्षादुत्पन्नसकलतत्त्वज्ञानस्य जन्मान्तरासंभवात्। न च तस्य तज्जन्मफलदानसमर्थत्वे च धर्माधर्मौ

के अभाव में दुःखरूप कार्य भी नहीं हो सकता है और दुःख का अत्यन्त नाश होना ही मोक्ष है। इस प्रकार मिथ्याज्ञानादि में साक्षात् कार्य-कारण भाव की उपलब्धि होने से तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है- ऐसा नैयायिकों ने भी प्रतिपादित किया है। 'ज्ञानेनापवर्गः' ज्ञान से मोक्ष होता है, यह सांख्य का भी मत है। 'विद्यात एवाविद्यासंस्कारादिक्षयान्निर्वाण'। बौद्ध कहता है कि विद्या से अविद्या संस्कार आदि (वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। ज्ञान मात्र को ही मोक्ष का कारण मानने वालों के फल का उपभोग हो जाने से कर्मों का क्षय होना ही मुक्ति की उत्पत्ति में सम्यग्ज्ञान का सहकारी कारण इष्ट है। इस सम्यग्ज्ञान से अन्य कोई भी मुक्ति का असाधारण कारण नहीं है। अर्थात् मीमांसक, नैयायिक, बौद्ध आदि सभी वादियों के मतानुसार तत्त्वज्ञान से मोक्ष होना सिद्ध होता है। इस प्रत्युत्तर में जैनाचार्य प्रश्न करते हैं, ज्ञानमात्र से मोक्षोत्पत्ति मानने वालों से पूछते हैं कि कर्म यथाकाल फल देकर नष्ट होते हैं कि उपक्रम विशेष (प्रव्रज्या, तपादि) से नष्ट होते हैं। इसमें प्रथम पक्ष (यथाकाल फल देकर नष्ट होना) तो उचित नहीं है, सो कहते हैं—

सविपाक निर्जरा से सम्पूर्ण कर्म क्षय नहीं

यदि भोक्ता के कर्म फल देकर ही नष्ट होते हैं ऐसा मानते हो तब तो सैकड़ों, करोड़ों कल्प कालों में भी कर्मों का क्षय किस प्रकार हो सकता है ॥५१॥

जन्मान्तरों में फल देने में समर्थ इस जन्म में उपार्जित किये हुए पुण्य-पाप रूप कर्मों का जन्मान्तर के बिना यथाकाल फल देकर सैकड़ों करोड़ों कल्प कालों में भी क्षय करना शक्य नहीं है- क्योंकि जन्मान्तर में फल देने वाले का इस जन्म में क्षय मानने में विरोध आता है। "इस जन्म में उपार्जित कर्म का जन्मान्तर में क्षय हो जायेगा" ऐसा कहना भी उचित नहीं है- क्योंकि साक्षात् उत्पन्न सकलतत्त्वज्ञानी के जन्मान्तर की असंभवता है। (तत्त्वज्ञानी के संसारभ्रमण हो नहीं सकता) "इस जन्म में फल देने योग्य पुण्यपाप रूप कर्म ही तत्त्वज्ञानी के उत्पन्न होते हैं", ऐसा कहना भी शक्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार के कथन में प्रमाण का अभाव है।

प्रादुर्भवत इति शक्यं वक्तुं, प्रमाणाभावात्। तज्जन्मनि मोक्षार्हस्य कुतश्चिदनुष्ठानाद्धर्माधर्मौ तज्जन्मफलदानसमर्थौ प्रादुर्भवतः, तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मत्वादित्यप्ययुक्तं हेतोरन्यथानुपपत्त्यभावात्।

यौ जन्मान्तरफलदानसमर्थौ तौ न तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मौ, यथास्मदादि धर्माधर्मौ इत्यस्त्येव साध्याभावे साधनस्थानुपपत्तिरिति चेत्, स्यादेवं, यदि तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मत्वं जन्मान्तरफलदानसमर्थत्वेन विरुध्येत, नान्यथा। तस्य तेनाविरोधे तज्जन्मनि मोक्षार्हस्यापि मोक्षाभावप्रसंगाद्विरुध्यत एवेति चेत् न, तस्य जन्मान्तरेषु फलदानसमर्थयोरपि धर्माधर्मयोरुपक्रमविशेषात्। फलोपभोगेन प्रक्षये मोक्षोपपत्तेः। यदि पुनर्न यथाकालं तज्जन्ममोक्षार्हस्य धर्माधर्मौ तज्जन्मनि फलदानसमर्थौ साध्येते, किं तर्ह्युपक्रमविशेषादेव संचितकर्मणां फलोपभोगेन प्रक्षयः? इति पक्षांतरमायातम्।

विशिष्टोपक्रमादेव मतश्चेत्सोऽपि तत्त्वतः।

समाधिरेव संभाव्यश्चारित्रात्मेति नो मतम् ॥५२॥

इस जन्म में मोक्ष के योग्य तत्त्वज्ञानी के किसी अनुष्ठान आदि से इसी जन्म में फल देने योग्य (फल देने में समर्थ) कर्म बँधते हैं, इस जन्म के योग्य धर्म और अधर्म (पुण्यपाप) होने से; ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इस जन्म के योग्य ही पुण्यपाप हैं, इस हेतु में अन्यथा अनुपपत्ति का अभाव है।

‘जो जन्मान्तर में फल देने में समर्थ पुण्य-पाप हैं, वे इस भव में मोक्ष जाने वाले के नहीं बँधते, जैसे हम लोगों के बँधने वाले पुण्य-पाप, इस प्रकार साध्य के अभाव में साधन की अनुपपत्ति होने से अन्यथा अनुपपत्ति है ही। अर्थात् जिस प्रकार हम लोगों के पुण्यपाप जन्मान्तर में साथ जाते हैं वैसे पुण्य-पाप उस भव में मोक्ष जाने वाले के नहीं हैं।’ ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि यदि उसी जन्म में मोक्ष के योग्य धर्म और अधर्मत्व हो तो जन्मान्तर में फल देने के समर्थत्व से विरोधी होते हैं-“जो पुण्य-पाप इसी भव में मोक्ष जाने वाले के योग्य हो तो कह सकते हो कि यह पुण्य पाप दूसरे भव में साथ जाने योग्य नहीं है” उसी भव में फल देने योग्य पुण्य-पाप है और उनका फल देकर नष्ट होना संभव तो कह सकते हो, अन्यथा नहीं।

उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव के उन पुण्य-पापों का दूसरे जन्म में फल देने की योग्यता का अविरोध (विरोध नहीं) होता तो उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीव के भी मोक्ष होने के अभाव का प्रसंग आता। इसलिए तद्वत् मोक्षगामी जीव के धर्म और अधर्म (पुण्य और पाप कर्म) का दूसरे भव में फल देने का अवश्य ही विरोध है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि जीव के जन्मान्तरों में फल देने में समर्थ ऐसे पुण्य और पाप का विशिष्ट तपश्चरण के द्वारा उपक्रम विशेष से फल देकर नष्ट हो जाने पर मोक्ष की उत्पत्ति होती है।

यदि तद्वत् मोक्षगामी जीव के पूर्व संचित पुण्य-पाप कर्म उस जन्म में यथाकाल उदय में आकर फल देने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् काल पाकर उनकी निर्जरा नहीं हो सकती है, काल पाकर कर्म नष्ट होते हैं- ऐसा सिद्ध नहीं करते हैं तब तो उपक्रम विशेष (तपश्चरण) के द्वारा ही संचित कर्मों का फल देकर नष्ट होना यह दूसरा पक्ष सिद्ध होता ही है।

तप से ही कर्मनिर्जरा होती है

यदि विशिष्ट उपक्रम से कर्म अपना फल देकर नष्ट होते हैं और उससे मुक्ति होती है तो वास्तव में वह विशिष्ट उपक्रम समाधि है और समाधि चारित्र का स्वरूप है, अतः स्याद्वादियों के मत की सिद्धि होती है ॥५२॥

यस्मादुपक्रमविशेषात् कर्मणां फलोपभोगो योगिनोऽभिमतः स समाधिरेव तत्त्वतः संभाव्यते, समाधावुत्थापितधर्मजनितायामृद्धौ नानाशरीरादिनिर्माणद्वारेण संचितकर्मफलानुभवस्येष्टत्वात्। समाधिश्रित्वात्मक एवेति चारित्रान्मुक्तिसिद्धेः सिद्धं स्याद्वादिनां मतं सम्यक्त्वज्ञानानंतरीयकत्वाच्चारित्रस्य।

सम्यग्ज्ञानं विशिष्टं चेत्समाधिः सा विशिष्टता।

तस्य कर्मफलध्वंसशक्तिर्नामांतरं ननु ॥५३॥

मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम्।

ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महंतृता ॥५४॥

शक्तित्रयात्मकादेव सम्यग्ज्ञानाददेहता।

सिद्धा रत्नत्रयादेव तेषां नामान्तरोदितात् ॥५५॥

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’, सम्यग्ज्ञानं मिथ्याभिनिवेशमिथ्याचरणा-
भावविशिष्टमिति वा न कश्चिदर्थभेदः, प्रक्रियामात्रस्य भेदानामांतरकरणात्।

जिस उपक्रम विशेष से कर्मों के फल का उपभोग योगियों को मान्य (इष्ट) है वह उपक्रम विशेष समाधि ही है। “समाधि से उत्थापित धर्म से उत्पन्न ऋद्धि में नाना शरीर निर्माण द्वारा संचित कर्मफल का अनुभव योगियों को इष्ट है अर्थात् योगी (योगवादी ही) कहते हैं कि “समाधि के द्वारा नाना शरीरादि का निर्माण करके कर्मों के फल का अनुभव किया जाता है तो समाधि चारित्रात्मक ही है। इस प्रकार चारित्र से मुक्ति की सिद्धि होने से स्याद्वादियों के मत (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से मुक्ति) की सिद्धि होती है। क्योंकि चारित्र सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के अनन्तरीक होता है। अर्थात् सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होता है।

यदि कहो कि सम्यग्ज्ञान विशिष्ट है और उस ज्ञान के कर्मध्वंस करने की शक्ति की विशिष्टता समाधि है, तो यह नामान्तर ही है। अर्थात् समाधि और चारित्र में नामान्तर ही है ॥५३॥

ज्ञान के मिथ्याभिमान की निवृत्ति ही दर्शन है तथा अर्थविज्ञप्ति रूप ज्ञानत्व है। कर्मनाश करने की शक्ति चारित्र है और इन तीन शक्ति युक्त ज्ञान से ही अशरीरी सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।

इस तीन शक्त्यात्मक ज्ञान वा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये नामान्तर होने से रत्नत्रय से मुक्ति सिद्ध होती है ॥५४-५५॥

‘सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है’ वा मिथ्याभिनिवेश और मिथ्याचारित्र से रहित सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग है। इन दोनों कथनों में कोई अर्थभेद नहीं है, प्रक्रिया मात्र का भेद होने से नामान्तरकरण ही है।

एतेन ज्ञानवैराग्यान्मुक्तिप्राप्त्यवधारणम् ।

न स्याद्वादविधातायेत्युक्तं बोद्धव्यमंजसा ॥५६॥

तत्त्वज्ञानं मिथ्याभिनिवेशरहितं सदृशनमन्वाकर्षति, वैराग्यं तु चारित्र्यमेवेति रत्नत्रयादेव मुक्तिरित्यवधारणं बलादवस्थितं । “दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा बन्धकारणं । जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छती” त्यप्यहंमतसमाश्रयणमेवानेन निगदितं; दर्शनज्ञानयोः कथंचिद्भेदान्मतांतरासिद्धेः ।

न चात्र सर्वथैकत्वं ज्ञानदर्शनयोस्तथा ।

कथंचिद्भेदसंसिद्धिर्लक्षणादिविशेषतः ॥५७॥

न हि भिन्नलक्षणत्वं भिन्नसंज्ञासंख्याप्रतिभासत्वं वा कथंचिद्भेदं व्यभिचरति; तेजोभसोर्भिन्नलक्षणयोरेकपुद्गलद्रव्यात्मकत्वेऽपि पर्यायार्थतो भेदप्रतीतेः; शक्रपुरंदरादिसंज्ञाभेदिनो देवराजार्थस्यैकत्वेऽपि शकनपूर्वार्णादिपर्यायतो भेदनिश्चयात्; जलमाप इति भिन्नसंख्यस्य

इस हेतु से ज्ञान-वैराग्य से मुक्तिप्राप्ति की अवधारणा भी स्याद्वादियों के मत की विधातक नहीं है, ऐसा निर्दोष समझना चाहिए ॥५६॥

मिथ्याभिनिवेश रहित तत्त्वज्ञान सम्यग्दर्शन का अनुकरण करता है और वैराग्य चारित्र्य स्वरूप ही है, इस प्रकार ज्ञान और वैराग्य की अवधारणा से भी बलात् ‘रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है’ यह अवधारणा सिद्ध होती है।

“दुःख में विपर्यासमति, तृष्णा और बन्ध के कारण जिस संसारी प्राणी के नहीं हैं, वह प्राणी जन्मान्तर को प्राप्त नहीं होता” इस प्रकार कहने वाले ने भी अहंत् (जिन) मत का ही आश्रय लिया है क्योंकि दर्शन और ज्ञान में कथंचित् भेद होने से मतान्तर की सिद्धि नहीं हो सकती।

ज्ञान दर्शन में कथंचित् भेद सिद्ध है

जिनेन्द्र के सिद्धान्त में अन्य दर्शनों के समान ज्ञान दर्शन में सर्वथा एकत्व नहीं मानते- क्योंकि संज्ञा,^१ लक्षण^२ आदि विशेषता से इन दोनों में कथंचित् भेद सिद्ध है ॥५७॥

भिन्न लक्षणत्व तथा भिन्न संज्ञा, संख्या से प्रतिभासित होने वालों में कथंचित् भेद व्यभिचारी (विरुद्ध) भी नहीं है। लक्षण की अपेक्षा भेद— एक पुद्गलद्रव्यात्मक होने पर भी भिन्न लक्षण वाले अग्नि और पानी में पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद की (पृथक्त्व की) प्रतीति होती ही है। अथवा- संज्ञा की अपेक्षा भेद— शक्र, पुरन्दर आदि संज्ञाभेदी इन्द्र के देवराजपने की अपेक्षा एकत्व होने पर भी शक्र (जम्बू द्वीप आदि को पलटने में समर्थ), (पुरों के विनाश आदि से) पुरन्दर यानी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद निश्चित है। अर्थात् समर्थ होने से शक्र, पुरों के विनाश से पुरन्दर, इन्दन क्रीड़ा की अपेक्षा इन्द्र कहा जाता है, नाम भेद से भेद है। संख्या की अपेक्षा भेद— जल (एकवचन है), आप (बहुवचन है)। व्याकरण की दृष्टि से जल एकवचनात्मक शब्द

१. संज्ञा = नाम, ज्ञान और दर्शन २. लक्षण = श्रद्धान एवं जानना। ज्ञान का जानना, दर्शन का श्रद्धान।

तोयद्रव्यस्यैकत्वेऽपि शक्त्यैकत्वनानात्वपर्यायतो भेदस्याप्रतिहतत्वात्, स्पष्टास्पष्टप्रतिभासविषयस्य पादपस्यैकत्वेऽपि तथाग्राह्यत्वपर्यायाथदिशान्नानात्वव्यवस्थितेः। अन्यथा स्वेष्टतत्त्वभेदासिद्धेः सर्वमेकमासज्येत, इति क्वचित्कस्यचित्कुतश्चिद्वेदं साधयता लक्षणादिभेदादर्शनज्ञानयोरपि भेदोऽभ्युपगंतव्यः।

तत एव न चारित्रं ज्ञानं तादात्म्यमृच्छति।

पर्यायार्थप्रधानत्वविवक्षातो मुनेरिह ॥५८॥

न ज्ञानं चारित्रात्मकमेव ततो भिन्नलक्षणत्वादर्शनवदित्यत्र न स्वसिद्धांतविरोधः पर्यायार्थप्रधानत्वस्येह सूत्रे सूत्रकारेण विवक्षितत्वात्।

द्रव्यार्थस्य प्रधानत्वविवक्षायां तु तत्त्वतः।

भवेदात्मैव संसारो मोक्षस्तद्धेतुरेव च ॥५९॥

तथां च सूत्रकारस्य क्व तद्धेतोपदेशना।

द्रव्यार्थस्याप्यशुद्धस्यावांतराभेदसंश्रयात् ॥६०॥

है, आप बहुवचनान्त है। दोनों ही पानी के नाम की अपेक्षा एक हैं परन्तु पानी की अपेक्षा दोनों में एकत्व होते हुए भी शक्ति से एकवचन, बहुवचन रूप पर्याय की अपेक्षा भेद अप्रतिहत है (भेद की निर्बाध सिद्धि है)।

प्रतिभास की अपेक्षा भेद- स्पष्ट एवं अस्पष्ट प्रतिभास के विषय वाले वृक्षों के वृक्ष की अपेक्षा एकत्व होते हुए भी स्पष्ट आदि ग्राह्यत्व पर्याय की अपेक्षा इन दोनों में नानात्व व्यवस्थित ही है। यदि संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रतिभास आदि के भेद से वस्तु में कथंचित् भेद नहीं मानेंगे तो स्व इष्ट तत्त्व में भेद की असिद्धि होने से सब एकता को प्राप्त हो जायेंगे अर्थात् अग्नि-पानी, इन्द्र-पुरन्दर आदि सब एक हो जायेंगे। अतः इस प्रकार क्वचित् कहीं पर किसी के किसी नय की अपेक्षा भेद को सिद्ध करने वालों के द्वारा लक्षण आदि के भेद से सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन में भी कथंचित् भेद स्वीकार करना चाहिए।

पर्यायार्थिक नयापेक्षा दर्शन, ज्ञान और चारित्र में भी भेद है द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नहीं

अतएव इस तत्त्वार्थसूत्र में पर्यायार्थ की प्रधानता की विवक्षा होने से गृद्धापिच्छ मुनिराज के ज्ञान और चारित्र गुण तादात्म्य (एकत्व) को प्राप्त नहीं हो सकते। अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा ज्ञान और चारित्र में एकत्व नहीं है, पृथक्त्व है ॥५८॥ दर्शन के समान भिन्न लक्षण वाला होने से ज्ञान चारित्रात्मक नहीं है, ऐसा मान लेने में स्वसिद्धान्त (जैन सिद्धान्त) में विरोध भी नहीं आता है क्योंकि इस सूत्र में सूत्रकार ने पर्यायार्थिक नय के प्रधानत्व की विवक्षा की है।

द्रव्यार्थिक नय के प्रधानत्व की विवक्षा होने पर तत्त्वतः आत्मा ही संसार-मोक्ष है और आत्मा ही संसार-मोक्ष का कारण है और ऐसा होने पर अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के अवान्तर भेदों के आश्रय से सूत्रकार के ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद का उपदेश कैसे हो सकता है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में भेद नहीं है ॥५९-६०॥

यथा समस्तैक्यसंग्रहो द्रव्यार्थिकः शुद्धस्तथावांतरैक्यग्रहोऽप्यशुद्ध इति तद्विवक्षायां संसारमोक्षतदुपायानां भेदाप्रसिद्धेरात्मद्रव्यस्यैकस्य व्यवस्थानात्तद्वेददेशना क्व व्यवतिष्ठेत्? ततः सैव सूत्रकारस्य पर्यायार्थप्रधानत्वविवक्षां गमयति, तामंतरेण भेददेशनानुपपत्तेः। ये तु दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानचारित्रयोर्वा सर्वथैकत्वं प्रतिपद्यन्ते ते कालाभेदादेशाभेदात्सामानाधिकरण्याद्वा? गत्यंतराभावात्। न चैते सद्धेतवोऽनैकान्तिकत्वाद्विरुद्धत्वाच्चेति निवेदयति;—

कालाभेदादभिन्नत्वं तथोरेकांततो यदि।

तदैकक्षणवृत्तीनामर्थानां भिन्नता कुतः ॥६१॥

देशाभेदादभेदक्षेत्रकालाकाशादिभिन्नता।

सामानाधिकरण्याच्चेत्तत एवास्तु भिन्नता ॥६२॥

सामानाधिकरण्यस्य कथंचिद्भिदया विना।

नीलतोत्पलतादीनां जातु क्वचिददर्शनात् ॥६३॥

जैसे सर्व पदार्थों को (उनकी सम्पूर्ण गुण-पर्यायों को) एकता रूप से ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ('सद्द्रव्यलक्षण') सर्व सत्ता को एक रूप से ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक) वैसे ही जीव अजीवादि अवान्तर भेदों को ऐक्य रूप से ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। इस प्रकार शुद्ध अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा में संसार, मोक्ष और इनकी प्राप्ति के उपायों में भेद की अप्रसिद्धि (अभाव) होने से तथा एक आत्मद्रव्य का ही व्यवस्थान होने से मोक्ष के उपायों में भेद की देशना कैसे हो सकती है? इसलिए इस सूत्र का कथन सूत्रकार के पर्यायार्थिक नय की प्रधानता की विवक्षा को सूचित करता है। क्योंकि पर्यायार्थिक नय की मुख्यता की विवक्षा के बिना भेद की देशना नहीं हो सकती। "जो प्रतिवादी ज्ञान दर्शन में, ज्ञान चारित्र में सर्वथा एकत्व का प्रतिपादन करते हैं— वे क्या काल के अभेद से, या देश के (प्रदेश के) अभेद होने से करते हैं?"— अथवा समान अधिकरण होने से उन गुणों का अभेद कहते हैं? क्योंकि इन तीन हेतुओं के सिवाय गत्यन्तर (दूसरे हेतुओं) का अभाव है— परन्तु काल अभेद, देश अभेद और सामानाधिकरण ये तीनों ही हेतु विरुद्ध^१ और अनैकान्तिक^२ होने से सद्हेतु नहीं हैं, हेत्वाभास हैं, ऐसा ग्रंथकार सिद्ध करते हैं।

यदि उन ज्ञान और दर्शन में कालभेद न होने से सर्वथा अभेद मानते हो तो एकक्षणवर्ती पदार्थों में भी भिन्नता कैसे सिद्ध होगी। अर्थात् एक साथ उत्पन्न होने वाले पदार्थों में एकता का प्रसंग आयेगा। तथा प्रदेश-अभेद (एकक्षेत्रावगाही) होने से ज्ञान, दर्शन वा ज्ञान, चारित्र में अभेद मानते हो तो एक क्षेत्र में रहने वाले काल, आकाश आदि में भिन्नता कैसे सिद्ध होगी और समान (एक) अधिकरण होने से तो भिन्नता ही सिद्ध होती है क्योंकि नीलेपन और कमल आदि के कथंचित् भेद के बिना कहीं पर कभी भी सामानाधिकरण्य के दर्शन नहीं होते। अर्थात् कथंचित् भेद के बिना सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता ॥६१-६२-६३॥

१. साध्य से विरुद्ध के साथ व्याप्ति रखने वाला विरुद्ध हेत्वाभास है।

२. पक्ष और विपक्ष दोनों में जाने वाला हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

न हि नीलतोत्पलत्वादीनामेकद्रव्यवृत्तितया सामानाधिकरण्यं कथंचिद्वेदमंतरेणोपपद्यते, येनैकजीवद्रव्यवृत्तित्वेन दर्शनादीनां सामानाधिकरण्यं तथाभेदसाधनाद्विरुद्धं न स्यात्।

मिथ्याश्रद्धानविज्ञानचर्याविच्छित्तिलक्षणम्।

कार्यं भिन्नं दृगादीनां नैकांताभिदि संभवति ॥६४॥

सदर्शनस्य हि कार्यं मिथ्याश्रद्धानविच्छित्तिः, संज्ञानस्य मिथ्याज्ञानविच्छित्तिः, सच्चारित्रस्य मिथ्याचरणविच्छित्तिरिति च भिन्नानि दर्शनादीनि भिन्नकार्यत्वात्सुखदुःखादिवत्। पावकादिनानैकांत इति चेन्न, तस्यापि स्वभावभेदमंतरेण दाहपाकाद्यनेककार्यकारित्वायोगात्।

दृष्टमोहविगमज्ञानावरणध्वंसवृत्तमुद्-

संक्षयात्मकहेतोश्च भेदस्तद्विदि सिद्ध्यति ॥६५॥

नीलपना और उत्पलपना आदि की एक द्रव्य में वृत्तिता (एक द्रव्य में रहना) होने से कथंचित् भेद के बिना सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता, जिससे एक जीव द्रव्य में दर्शनादि को सामानाधिकरणपना अभेद साधन में विरुद्ध नहीं होगा? अर्थात् सामानाधिकरणत्व होने से भी ज्ञान, दर्शन वा ज्ञान चारित्र में सर्वथा अभेद सिद्ध नहीं है। मिथ्याश्रद्धान, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के नाश रूप भिन्न-भिन्न कार्य, एकान्त से अभेद में दर्शनादि के संभव नहीं हैं ॥६४॥ अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि में अभेद मान लेने पर उनका मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के नाश रूप भिन्न-भिन्न कार्य कैसे सिद्ध होंगे?

सम्यग्दर्शन का कार्य मिथ्यादर्शन का विच्छेद करना है। मिथ्याज्ञान का विच्छेद सम्यग्ज्ञान का कार्य है और मिथ्याचारित्र का नाश सम्यक्चारित्र का कार्य है अतः सुख-दुःख आदि की तरह भिन्न-भिन्न कार्य होने से सम्यग्दर्शन आदि पर्यायें पृथक्-पृथक् हैं।

प्रश्न - अग्नि आदि के यह हेतु अनैकान्तिक होगा अर्थात् एक अग्नि के भी दाह, पाक आदि भिन्न-भिन्न कार्य देखे जाते हैं?

उत्तर - अग्नि आदि की अपेक्षा दृष्टांत से यह हेतु अनैकान्तिक नहीं है अर्थात् भिन्न कार्य करने वाली अग्नि एक देखी जाती है। अतः भिन्न कार्य होने से दर्शनादि के भिन्नता का कथन करना अनैकान्तिक हेत्वाभास है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि स्वभाव भेद के बिना अग्नि के भी दाह (जलाना), पाक (पकाना) आदि अनेक कार्यकारित्वका अयोग है। अर्थात् पाचनादि भिन्न-भिन्न कार्यकारित्व होने से अग्नि में भी स्वभावभेद है।

दर्शनमोह का विगम, ज्ञानावरण का ध्वंस और चारित्रमोह के संक्षयात्मक हेतु की अपेक्षा से भेद होने पर दर्शन, ज्ञान और चारित्र में भेद सिद्ध होता ही है ॥६५॥

दर्शनमोहविगमज्ञानावरणध्वंसवृत्तमोहसंक्षयात्मका हेतवो दर्शनादीनां भेदमंतरेण न हि परस्परं भिन्ना घटंते, येन तद्भेदात्तेषां कथंचिद्भेदो न सिद्ध्येत्। चक्षुराद्यनेककारणेनैकेन रूपज्ञानेन व्यभिचारी कारणभेदो भिदि साध्यायामिति चेन्न, तस्यानेकस्वरूपत्वसिद्धेः। कथमन्यथा भिन्नयवादिबीजकारणा यवांकुरादयः सिद्ध्येयुः परस्परभिन्नाः।

न चैककारणनिष्पाद्ये कार्यैकस्वरूपे कारणांतरं प्रवर्तमानं सफलं। सहकारित्वात्सफलमिति चेत्, किं पुनरिदं सहकारिकारणमुपकारकमपेक्षणीयं? तदुपादानस्योपकारकं तदिति चेन्न, तत्कारणत्वानुषंगत्। साक्षात्कार्ये व्याप्रियमाणमुपादानेन सह तत्करणशीलं हि सहकारी, न पुनः कारणमुपकुर्वाणं। तस्य कारणकारणत्वेनानुकूलकारणत्वादिति चेत्, तर्हि सहकारिसाध्यरूपतोपादानसाध्यरूपतायाः परा प्रसिद्धा कार्यस्येति न किंचिदनेककारणमेकस्वभावं, येन हेतोर्व्यभिचारित्वाद्दर्शनादीनां स्वभावभेदो न सिद्ध्येत्।

दर्शनमोह के नाश से सम्यग्दर्शन होता है, ज्ञानावरण के ध्वंस से सम्यग्ज्ञान होता है और चारित्र-मोह का विनाश होने से सम्यक्चारित्र होता है अतः सम्यग्दर्शनादि के परस्पर भेद बिना दर्शनमोहादिक नाशहेतु घटित नहीं हो सकते। जिस दर्शनादि में कथंचित् भेद सिद्ध न हो अर्थात् हेतु (कारण) की अपेक्षा सम्यग्दर्शनादि (कार्य) में कथंचित् भेद सिद्ध होता ही है।

प्रश्न - ज्ञान-दर्शनादि के परस्पर भेद के साध्य में चक्षु आदि अनेक कारणों से होने वाले एक रूपज्ञान के द्वारा भेद हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक हेत्वाभास) है।

उत्तर - रूपज्ञान में ही अनेकत्व सिद्ध होने से भिन्न कार्य से दर्शनादि के भिन्नता सिद्ध करने में हेतु व्यभिचारी नहीं है। भिन्न कारणों से होने वाले कार्यों में भेद स्वीकार नहीं करने पर भिन्न-भिन्न जौ, गेहूँ आदि कारणों से उत्पन्न यव, अंकुर आदि में परस्पर भेद कैसे सिद्ध होगा? तथा एक कारण से निष्पन्न एक कार्य में अनेक कारणों का प्रवर्तन होना निष्फल है। यदि कहो कि सहकारी कारण की अपेक्षा एक कार्य में अनेक कारणों को स्वीकार करना निष्फल नहीं है तो उन अनुपकारी सहकारी कारणों की अपेक्षा करने से क्या प्रयोजन है? यदि उन सहकारी कारणों को उपादान के उपकारी मानते हैं तो सहकारी कारणों में भी करणत्व का प्रसंग आता है। तथा उपादान के साथ साक्षात् कार्य में व्यापार करने का स्वभाव वाला ही सहकारी कारण होता है, केवल उपादान का उपकार करने वाला सहकारी कारण नहीं होता।

यदि कहो कि कारण के कारणत्व से अनुकूल होने से उपादान का कारण है, तो कार्य के उपादान साध्यरूपता से सहकारी साध्यरूपता भिन्न सिद्ध होती है, अतः अनेक कारणों से होने वाले कार्य के एक स्वभाव किंचित् भी सिद्ध नहीं हो सकता, जिससे हमारे हेतु के व्यभिचारित्व होने से सम्यग्दर्शनादि के स्वभावभेद सिद्ध नहीं अर्थात् कारण-भेद से कार्य के स्वभाव-भेद सिद्ध होता ही है और सम्यग्दर्शनादि में कारणभेद होने से स्वभावभेद है।

तेषां पूर्वस्य लाभेऽपि भाज्यत्वादुत्तरस्य च ।

नैकांतेनैकता युक्ता हर्षामर्षादिभेदवत् ॥६६॥

न चेदमसिद्धं साधनम्:—

तत्त्वश्रद्धानलाभे हि विशिष्टं श्रुतमाप्यते ।

नावश्यं नापि तल्लाभे यथाख्यातममोहकम् ॥६७॥

न ह्येवं विरुद्धधर्माध्यासेऽपि दर्शनादीनां सर्वथैकत्वं युक्तमतिप्रसंगात् । न च स्याद्वादिनः किञ्चिद्विरुद्धधर्माधिकरणं सर्वथैकमस्ति तस्य कथंचिद्विभन्नरूपत्वव्यवस्थितेः । न च सत्त्वादयो धर्मा निर्बाधबोधोपदर्शिताः क्वचिदेकत्रापि विरुद्धा, येन विरुद्धधर्माधिकरणमेकं वस्तु परमार्थतः न सिद्ध्येत् । अनुपलंभसाधनत्वात् सर्वत्र विरोधस्यान्यथा स्वभावेनापि स्वभाववतो विरोधानुबंगात् । ततो न विरुद्धधर्माध्यासो व्यभिचारी ।

हर्ष अमर्षादि के भेद के समान सम्यग्दर्शनादि पूर्व के लाभ होने पर उत्तर भजनीय होने से एकान्त से सम्यग्दर्शनादि के एकता कहना युक्त नहीं है ॥६६॥ इसलिए हमारा यह हेतु असिद्ध साधन (हेत्वाभास) भी नहीं है।^१

क्योंकि तत्त्वश्रद्धान का लाभ होने पर विशिष्ट श्रुतज्ञान अवश्य प्राप्त होता ही है ऐसा नियम नहीं है तथा ज्ञान के लाभ होने पर निर्मोह यथाख्यात चारित्र के होने का नियम भी नहीं है ॥६७॥

इस प्रकार विरुद्ध धर्म का आधार होने से सम्यग्दर्शनादि के सर्वथा एकत्व मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग^२ दोष आता है। स्याद्वादियों के यहाँ विरुद्ध धर्मों का आधारभूत कोई भी पदार्थ सर्वथा एक नहीं माना गया है। उसमें कथंचित् भिन्नरूपपना ही युक्ति, आगम द्वारा व्यवस्थित किया जाता है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि धर्म किसी एक पदार्थ में रहते हुए भी बाधारहित ज्ञान के द्वारा देखे जाते हैं अतः विरुद्ध नहीं हैं। अन्यथा (कथंचित् एक ही वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि विरुद्ध धर्म नहीं रहेंगे तो) जिन धर्मों का एक वस्तु में साथ-साथ उपलब्ध हो रहा है, उनका भी परस्पर में विरोध माना जायेगा तब तो स्वभाव वाली वस्तु का अपने स्वभाव के साथ भी विरोध होने का प्रसंग आएगा। इससे सिद्ध होता है कि विरुद्ध गुणवाले गुणी द्रव्य जैसे भिन्न-भिन्न होते हैं वैसे ही एक द्रव्य के गुण और पर्याय भी अनेक विरुद्ध स्वभावों से युक्त होते हुए भिन्न हैं। अतः विरुद्ध धर्मों का अधिकरणत्व हेतु व्यभिचारी नहीं है। (दर्शन आदि के भेद सिद्ध हो जायेंगे)।

१. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः । परीक्षामुख षष्ठ परिच्छेद सूत्र २२ । जिसकी सत्ता निश्चय नहीं है, वह असिद्ध हेत्वाभास है।

२. विरुद्ध धर्म वालों से भी कार्य की उत्पत्ति हो जायेगी।

नन्वेवमुत्तरस्यापि लाभे पूर्वस्य भाज्यता ।

प्राप्ता ततो न तेषां स्यात्सह निर्वाणहेतुता ॥६८॥

न हि पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरमुत्तरस्य तु लाभे नियतः पूर्वलाभ इति युक्तं, तद्विरुद्धधर्माध्यासस्याविशेषात्, उत्तरस्यापि लाभे पूर्वस्य भाज्यताप्राप्तेरित्यस्याभिमननम् ।

तत्रोपादेयसंभूतेरुपादानास्तितागतेः ।

कटादिकार्यसंभूतेस्तदुपादानसत्त्ववत् ॥६९॥

उपादेयं हि चारित्रं पूर्वज्ञानस्य वीक्षते ।

तद्भावभावितादृष्टेस्तद्वज्ज्ञानदृशोर्मतम् ॥७०॥

न हि तद्भावभावितायां दृष्टायामपि कस्यचित्तदुपादेयता नास्तीति युक्तं, कटादिवत् सर्वस्यापि वीरणाद्युपादेयत्वाभावानुषङ्गेः । न चोपादेयसंभूतेरुपादानास्तितां न गमयति

उत्तर के लाभ में पूर्व लाभ नियत है

प्रश्न -- (शंका) जिस प्रकार पूर्व के लाभ होने पर उत्तर भजनीय है उसी प्रकार उत्तर (चारित्र) के लाभ होने पर भी पूर्व दर्शन, ज्ञान भजनीयता को प्राप्त होते हैं अतः उन सब की एकता निर्वाण (मुक्ति) का कारण नहीं है ॥६८॥

जैसे पूर्वकथित सम्यग्दर्शनादि के प्राप्त होने पर भी उत्तर-ज्ञान, चारित्र भजनीय होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान और चारित्र होता ही है ऐसा नियम नहीं है, उसी प्रकार उत्तर (चारित्र) के लाभ में पूर्व (सम्यग्दर्शनादि) नियत है (निश्चय से होते ही हैं) ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास की अविशेषता होने से (चारित्र के साथ सम्यग्दर्शनादि के लक्षण भेद है ही) उत्तर के लाभ में पूर्व का लाभ भाज्यता को ही प्राप्त होता है- इस प्रकार जिन का मत है- उनको आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि चटाई आदि कार्य की उत्पत्ति से जैसे चटाई के उपादानभूत वीरणादि (चटाई के उत्पादक कारणों) का सत्त्व रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि के भी उपादेयभूत चारित्र आदि की उत्पत्ति से उपादानभूत सम्यग्दर्शनादि का अस्तित्व सिद्ध होता ही है। ज्ञान के होने पर ही चारित्र के होने से पूर्व ज्ञान का उपादेय चारित्र कहा जाता है- जैसे दर्शन का उपादेय ज्ञान (अर्थात् ज्ञान उपादान है, चारित्र उपादेय है- दर्शन, ज्ञान उपादान हैं चारित्र उपादेय है) वह चारित्र रूप उपादेय उपादान रूप दर्शन, ज्ञान के अस्तित्व को सूचित करता है अतः उत्तर के लाभ में पूर्व लाभ नियत है ॥६९-७०॥

चटाई आदि के समान सभी के वीरणा आदि उपादेयत्व के अभाव का प्रसंग आने से उसके भाव-भाविता (जिसके होने पर हो) के दृष्टिगोचर होने पर भी 'किसी के भी उपादेयता नहीं है' ऐसा कहना उचित नहीं है तथा उपादेय की उत्पत्ति उपादान के अस्तित्व को सूचित नहीं करती है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर चटाई आदि की उत्पत्ति में वीरणादि के अस्तित्व के अभाव का

कटादिसंभूतेर्वीरणाद्यस्तित्वस्यागतिप्रसंगात्, येनोत्तरस्योपादेयस्य लाभे पूर्वलाभो नियतो न भवेत्। तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्।

समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्त्वमेवेति चेन्न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते स्वयमविरोधात्। इति दर्शनादीनां विरुद्धधर्माध्यायाविशेषेऽप्युपादानोपादेयभावादुत्तरं पूर्वास्तितानियतं न तु पूर्वमुत्तरास्तित्वगमकम्।

ननूपादेयसंभूतिरुपादानोपमर्दनात्।

दृष्टेति नोत्तरोद्धूतौ पूर्वस्यास्तित्वसंगतिः ॥७१॥

सत्यप्युपादानोपादेयभावे दर्शनादीनां नोपादेयस्य संभवः पूर्वस्यास्तित्वां स्वकाले गमयति तदुपमर्दनेन तदुद्धूतेः। अन्यथोत्तरप्रदीपज्वालादेरस्तित्वप्रसक्तिः। तथा च कुतस्तत्कार्यकारणभावः समानकालत्वात् सव्येतरगोविषाणवदित्यस्याकृतम्।

सत्यं कथंचिदिष्टत्वात्प्राङ्नाशस्योत्तरोद्धवे।

सर्वथा तु न तन्नाशः कार्योत्पत्तिविरोधतः ॥७२॥

प्रसंग आता है। अतः उत्तर-उपादेय के लाभ में पूर्व-लाभ नियत नहीं है। (ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता) परन्तु उपादान कारणों के होने पर अवश्य कार्यत्व का अभाव होने से पूर्व के लाभ में उत्तर का लाभ नियत नहीं है अर्थात् पूर्व का लाभ होने पर उत्तर भजनीय है। समर्थ कारणों के मिलने पर कार्य अवश्य होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि उन समर्थ कारणों की यहाँ विवक्षा नहीं है।

उन समर्थ कारणों की विवक्षा होने पर तो स्वयं अविरोध होने से (तीनों की एकता होने से) पूर्व की (सम्यग्दर्शन की) प्राप्ति होने पर उत्तर (ज्ञान चारित्र) भजनीय है, ऐसा नहीं कहा जाता। इस प्रकार सम्यग्दर्शनादि के विरुद्धधर्माध्यास की अविशेषता (यानी जिस प्रकार सम्यग्दर्शन, चारित्र की अपेक्षा भिन्न कारणों से उत्पन्न है, उसी प्रकार चारित्र भी है। अतः इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है) होने पर भी उपादान (कारण) उपादेय (कार्य) भाव होने से उत्तर (उपादेय) पूर्व (उपादान) के अस्तित्व का गमक (सूचक) अवश्य है, परन्तु पूर्व उत्तर के अस्तित्व का गमक नहीं है।

शंका - उपादेय की उत्पत्ति उपादान के उपमर्दन (नाश) से ही देखी गई है (उपादान के नाश होने पर ही उपादेय की उत्पत्ति होती है) अतः उत्तर की उत्पत्ति में पूर्व के अस्तित्व की संगति नहीं है ॥७१॥

सम्यग्दर्शनादि के उपादान-उपादेय भाव होने पर उपादेय की उत्पत्ति अपन काल में पूर्व (उपादान) के अस्तित्व को सूचित नहीं कर सकती। क्योंकि उपादान के नाश होने पर उपादेय की उत्पत्ति होती है। अन्यथा उत्तर प्रदीप के ज्वालादि का प्रसंग आता है। अर्थात् दीपक के बुझ जाने पर भी ज्वाला के रहने का प्रसंग आयेगा। अतः गाय के दार्ये-बायें सींग के समान सम्यग्दर्शनादि में समकालत्व होने से कार्य-कारण भाव कैसे हो सकता है? यह शंका है।

समाधान - उत्तर पर्याय की उत्पत्ति में कथंचित् पूर्व का नाश इष्ट होने से शंकाकार का कथन सत्य है, परन्तु कार्य की उत्पत्ति का विरोध होने से उपादेय की उत्पत्ति में उपादान का सर्वथा नाश इष्ट नहीं है ॥७२॥

ज्ञानोत्पत्तौ हि सद्दृष्टिस्तद्विशिष्टोपजायते ।

पूर्वाविशिष्टरूपेण नश्यतीति सुनिश्चितम् ॥७३॥

चारित्र्योत्पत्तिकाले च पूर्वदृष्टज्ञानयोश्च्युतिः ।

चर्याविशिष्टयोर्भूतिस्तत्सकृत्त्रयसम्भवः ॥७४॥

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनं, तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत् । तत्र नश्यत्येव दर्शनपरिणामे विशिष्टज्ञानात्मतयात्मा परिणमते, विशिष्टज्ञानासहचारितेन रूपेण दर्शनस्य विनाशात्तत्सहचारितेन रूपेणोत्पादात् । अन्यथा विशिष्टज्ञानसहचारितरूपतयोत्पत्तिविरोधात् पूर्ववत् ।

तथा दर्शनज्ञानपरिणतो जीवो दर्शनज्ञाने, ते चारित्र्यस्योपादानं, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतिर्घटपरिणमनसमर्थपर्यायात्मकमुद्द्रव्यस्य घटोपादानवत्त्ववत् । तत्र नश्यतोरेव

क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में कथंचित् विशिष्ट सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है और पूर्व के अविशिष्ट रूप से सम्यग्दर्शन का नाश सुनिश्चित है। उसी प्रकार चारित्र्य की उत्पत्ति के काल में पूर्व के सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान का नाश और चर्याविशिष्ट सम्यग्दर्शन, ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों एक साथ उत्पन्न होते हैं, कथंचित्, न कि सर्वथा ॥७३-७४॥

दर्शन परिणाम (पर्याय) से परिणत आत्मा ही दर्शन है, वह आत्मा ही विशिष्ट ज्ञान पर्याय की निष्पत्ति का उपादान कारण है। क्योंकि कूर्म (कछुवे) के रोम के समान पर्याय मात्र वा निरन्वय द्रव्य मात्र के सर्वथा उपादानत्व का अयोग है। बिना अन्वयी द्रव्य के केवल पूर्ववर्ती पर्याय उत्तर पर्याय का उपादान नहीं हो पाती है और पर्यायों से रहित अकेला जीव द्रव्य भी ज्ञान दर्शन आदि का सर्व प्रकार से उपादान कारण नहीं है। जैसे कछुवे के बाल आदि असत् पदार्थ हैं वैसे ही द्रव्यरहित पूर्व उत्तर पर्याय (बौद्ध मान्यता) और पर्यायों से रहित आत्मद्रव्य भी (सांख्य मान्यता) असत् पदार्थ है, कोई वस्तुभूत नहीं है। वहाँ पहली दर्शन पर्याय के नाश होने पर ही आत्मा विशिष्ट ज्ञानरूप पर्याय से परिणमन करता है। विशिष्ट ज्ञान के असहचारी रूप से दर्शन का विनाश और सहचारी स्वभाव सहित दर्शन का उत्पाद होता है। ऐसा नहीं मानने पर पूर्व के समान विशिष्ट ज्ञान के साथ सहचारी रूप से भी दर्शन की उत्पत्ति का विरोध आयेगा।

इसी प्रकार दर्शन और ज्ञान पर्यायों से परिणत संसारी जीवद्रव्य ही ज्ञानदर्शन रूप है और ज्ञान एवं दर्शन गुण, चारित्र्य गुण के उपादान कारण हैं, क्योंकि पर्यायविशेषात्मक द्रव्य ही उपादान रूप से प्रतीत होता है- अर्थात् पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्यय और द्रव्य की अपेक्षा ध्रुवात्मक द्रव्य में उपादानता हो सकती है, सर्वथा क्षणिक वा कूटस्थ नित्य में नहीं। जैसे घट रूप परिणमन करने में समर्थ पर्यायात्मक मिट्टी द्रव्य के घट का उपादानत्व घटित हो सकता है। अतः चारित्र्य के असह (चारित्र्य के साथ नहीं होने) रूप से ज्ञान दर्शन का विनाश और चारित्र्य के साथ होने वाले दर्शन ज्ञान का उत्पाद

दर्शनज्ञानपरिणामयोरात्मा चारित्रपरिणाममियर्ति चारित्रासहचरितेन रूपेण तयोर्विनाशाच्चारित्रसहचरितेनोत्पादात् । अन्यथा पूर्ववच्चारित्रासहचरितरूपत्वप्रसंगात् । इति कथंचित्पूर्वरूपविनाशस्योत्तरपरिणामोत्पत्त्यविशिष्टत्वात् सत्यमुपादानोपमर्दनेनोपादेयस्य भवनं । न चैवं सकृद्दर्शनादित्रयस्य संभवो विरुध्यते चारित्रकाले दर्शनज्ञानयोः सर्वथा विनाशाभावात् । एतेन सकृद्दर्शनज्ञानद्वयसंभवोपि क्वचिन्न विरुध्यते इत्युक्तं वेदितव्यं, विशिष्टज्ञानकार्यस्य दर्शनस्य सर्वथा विनाशानुपपत्तेः, कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वविरोधात् प्रलीनतमवत्, ततः कार्योत्पत्तेरयोगाद्रत्यंतरासंभवात् ।

नन्वत्र क्षायिकी दृष्टिर्ज्ञानोत्पत्तौ न नश्यति ।

तदपर्यंतताहानेरित्यसिद्धान्तविद्वचः ॥७५॥

होने से आत्मा ज्ञान दर्शन पर्याय का नाश होने पर चारित्र रूप पर्याय को प्राप्त होता है । यदि चारित्ररहित ज्ञान-दर्शन पर्याय का नाश नहीं होगा तो पूर्व के समान उन ज्ञान-दर्शन में चारित्र के साथ नहीं रहने वाले ज्ञान-दर्शन का प्रसंग आयेगा । अर्थात् चारित्र के उत्पत्ति-काल में यदि असंयम के साथ रहने वाली ज्ञान-दर्शन रूप पर्यायों का नाश नहीं होगा तो संयम के साथ भी असंयम सहित रहने वाले ज्ञान-दर्शन का प्रसंग आयेगा । इस प्रकार 'पूर्व पर्याय के विनाश का उत्तर पर्याय की उत्पत्ति की विशिष्टता होने से कथंचित् पूर्व उपादान के उपमर्दन (विनाश) से ही उपादेय की उत्पत्ति होती है' यह कथन सत्य है (सर्वथा नहीं), अतः चारित्र की उत्पत्ति के काल में सर्वथा ज्ञान दर्शन के विनाश का अभाव होने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एक साथ उत्पत्ति भी विरुद्ध नहीं है अर्थात् कथंचित् ये तीनों एक साथ होते हैं, सर्वथा नहीं ।

उक्त कथन से दर्शन और ज्ञान इन दोनों का एक साथ उत्पन्न होना भी विरुद्ध नहीं है, ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि विशिष्ट ज्ञान है कार्य जिसका ऐसे पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शन के सर्वथा विनाश की अनुपपत्ति है- (सम्यग्दर्शन का सर्वथा विनाश हो जाना युक्तिसिद्ध नहीं है) क्योंकि नष्ट हुए अन्धकार के समान कार्यकाल को प्राप्त नहीं होने वाले के कारणत्व का विरोध है । अर्थात् जो कार्य के समय सर्वथा नहीं रहता है वह उस कार्य का कारण नहीं हो सकता । इसलिए गत्यन्तर की असंभवता होने से कार्य-उत्पत्ति का ही अयोग है । अर्थात् कारण की विद्यमानता के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

शंका - इस ज्ञान की उत्पत्ति में अनन्त और अविनाशी होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन का नाश तो नहीं हो सकता? उत्तर - इस प्रकार कहना जैन सिद्धान्त को नहीं जानने वाले का वचन है ॥७५॥

क्षायिकदर्शनं ज्ञानोत्पत्तौ न नश्यत्येवानंतत्वात् क्षायिकज्ञानवत्, अन्यथा तदपर्यन्तत्वस्यागमोक्तस्य हानिप्रसंगात्। ततो न दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानचारित्रयोर्वा कथंचिदुपादानोपादेयता युक्ता, इति ब्रुवाणो न सिद्धान्तवेदी।

सिद्धान्ते क्षायिकत्वेन तदपर्यन्ततोक्तितः।

सर्वथा तदविध्वंसे कौटस्थस्य प्रसङ्गतः ॥७६॥

तथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति हीयते।

प्रतिक्षणमतो भावः क्षायिकोऽपि त्रिलक्षणः ॥७७॥

ननु च पूर्वसमयोपाधितया क्षायिकस्य भावस्य विनाशादुत्तरसमयोपाधितयोत्पादात्स्वस्व-भावेन सदा स्थानात्त्रिलक्षणत्वोपपत्तेः, न सिद्धान्तमनवबुध्य क्षायिकदर्शनस्य ज्ञानकाले स्थितिं ब्रूते येन तथा वचोऽसिद्धान्तवेदिनः स्यादिति चेत्—

पूर्वोत्तरक्षणोपाधिस्वभावक्षयजन्मनोः।

क्षायिकत्वेनावस्थाने स यथैव त्रिलक्षणः ॥७८॥

सत् द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है

क्षायिक ज्ञान के समान अनन्त (अनन्त काल तक रहने वाला) होने से विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति के काल में क्षायिक दर्शन नष्ट नहीं होता। यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन का विनाश मांगेंगे तो आगम में कथित सम्यग्दर्शन के अनन्तता की हानि का प्रसंग आयेगा। अतः 'दर्शन और ज्ञान के तथा ज्ञान और चारित्र के कथंचित् उपादान उपादेयता मानना उचित नहीं है, इस प्रकार शंका करने वाला जैनसिद्धान्त का ज्ञाता नहीं है। जैनसिद्धान्त में क्षायिक सम्यक्त्व को दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय की अपेक्षा से अनन्त और अविनाशी कहा है। किन्तु सर्वथा क्षायिक सम्यक्त्व का नाश न होने से तो उसके कूटस्थ नित्यपने का प्रसंग आयेगा। तथा सर्वथा अपरिणामी कूटस्थ नित्य क्षायिक सम्यक्त्व को स्वीकार कर लेने पर 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित होता है; इस सिद्धान्त की हानि हो जायेगी। अतः कर्मों के क्षय से होने वाले क्षायिक भाव भी प्रत्येक क्षण में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन लक्षण वाले हैं। अर्थात् सत्ता स्वरूप होने से क्षायिक दर्शन ज्ञान आदि भाव भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित हैं ॥७६-७७॥

शंका - क्षायिक भाव के पूर्व समय की उपाधि (पूर्व समय रहने रूप विशेषण) से विनाश उत्तर समय की उपाधि से उत्पाद और स्वभाव से सदा अवस्थित रहने से त्रिलक्षण की उत्पत्ति हो जाती है। अतः जैन सिद्धान्त के तत्त्व को न समझ कर मैं क्षायिक सम्यग्दर्शन के ज्ञान के काल में अक्षुण्ण स्थिति को नहीं कह रहा हूँ जिससे कि पूर्वोक्त शंका वचन मुझ सिद्धान्त को नहीं जानने वाले के होते। अतः त्रिलक्षणता की सिद्धि होने पर भी क्षायिक सम्यग्दर्शन का नाश नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी स्थिति में आपका माना गया दर्शन ज्ञान का या ज्ञान चारित्र का उपादान-उपादेयपना कैसे सिद्ध होगा?

उत्तर - पूर्व समय में रहने स्वभाव रूप विशेषण का नाश, उत्तर क्षण में रह जाने स्वभाव रूप विशेषण का उत्पाद और प्रतिपक्षी कर्मों के क्षय से (क्षायिकत्व स्वभाव से) क्षायिक भावों का सदा स्थित रहने रूप ध्रौव्य इस प्रकार तीन लक्षणत्व जैसे क्षायिक भावों में मानते हैं; उसी प्रकार अन्य कारणों से रहितत्व स्वभाव (सहचारी

तथा हेत्वन्तरोन्मुक्तयुक्तरूपेण विच्युतौ ।

जातौ च क्षायिकत्वेन स्थितौ किमु न तादृशः ॥७९॥

क्षायिकदर्शनं तावन्मुक्तेर्हेतुस्ततो हेत्वन्तरं विशिष्टं ज्ञानं चारित्रं च, तदुन्मुक्तरूपेण तस्य नाशे तद्युक्तरूपेण जन्मनि क्षायिकत्वेन स्थाने त्रिलक्षणत्वं भवत्येव; तथा क्षायिकदर्शनज्ञानद्वयस्य मुक्तिहेतोर्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्य वा हेत्वन्तरं चारित्रमघातित्रयनिर्जराकारी क्रियाविशेषः कालादिविशेषश्च, तेनोन्मुक्तया प्राक्तन्या युक्तरूपया चोत्तरया नाशे जन्मनि च क्षायिकत्वेन स्थाने वा तस्य त्रिलक्षणत्वमनेन व्याख्यातमिति क्षायिको-भावस्त्रिलक्षणः सिद्धः । ननु तस्य हेत्वन्तरेणोन्मुक्तताहेत्वन्तरस्य प्रागभाव एव, तेन युक्तता तदुत्पाद एव, न चान्यस्याभावोत्पादौ

स्वभाव) से क्षायिक सम्यग्दर्शन का नाश अन्य कारणों के सहितपने (सहचारी क्षायिक सम्यग्दर्शन) से उत्पत्ति और क्षायिकत्व सामान्य की अपेक्षा स्थिति (ध्रौव्यता) होने से क्षायिक भावों में भी इस प्रकार त्रिलक्षणता क्यों नहीं मानते? अर्थात् जैसे व्यवहार काल रूप विशेषणों का उत्पाद विनाश माना जाता है- उसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन में विशिष्ट ज्ञान के असहचारीपने का नाश, विशिष्ट ज्ञान के सहचारीपने का उत्पाद और अपने स्वरूप लाभ का कारण क्षायिकपने से स्थित रहना, ये तीन स्वभाव क्यों नहीं सिद्ध होंगे (अवश्य ही होंगे) ॥७८-७९॥

उन तीनों में प्रथम क्षायिक सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण है। उस सम्यग्दर्शन से अतिरिक्त मुक्ति के दूसरे कारण विशिष्ट (केवल) ज्ञान और विशिष्ट (यथाख्यात) चारित्र हैं। अतः क्षायिक सम्यग्दर्शन का विशिष्ट ज्ञान चारित्र रहितपने से तो नाश होता है। विशिष्ट ज्ञान चारित्र सहितत्व से क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है तथा क्षायिक सम्यक्त्व रूप से वह क्षायिक सम्यक्त्व स्थित रहता है इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व के भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणता सिद्ध होती ही है। तथा मुक्तिपद के कारणभूत क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक ज्ञान का नाश तथा दर्शन ज्ञान चारित्र त्रयात्मक मुक्ति के कारणों का उत्पाद तथा मोहनीय कर्म, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षायिक ज्ञान से स्थित है। अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक ज्ञान एवं क्षायिक चारित्र त्रय का विनाश और तीन अघातिया कर्मों की (वेदनीय गोत्र नाम) निर्जरा करने वाला हेत्वन्तर चारित्र (व्युपरतिक्रिया-निवृत्ति ध्यान) का उत्पाद होता है वा क्रियाविशेष (अपरिस्पन्दरूप क्रियाविशेष) काल आदि शब्द से कर्मभूमि, आर्यक्षेत्र, आयुर्कर्म का नाश आदि भी मुक्ति के सहकारी कारण हैं। अतः चौदहवें गुणस्थान के अन्त में चतुर्थ शुक्ल ध्यान कालविशेष आदि का नाश उत्तरवर्ती चारित्र आदि का उत्पाद तथा क्षायिक ज्ञान दर्शन चारित्र से स्थिति होने से क्षायिक भाव के भी त्रिलक्षणत्व सिद्ध ही है।

शंका - उस क्षायिक सम्यग्दर्शन का अन्य हेतुओं (ज्ञानचारित्र) से रहितत्व तो उन अन्य हेतुओं (विशिष्ट ज्ञान चारित्र) का प्रागभाव ही है।^१ तथा विशिष्ट ज्ञान चारित्र सहितत्व ही उत्पाद है। अन्य का उत्पाद व्यय नहीं है। अतः क्षायिक सम्यक्त्व का विनाश और उत्पाद कहना ठीक नहीं है, जिससे क्षायिक भावों में त्रिलक्षणता सिद्ध हो सके?

१. वर्तमान पर्याय में पूर्व पर्याय का अभाव प्रागभाव है।

क्षायिकस्य युक्ता, येनैवं त्रिलक्षणता स्यात्। इति चेत्; तर्हि पूर्वोत्तरसमययोस्तदुपाधिभूतयोर्नाशोत्पादौ कथं तस्य स्यातां यतोऽसौ स्वयं स्थितोऽपि सर्वतदपेक्षया त्रिलक्षणः स्यादिति कौटस्थ्यमायातम्।

तथा च सिद्धान्तविरोधः परमतप्रवेशात्। यदि पुनस्तस्य पूर्वसमयेन विशिष्टतोत्तरसमयेन च तत्स्वभावभूतता ततस्तद्विनाशोत्पादौ तस्येति मतं, तदा हेत्वन्तरेणोन्मुक्तता युक्तता च तद्भावेन तदभावेन च विशिष्टता तस्य स्वभावभूततैवेति तन्नाशोत्पादौ कथं न तस्य स्यातां, यतो नैवं त्रिलक्षणोऽसौ भवेत्। ततो युक्तं क्षायिकानामपि कथंचिदुपादानोपादेयत्वम्।

कारणं यदि सददृष्टिः सद्बोधस्य तदा न किम्।

तदनन्तरमुत्पादः केवलस्येति केचन ॥८०॥

तदसत्तत्प्रतिद्वन्द्विकर्माभावे तथेष्टितः।

कारणं हि स्वकार्यस्याप्रतिबन्धिप्रभावकम् ॥८१॥

उत्तर - यदि आप क्षायिक भाव में त्रिलक्षणता नहीं मानते हो तो “पूर्व काल रहने रूप विशेषण का व्यय और उत्तर काल में रहने रूप विशेषण का उत्पाद क्षायिक सम्यग्दर्शन के कैसे होगा” जिससे स्वयं स्थित रहते हुए भी सर्व इन (पूर्व अपर उत्तर) समयों में वर्तनारूप उपाधियों की अपेक्षा तीन लक्षण वाला आपके कथनानुसार सिद्ध होता है। यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त नहीं मानेंगे तो क्षायिक सम्यक्त्व के कौटस्थ्य नित्यत्व का प्रसंग आयेगा। तथा क्षायिक भावों को कूटस्थ नित्य मानने पर जैन सिद्धान्त का विरोध और सांख्य मत का प्रवेश होगा। (कौटस्थ्य नित्य प्रमाणसिद्ध भी नहीं है।)

यदि कहो कि “क्षायिक भाव के पूर्व समय की रहितता तथा विशिष्ट उत्तर समय की सहितता ये दोनों क्षायिक भाव की स्वभावभूतता (तदात्मकता) है। अतः उन स्वभावभूत धर्मों का उत्पाद और विनाश क्षायिक भाव का उत्पाद और विनाश कहलाता है, तो क्षायिक दर्शन के हेत्वन्तर (विशिष्ट ज्ञान चारित्र की) रहितता उनकी सहितता ये दोनों धर्म स्वभाव रूप भाव कर सहितता और उसके स्वभाव रूप अभाव करके विशिष्टता रूप है अतः वे विशिष्टता रूप धर्म उस क्षायिक भाव की आत्मभूत स्वभाव-भूतता ही है। इसलिए आत्मभूत स्वभावों के नाश और उत्पाद उस क्षायिक भाव के क्यों नहीं कहे जायेंगे? तथा इन क्षायिक भावों में जिससे यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त त्रिलक्षणता नहीं होगी। अतः क्षायिक भावों में भी कथंचित् उपादान उपादेयत्व मानना युक्तिसिद्ध है।

घातिया कर्मों के अभाव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है

कोई शंकाकार कहता है कि— यदि सम्यग्दर्शन सद्बोध (केवलज्ञान) का कारण है तो क्षायिक सम्यग्दर्शन के उत्तर क्षण में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है?

उत्तर - यह कथन प्रशंसनीय नहीं है- क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी (प्रतिबन्धक) कर्मों के अभाव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति इष्ट है। अर्थात् केवलज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का अभाव हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होना इष्ट ही है। क्योंकि अप्रतिबन्धी प्रभावक कारण ही अपने कार्य के उत्पादक होते हैं ॥८०-८१॥

न-हि क्षायिकदर्शनं केवलज्ञानावरणादिभिः सहितं केवलज्ञानस्य प्रभवं प्रयोजयति, तैस्तत्प्रभावत्वशक्तेस्तस्य प्रतिबंधात् येन तदनंतरं तस्योत्पादः स्यात्। तैर्विमुक्तं तु दर्शनं केवलस्य प्रभावकमेव तथेष्टत्वात्, कारणस्याप्रतिबंधस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीतेः।

सद्बोधपूर्वकत्वेऽपि चारित्रस्य समुद्भवः।

प्रागेव केवलान्न स्यादित्येतच्च न युक्तिमत् ॥८२॥

समुच्छिन्नक्रियस्यातो ध्यानस्याविनिवर्तिनः।

साक्षात्संसारविच्छेदसमर्थस्य प्रसूतितः ॥८३॥

यथैवापूर्णचारित्रमपूर्णज्ञानहेतुकम्।

तथा तत्किन्न संपूर्णं पूर्णज्ञाननिबंधनम् ॥८४॥

तत्र ज्ञानपूर्वकतां चारित्रं व्यभिचरति।

प्रागेव क्षायिकं पूर्णं क्षायिकत्वेन केवलात्।

नत्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतः ॥८५॥

केवलज्ञानावरणादि कर्म सहित क्षायिक सम्यग्दर्शन तो केवलज्ञान की उत्पत्ति का प्रयोजक (कारण) नहीं है क्योंकि केवलज्ञानावरणादि कर्मों ने क्षायिक सम्यग्दर्शन की केवलज्ञान उत्पादकत्व शक्ति को रोक दिया है- जिससे कि क्षायिक सम्यग्दर्शन के अव्यवहित काल में उस केवलज्ञान की उत्पत्ति हो सके। अर्थात् केवलज्ञानावरणादि कर्मों के द्वारा क्षायिक सम्यग्दर्शन की केवलज्ञान-उत्पादक शक्ति का व्याघात कर दिया गया है इसलिए उसके अनन्तर ही केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान का उत्पादक है, ऐसा इष्ट ही है। अतः अप्रतिबन्धक कारण के ही स्वकार्यजनकत्व की प्रतीति है (अर्थात् प्रतिबन्धक कारणों का अभाव ही स्वकार्य का उत्पादक है।)

शंका - यदि केवलज्ञान पूर्वक चारित्र की उत्पत्ति होती है तो केवलज्ञान के पूर्व क्षायिक चारित्र की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए।

उत्तर - इस प्रकार कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि (यद्यपि सामान्य चारित्र की उत्पत्ति सामान्य ज्ञान के कारण हो गई तथापि) संसार के साक्षात् विच्छेदक समुच्छिन्नक्रियाविनिवर्ति (व्युपरत क्रियानिवृत्ति) ध्यान (चारित्र) की उत्पत्ति केवलज्ञान के कारण ही होती है। अतः अपूर्णज्ञानहेतुक अपूर्ण चारित्र है, उसी प्रकार पूर्णज्ञान हेतुक पूर्ण चारित्र क्यों नहीं होगा। अर्थात् जिस प्रकार अपूर्ण ज्ञान अपूर्ण चारित्र में कारण है, उसी प्रकार पूर्ण ज्ञान पूर्ण चारित्र का कारण है ॥८२-८३-८४॥ इसलिए चारित्र ज्ञान पूर्वक होता है इसमें कोई दोष नहीं है- चारित्र कभी ज्ञानपूर्वकत्व का अतिक्रम नहीं करता।

क्षायिक चारित्र की विशिष्टता

यद्यपि केवलज्ञान होने के पूर्व ही चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न क्षायिकत्व की अपेक्षा क्षायिक चारित्र पूर्ण है, परन्तु अघातिया कर्मों के नाश करने की शक्ति की अपेक्षा वह चारित्र (१४ वें गुणस्थान के पूर्व) परिपूर्ण नहीं है ॥८५॥

केवलज्ञानतत्प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं ज्ञानकारणकमिति न शङ्कनीयं, तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः। विवक्षितस्वकार्यकरणेत्यक्षणाप्राप्तत्वं हि संपूर्णं, तच्च न केवलात्प्रागस्ति चारित्रस्य, ततोऽप्यूर्ध्वमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेत्यरूपतया संपूर्णस्य तस्योदयात्। न च 'यथाख्यातं पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्यैवं बाधास्ति' तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात्। न हि सकलमोहक्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शश्वदमलवदात्यंतिकं तदभिष्टूयते। कथं पुनस्तदसंपूर्णादेव ज्ञानात्क्षायोपशमिकादुत्पद्यमानं तथापि संपूर्णमिति चेत् न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनस्तस्योत्पत्तेः। पूर्णं तत एव तदस्त्विति चेन्न, विशिष्टस्य रूपस्य तदनंतरमभावात्। किं तद्विशिष्टं रूपं चारित्रस्येति चेत्, नामाद्यघातिकर्मत्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानमित्युक्तप्रायं।

केवलज्ञान के उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त पूर्व ही यथाख्यात नामक चारित्र परिपूर्ण और क्षायिक हो जाता है और वही चारित्र ज्ञान (केवलज्ञान) का कारण है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि (क्षायिकचारित्र की अपेक्षा परिपूर्णता होने पर भी) उस क्षायिकचारित्र के मुक्ति रूप कार्य को उत्पादित करने में सहकारी कारणों की अपेक्षा होने से अभी परिपूर्णता की अनुपपत्ति है। (परिपूर्णता नहीं है)। क्योंकि विवक्षित स्वकार्य करने में कारण का अन्त के क्षण में प्राप्त होना ही सम्पूर्णता है। वह चारित्र की सम्पूर्णता (उत्तरक्षण में कार्य करने का सामर्थ्य) केवलज्ञान के उत्पन्न होने के पहले नहीं है। क्योंकि क्षायिक चारित्र की पूर्णता के होने पर भी अघाति कर्मों का विध्वंस करने की सामर्थ्य रूपता से सम्पूर्णता की उत्पत्ति उस चारित्र के केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद होती है। केवलज्ञान के पूर्व चारित्र की पूर्णता न मानने पर 'यथाख्यात चारित्र पूर्ण है' इस प्रकार आगम वाक्य की बाधा भी नहीं आ सकती, क्योंकि उस आगम में उस यथाख्यात चारित्र के चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय की अपेक्षा से परिपूर्णता स्वीकार की गयी है। तथा सकल मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न क्षायिक चारित्र एक अंश से भी मलयुक्त नहीं है, इसलिए वह क्षायिक चारित्र सर्वदा ही अत्यधिक अनन्त काल तक निर्मल है, ऐसी उसकी स्तुति की गई है।

शंका - फिर भी असम्पूर्ण और क्षायोपशमिक ज्ञान से उत्पन्न यथाख्यात चारित्र सम्पूर्ण कैसे हो सकता है?

उत्तर - ऐसा कहना ठीक नहीं है- क्योंकि सम्पूर्ण तत्त्वार्थों को परोक्ष रूप से जानने वाले पूर्ण श्रुतज्ञानी को ही यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति होती है। (श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने में परोक्ष और प्रत्यक्ष का ही अन्तर है)।^१

शंका - यदि पूर्ण श्रुतज्ञान से उत्पन्न यथाख्यात चारित्र परिपूर्ण है तो श्रुतज्ञान के बल से वह परिपूर्ण कहा जायेगा। (केवलज्ञान के बाद परिपूर्ण होगा, ऐसा क्यों कहा जाता है?)

उत्तर - ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि (यद्यपि अपने अंशों में तो वह चारित्र परिपूर्ण है तथापि) उस चारित्र के कतिपय विशिष्ट स्वभाव उस पूर्ण श्रुतज्ञान के अनन्तर भी उत्पन्न नहीं होते हैं।

शंका - उस क्षायिक चारित्र का विशिष्ट स्वभाव क्या है?

१. सुदकेवलं च पाणं दोष्णिवि सरिसाणि ह्येति बोहादो।

सुदपाणं च परोक्षं, पच्छक्खं केवलं पाणं ॥ गो.सा.

तद्रूपावरणं कर्म नवमं न प्रसज्यते ।

चारित्रमोहनीयस्य क्षयादेव तदुद्धवात् ॥८६॥

यद्यदात्मकं तत्तदावरणकर्मणः क्षयादुद्धवति, यथा केवलज्ञानस्वरूपं तदावरणकर्मणः क्षयात् । चारित्रात्मकं च प्रकृतमात्मनो रूपमिति चारित्रमोहनीयकर्मण एव क्षयादुद्धवति । न च पुनस्तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यतेऽन्यथातिप्रसङ्गात् ।

क्षीणमोहस्य किं न स्यादेवं तदिति चेन्न वै ।

तदा कालविशेषस्य तादृशोऽसम्भवित्वतः ॥८७॥

तथा केवलबोधस्य सहायस्याप्यसंभवात् ।

स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते ॥८८॥

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलस्तथाप्रतीतेः ।

उत्तर - नाम, वेदनीय और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ चौथा समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यान ही क्षायिक चारित्र की विशिष्टता है (यह हम पहले कह चुके हैं)।

उस चारित्र के अन्तिम स्वभाव का आवरण करने वाला कोई नौवाँ कर्म नहीं है, क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से ही क्षायिक चारित्र की उत्पत्ति होती है ॥८६॥

जो स्वभाव जिस भाव स्वरूप होता है, वह उस भाव के आवरण करने वाले कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है, जैसे आत्मा का केवलज्ञान स्वभाव केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से प्रकट होता है। इस प्रकरण में आत्मा का रूप (स्वरूप) चारित्रात्मक है- इसलिए वह चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है, अन्य कोई नौवाँ कर्म चारित्र का आवरण करने वाला नहीं है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो आठ कर्मों के स्थान में अनेक कर्मों के मानने का प्रसंग आयेगा।

‘चारित्र गुण का प्रतिबंधक चारित्रमोहनीय है तब तो क्षीणमोह वाले १२वें गुणस्थान में चारित्र की पूर्णता हो जानी चाहिए।’ ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि १२वें गुणस्थान में चारित्रमोह के सर्वथा नाश हो जाने पर भी चारित्र की पूर्णता करने वाले कालविशेष की असंभवता है। उसी प्रकार १३वें गुणस्थान का केवलज्ञान भी चारित्र की पूर्णता करने में समर्थ नहीं है क्योंकि १३वें गुणस्थान में भी चारित्रस्वभाव पूर्ण करने में सहायक कालविशेष की असंभवता है। अपनी पूर्ण सामग्री के बिना कारण, कार्य को करते हुए कभी दृष्टिगोचर नहीं होते ॥८७-८८॥

काल, क्षेत्र, आत्मीय परिणाम आदि सामग्री की अपेक्षा रखता हुआ ही मोहनीय कर्म का क्षय उस चारित्र के स्वभाव को प्रकट करने में कारण है। अकेले मोहनीय कर्म का क्षय चारित्र के पूर्ण स्वभाव को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है- क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् प्रत्येक कार्य में काल, द्रव्य, क्षेत्र, भावादि की अपेक्षा होती है।

क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे ।

यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता ॥८९॥

ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं तद्वदयोगिनः ।

पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥९०॥

कर्मनिर्जरणशक्तिर्जीवस्य सम्यग्दर्शने सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रे चान्तर्भवेत्ततो न्या वा स्यात् । तत्र न तावत् सम्यग्दर्शने ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिचतुर्दशकनिर्जरणशक्तिरन्तर्भवत्य-संयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तपर्यंतगुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थाने दर्शनमोहक्षयात्तदाविर्भावप्रसक्तेः ।

ज्ञाने सान्तर्भवतीति चायुक्तं, क्षायिकेनैतदन्तर्भावे सयोगिकेवलिनः केवलेन सहाविर्भावापत्तेः । क्षायोपशमिके तदन्तर्भावे तेन सहोत्पादप्रसक्तेः । क्षायोपशमिके चारित्रे तदन्तर्भावे

अघातिया कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ चारित्र १४वें गुणस्थान के अन्त समय में

जिस प्रकार क्षीणकषाय नामक गुणस्थान के प्रथम क्षण में ही मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर भी ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मों के क्षय करने की शक्ति उस गुणस्थान के अन्त समय में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार तीन अघातिया कर्मों का नाश करने में समर्थ चारित्र अयोगकेवली के चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में उत्पन्न होता है ॥८९-९०॥

जीव की कर्मों को निर्जरण करने की शक्ति सम्यग्दर्शन में अन्तर्भूत होती है कि सम्यग्ज्ञान में वा सम्यक्चारित्र में वा जीव के और किन्हीं अन्य गुणों में? ज्ञानावरणादि १४ प्रकृतियों (पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, चार दर्शनावरण) के निर्जरण करने की जीव की शक्ति सम्यग्दर्शन में तो अन्तर्भूत नहीं हो सकती क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में दर्शन मोहनीय के क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जाने से उसी समय चारित्र की पूर्णता का प्रसंग आयेगा ।

सम्यग्ज्ञान में तीन अघातिया कर्मप्रकृतियों के नाश करने की शक्ति का अन्तर्भाव होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि क्षायिकज्ञान में उस शक्ति का अन्तर्भाव हो जाने पर सयोगकेवली के केवलज्ञान के साथ चारित्र की पूर्णता होकर मुक्ति की प्राप्ति का प्रसंग आयेगा । यदि क्षायोपशमिक ज्ञान में उस शक्ति का अन्तर्भाव करते हैं तो उन मति श्रुत आदि क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ ही कर्म-निर्जरण करने की जीव की शक्ति के उत्पाद का प्रसंग आयेगा ।

यदि उस कर्म-निर्जरण करने की शक्ति का क्षायोपशमिक चारित्र में अन्तर्भाव करेंगे तब तो छठे-सातवें गुणस्थान में होने वाले क्षायोपशमिक चारित्र की उत्पत्ति के साथ ही उस शक्ति के उत्पाद का प्रसंग आयेगा । यदि क्षायिक चारित्र में उस शक्ति को अन्तर्भूत करेंगे तो उस शक्ति के प्रगट हो

तेनैव सह प्रादुर्भावानुसंगत् । क्षायिके तदन्तर्भावे क्षीणकषायस्य प्रथमे क्षणे तदुद्भूतेर्निद्राप्रचलनयोर्ज्ञानावरणादिप्रकृतिचतुर्दशकस्य च निर्जरणप्रसक्तेर्नोपांत्यसमये अन्यक्षणे च तन्निर्जरा स्यात् ।

दर्शनादिषु तदन्तर्भावे तदावारकं कर्मान्तरं प्रसज्येत, दर्शनमोहज्ञानावरणचारित्रमोहानां तदावारकत्वानुपपत्तेः । वीर्यान्तरायस्तदावारक इति चेन्न, तत्क्षयानन्तरं तदुद्भवप्रसंगत् । तथा चान्योन्याश्रयणं—सति वीर्यान्तरायक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावस्तस्मिंश्च सति वीर्यान्तरायक्षय इति । एतेन ज्ञानावरणप्रकृतिपंचकदर्शनावरणप्रकृतिचतुष्टयान्तरायप्रकृतिपंचकानां तन्निर्जरणशक्तेरावारकत्वेऽन्योन्याश्रयणं व्याख्यातम् । नामादिचतुष्टयं तु न तस्याः प्रतिबन्धकम् ।

जाने से निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, इन प्रकृतियों की सत्ता एवं उदय व्युच्छिति करने की शक्ति भी बारहवें गुण-स्थान के प्रथम क्षण में होनी चाहिए। उस बारहवें गुणस्थान के अन्त्य के निकटवर्ती उपान्त्य समय में निद्रा, प्रचला की और अन्त्य समय में ज्ञानावरणादि १४ प्रकृतियों की निर्जरा होनी चाहिए।

यदि दर्शन, ज्ञान, चारित्र में कर्मनिर्जरण शक्ति का अन्तर्भाव नहीं करेंगे (अर्थात् कर्मों की निर्जरा करने की शक्ति को इनसे पृथक् स्वतन्त्र गुण मानेंगे) तो उस शक्ति के आवरण करने वाले नौवें कर्म के मानने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि दर्शनावरण, ज्ञानावरण और चारित्र मोहनीय के तो उस शक्ति को आवरण करने की अनुपपत्ति है- अर्थात् ये कर्म तो उस शक्ति का आवरण कर नहीं सकते।

वीर्यान्तराय कर्म सम्पूर्ण कर्म-निर्जरण करने की शक्ति का आवरण करने वाला है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर वीर्यान्तराय के क्षय होने के साथ ही उस शक्ति के प्रादुर्भाव का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर अन्योन्याश्रय दोष भी आयेगा कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय होने पर तो उन प्रकृतियों के क्षय करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होगा और कर्मों के क्षय करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होने पर वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होगा।

इस उक्त कथन के द्वारा ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों को, दर्शनावरण की चार प्रकृतियों को और अन्तराय की पाँच प्रकृतियों को उस निर्जरा करने की शक्ति का आवारक कर्म मान लेने पर भी अन्योन्याश्रय दोष आता है, ऐसा पहले कह चुके हैं। नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु ये चार कर्म भी उस शक्ति के प्रतिबन्धक नहीं हैं।

तस्यात्मस्वरूपाघातित्वेन कथनात्। न च सर्वधानावृत्तिरेव सा सर्वदा तत्क्षयणीयकर्मप्रकृत्यभावानुषंगात्। स्यान्मतं, चारित्रमोहक्षये तदाविर्भावाच्चारित्र एवान्तर्भावो विभाव्यते। न च क्षीणकषायस्य प्रथमसमये तदाविर्भावप्रसंगः कालविशेषापेक्षत्वात्तदाविर्भावस्य। प्रधानं हि कारणं मोहक्षयस्तदाविर्भावे सहकारिकारणमंत्यसमयमन्तरेण न तत्र समर्थं, तद्भाव एव तदाविर्भावादिति। तर्हि नामाद्यघातिकर्मनिर्जराशक्तिरपि चारित्रेऽन्तर्भाव्यते। तत्रापि क्षायिके, न क्षायोपशमिके दर्शने, नापि ज्ञाने क्षायोपशमिके क्षायिके वा तेनैव सह तदाविर्भावप्रसंगात्।

न चानावरणा सा, सर्वदाविर्भावप्रसंगात् संसारानुपपत्तेः। न ज्ञानदर्शनावरणान्तरायैः प्रतिबद्धा तेषां ज्ञानादिप्रतिबन्धकत्वेन तदप्रतिबन्धकत्वात्। नाऽपि नामाद्यघातिकर्मभिस्तत्क्षयानंतरं

क्योंकि ये चार अघातिया कर्म आत्मा के स्वाभाविक अनुजीवी गुणों का घात नहीं कर सकते, अघाती होने से ऐसा कथन है। चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करने वाली वह शक्ति सर्वथा आवरण से रहित भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो सर्वकाल में ही उस शक्ति से क्षय को प्राप्त होने योग्य कर्मप्रकृतियों के अभाव का प्रसंग आयेगा।

शंका - चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय होने पर चौदह प्रकृतियों के नाश करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अतः इस शक्ति का अन्तर्भाव चारित्र में करना चाहिए तथा इस शक्ति के प्रादुर्भाव में कालविशेष की अपेक्षा होने से क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान के प्रथम समय में इसकी उत्पत्ति का प्रसंग भी नहीं आता है। क्योंकि इस शक्ति के आविर्भाव में प्रधान कारण मोहनीय कर्म का क्षय ही है। परन्तु वह मोहनीय कर्म का क्षय भी १२वें गुणस्थान के अन्तिम क्षण रूप सहकारी कारण के बिना उस शक्ति को प्रकट करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि सहकारी कारणों के मिलने पर ही उस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

उत्तर - यदि मतिज्ञानावरणादि १४ प्रकृतियों के नाश करने की शक्ति का अन्तर्भाव चारित्र में किया जाता है तो नाम, वेदनीयादि अघातिया कर्मों के निर्जरा करने की शक्ति का अन्तर्भाव भी चारित्र में करना पड़ेगा किन्तु इस शक्ति का अन्तर्भाव क्षायिक सम्यक्त्व क्षौर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में नहीं हो सकता और न क्षायिक एवं क्षायोपशमिक ज्ञान में हो सकता है, क्योंकि इन ज्ञान-दर्शन में उस शक्ति का अन्तर्भाव करने पर उनके साथ ही उस शक्ति के प्रादुर्भाव का प्रसंग आता है। अघातिया कर्मों का नाश करने वाली शक्ति अनावरणा है ऐसा मानने पर तो उस अघातिया कर्मों की नाशक शक्ति का निरन्तर प्रादुर्भाव रहने से संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् प्रतिबन्धक का अभाव होने से संसार के भी अभाव का प्रसंग आयेगा।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म को भी उस शक्ति का प्रतिबन्धक नहीं कह सकते, क्योंकि इन तीनों कर्मों में तो नियत रूप से ज्ञानादि गुणों के प्रतिबन्धक होने से सर्वकर्मनाशक शक्ति का प्रतिबन्ध करने का सामर्थ्य नहीं है।

तदुत्पादप्रसक्तेः । तथा चान्योन्याश्रयणात् सिद्धे नामाद्यघातिक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावात्तत्सिद्धौ नामाद्यघातिक्षयात् । इति चारित्रमोहस्तस्याः प्रतिबन्धकः सिद्धः । क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात् । प्रधानं हि कारणं मोहक्षयो नामादिनिर्जरणशक्तेर्नायोगकेवलिगुणस्थानोपान्त्यान्त्यसमयं सहकारिणमन्तरेण तामुपजनयितुमत्नं सत्यपि केवले ततः प्राक्तदनुत्पत्तेरिति । न सा मोहक्षयनिमित्ताऽपि क्षीणकषायप्रथमक्षणे प्रादुर्भवति, नापि तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यते इति स्थितं कालादिसहकारिविशेषापेक्षं क्षायिकं चारित्रं क्षायिकत्वेन संपूर्णमपि मुक्त्युत्पादने साक्षादसमर्थम् केवलात्प्राक्कालभावि तदकारकम् । केवलोत्तरकालभावि तु साक्षान्मोक्षकारणं संपूर्णं केवलकारणकमन्यथा तदघटनात् ।

नामादि अघातिया कर्म भी सर्व कर्मों की नाशक चारित्रशक्ति के प्रतिबन्धक नहीं हैं— क्योंकि ऐसा मानने पर तो उन नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म के क्षय होने के पश्चात् उस शक्ति के उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा । तथा ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष भी आयेगा कि नामादि अघातिया कर्मों का क्षय सिद्ध हो जाने पर उन कर्मों के निर्जरण करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होगा और उस शक्ति के प्रादुर्भाव होने पर नामादि अघातिया कर्मों का नाश होगा । इसलिए उस सर्वकर्मनाशक शक्ति का प्रतिबन्धक चारित्रमोह ही सिद्ध होता है ।

सर्व कर्मों की नाशक शक्ति का प्रतिबन्धक चारित्रमोहनीय को मान लेने पर क्षीणकषाय के प्रथम समय में ही उस चारित्र शक्ति के प्रादुर्भाव का प्रसंग आयेगा, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए— क्योंकि सम्पूर्ण कार्यों के प्रति अवश्य अपेक्षणीय कालविशेष सहकारी कारणों का १२वें गुणस्थान के प्रथम समय में अभाव है । अतः नामादि सर्व अघातिया कर्मों की नाशक शक्ति के उत्पादक मोहनीय कर्म का क्षय ही प्रधान कारण है तथापि वह मोहनीय कर्म का क्षय अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य अन्तिम समय रूप सहकारी कारण के बिना सर्वकर्मनाशक शक्ति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है । तथा १३वें गुणस्थान के प्रथम समय में केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी १४वें गुणस्थान के उपान्त्य और अन्तिम समय के पूर्व वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती और मोहक्षय के निमित्त से होने पर भी वह सर्वकर्मनाशक शक्ति क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थान के प्रथम समय में प्रगट नहीं हो सकती । और उस शक्ति के प्रतिबन्धक चारित्र मोहनीय कर्म के सिद्ध हो जाने पर उस शक्ति के आवरण नौवें कर्म का प्रसंग भी नहीं आता । अतः यह सिद्ध हुआ कि क्षायिकत्व की अपेक्षा चारित्र पूर्ण हो जाने पर भी वह कालादि सहकारी कारणों की विशेष अपेक्षा होने से साक्षात् मुक्ति के उत्पादन में समर्थ नहीं है । केवलज्ञान के पूर्व में होने वाला क्षायिक चारित्र मुक्ति का कारण नहीं है । क्योंकि मोक्ष के हेतु तीनों रत्नों की पूर्णता मानी गई है । केवलज्ञान के उत्तरकाल में होने वाला चारित्र जब अपने सहकारी कारण विशेष से परिपूर्ण हो जाता है तब साक्षात् मोक्ष का कारण होता है । अतः चारित्र की पूर्णता का कारण केवलज्ञान है, क्योंकि केवलज्ञान के बिना चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होने वाले चारित्र की पूर्णता नहीं हो सकती । अतः केवलज्ञान के होने पर भी चारित्र की पूर्णता भजनीय है ।

कालापेक्षितया वृत्तमसमर्थं यदीष्यते ।

व्यादिसिद्धक्षणेत्पादे तदन्यं तादृगित्यसत् ॥९१॥

प्राच्यसिद्धक्षणेत्पादापेक्षया मोक्षवर्त्मनि ।

विचारप्रस्तुतेरेवं कार्यकारणतास्थितेः ॥९२॥

नहि द्व्यादिसिद्धक्षणेः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावो विचारयितुमुपक्रांतो येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते । किं तर्हि? प्रथमसिद्धक्षणेन सह; तत्र च तत्समर्थमेवेत्यसत्त्वोद्यमेत् । - कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात्? धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणेत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणेत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः । तथा च न किञ्चित्कस्यचित्समर्थं कारणं, न चासमर्थात्कारणादुत्पत्तिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत्कार्यकारणता? कालान्तरस्थायिनोऽग्नेः स्वकारणादुत्पन्नो धूमः कालान्तरस्थायी स्कन्ध एक

रत्नत्रय में कार्यकारण भाव

प्रश्न - यदि 'विशेष काल की अपेक्षा करने वाला होने से चारित्रगुण शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ नहीं है' ऐसा मानोगे तो चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होने वाला भी चारित्र सिद्ध भगवान के द्वितीयादि समय में होने वाली पर्यायों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होगा, क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होने वाले चारित्र ने सिद्धों की प्रथम समय की पर्याय को ही उत्पन्न किया है द्वितीयादि को नहीं। अतः द्वितीयादि क्षण के उत्पादन में वह पूर्व के समान असमर्थ रहेगा तो द्वितीयादि समय में सिद्ध भगवान मुक्त नहीं रह सकेंगे?

उत्तर - इस प्रकार कहना प्रशस्त नहीं है, क्योंकि यहाँ मोक्षमार्ग के प्रकरण में प्रथम समय की सिद्धपर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा से विचार प्रस्तुत होने से इस प्रकार कार्यकारणभाव की सिद्धि है अर्थात् इस सूत्र में प्रथम समय की पर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा से कार्य-कारण भाव है ॥९१-९२॥

निश्चय से, तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ करने के प्रकरण में, दूसरे तीसरे आदि समय में होने वाली सिद्ध पर्यायों के साथ अयोगकेवली गुणस्थान के अन्त समय में होने वाले रत्नत्रय का कार्य-कारण भाव विचार करने के लिए प्रस्ताव प्राप्त नहीं है, जिससे चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में होने वाले उस चारित्र के द्वितीय आदि समयों में होने वाली सिद्ध पर्यायों के उत्पन्न करने में असमर्थता का प्रसंग प्राप्त हो।

प्रश्न - इस रत्नत्रय में किस प्रकार का कार्य-कारण भाव है?

उत्तर - प्रथम क्षण की सिद्ध पर्याय के साथ रत्नत्रय का कारण-कार्य भाव है तथा वह रत्नत्रय प्रथम सिद्ध पर्याय को उत्पन्न करने में समर्थ है। अतः उपर्युक्त कुचोद्य करना प्रशंसनीय नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो अग्नि रूपी कारण प्रथम समय की धूम की पर्याय को उत्पन्न करता हुआ भी वहाँ धूम के उत्पन्न करने में समर्थ कैसे होगा? अर्थात् सर्व उत्तरवर्ती धूम पर्यायों को तो अग्नि उत्पन्न नहीं कर सकती। यदि प्रथम क्षण की धूम पर्याय से उत्पन्न हुई द्वितीय समय की पर्याय और द्वितीय समय की धूम पर्याय से संभूत तृतीय आदि समय की धूम पर्याय को समुत्पन्न करने में अग्नि का सामर्थ्य नहीं है तो प्रथम समय की धूम पर्याय को पैदा करने का सामर्थ्य भी उस अग्नि में नहीं होने का प्रसंग आवेगा और ऐसा होने पर कोई भी कारण किसी भी कार्य का समर्थ कारण नहीं रहेगा। तथा असमर्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति होती नहीं है अतः बेचारी यह कार्य-कारणता कहाँ रह सकेगी अर्थात् सर्व कार्य-कारण भाव भी सर्वथा नष्ट हो जायेगा।

एवेति स तस्य कारणं प्रतीयते तथा व्यवहारान्यथा तदभावादिति चेत्, तर्हि सयोगिकेवलिरत्नत्रयमद्योगिकेवलिचरमसमयपर्यन्तमेकमेव तदनन्तरभाविनः सिद्धत्वपर्यायस्थानंतस्यैकस्य कारणमित्यायातम्, तच्च नानिष्टम्, व्यवहारनयानुरोधस्तथेष्टत्वात्। निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिरत्नत्रयमसमयवर्ति-रत्नत्रयमिति निरवद्यमेतत्तत्त्वविदामाभासते।

ततो मोहक्षयोपेतः पुमानुद्भूतकेवलः।

विशिष्टकारणं साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥९३॥

रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोतिमे।

क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चितात्रयात् ॥९४॥

व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम्।

मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं तत्त्ववेदिनाम् ॥९५॥

“कालान्तरस्थायी अग्निरूप स्व कारण से उत्पन्न धूम कालान्तरस्थायी एक ही पौद्गलिक पिण्ड है, अतः वह कालान्तरस्थायी अग्नि उस कालान्तरस्थायी धूम का कारण प्रतीत होती है क्योंकि ऐसा ही व्यवहार होता है, यदि ऐसा नहीं माना जाय (स्थूल कारणों को स्थूल पर्याय का उत्पादक नहीं माना जाय) तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा” यदि इस प्रकार कहोगे तो प्रकृत में भी सयोगि-केवली का क्षायिक रत्नत्रय और अयोगि केवली के चरम समय पर्यन्त रहने वाला क्षायिक रत्नत्रय एक ही है और उसी प्रकार अयोगिकेवली के अन्तिम रत्नत्रय से होने वाली प्रथम समय की सिद्धपर्याय और उस पर्याय के पश्चात् उत्तरोत्तर अनन्त काल तक होने वाली सदृश अनन्तानन्त सिद्ध पर्यायें भी एक पिण्ड हैं। अतः वह एक ही रत्नत्रय अनन्त काल तक होने वाली सिद्ध पर्यायों का कारण है ऐसा सिद्ध होता ही है। और इस प्रकार का कार्य-कारण भाव स्याद्वादियों को अनिष्ट भी नहीं है, क्योंकि व्यवहार नय की प्रधानता से ऐसा कार्य-कारण भाव इष्ट होता ही है। परन्तु निश्चय नय का आश्रय लेने पर तो जिस रत्नत्रय के अव्यवहित उत्तर काल में प्रथम मोक्षपर्याय उत्पन्न होती है, वहीं अयोग केवली का चरम समयवर्ती रत्नत्रय मोक्ष का मुख्य (प्रधान) कारण है, यह सिद्धान्त तत्त्वपरीक्षक विद्वानों को निर्दोष अवभासित हो रहा है।

निश्चय नय से यह निर्बाध सिद्ध है कि जिसके मोहकर्म का नाश हो गया है और जो केवल-ज्ञान से युक्त है ऐसी आत्मा ही मुक्ति का विशिष्ट कारण है क्योंकि अयोगि केवली के अन्तिम समय में साक्षात् अशरीर के हेतुभूत रत्नत्रय रूप से आत्मा ही परिणमन करता है ॥९३-९४॥ तथा व्यवहार नय की प्रधानता से तो पूर्व का रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है- अतः तत्त्वज्ञ पुरुषों को विवाद करने से कोई प्रयोजन (सिद्धि) नहीं है ॥९५॥

संसारकारणत्रित्वासिद्धेर्निर्वाणकारणे ।

त्रित्वं नैवोपपद्येतेत्यचोद्यं न्यायदर्शिनः ॥९६॥

आद्यसूत्रस्य सामर्थ्याद्भवहेतोस्त्रयात्मनः ।

सूचितस्य प्रमाणेन बाधनानवतारतः ॥९७॥

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ इत्याद्यसूत्रसामर्थ्यात् मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः इति सिद्धेः सिद्धमेव संसारकारणत्रित्वं, बाधकप्रमाणाभावात्ततो न संसारकारणत्रित्वासिद्धेर्निर्वाणकारणत्रित्वानुपपत्तिचोदना कस्यचिन्न्यायदर्शितामावेदयति । विपर्ययमात्रमेव विपर्ययावैराग्यमात्रमेव वा संसारकारणमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेर्न संसारकारणत्रित्वस्य बाधास्ति । तथाहि-

मौलो हेतुर्भवस्येष्टो येषां तावद्विपर्ययः ।

तेषामुद्भूतबोधस्य घटते न भवस्थितिः ॥९८॥

संसार के भी तीन कारण हैं

संसार के कारणों के तीनपना असिद्ध होने से मोक्ष के भी तीन कारणत्व नहीं हो सकते, इस प्रकार की शंका न्यायदर्शियों को नहीं करनी चाहिए क्योंकि आदिसूत्र (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) के सामर्थ्य से इस प्रकार की सूचना हो जाती है कि संसार के भी तीन कारण हैं- अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र^१ ये तीन मोक्ष के कारण हैं- इससे विपरीत तीन संसार के कारण हैं, इस बात को सूचित करने वाले आदिसूत्र के बाधक किसी प्रमाण का अवतार नहीं है ॥९६-९७॥

‘सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है’ इस आदिसूत्र के सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के मार्ग हैं, यह सिद्ध हो जाने से संसार के तीन कारण हैं, यह सिद्ध हो ही जाता है। इसमें बाधक प्रमाण का अभाव है इसलिए संसारकारण के त्रित्व (तीनपना) असिद्ध होने से मोक्षमार्ग के त्रित्व (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनपने) की अनुपपत्ति है (तीनपना नहीं बन सकता) ऐसा कहने वालों के न्यायदर्शिता (न्याय को जानना पना) प्रगट नहीं हो रही है। अर्थात् संसार के तीन कारणों को नहीं मानने वाले नैयायिक वास्तव में नैयायिक नहीं हैं। “अकेला विपर्यय ज्ञान ही अथवा मिथ्याज्ञान और अवैराग्य भाव (रागभाव) ये दो ही संसार के कारण हैं” इस प्रकार की व्यवस्थापना करना अशक्य होने से संसार के कारणों में तीनपने में कोई बाधा नहीं है। मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र तीनों ही संसार के कारण हैं- इसी बात को स्पष्ट करते हैं-

मात्र मिथ्याज्ञान संसार का कारण नहीं

जिन (नैयायिक, सांख्य और वैशेषिक) के मत में संसार का मूल कारण विपर्यय (मिथ्याज्ञान वा अविद्या) इष्ट है; उनके मत में तत्त्वज्ञान के प्रगट हो जाने पर उस ज्ञानी जीव के संसार में स्थित रहना घटित नहीं हो सकता अर्थात् तत्त्वज्ञान के द्वारा विपर्यय ज्ञान का नाश होते ही मुक्ति की प्राप्ति हो जायेगी ॥९८॥

१. आत्मा को छोड़कर रत्नत्रय अन्यत्र नहीं पाया जाता है।

अतस्मिंस्तदग्रहो विपर्ययः, स दोषस्य रागादेर्हेतुः, तद्भावे भावान्तदभावेऽभावात्। सोप्यदृष्टस्याशुद्धकर्मसंज्ञितस्य, तदपि जन्मनस्तदुःखस्यानेकविधस्येति मौलो भवस्य हेतुर्विपर्यय एव येषामभिमतस्तेषां तावदुद्धूततत्त्वज्ञानस्य योगिनः कथमिह भवे स्थितिर्घटते कारणाभावे कार्योत्पत्तिविरोधान् ?

संसारे तिष्ठतस्तस्य यदि कश्चिद्विपर्ययः।

संभाव्यते तदा किन्न दोषादिस्तन्निबन्धनः ॥१९॥

समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्याध्यशेषतोऽनागतविपर्ययस्यानुत्पत्तिर्न पुनः पूर्वभवोपात्तस्य पूर्वार्धमनिबन्धनस्य, ततोऽस्य भवस्थितिर्घटत एवेति सम्भावनायां, तद्विपर्ययनिबन्धनो दोषस्तदोषनिबन्धनं चादृष्टं तददृष्टनिमित्तं च जन्म, तज्जन्मनिमित्तं च दुःखमनेकप्रकारं किन्न संभाव्यते? न हि पूर्वोपात्तो विपर्यासस्तिष्ठति न पुनस्तन्निबन्धनः पूर्वोपात्त एव दोषादिरिति प्रमाणमस्ति तत्स्थितेरेव प्रमाणतः सिद्धेः।

अतद्रूप में तद्रूप का ज्ञान होना ही विपर्यय ज्ञान है। वह विपर्यय ज्ञान राग-द्वेष, अज्ञान आदि दोषों का कारण है। क्योंकि विपर्यय ज्ञान के होने पर ही रागद्वेषादि होते हैं- और विपर्यय ज्ञान के नहीं होने पर नहीं होते हैं। वे रागद्वेष भी अशुद्ध कर्म हैं नाम जिनके ऐसे पुण्य-पाप रूप अदृष्ट के कारण हैं। वे पुण्य-पाप कर्म भी जन्म लेने के कारण हैं। और जन्म लेना अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का कारण है। इस प्रकार संसार का मूल कारण विपर्यय ज्ञान ही है। जैनाचार्य कहते हैं कि जिनका यह अभिमत है कि विपर्यय ज्ञान ही संसार का कारण है, उनके तत्त्वज्ञान होने पर उस योगी का संसार में स्थित रहना कैसे घटित हो सकता है? क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का विरोध आता है। अर्थात् संसार का कारण विपरीत ज्ञान है और तत्त्वज्ञान के द्वारा विपरीत ज्ञान का नाश हो जाने पर उसी समय मोक्ष हो जाना चाहिए, तत्त्वज्ञान होने पर उनका संसार में रहना कैसे घटित हो सकता है?

संसार में रहने वाले उस योगी के कुछ विपर्यय ज्ञान का सद्भाव मान लेने पर तो दोषादि के कारणभूत विपर्यय ज्ञान रहने पर रागद्वेषादि क्यों नहीं रहेंगे (अवश्य रहेंगे, समर्थ कारण अपने नियत कार्य को अवश्य उत्पन्न करेगा) ॥१९॥

नैयायिक कहते हैं कि समुत्पन्न तत्त्वज्ञानी के भी भविष्य में आने वाले विपर्यय ज्ञान का पूर्ण रूप से निरोध हो गया है। किन्तु पूर्व जन्मों में ग्रहण किये हुए अधर्म (पुण्य पाप) के कारण से उत्पन्न होने वाले विपर्ययों का उत्पाद होना नहीं रुका है। अतः उस पूर्व अदृष्ट पुण्य-पाप नामक कारणों से उत्पन्न विपर्यय ज्ञानों का उपभोग करते हुए इस योगी का संसार में कुछ दिन तक रहना घटित हो जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार योगी के संसार में रहने की संभावना होने पर उस योगी के विपर्यय ज्ञान के कारण रागादि दोष भी अवश्य उत्पन्न होंगे और उन दोषों को कारण पाकर अदृष्ट भी उत्पन्न होंगे। तथा अदृष्ट के निमित्त से जन्म और जन्म के निमित्त से अनेक प्रकार के दुःख भी उस योगी के क्यों नहीं संभव होंगे? अवश्य होंगे।

पूर्व जन्म में संचित विपर्यास (मिथ्याभिनिवेश) के कारण योगी कुछ काल तक संसार में रहता हो और विपर्यास के कारणभूत पाप, दुःख, दोष आदि योगी के नहीं हों, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अपितु उस विपर्यास की स्थिति से ही दोषादि का होना प्रमाण से सिद्ध होता है।

तथा सति कुतो ज्ञानी वीतदोषः पुमान्परः ।

तत्त्वोपदेशसन्तानहेतुः स्याद्भवदादिषु ॥१००॥

पूर्वोपात्तदोषादिस्थितौ च तत्त्वोपदेशसंप्रदायाविच्छेदहेतोर्भवदादिषु विनेयेषु सर्वज्ञस्यापि परमपुरुषस्य कुतो वीतदोषत्वं येनाज्ञोपदेशविप्रलम्भनशंकिभिस्तदुक्तप्रतिपत्तये प्रेक्षावद्भिर्भवद्भिः स एव मृग्यते । यदि पुनर्न योगिनः पूर्वोपात्तो विपर्ययोऽस्ति नापि दोषस्तस्य क्षणिकत्वेन स्वकार्यमदृष्टं निर्वर्त्य निवृत्तेः, किं तर्ह्यदृष्टमेव तत्कृतमास्ते तस्याक्षणिकत्वादन्त्येनैव कार्येण विरोधित्वात्तत्कार्यस्य च जन्मफलानुभवनस्योपभोगेनैव निवृत्तेस्ततः पूर्वं तस्यावस्थितिरिति मतं; तदा तत्त्वज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तस्मिन्नेव जन्मनि विपर्ययो न स्यात्पूर्वजन्मन्येव तस्य निवृत्तत्वात्,

पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से तत्त्वज्ञानी के दोषों की सम्भावना होने पर वह ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) आत्मा दोषरहित कैसे हो सकती है। तथा नैयायिक, वैशेषिक आदिकों में तत्त्व-उपदेश के सन्तान (परम्परा) का कारण भी कैसे हो सकती है ॥१००॥

तत्त्वज्ञानी के पूर्वजन्म में ग्रहण किये गये राग-द्वेष आदि दोष तथा उनसे उत्पन्न पाप दुःख आदि की स्थिति रहने पर तत्त्वोपदेश की परम्परा के अविच्छेद के कारणभूत नैयायिक आदि विनेयों में (नैयायिक, वैशेषिक आदि में) सर्वज्ञ परम पुरुष के दोषरहितपना कैसे सिद्ध हो सकता है? जिससे अज्ञ सदोष के उपदेश से धोखा हो जाने से शंकित एवं विचारशील आप लोगों के द्वारा उस संशय का निराकरण करने के लिए- अथवा उस अज्ञ पुरुष के द्वारा कथित तत्त्व का ज्ञान करने के लिए निर्दोष पुरुष का ही अन्वेषण किया जा रहा है। अर्थात् कोई भी विचारशील मानव सदोष और भ्रान्त ज्ञान कराने वाले पुरुषों को तत्त्वोपदेश की अक्षुण्ण आम्नाय का कारण नहीं मानते हैं।

नैयायिक का कथन है- तत्त्वज्ञानी योगी के पूर्वोपार्जित विपर्यय ज्ञान नहीं है और न विपर्यय ज्ञानजन्य रागादि दोष और दुःख शोकादि का भी अस्तित्व है। क्योंकि विपर्यय ज्ञान के क्षणिक होने से वे दोष अदृष्ट (पाप रूप) स्वकार्य को करके शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

शंका - उस योगी के शेष क्या रहता है? उत्तर - पूर्व में योगी द्वारा कृत पुण्य-पाप ही आत्मा में अवस्थित रहता है। क्योंकि वह अदृष्ट (पुण्य-पाप) क्षणिक नहीं है। पूर्व संचित अदृष्ट का अपना अन्तिम कार्य किये बिना (फल दिये बिना नष्ट होमे) का विरोध है।

अतः योगी के भी पूर्वसंचित कर्मों से उत्पन्न जन्म लेकर फल भोगने रूप कार्य के उपभोग से ही (उपभोग कराकर के ही) अदृष्ट की निवृत्ति होती है। अतः तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी जब तक वर्तमान मनुष्य जन्म रहता है, तब तक पूर्वोपार्जित कर्म के कारण योगी की स्थिति बनी रहती है और वे शरीर-वचनधारी, निर्दोष, सर्वज्ञ होकर विनय करने वाले जीवों के लिए तत्त्व का उपदेश करते हैं। ऐसा नैयायिकों के कहने पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व भी इस जन्म में ही विपर्यय ज्ञान नहीं रह सकेगा। क्योंकि वह विपर्यय ज्ञान तो पूर्व जन्म में ही निवृत्त हो जाता है। और विपर्यय ज्ञान के अभाव के समान रागादि दोषों की भी निवृत्ति का प्रसंग आयेगा। अतः पूर्वजन्मकृत अदृष्ट के कारण योगी संसार में रहते हैं- ऐसा कहना ठीक नहीं है- क्योंकि यह कथन प्रतीति से विरुद्ध है।

तद्दोषोपीत्यापतितं, तत्कृतादृष्टस्यैव स्थितेः। न चैतद्युक्तं, प्रतीतिविरोधात्। यदि पुनः पूर्वजन्मविपर्ययादोषस्ततोप्यधर्मस्तस्मादिह जन्मनि मिथ्याज्ञानं ततोऽपरो दोषस्ततोप्यधर्मस्तस्मादपरं मिथ्याज्ञानमिति तावदस्य संतानेन प्रवृत्तिर्यावत्तत्त्वज्ञानं साक्षादुत्पद्यते इति मतं; तदा तत्त्वज्ञानकालेऽपि तत्पूर्वानंतरविपर्यासादोषोत्पत्तिस्ततोप्यधर्मस्ततोऽन्यो विपर्यय इति कुतस्तत्त्वज्ञानादनागतविपर्ययादिनिवृत्तिः ?

वितथाग्रहरागादिप्रादुर्भावनशक्तिभृत्।

मौलो विपर्ययो नांत्य इति केचित्प्रपेदिरे ॥१०१॥

मौल एव विपर्ययो वितथाग्रहरागादिप्रादुर्भावनशक्ति बिभ्राणो मिथ्याभिनिवेशात्मकं दोषं जनयति, स चाधर्ममधर्मश्च जन्म तच्च दुःखात्मकं संसारं; न पुनरंत्यः क्रमादपकृष्यमाणतज्जननशक्तिकविपर्ययादुत्पन्नस्तज्जननशक्तिरहितोऽपि, यतस्तत्त्वज्ञानकाले मिथ्याभिनिवेशात्मकदोषोत्पत्तिस्ततोप्यधर्मादिरुत्पद्येतेति केचित्संप्रतिपन्नाः।

यदि पुनः पूर्वजन्म के विपरीत ज्ञान से रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, रागद्वेष से आत्मा में पुण्य-पाप रूप अदृष्ट की उत्पत्ति होती है तो उस अदृष्ट के कारण इस जन्म में मिथ्याज्ञान होता है, उम मिथ्याज्ञान से दूसरे दोष उत्पन्न होते हैं। दोषों से फिर अधर्म (पाप) होता है और पाप से फिर मिथ्याज्ञान होता है। इस प्रकार उस तत्त्वज्ञानी के सन्तानरूप से तब तक मिथ्याज्ञान की प्रवृत्ति होती रहेगी जब तक सर्व पदार्थों का साक्षात्कारी तत्त्वज्ञान उत्पन्न होगा। अर्थात् जब तक तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होगा तब तक मिथ्याज्ञान की धारा चलती रहेगी, नैयायिक के ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो तत्त्वज्ञान के समय में भी कार्य-कारण भाव से चले आये अव्यवहित पूर्ववर्ती विपर्यय ज्ञान से दोषों की उत्पत्ति और दोषों की उत्पत्ति से अधर्म और अधर्म से विपर्यय ज्ञान होगा। अतः तत्त्वज्ञान से अनागत (भविष्य) काल में होने वाले विपर्यय ज्ञान आदि की निवृत्ति कैसे हो सकेगी?

कोई नैयायिक ऐसा समझते हैं कि मूलभूत विपर्यय ज्ञान तो वितथ आग्रह (झूठा कदाग्रह) रागद्वेष आदि के उत्पन्न कराने वाली शक्ति का धारक है परन्तु अन्त में होने वाला विपर्यय ज्ञान दोषों का उत्पादक नहीं है ॥१०१॥

मूल में उत्पन्न हुआ विपर्यय ज्ञान ही असत्य अभिनिवेश, राग, पाप आदि को उत्पन्न कराने की शक्ति को धारण करता हुआ मिथ्याभिनिवेशात्मक दोषों को उत्पन्न करता है और दोष अधर्म को उत्पन्न करते हैं तथा अधर्म जन्म को उत्पन्न करता है। जन्म से अनेक दुःखों की परम्परा रूप संसार उत्पन्न होता है। परन्तु शक्तिहीन हुआ अन्त का विपर्यय ज्ञान राग आदि परम्परा को चलाने में समर्थ नहीं होता है क्योंकि क्रम से अपकृष्यमाण हो गई है दोषों को उत्पन्न करने की शक्ति जिसकी ऐसे विपरीत ज्ञान से उत्पन्न हुआ अन्त का विपर्यास उस विपर्यय ज्ञान को उत्पन्न कराने की शक्ति से रहित है, जिससे तत्त्वज्ञान के समय में असत्य आग्रह रूप दोषों की उत्पत्ति और उससे अधर्म तथा अधर्म से जन्म आदि उत्पन्न होंगे, इस प्रकार कथन कर सके। अर्थात् अन्त के विपर्यास में दोष उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। ऐसा कोई नैयायिक आदि विश्वास करते हैं।

तेषां प्रसिद्ध एवाऽयं भवहेतुस्त्रयात्मकः ।

शक्तित्रयात्मतापाये भवहेतुत्वहानितः ॥१०२॥

य एव विपर्ययो मिथ्याभिनिवेशरागाद्युत्पादनशक्तिः स एव भवहेतुर्नान्य इति वदतां प्रसिद्धो मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मको भवहेतुर्मिथ्याभिनिवेशशक्तेरेव मिथ्यादर्शनत्वान्मिथ्यार्थग्रहणस्य स्वयं विपर्ययस्य मिथ्याज्ञानत्वाद्रागादिप्रादुर्भवनसामर्थ्यस्य मिथ्याचारित्रत्वात् ।

ततो मिथ्याग्रजवृत्तशक्तियुक्तो विपर्ययः ।

मिथ्यार्थग्रहणाकारो मिथ्यात्वादिभिदोदितः ॥१०३॥

न हि नाममात्रे विवादः स्याद्वादिनोऽस्ति क्वचिदेकत्रार्थे नानानामकरणस्याविरोधात् । तदर्थं तु न विवादोस्ति मिथ्यात्वादिभेदेन विपर्ययस्य शक्तित्रयात्मकस्येरेणात् ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि— इस प्रकार कहने वाले नैयायिक के दर्शन में संसार का कारण भी मिथ्यादर्शन आदि तीन रूप ही सिद्ध होता है। क्योंकि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप संसार के तीन कारणों को न मानने पर अकेले विपरीत ज्ञान में भव के हेतु की हानि होती है— अर्थात् अकेला विपरीत ज्ञान संसार का कारण नहीं हो सकता ।

उन नैयायिकों के दर्शन में प्रमाणों से सिद्ध संसार का कारण भी मिथ्यादर्शन आदि तीन रूप ही है। तीन की सामर्थ्य न मानने पर अकेले विपर्यय में संसार के कारण की हानि हो जाती है ॥१०२॥ मिथ्याज्ञान ही त्रिरूप है

जो विपर्यास ज्ञान झूठे आग्रह, रागभाव, आदिकों के उत्पन्न कराने की शक्ति रखता है, वही मिथ्याज्ञान संसार का कारण है। दूसरे, अन्त में होने वाला मिथ्याज्ञान संसार का कारण नहीं है। इस प्रकार कहने वाले नैयायिक के मत में भी यह प्रमाण से सिद्ध हो चुका कि संसार का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप है। क्योंकि विपर्यास में स्थित मिथ्या अभिनिवेश रूप शक्ति मिथ्यादर्शन है। असत्य अर्थों को हठ सहित जान लेना स्वयं विपर्यय रूप मिथ्याज्ञान है और विपर्यय में विद्यमान राग, द्वेष, आदि को प्रगट करने की शक्ति मिथ्याचारित्र है। इस प्रकार अभेद को ग्रहण करने वाली द्रव्य दृष्टि से तीन शक्ति युक्त मिथ्याज्ञान ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्ररूप है।

इसलिए असत्य अन्धविश्वास, असत्य जानना और असत्य क्रिया करना इन तीन शक्तियों से या मिथ्या अभिनिवेश और मिथ्याचारित्र इन दो शक्तियों से सहित हो रहा विपर्यय ज्ञान ही मिथ्या अतत्त्व रूप अर्थों को ग्रहण करने का उल्लेख करता हुआ पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से मिथ्यात्व आदि यानी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन भेद रूप कहा जाता है ॥१०३॥

अकेले शब्द का भेद हो जाने से केवल नाम में स्याद्वादी लोग विवाद नहीं करते हैं। क्योंकि किसी एक अर्थ में भी अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के नाम कर लेने का कोई विरोध नहीं है। अर्थात् एक पदार्थ का कतिपय नामों से वाचन हो सकता है, किन्तु उसके वाच्य अर्थ में कोई विवाद नहीं है। अतः तीन सामर्थ्यों से तदात्मक विपर्यय को नैयायिकों के द्वारा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के भेद से ही निरूपण किया गया है। ऐसा जानना चाहिए।

तथा विपर्ययज्ञानासंयमात्मा विबुध्यताम्।

भवहेतुरतत्त्वार्थश्रद्धाशक्तिस्रयात्मकः ॥१०४॥

यावेव विपर्ययासंयमौ वितथार्थश्रद्धानशक्तियुतौ मौलौ तावेव भवसंतानप्रादुर्भावनसमर्थौ नान्यौ प्रक्षीणशक्तिकाविति ब्रुवाणानामपि भवहेतुः त्रयात्मकस्तथैव प्रत्येतव्यो विशेषाभावात्। इत्यविवादेन संसारकारणत्रित्वसिद्धेर्न संसारकारणत्रित्वानुपपत्तिः।

युक्तितश्च भवहेतोस्त्रयात्मकत्वं साधयन्नाह;—

मिथ्यादृगादिहेतुः स्यात्संसारस्तदपक्षये।

क्षीयमाणत्वतो वातविकारादिजरोगवत् ॥१०५॥

यो यदपक्षये क्षीयमाणः स तद्धेतुर्यथा वातविकाराद्यपक्षीयमाणो वातविकारादिजो रोगः।

मिथ्या ज्ञान और असंयम भी मिथ्या श्रद्धान संयुक्त हैं

विपर्ययज्ञान और असंयम रूप दो को संसार का मार्ग मानने वालों के द्वारा भी संसार का कारण अतत्त्व अर्थों की श्रद्धा रूप शक्तियुक्त दो को कारण मानने से तीन शक्ति स्वरूप ही संसार का कारण माना गया, जानना चाहिए ॥१०४॥

जो अर्थों के विपर्यय और असंयम ये दो असत्य श्रद्धान करने की शक्ति से सहित संसार के मूल कारण माने गये हैं, वे दोनों ही जब मिथ्य श्रद्धान की शक्ति से युक्त होते हैं, तब तो संसार की संतान को भविष्य में उत्पन्न कराने में समर्थ हैं, किन्तु जब उनकी शक्ति क्रम से घटती-घटती सर्वथा नष्ट हो जाती है, तब अंत के विपर्यय और असंयम पुनः संसार-दुःख, पाप आदि की धारा को चलाने में समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार कहने वाले बौद्धों के भी संसार का कारण उसी प्रकार तीन रूप निर्णय कर लेना चाहिए। क्योंकि मिथ्या श्रद्धान युक्त विपरीत ज्ञान और असंयम को तथा मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन को संसार का कारण कहने में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार बिना विवाद संसार के कारणों को तीनपना सिद्ध हो जाता है। अतः मोक्षमार्ग के समान संसार-कारण के भी तीनपना असिद्ध नहीं है। युक्तियों से भी संसार के कारणों को तीन रूप सिद्ध करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

संसार (पक्ष) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन हेतुओं का कार्य है। (साध्य) क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदि का क्रम-क्रम से क्षय होने पर संसार भी क्रम-क्रम से क्षीण हो जाता है। (हेतु) जैसे— वात, पित्त, कफ आदि विकारों से उत्पन्न रोग अपने निदानों के क्षय हो जाने से क्षीण हो जाते हैं (अन्वय दृष्टान्त) ॥१०५॥

जिसके क्रम से क्षीण होने पर जो क्षय को प्राप्त होता है, वह उसका कारण समझा जाता है। जैसे वायु के विकार, पित्त के प्रकोप आदि कारणों का क्षय हो जाने से वात-पित्त के प्रकोप से उत्पन्न रोग नष्ट हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र के पूर्णरीत्या क्षय हो जाने पर संसार नष्ट होता है।

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रापक्षये क्षीयमाणश्च संसार इति । अत्र न तावदयं वाद्यसिद्धो हेतुः मिथ्यादर्शनस्यापक्षयेऽसंयतसम्यग्दृष्टेरनंतसंसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः संख्यातभवमात्रतया तस्य संसारस्थितेः । तत एव मिथ्याज्ञानस्यापक्षये सम्यग्ज्ञानिनः संसारस्य क्षीयमाणत्वं सिद्धं । सम्यक्चारित्रवतस्तु मिथ्याचारित्रस्यापक्षये तद्व्यवमात्रसंसारसिद्धेर्मोक्षसंप्राप्तेः सिद्धमेव संसारस्य क्षीयमाणत्वं । न चैतदागममात्रगम्यमेव यतोऽयं हेतुरागमाश्रयः स्यात्, तद्ग्राहकानुमानसद्भावात् । तथा हि ।

मिथ्यादर्शनाद्यपक्षये क्षीयमाणः संसारः साक्षात्परंपरया वा दुःखफलत्वाद्विषमविषभक्षणातिभोजनादिवत् । यथैव हि साक्षाद्दुःखफलं विषमविषभक्षणं, परंपरयातिभोजनादि, तन्मिथ्याभिनिवेशाद्यपक्षये तत्त्वज्ञानवतः क्षीयते ततो निवृत्तेः, तथा

अतः ये तीन संसार के कारण हैं । इस अनुमान में दिया गया मिथ्यादर्शन आदि के क्षय होने पर संसार का क्षय हो जाना रूप हेतु असिद्ध नहीं है । क्योंकि चौथे गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यादर्शन के नाश हो जाने पर अनन्तकाल तक होने वाले संसार का क्षय हो जाना सिद्ध हो जाता है । जिसे एक बार सम्यग्दर्शन हो गया है, वह अधिक-से-अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल तक संसार में रह सकता है । पश्चात् अवश्य मुक्ति को प्राप्त करेगा । अतः उसकी केवल संख्यात भवों को धारण करने रूप से ही संसार में स्थिति रह जाती है ।

उसी प्रकार चौथे गुणस्थान में मिथ्याज्ञान के विघट जाने पर सम्यग्ज्ञानी जीव के संसार का क्षय की तरफ उन्मुख हो जाना सिद्ध है अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं । अतः सम्यग्ज्ञानी जीव भी जिनदृष्ट संख्यात जन्मों से अधिक संसार में नहीं ठहरता है ।

तथा सम्यक्चारित्र वाले जीव के तो मिथ्याचारित्र के सर्वथा क्षय हो जाने पर केवल उसी जन्म का संसार शेष रहता है, यह सिद्ध है । क्षायिक चारित्र के हो जाने पर उसी जन्म में मोक्ष की समीचीन प्राप्ति हो जाती है । अतः संसार का क्षय हो जाना सम्यक्चारित्रवान के सिद्ध ही है । यह कथन केवल आगमगम्य नहीं है जिससे यह हेतु आगम आश्रित दोष से युक्त होता हो, अपितु इस हेतु का अनुग्रह करने वाले दूसरे अनुमान प्रमाण का भी सद्भाव है । तथाहि—

जैसे विषभक्षण, अधिक भोजन आदि दुःख के कारण हैं, वैसे साक्षात् या परम्परा से दुःख का कारण संसार है तथा दुःख के कारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के उपशम, क्षयोपशम और क्षय होने पर संसार क्षय को प्राप्त होता है । अत्यन्त भयंकर विष का भक्षण कर लेने पर साक्षात् मरण रूप फल प्राप्त होता है, अधिक भोजन करने पर या अधिक परिश्रम आदि करने पर कुछ देर पीछे ज्वर, शरीरपीड़ा आदि रोगों का स्थान बनकर कुछ दिन बाद तक दुःख होते हैं । किन्तु कालान्तर में वे तीव्र दुःख के कारण हैं । अतिभोजन आदि का समीचीन ज्ञान श्रद्धान होने से दुःख निवृत्त हो जाता है, वैसे ही उन मिथ्यादर्शन, कुज्ञान और कुचारित्र की हानि होते-होते तत्त्वज्ञानी जीव का संसार क्षय को प्राप्त हो जाता है । उन विषभक्षण आदि दोषों से जैसे तत्त्वज्ञानी की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही उसके संसार का भी क्रम से क्षय होना सिद्ध हो जाता है । अनेक प्रकार के दुःख भोगना है फल जिसका ऐसे निकृष्ट स्थान शरीर का ग्रहण कर लेना ही संसार है । अर्थात्

संसारोऽपि; हीनस्थानपरिग्रहस्य दुःखफलस्य संसारत्वव्यवस्थापनत्वात्। न च किंचित्साक्षात्परं परया वा दुःखफलं मिथ्यात्वाद्यपक्षेऽप्यक्षीयमाणं दृष्टं येन हेतोर्व्यभिचारः स्यात्।

गंडपाटनादिकं दृष्टमिति चेत् न, तस्य बुद्धिपूर्वं चिकित्सेत्यनुमन्यमानस्य सुखफलत्वेनाभिमतत्वात् दुःखफलत्वासिद्धेः, शिशुप्रभृतीनामबुद्धिपूर्वकस्य दुःखफलस्यापि पूर्वोपात्तमिथ्यादर्शनादिकृतकर्मफलत्वेन तस्य मिथ्यादर्शनाद्यनपक्षेऽक्षीयमाणत्वसिद्धेः। कायक्लेशादिरूपेण तपसा व्यभिचार इत्यपि न मंतव्यं, तपसः प्रशमसुखफलत्वेन दुःखफलत्वासिद्धेः। तदा संवेद्यमानदुःखस्य पूर्वोपार्जितकर्मफलत्वात् तपःफलत्वासिद्धेः। 'साक्षात्परं परया वा दुःखफलत्वं स्यात्, संसारो मिथ्यादर्शनाद्यपक्षे क्षीयमाणश्च न स्यात्' इति

सम्पूर्ण दुःखों के मूलभूत शरीरग्रहण को ही संसार हो जाने की व्यवस्था है। साक्षात् अथवा परम्परा से दुःख रूप फल को उत्पन्न करने वाला कोई भी अन्य कारण नहीं देखा गया है जो मिथ्यादर्शन आदि के क्षय होने पर क्षय को प्राप्त होने वाला न होवे, जिससे कि हमारे दुःखफलत्व हेतु का व्यभिचार हो सके अर्थात् हेतु व्यभिचार दोष से रहित है। दूषित फोड़े में चीरा लगवाना आदिक दुःखफल वाले कारण देखे गये हैं। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि बुद्धिपूर्वक चिकित्सा है ऐसा मानने वाले जीव के फोड़ा चिरवाने आदि में सुखरूप फल की प्राप्ति होना अभीष्ट है। उसमें दुःखरूप फल होना असिद्ध है। छोटे बच्चे, पशु आदि जीवों के अबुद्धिपूर्वक चिकित्सा का विचार होने पर फोड़े में चीरा लगवाने आदि में दुःख रूपी फल को देने वाला हेतु रह जाता है। वह गत जन्मों में ग्रहण किये मिथ्यात्व आदि से किये गये कर्मों का फल है। अतः उस दुःखरूप फल को मिथ्यादर्शन आदि के क्षय नहीं होने पर क्रम से नहीं क्षीण होनापन सिद्ध है। अर्थात् मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान के क्षय होने पर जहाँ दुःखफल को पैदा करने वाले का ज्ञान है, वह तत्त्वज्ञानी के अवश्य नष्ट हो जाता है। बालक या पशु को फोड़े चीरने आदि में दुःखफलत्व का ज्ञान तो है। किन्तु उनके मिथ्याश्रद्धा, ज्ञान का क्षय नहीं हुआ है। अतः मिथ्यादर्शन के क्षय न होने से उनको दुःख देने वाले कारण का क्षय नहीं होता है।

दुःखफल को उत्पन्न करने वाले कायक्लेशमय तपःस्वरूप कारण से व्यभिचार आयेगा, ऐसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि तपश्चरण करने से साधुओं को शान्ति सुख रूपी फल प्राप्त होता है। अतः तपश्चरण में दुःखफलपना असिद्ध है। (इन क्रियाओं का फल दुःख भोगना नहीं है। इसलिए वहाँ दुःखफलत्व हेतु के न रहने से व्यभिचार दोष नहीं है।) यदि किसी समय छठे गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज के व्यथाजन्य दुःख वेदन (अनुभव) भी हो जावे तो वह उस समय उत्पन्न हुआ दुःख पूर्व जन्मों में इकट्ठे किये गये दुष्कर्मों का फल है। उस दुःख को कायक्लेश, उपवाम आदि रूप तपस्या का फलपना असिद्ध है। अतः हमारा पूर्वोक्त दुःखफलत्व हेतु निर्दोष है।

साक्षात् अथवा परम्परा से दुःखफल को देने वाला हेतु तो रह जावे और मिथ्यादर्शन आदि के यथाक्रम से क्षय होने पर संसार क्षय को प्राप्त न होवे अर्थात् हेतु रहे और साध्य न रहे। इस प्रकार हेतु के अप्रयोजक हो जाने से हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। (अतः जैनों का हेतु संदिग्ध

संदिग्धविषयव्यावृत्तिकत्वमपि न साधनस्य शङ्कनीयं;
सम्यग्दर्शनोत्पत्तावसंयतसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादर्शनस्यापक्षये मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेस्तत्पूर्वक-
मिथ्याचारित्राभावात्तन्निबन्धनसंसारस्यापक्षयप्रसिद्धेः। अन्यथा मिथ्यादर्शनादित्रयापक्षयेपि
तदपक्षयाघटनात्। न च सम्यग्दृष्टेर्मिथ्याचारित्राभावात्संयतत्वमेव स्यात् पुनः
कदाचिदसंयतत्वमित्यारेका युक्ता, चारित्रमोहोदये सति सम्यक्चारित्रस्यानुपपत्तेरसंयतत्वोपपत्तेः।
कात्स्न्यतो देशतो वा न संयमो नापि मिथ्यासंयम इति व्याहतमपि न भवति, मिथ्यागमपूर्वकस्य
संयमस्य पंचाग्निसाधनादेर्मिथ्यासंयमत्वात् सम्यगागमपूर्वकस्य सम्यक्संयमत्वात्।

व्यभिचारी है) ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने पर चतुर्थ
गुणस्थान वाले असंयत सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यादर्शन का हास हो जाने पर मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति नहीं
होती है। अतः उन मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान को पूर्ववर्त्ती कारण मानकर होने वाले मिथ्याचारित्र का
भी अभाव हो जाता है। अतः तीन कारण से उत्पन्न हुए संसार का भी हास होना प्रसिद्ध है। यदि ऐसा
न मानकर दूसरे प्रकारों से माना जाता है तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन की
हानि होते हुए भी उस संसार का क्रमहास होना नहीं बन सकता। अतः मिथ्यादर्शन आदि तीन के साथ
संसार का कार्य-कारण भाव होना ही हेतु की प्रयोजकता है। अपक्षय का अर्थ है धीरे-धीरे नाश होते-
होते पूरे नाश के लिए अभिमुख हो जाना।

शंका - सम्यग्दृष्टि जीव के चौथे गुणस्थान में मिथ्याचारित्र के न रहने से संयमीपना हो जायेगा।
फिर कभी चौथे गुणस्थान वाले को असंयतपना नहीं होना चाहिए। समाधान- अचार्य कहते हैं कि
इस प्रकार शंका करना युक्त नहीं है। क्योंकि चौथे, पाँचवें गुणस्थान में चारित्र गुण (संयम) का घात
करने वाले अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का उदय होने से सम्यक् चारित्र गुण उत्पन्न नहीं
हो सकता है। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम रूप विरति न होने से असंयतपने
की उत्पत्ति है। और पाँचवें में सांकल्पिक त्रसवध का त्याग हो जाने से तथा स्थावर वध का त्याग
न होने से देशसंयतपना है। परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में छठे के समान पूर्ण रूप से संयम नहीं है और पाँचवें
के समान एकदेश से भी संयम नहीं है तथा पहले गुणस्थान के समान मिथ्यासंयम भी नहीं है। तथा
इस प्रकार इन तीनों का निषेध करने से व्याघात दोष भी नहीं होता है। मिथ्यागम के अभ्यासपूर्वक
कुभेषी, कुलिंगी जिन संयमों को पालते हैं, वे मिथ्यासंयम हैं। जैसे कि चारों दिशाओं में आग जलाकर
ऊपर से सूर्यकिरणों द्वारा संतप्त होकर पंच अग्नि तप करना, वृक्ष पर उलटे लटक जाना, जीवित ही गंगा
में प्रवाहित हो जाना आदि, मिथ्याचारित्र हैं। और समीचीन सर्वज्ञोक्त आगम का अभ्यास कर उसके
अनुसार अष्टाईस मूलगुणों को धारण करना, अन्तरंग तपों को बढ़ाना आदि जैन ऋषियों के समीचीन

ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वोदयासत्त्वेऽपि प्रवर्तमानस्य हिंसादेरसंयमत्वात् । न चासंयमाद्धेदेन मिथ्यासंयमस्योपदेशाभावादभेद एवेति युक्तं, तस्य बालतपःशब्देनोपदिष्टत्वात् ततः कथंचिद्धेदसिद्धेः । न हि चारित्रमोहोदयमात्राद्भवच्चारित्रं दर्शनचारित्रमोहोदयजनितादचारित्रादभिन्नमेवेति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः ।

मिथ्यादृष्ट्यसंयमस्य नियमेन मिथ्याज्ञानपूर्वकत्वप्रसिद्धेः, सम्यग्दृष्टेरसंयमस्य मिथ्यादर्शनज्ञानपूर्वकत्वविरोधात्, विरुद्धकारणपूर्वकतयापि भेदाभावे सिद्धांतविरोधात् । कथमेवं मिथ्यात्वादित्रयं संसारकारणं साधयतः सिद्धांतविरोधो न भवेदिति चेन्न, चारित्रमोहोदयैतरंगहेतौ सत्युत्पद्यमानयोरसंयममिथ्यासंयमयोरैकत्वेन विवक्षितत्वाच्चतुष्टयकारणत्वासिद्धेः संसरणस्य ।

संयम हैं। तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उदय न होने पर भी प्रवृत्ति करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि के हिंसा करने, झूठ बोलने, आदि की परिणति असंयमभाव है (अर्थात् यहाँ प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, गर्हा, निन्दा, अमूढदृष्टिता, वात्सल्य आदि गुण विद्यमान हैं। अतः यह असंयम पहले दोनों सम्यक् और मिथ्यासंयमों से भिन्न है।)

मिथ्याचारित्र और असंयम सर्वथा अभिन्न नहीं

किसी का आक्षेप है कि जीव के पाँच भावों में औदयिक असंयत भाव से भिन्न मिथ्या संयम का कहीं उपदेश नहीं है। अतः मिथ्याचारित्र और असंयम का अभेद ही मानना चाहिए। फिर चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्याचारित्र और संयमीपन दोनों में से किसी एक को स्वीकार करना चाहिए। ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि असंयम से भिन्न माने गये उस मिथ्याचारित्र का छठे अध्याय में बालतपः शब्द से उपदेश किया है। अतः मिथ्याचारित्र और असंयम में किसी अपेक्षा से भेद है। (जैसे- दुःख, सुख, अदुःख, नोदुःख अथवा संसार, असंसार, नोसंसार, त्रितयव्यपेत, ये अवस्थायें पृथक्-पृथक् हैं।)

चारित्रमोहनीय कर्म के उदय मात्र से होने वाला चारित्र और दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला अचारित्र अभिन्न ही है। ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं है। अन्यथा सभी स्थानों पर कारणों का भिन्न होना कार्य के भेद को सिद्ध न कर सकेगा। चतुर्थ गुणस्थान के अचारित्र भाव में केवल चारित्रमोहनीय का उदय है और पहले गुणस्थान के अचारित्र में दर्शनमोहनीय सहित चारित्रमोहनीय का उदय है। ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? मिथ्यादृष्टि का असंयम नियम से मिथ्याज्ञान पूर्वक प्रसिद्ध है और सम्यग्दृष्टि के असंयम को मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का कारण मानकर उत्पन्न होनेपन का विरोध है। अतः दोनों एक नहीं है। विरुद्ध कारणों के पूर्ववर्ती होने पर भी उत्तर समय में उत्पन्न हुए कार्यों का यदि भेद होना न माना जावेगा तो सभी वादियों का अपने सिद्धान्त से विरोध हो जावेगा। (अर्थात् क्योंकि सभी परीक्षकों ने भिन्न-भिन्न कारणों के द्वारा न्यारे-न्यारे कार्यों की उत्पत्ति होना इष्ट किया है। अतः पहले का असंयम भाव और चौथे का असंयम भाव पृथक् है। ज्ञान में भी कुज्ञान से अज्ञानभाव भिन्न है।)

शंका - मिथ्यादृष्टि का असंयम और असंयत सम्यग्दृष्टि का असंयम जब पृथक् है तो संसार के कारण चार हो जाते हैं। अतः मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनों को ही संसार का कारणपना साधते हुए जैनों को अपने सिद्धांत से विरोध क्यों न होगा?

तत एवाविरतिशब्देनासंयमसामान्यवाचिना बंधहेतोरसंयमस्योपदेशघटनात्। सम्यग्दृष्टेरपि कस्यचिद्विषयभक्षणादिजनितदुःखफलस्य हीनस्थानपरिग्रहस्य संसारस्य दर्शनान्मिथ्यादर्शनज्ञानयोरपक्षये क्षीयमाणत्वाभावात् कथंचिदुःखफलत्वं मिथ्यादर्शनज्ञानापक्षये क्षीयमाणत्वेन व्याप्तिमिति चेन्न, तस्याप्यनागतानंतानंतसंसारस्य प्रक्षयसिद्धेः साध्यतःपातित्वेन व्यभिचारस्य तेनासंभवात्। निदर्शनं परप्रसिद्ध्या विषयविषयभक्षणातिभोजनादिकमुक्तं।

तत्र परस्य साध्यव्याप्तसाधने विवादाभावात्। न हि विषयविषयभक्षणेऽतिभोजनादौ वा दुःखफलत्वमसिद्धं, नाऽपि नाचरणीयमेतत्सुखार्थिनेति सत्यज्ञानोत्पत्तौ

उत्तर - इस प्रकार कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि उन दोनों भावों का अन्तरंग कारण चारित्र मोहनीय है। इस कर्म के उदय होने पर उत्पन्न अचारित्र और मिथ्याचारित्र की एकरूपपने से विवक्षा है। अतः संसार के कारणों को चारपना सिद्ध नहीं है। अतः मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बंध का हेतु बताते हुए आचार्यदेव का सामान्य रूप से अविरति शब्द से दोनों प्रकार के असंयमों का उपदेश देना संघटित हो जाता है। भावार्थ- सम्यक्चारित्र न होने की अपेक्षा दोनों असंयम एक हैं। किन्तु नञ् का अर्थ पर्युदास और प्रसज्य करने पर दर्शनमोहनीय के उदय से सहित अचारित्र को मिथ्याचारित्र कहते हैं और दर्शन मोहनीय के उदय न होने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के उदय से होने वाले असंयम को अचारित्र कहते हैं, मिथ्याचारित्र नहीं।

शंका - किसी सम्यग्दृष्टि जीव को भी विषयभक्षण आदि से उत्पन्न अनेक प्रकार के दुःख हैं फल जिसके, ऐसे हीन स्थान नारकशरीर आदि के ग्रहण करने रूप संसार होना देखा जाता है। अतः मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के क्षय होने पर भी संसार के क्षय का अभाव होने से दुःखफलत्व हेतु की मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के अपक्षय होने पर क्षीयमाणत्व रूप साध्य के साथ व्याप्ति (अविनाभाव होना) कैसे भी सिद्ध नहीं है।

उत्तर - ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उस सम्यग्दृष्टि के भी भविष्य में होने वाले अनन्तानन्त निकृष्ट स्थानों में जन्म-मरणों को धारण करने रूप संसार का प्रक्षय होना सिद्ध है। सम्यग्दृष्टि जीव भले ही शस्त्राघात या आत्मघात से कतिपय निकृष्ट शरीरों को धारण कर लेवे फिर भी विषयभक्षण, आत्मघात आदि का क्षय होकर संसार का हास होते हुए संख्यात भवों में उसका मोक्ष होना अनिवार्य है। अतः आपका दिया हुआ व्यभिचार का स्थल प्रतिज्ञावाक्य में प्रविष्ट होने से उस हेतु के व्यभिचारीपना असंभव है।

प्रतिवादी के घर की प्रसिद्धि के अनुसार पूर्व अनुमान में तीक्ष्ण विषका खाना या भूख से अति अधिक खाना आदि दृष्टांत दिये हैं, क्योंकि नैयायिक आदि भी अधिक भोजन, विषयभक्षण आदि में परम्परा से होने वाले दुःखफलत्व हेतु की क्षीयमाणत्व साध्य के साथ व्याप्ति के साधन में विवाद का अभाव कहते हैं क्योंकि विषयभक्षण और अति भोजन आदि में दुःखफलत्व असिद्ध भी नहीं है। अतः सुख के अभिलाषी ज्ञानी जीव को ये विषयभक्षण आदि आचरण नहीं करने चाहिए। इस प्रकार सत्यज्ञान

तत्संसर्गलक्षणसंसारस्यापक्षयोऽपि सिद्धस्तावता च तस्य दृष्टान्तताप्रसिद्धेरविवाद एव । तदेवमनुमितानुमानान्मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वं भवस्य सिद्ध्यतीति न विपर्ययमात्रहेतुको विपर्ययावैराग्यहेतुको वा भवो विभाव्यते ।

तद्विपक्षस्य निर्वाणकारणस्य त्रयात्मता ।

प्रसिद्धैवमतो युक्ता सूत्रकारोपदेशना ॥१०६॥

मिथ्यादर्शनादीनां भवहेतूनां त्रयाणां प्रमाणतः स्थितानां निवृत्तिः प्रतिपक्षभूतानि सम्यग्दर्शनादीनि त्रीण्यपेक्षते अन्यतमापाये तदनुपपत्तेः; शक्तित्रयात्मकस्य वा भवहेतोरेकस्य विनिवर्तनं प्रतिपक्षभूतशक्तित्रयात्मकमेकमन्तरेण नोपपद्यत इति युक्ता सूत्रकारस्य त्रयात्मकमोक्षमार्गोपदेशना । तत्र यदा संसारनिवृत्तिरेव मोक्षस्तदा कारणविरुद्धोपलब्धिरियं, नास्ति क्वचिज्जीवे संसारः परमसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसद्भावादिति; यदा तु संसारनिवृत्तिकार्यं मोक्षस्तदा

के उत्पन्न हो जाने पर कोई जीव विष नहीं खाता है और न अधिक भोजन करता है । अतः तत्त्वज्ञानी के जैसे इन उपद्रवों का क्षय हो जाता है, वैसे ही मिथ्याज्ञान का नाश होकर सत्यज्ञान के उत्पन्न होने पर निकृष्ट स्थानों में जन्म-मरण कर दुःख भोगना या सकल दुःखों के निदान उस सूक्ष्म स्थूल शरीर का संबंध हो जाने रूप संसार का हास होना भी सिद्ध हो जाता है । उतने से ही हेतु और साध्य के आधार हो जाने के कारण उन विषभक्षण आदि को दृष्टान्तपना प्रसिद्ध हो जाने से किसी का विवाद नहीं है । इस प्रकार अनुमित किये गये अनुमान से संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदिक ये तीन सिद्ध हो जाते हैं । अतः केवल विपर्ययज्ञान को या विपर्यय और अवैराग्य को हेतु मानकर उत्पन्न होने वाला संसार है, यह नहीं विचारना चाहिए । किंतु संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि तीन हैं । ऐसा जानना चाहिए ।

त्रिरूप मोक्षमार्ग का उपदेश युक्तियुक्त है

जब संसार-कारण तीन सिद्ध हैं तो उस संसार के प्रतिपक्षी मोक्ष के कारण को भी तीन स्वरूपपना उक्त प्रकार से प्रसिद्ध है । अतः तत्त्वार्थसूत्र को रचने वाले गृद्धपिच्छ आचार्य का मोक्ष के कारण तीन का उपदेश देना युक्तियों से युक्त है ॥१०६॥

संसार के कारण मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन की प्रमाणों से स्थिति हो चुकी है । इन तीनों की निवृत्ति होना अपने से प्रतिपक्षरूप तीन सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अपेक्षा करती है । क्योंकि तीन प्रतिपक्षियों में से किसी एक के भी न होने पर मिथ्यादर्शन आदि तीनों की निवृत्ति होना बन नहीं सकता । अथवा, संसार के कारण मिथ्याभिनिवेश आदि तीन शक्ति स्वरूप एक विपर्यय की ठीक निवृत्ति होना (पक्ष) अपने विघातक स्वरूप सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन शक्तिरूप एक रत्नत्रयात्मक आत्मद्रव्य के बिना नहीं बन सकता है । (साध्य) इस प्रकार दो अनुमानों से सूत्रकार का तीन-रूप मोक्षमार्ग का उपदेश देना युक्त है ।

उस अनुमान के प्रकरण में जब संसार की निवृत्ति ही मोक्ष है, तब यह निषेध का साधक कारण विरुद्धोपलब्धिरूप हेतु है कि किसी विवक्षित एक जीव में संसार विद्यमान नहीं है क्योंकि उत्कृष्ट श्रेणी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वहाँ विद्यमान हैं ।

कारणकारणविरुद्धोपलब्धिः, कस्यचिदात्मनो नास्ति दुःखमशेषं मुख्यसम्यग्दर्शनादिसद्भावादिति निश्चीयते, सकलदुःखाभावस्यात्यंतिकसुखस्वभावत्वात्तस्य च संसारनिवृत्तिफलत्वात्। यदा मोक्षः क्वचिद्विधीयते तदा कारणोपलब्धिरियं, क्वचिन्मोक्षोऽवश्यंभावी सम्यग्दर्शनादियोगात्। इति न कथमपि सूत्रमिदमयुक्त्यात्मकं, आगमात्मकत्वं तु निरूपितमेवं सत्यत्वं प्रपञ्चेन।

बंधप्रत्ययपाञ्चध्यसूत्रं न च विरुध्यते।

प्रमादादित्रयस्यांतर्भावात्सामान्यतोऽयमे ॥१०७॥

त्रयात्मकमोक्षकारणसूत्रसामर्थ्यात्त्रयात्मकसंसारकारणसिद्धौ युक्त्यनुग्राह्याभिधाने बंधप्रत्ययपञ्चविधत्वं 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव' इति सूत्रनिर्दिष्टं न विरुध्यत

जब मोक्ष संसार की निवृत्ति का कार्य माना जाता है, तब यह हेतु कारणकारण विरुद्धोपलब्धिरूप है, क्योंकि किसी-न-किसी आत्मा के सम्पूर्ण दुःख नहीं हैं क्योंकि उस आत्मा में प्रधानरूप से सम्यग्दर्शन आदि तीन गुण विद्यमान हैं। इस प्रकार प्रकृत हेतु कारणकारण विरुद्धोपलब्धि रूप निश्चित किया जाता है। सम्पूर्ण दुःखों के अभाव को आत्यन्तिक सुखस्वभावपना है और आत्मा का अनंत काल तक सुखस्वभाव हो जाना संसार की निवृत्ति का फल है।

तथा जब किसी आत्मा में सीधा मोक्ष का विधान किया जाता है तब तो यह विधिसाधक कारणोपलब्धि हेतु है कि किसी आत्मा में मोक्ष अवश्य होने वाला है क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन आदि गुणों का संबंध हो गया है। (वहाँ मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन आदि हैं। मोक्ष के सम्यग्दर्शन आदि कारक हेतु हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं) इस प्रकार कैसे भी गृद्धपिच्छ महाराज का यह सूत्र अयुक्ति रूप नहीं है अर्थात् अनेक हेतुओं से सिद्ध होकर युक्तियों से परिपूर्ण है। और यह पहला सूत्र सर्वज्ञोक्त आगम स्वरूप तो है ही। इस बात का पहले प्रकरण में निरूपण कर चुके हैं। ऐसे भले प्रकार सूत्र की सिद्धि हो जाने पर अधिक विस्तार करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

सामान्यपने में प्रमाद कषाय और योग अचारित्र में गर्भित हैं

शंका - जब आप संसार और मोक्ष के कारण तीन मानते हैं तो आठवें अध्याय में पाँच प्रकार के बन्ध के कारणों वाले सूत्र से विरोध होगा? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि- बंध के कारणों को पाँच प्रकार का कहने वाले सूत्र से विरोध भी नहीं आता है। क्योंकि बंध के कारणों को कहने वाले सूत्र में पड़े हुए प्रमाद, कषाय और योग तीनों का सामान्यरूप से असंयम (अचारित्र) में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन ही संसार के कारण सिद्ध हैं ॥१०७॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की एकता-स्वरूप मोक्ष के कारण को निरूपण करने वाले सूत्र के सामर्थ्य से तीन स्वरूप ही संसार के कारणों की सिद्धि में युक्तियों की सहायता का कथन करने पर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बंध के कारण हैं। इस प्रकार सूत्र में कहे गये बंध के कारणों का पाँच प्रकारपना विरुद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रमाद आदि तीन (यानी प्रमाद, कषाय और योग) का सामान्यपने से अचारित्र में समावेश हो जाता है। अर्थात्- जैसे पहले गुणस्थान

एव, प्रमादादित्रयस्य सामान्यतोऽचारित्रेऽन्तर्भावात् । विशेषतश्च त्रयस्याचारित्रेऽन्तर्भावने को दोषः
इति चेत्—

विशेषतः पुनस्तस्याचारित्रांतःप्रवेशने ।

प्रमत्तसंयतादीनामष्टानां स्यादसंयमः ॥१०८॥

तथा च सति सिद्धांतव्याघातः संयतत्वतः ।

मोहद्वादशकध्वंसात्तेषामयमहानितः ॥१०९॥

नन्वेवं सामान्यतोऽप्यचारित्रे प्रमादादित्रयस्यांतर्भावात्कथं सिद्धांतव्याघातो न स्यात्?
प्रमत्तसंयतात्पूर्वेषामेव सामान्यतो विशेषतो वा तत्रांतर्भाववचनात्, प्रमत्तसंयतादीनां तु

का अचारित्र और चौथे का अचारित्र अंतरंग कारण की अपेक्षा एक ही है, वैसे ही चारित्रमोहनीय के उदय से होने वाले प्रमाद और कषाय भी एक प्रकार से अचारित्र हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का उदय न होने से यद्यपि अचारित्र भाव नहीं है, फिर भी चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में मानी गयी है। इस अपेक्षा से चारित्र की विशेष स्वभावों से त्रुटि का अचारित्र में अंतर्भाव हो जाता है। योग भी एक प्रकार का अचारित्र है।

प्रमाद कषाय और योग को विशेषरूप से अचारित्र में गर्भित करने पर आने वाले दोष

आपने प्रमाद आदि तीन को सामान्यपने से अचारित्र में गर्भित किया है। विशेषरूप से तीनों का अचारित्र में अन्तर्भाव करने पर क्या दोष आता है? ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं।

यदि विशेषरूप से उन तीनों का अचारित्र में अन्तर्भाव किया जावेगा तो छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत को आदि लेकर तेरहवें गुणस्थानी सयोगकेवली पर्यन्त आठ संयमियों के असंयमी बन जाने का प्रसंग आयेगा, और वैसा होने पर जैनसिद्धान्त का व्याघात होता है। क्योंकि जैन सिद्धान्त में उक्त आठों को संयमी कहा गया है। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण की चौकड़ी मोहनीय कर्म की इन बारह प्रकृतियों के क्षयोपशम, उपशम और क्षयरूप हास हो जाने के कारण उन आठों के असंयमीपन की हानि है ॥१०८-१०९॥

शंका - (कोई श्वेताम्बर भ्तानुयायी कहते हैं) प्रमाद आदि तीन का अचारित्र में सामान्यपने से भी अन्तर्भाव करने से सिद्धान्त का व्याघात क्यों नहीं है? जबकि जैन आठों गुणस्थानों में मोहनीय की बारह प्रकृतियों का हास मानते हैं तो सामान्यरूप से भी उन आठों में अचारित्र नहीं रहना चाहिए। प्रमत्तसंयतनामक छठे गुणस्थान से पहले के प्रथम से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक पाँचों ही का दोनों सामान्य और विशेष रूप से अचारित्र में अन्तर्भाव कहा है। प्रमत्तसंयत को आदि लेकर सयोगिकेवली पर्यंत आठों गुणस्थान वालों को संयमीपना प्रसिद्ध है। इनमें चारित्रमोहनीय की पहली बारह प्रकृतियों के क्षयोपशम से छठे, सातवें में संयमीपना है। एक अपेक्षा से दसवें तक भी चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम है। क्योंकि वहाँ देशघातियों का उदय रहता है। और उपशम श्रेणी के आठवें, नौवें, दसवें में और मुख्य रूप से ग्यारहवें में सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का उपशम हो जाने से संयमीपना है तथा क्षयक श्रेणी के आठवें, नौवें, दसवें और प्रधान रूप से बारहवें में सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से संयमीपना प्रसिद्ध

सयोगकेवल्यन्तानामष्टानामपि मोहद्वादशकस्य क्षयोपशमादुपशमाद्वा सकलमोहस्य क्षयाद्वा संयतत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा संयतासंयतत्वप्रसंगात्, सामान्यतोऽसंयमस्यापि तेषु भावादिति केचित्। तेऽप्येवं पर्यनुयोज्याः। कथं भवतां चतुःप्रत्ययो बंधः सिद्धान्तविरुद्धो न भवेत्तत्र तस्य सूत्रितत्वादिति। प्रमादानां कषायेष्वन्तर्भावादिति चेत्, सामान्यतो विशेषतो वा तत्र तेषामन्तर्भावः स्यात्? न तावदुत्तरः पक्षो निद्रायाः प्रमादविशेषस्वभावायाः कषायेष्वन्तर्भावयितुमशक्यत्वात् तस्या दर्शनावरणविशेषत्वात्। प्रमादसामान्यस्य कषायेष्वन्तर्भाव इति चेत् न, अप्रमत्तादीनां सूक्ष्मसांपरायिकांतानां प्रमत्तत्वप्रसंगात्। प्रमादैकदेशस्यैव कषायस्य निद्रायाश्च तत्र सद्भावात् सर्वप्रमादानामभावाच्च प्रमत्तत्वप्रसक्तिरिति चेत्, तर्हि प्रमादादित्रयस्याचारित्र्येन्तर्भावेऽपि प्रमत्तसंयतादीनामष्टानामसंयतत्वं मा प्रापत्। तथाहि- पंचदशसु प्रमादव्यक्तिषु वर्तमानस्य

है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार से माना जावेगा तो इन आठों में भी संयतासंयत होने का प्रसंग आता है, क्योंकि संयमभाव के साथ आपके कहे अनुसार सामान्यपने से असंयमभाव भी उनमें विद्यमान है।

उत्तर - आचार्य कहते हैं कि उनके ऊपर भी इस प्रकार प्रश्न उठाने चाहिए कि आपके यहाँ मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग इस प्रकार बंध के चार कारण मानने पर सिद्धान्तविरोध क्यों नहीं होगा? क्योंकि आपके उस सिद्धान्त में बंध के चार कारणों को सूचित करने वाला वह सूत्र कहा गया है। यदि आप (श्वेताम्बर) प्रमादों का कषायों में अन्तर्भाव करोगे तो उनका सामान्य रूप से अन्तर्भाव करोगे या विशेषरूप से अन्तर्भाव करोगे। इन दोनों पक्षों में दूसरा पक्ष लेना तो ठीक नहीं है। क्योंकि निद्रा भी पंद्रह प्रमादों में से चौदहवीं विशेष प्रमाद रूप है। उसका कषायों में अन्तर्भाव करना शक्य नहीं है। क्योंकि निद्रा का कषायों को उत्पन्न करने वाले चारित्र्यमोहनीय कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह निद्रा तो दर्शनावरणकर्म की एक विशेष प्रकृति है।

प्रथम पक्ष के अनुसार प्रमाद सामान्य कषायों में गर्भित है। शंकाकार का इस प्रकार कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सातवें गुणस्थान वाले अप्रमत्त को आदि लेकर सूक्ष्मसांपरायिक गुणस्थान पर्यंत के मुनियों को प्रमत्तपने का प्रसंग आयेगा। कषाय के उदय के तारतम्य से होने वाले सातवें, आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में पंद्रह प्रमादों के ही एकदेशरूप कषायों का और निद्रा का उन चारों गुणस्थानों में उदय विद्यमान है। अतः ये चारों गुणस्थान छूटे के समान प्रमत्त हो जावेंगे। यदि कहें कि सातवें आदि चार गुणस्थानों में विकथा, कषाय, इंद्रिय, निद्रा और स्नेह ये सम्पूर्ण प्रमाद तो नहीं हैं। अतः चार गुणस्थानों को प्रमत्तपने का प्रसंग नहीं आता है। तो दिगम्बर जैन भी कह सकते हैं कि प्रमाद, कषाय, योग इन तीनों के सामान्य रूप से अचारित्र्य में गर्भित हो जाने पर छूटे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के आठ संयमियों को असंयमीपना प्राप्त नहीं होता है।

आचार्य इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हैं- पन्द्रह प्रमाद विशेषों में विद्यमान प्रमादसामान्य का कषायों में अन्तर्भाव कर लेने पर भी सम्पूर्ण पन्द्रह प्रमाद व्यक्तिरूप से उस कषाय में गर्भित नहीं होते हैं। क्योंकि चार विकथा और पाँच इंद्रिय ये नौ प्रमाद अप्रमत्त आदि चार गुणस्थानों में विद्यमान नहीं हैं। चार सञ्ज्वलन कषाय, स्नेह और निद्रा ये छह प्रमाद ही वहाँ सम्भवते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रमादों के न रहने से उन सातवें आदि चारों को जैसे आप प्रमत्त नहीं मानते हैं, वैसे ही हम भी कहते हैं कि मोहनीय कर्म की बारह प्रकृतियों के

प्रमादसामान्यस्य कषायेष्वंतर्भावेऽपि न सर्वा व्यक्तयस्तत्रांतर्भवन्ति विकर्षेन्द्रियाणामप्रमत्तादिष्वभावात्, कषायप्रणयनिद्राणामेव संभवात्, इति न तेषां प्रमत्तत्वं। तथा मोहद्वादशकोदयकालभाविषु तत्क्षयोपशमकालभाविषु च प्रमादकषाययोगविशेषेषु वर्तमानस्य प्रमादकषाययोगसामान्यस्याचारित्र्येऽतर्भावेऽपि न प्रमत्तादीनामसंयतत्वं। स्यान्मतं। प्रमादादिसामान्यस्यासंयतेषु संयतेषु च सद्भावादसंयमे संयमे चांतर्भावो युक्तो न पुनरसंयम एव, अन्यथा वृक्षत्वस्य न्यग्रोधेऽन्तर्व्यापिनोऽपि न्यग्रोधेष्वेवांतर्भावप्रसक्तेरिति। तदसत्, विवक्षितापरिज्ञानात्। प्रमादादित्रयमसंयमे च यस्यांतर्भावीति तस्य तन्नियतत्वात्तत्रांतर्भावो विवक्षितः।

उदय के समय होने वाले पहले दूसरे गुणस्थान के प्रमाद, कषाय, योग व्यक्तियों में जो ही प्रमाद, कषाय, योग, सामान्य विद्यमान हैं, मोहनीय की बारह प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय होने वाले चौथे, पाँचवें, छठे और निरतिशय सातवें गुणस्थानों में रहने वाले प्रमाद, कषाय, योग व्यक्तियों में भी वही सामान्य विद्यमान है। अतः सामान्यरूप से प्रमाद, कषाय, योग अचारित्र में गर्भित होते हुए भी प्रमत्त आदि आठों को असंयमीपना प्राप्त नहीं होता है।

शंका - सामान्य रूप से प्रमाद आदि तीनों संयत और असंयत दोनों प्रकार के जीवों में पाये जाते हैं। तब ऐसी दशा में प्रमाद आदि का चारित्र और अचारित्र दोनों में अन्तर्भाव करना युक्त था। अकेले अचारित्र में ही उनको गर्भित करना अनुचित है। यदि ऐसा न मानकर अन्यथा मानोगे (अनेकों में रहने वाले सामान्य धर्म को एक ही विशेष व्यक्ति में गर्भित कर लोगे) तो निम्ब, वट आदि वृक्षों में रहने वाला वृक्षत्व सामान्य वटवृक्ष के भीतर भी व्यापक होकर विद्यमान रहेगा। अतः उन अनेकों में रहने वाले वृक्षत्व सामान्य का भी अकेले वटवृक्ष में ही गर्भित करने का प्रसंग आयेगा। अर्थात्- वट ही वृक्ष कहा जावेगा। निम्ब, जामुन आदि पेड़ न कहे जा सकेंगे।

उत्तर - ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे कहने के अभिप्राय को आपने समझा नहीं है। जिस के सिद्धान्त में प्रमाद, कषाय और योग ये तीनों असंयम में गर्भित हो जाते हैं; उसके मत में ये तीनों ही असंयम में तो नियम से विद्यमान हैं। इसलिए उस असंयम में गर्भित करना हमको विवक्षित है। भावार्थ- बंध के कारणों में कहे गये मिथ्यादर्शन आदि पाँच के पूर्व-पूर्व कारण के रहने पर उत्तरवर्ती कारण अवश्य रहते हैं। मिथ्यादर्शन को कारण मानकर जहाँ बंध हो रहा है, वहाँ शेष चारों भी विद्यमान हैं तथा मिथ्यादर्शन की व्युच्छित्ति होने पर दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति निमित्त से बंध होता है, वहाँ शेष तीन कारण भी विद्यमान हैं। एवं पाँचवें, छठे में प्रमाद हेतु से बंध होने पर कषाय और योग भी कारण हो रहे हैं और सञ्ज्वलन कषाय के उदय से सातवें, आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थान में बंध हो रहा है। वहाँ नौ योग भी बंध के कारण हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल योग से ही एक समय की स्थिति वाले सातावेदनीय का ही बंध होता है। इस कारण प्रमाद आदि तीन का असंयम भाव में गर्भित करना ठीक है। क्योंकि असंयम में वे पूर्ण रूप से रहते हैं। किंतु संयमी गुणस्थानों में प्रमाद आदि तीन पूरे तौर से नहीं रहते हैं। प्रमादों का अप्रमत्त को आदि लेकर आगे के गुणस्थानों में अभाव है। तथा सञ्ज्वलन मंद, मंदतर, मंदतम और सूक्ष्म लोभ के उदय होने पर होने वाली कषायों का, कषायों से रहित ग्यारहवें आदि में होना सम्भव नहीं है और तेरहवें तक बंध के कारण हो रहे योगों की योगरहित चौदहवें गुणस्थान में स्थिति नहीं है। अतः उन प्रमाद, कषाय और योगों का संयम में अंतर्भाव करना हमको विवक्षित नहीं है।

प्रमादानामप्रमत्तादिष्वभावात् कषायाणामकषायेष्वसंभवात् योगानामयोगेऽनवस्थानादिति तेषां संयमे नांतर्भावो विवक्षितः। प्रतिनियतविशेषापेक्षया तु तेषामसंयमेऽनन्तर्भावात् पंचविध एव बंधहेतुः मोहद्वादशकक्षयोपशमसहभाविनां प्रमादकषाययोगानां विशिष्टानामसंयतेष्वभावात्कषायोपशमक्षयभाविनां च प्रमत्तकषायसंयतेष्वप्यभावात् सर्वेषां स्वानुरूपबंधहेतुत्वाप्रतीयातात्।

नन्वेवं पंचधा बंधहेतौ सति विशेषतः।

प्राप्नो निर्वाणमार्गोऽपि तावद्धा तन्निवर्तकः ॥११०॥

उन छठे आदि प्रत्येक गुणस्थान में नियत विशेष-विशेष रूप से होने वाले प्रमाद, कषाय और योग विशेषों की अपेक्षा होने पर तो उन प्रमाद आदिकों को असंयम में गर्भित नहीं करते हैं। क्योंकि वे असंयतों में नहीं पाये जाते हैं। उसको तीन प्रकार न मानकर बंध के हेतु पाँच प्रकार के ही इष्ट हैं। अतः बंध के पाँच हेतु बतलाये हैं। भावार्थ— मिथ्यात्व के उदय होने पर उत्तरवर्ती कारण रहें, फिर भी उनमें मिथ्यादर्शन ही प्रधान है। अविरति शब्द से अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण के उदय से होने वाले भाव ही लिये गये हैं। प्रमाद पद से सञ्ज्वलन कषाय के तीव्र उदय होने पर होने वाले पंद्रह प्रमाद भी लिये जाते हैं। अविरत जीवों के अनंतानुबंधी आदि तीन चौकड़ी के उदय के साथ होने वाले प्रमादों की यहाँ विवक्षा नहीं है। इसी प्रकार सञ्ज्वलन के अतीव मंद उदय होने पर कषाय हेतु वाला बंध होता है। योगों में से पंद्रहों भी योगों से बंध होता है। किंतु ग्यारहवें बारहवें में सम्भावित हुए नौ और तेरहवें गुणस्थान में सात योगों से होने वाले बंध की विवक्षा है। अतः विशेष प्रमाद आदि की विवक्षा होने पर वे असंयतों में कैसे भी गर्भित नहीं होते हैं। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चतुष्टय यों बारह चारित्रमोहनीय प्रकृतियों के क्षयोपशम के साथ होने वाले विशेष प्रमाद, कषाय और योगों का पहले असंयत के चार गुणस्थानों में सर्वथा अभाव है। चारित्रमोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण आदि इक्कीस प्रकृतियों के उपशमन या क्षण होने पर होने वाले कषाय और योगों का आठवें से लेकर दसवें तक के संयमियों में सद्भाव है। तथा पूर्ववर्ती छठे प्रमादी या सातवें कषाययुक्त संयमियों में अभाव है। सर्व ही जीवों के अपने-अपने अनुकूल पड़ने वाले बंध के कारणों का अविरोध है, अप्रतिघात है।

भावार्थ — जितने बंध के कारण या उनके भेद-प्रभेद जिन संयमी या असंयमी गुणस्थानों में सम्भव है, बिना किसी प्रतिरोध के उन गुणस्थानों में उन-उन कारणों की सत्ता माननी चाहिए। अतः बंध के कारण उन विशेष नियत हेतुओं की अपेक्षा से पाँच कहे गये हैं।

शंका — इस प्रकार विशेष रूप से बन्ध के कारणों के पाँच प्रकार सिद्ध होने पर उस बंध की निवृत्ति करने वाले मोक्ष का मार्ग भी उतनी ही संख्यावाला (पाँच प्रकार का) होना चाहिए— (अतः मोक्ष का मार्ग तीन प्रकार कैसे कहा जाता है?) ॥११०॥

यथा त्रिविधे बंधहेतौ त्रिविधो मार्गस्तथा पंचविधे बंधकारणे पंचविधो मोक्षहेतुर्वक्तव्यः, त्रिभिर्मोक्षकारणैः पंचविधबंधकारणस्य निवर्तयितुमशक्तेः। अन्यथा त्रयाणां पंचानां वा बंधहेतूनामेकेनैव मोक्षहेतुना निवर्तनसिद्धेमोक्षकारणत्रैविध्यवचनमप्ययुक्तिकमनुषज्येतेति कश्चित्।

तदेतदनुकूलं नः सामर्थ्यात् समुपागतम्।

बंधप्रत्ययसूत्रस्य पांचध्यं मोक्षवर्त्मनः ॥१११॥

‘सम्यग्दर्शनविरत्यप्रमादाकषायायोगा मोक्षहेतवः’ इति पंचविधबंधहेतूपदेशसामर्थ्याल्लभ्यत एव मोक्षहेतोः पंचविधत्वं, ततो न तदापादनं प्रतिकूलमस्माकं। सम्यग्ज्ञानमोक्षहेतोरसंग्रहः स्यादेवमिति चेन्न, तस्य सदृशनेतर्भावात् मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनेऽन्तर्भाववत्। तस्य तत्रानंतर्भावे वा षोढा मोक्षकारणं बंधकारणं चाभिमतमेव विरोधाभावादित्युच्यते;—

बंध के कारणों की भाँति मोक्ष के हेतु भी पाँच प्रकार के

जैसे बंध के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के भेद से तीन प्रकार हो जाने पर मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन प्रकार कहा है, वैसे ही बंध के कारण पाँच प्रकार के सिद्ध कर देने पर मोक्ष के हेतु भी पाँच प्रकार के कहने चाहिए। क्योंकि मोक्ष के तीन कारणों से बंध के पाँच प्रकार-कारणों की निवृत्ति हो नहीं सकती। अन्यथा (ऐसा न मानकर तीन से ही पाँचों की निवृत्ति होना मान लेने पर) तीनों या पाँचों बंध के कारणों की मोक्ष के एक ही तत्त्वज्ञानस्वरूप कारण से निवृत्ति सिद्ध हो जावेगी। फिर मोक्ष के कारणों को तीन प्रकार से कहने का भी अयुक्त प्रसंग आयेगा, इस प्रकार कोई शंकाकार कहता है। आचार्य उसका उत्तर देते हैं—

इस प्रकार यह शंका तो हमारे अनुकूल है। अतः बंध के पाँच कारणों को कहने वाले सूत्र की सामर्थ्य से ही यह बात प्राप्त हो जाती है कि मोक्ष का मार्ग भी पाँच प्रकार का है ॥१११॥

बंध के पाँच प्रकार हेतुओं के उपदेश की सामर्थ्य से मोक्ष के कारण को पाँच प्रकारपना इसी न्याय से प्राप्त हो ही जाता है कि सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पाँच मोक्ष के कारण हैं। (इन एक-एक कारण से बंध के एक-एक कारण की निवृत्ति हो जाती है।) अतः शंकाकार का वह आपादन करना हमें प्रतिकूल नहीं है, प्रत्युत इष्ट है।

इस प्रकार मोक्ष के कारणों को पाँच प्रकार का मानने पर भी मोक्ष के कारणों में सम्यग्ज्ञान का संग्रह नहीं होता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन में उस सम्यग्ज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है, मिथ्याज्ञान का जैसे मिथ्यादर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। अथवा यदि स्वतन्त्र गुण होने के कारण उस सम्यग्दर्शन में उस सम्यग्ज्ञान का अन्तर्भाव नहीं करना चाहते हो तो मोक्ष के कारण छह प्रकार के हो जायेंगे और इसी प्रकार मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान विभावों के स्वतन्त्र होने पर बंध का कारण भी छह प्रकार का ही समझा जायेगा। क्योंकि ग्रन्थकारका किसी प्रकार का विरोध न होने से तीन कारण के समान पाँच, छह प्रकार का भी मोक्षकारण इष्ट है। इसी को कहते हैं—

सम्यग्बोधस्य सदृष्टावन्तर्भावात्त्वदर्शने।

मिथ्याज्ञानवदेवास्य भेदे षोडोभयं मतम् ॥११२॥

तत्र कुतो भवन् भवेत्यन्तं बन्धः केन निवर्त्यते, येन पञ्चविधो मोक्षमार्गः स्यादित्यधीयते;—

तत्र मिथ्यादृशो बन्धः सम्यग्दृष्ट्या निवर्त्यते।

कुचारित्राद्विरत्यैव प्रमादादप्रमादतः ॥११३॥

कषायादकषाभंग योगाच्चायोगतः क्रमात्।

तेनायोगगुणान्मुक्तेः पूर्वं सिद्धा जिनस्थितिः ॥११४॥

मिथ्यादर्शनाद्भवन् बन्धः दर्शनेन निवर्त्यते, तस्य तन्निदानविरोधित्वात्। मिथ्याज्ञानाद्भवन् बन्धः सत्यज्ञानेन निवर्त्यत इत्यप्यनेनोक्तं। मिथ्याचारित्राद्भवन्सच्चारित्रेण, प्रमादाद्भवन्प्रमादेन, बन्ध और मोक्ष के कारण दोनों ही छह-छह प्रकार के भी

मिथ्यादर्शन में मिथ्याज्ञान के अन्तर्भाव करने के समान सम्यग्दर्शन में सम्यग्ज्ञान को यदि गर्भित करोगे तो बन्ध और मोक्ष के कारण पाँच प्रकार ही हैं। यदि इन दोनों का भेद मानोगे तो बन्ध और मोक्ष के कारण दोनों ही छह-छह प्रकार के हैं ॥११२॥

इस प्रकरण में, संसार में किस कारण से अधिक बन्ध और किस कारण से बन्ध की निवृत्ति होती है? जिससे कि बन्ध के समान मोक्षमार्ग भी पाँच प्रकार का माना जाय, प्रतिवादी की ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

इस बन्ध-मोक्ष के प्रकरण में मिथ्यादर्शन नामक विभाव के निमित्त से होने वाला बन्ध तो सम्यग्दर्शन स्वभाव से निवृत्त हो जाता है और कुचारित्र से होने वाला बन्ध इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमरूप विरति से नष्ट हो जाता है। प्रमादों से होने वाला बन्ध अप्रमाद से दूर हो जाता है। एवं कषायों के मंद उदय से होने वाला बन्ध चारित्रमोह के उपशम या क्षय रूप अकषाय भाव से दूर हो जाता है। अन्त में, योग से होने वाला बन्ध अयोग अवस्था से ध्वस्त कर दिया जाता है। अर्थात् इस प्रकार क्रम से पाँच बन्ध हेतुओं के भेद-प्रभेदों से होने वाली बंधों की पहले में सोलह, दूसरे में पच्चीस, चौथे में दस, पाँचवें में चार, छठे में छह, सातवें में एक, आठवें में छत्तीस, नौवें में पाँच, दसवें में सोलह और तेरहवें गुणस्थान में एक, इस प्रकार बन्ध योग्य १२० कर्मों की बन्ध-व्युच्छिति होने का नियम है अतः अयोग गुणस्थान से पीछे होने वाली मुक्ति के पहले तेरहवें गुणस्थान और चौदहवें गुणस्थान के काल में जिनेन्द्रदेव का संसार में स्थित रहना सिद्ध हो जाता है ॥११३-११४॥

मिथ्यादर्शन से होने वाला बन्ध सम्यग्दर्शन से निवृत्त कर दिया जाता है। क्योंकि वह सम्यग्दर्शन बन्ध के आदि कारण मिथ्यात्व का विरोधी है। इस कथन की सामर्थ्य से यह भी कह दिया गया है कि मिथ्याज्ञान से होने वाला बन्ध सम्यग्ज्ञान से निवृत्त हो जाता है। तथा मिथ्याचारित्र से होने वाला बन्ध सम्यक्चारित्र से नष्ट कर दिया जाता है। एवं प्रमाद से हुआ बन्ध अप्रमाद से नष्ट कर दिया जाता

कषायाद्भवन्नकषायेण, योगाद्भवन्नयोगेन स निवर्त्यत इत्ययोगगुणानंतरं मोक्षस्याविर्भावात्सयोगायोगगुणस्थानयोर्भगवदर्थतः स्थितिरपि प्रसिद्धा भवति।

सामग्री यावती यस्य जनिका संप्रतीयते।

तावती नातिवर्त्यैव मोक्षस्यापीति केचन ॥११५॥

यस्य यावती सामग्री जनिका दृष्टा तस्य तावत्येव प्रत्येया, यथा यवबीजादिसामग्री यवांकुरस्य। तथा सम्यग्ज्ञानादिसामग्री मोक्षस्य जनिका संप्रतीयते, ततो नैव सातिवर्तनीया, मिथ्याज्ञानादिसामग्री च बंधस्य जनिकेति मोक्षबंधकारणसंख्यानियमः, विपर्ययादेव बंधो ज्ञानादेव मोक्ष इति नेष्यत एव, परस्यापि संचितकर्मफलोपभोगादेरभीष्टत्वादिति केचित्।

है। और कषायों से होने वाला बंध अकषायभाव से तथा योग से होने वाला बंध अयोग भाव से श्वस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार आत्मा के स्वाभाविक परिणाम रूप अयोग गुणस्थान के अन्त में होने वाली मुक्ति के प्रगट हो जाने से पहले तेरहवें सयोग और चौदहवें अयोग गुणस्थान में अर्हन्तदेव की स्थिति भी प्रसिद्ध हो जाती है। भावार्थ— अधिक-से-अधिक कुछ अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व वर्ष तक सर्वज्ञ भगवान् भव्य जीवों के लिए तत्त्वों का उपदेश देते हैं और कम-से-कम तेरहवें गुणस्थान में कतिपय अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं। पाँच लघु अक्षर प्रमाण अयोग गुणस्थान के अनन्तर काल में मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

सम्पूर्ण कारणों के मिलने पर ही विवक्षित कार्य की उत्पत्ति

जिस कार्य को उत्पन्न करने वाली जितनी कारण समुदाय रूप सामग्री अच्छी तरह देखी जाती है, वह कार्य उतनी सामग्री का उल्लंघन नहीं कर सकता है। अर्थात् उतने सम्पूर्ण कारणों के मिलने पर ही विवक्षित कार्य की उत्पत्ति हो सकेगी। मोक्षरूप कार्य के लिए भी सम्यग्दर्शन आदि तथा चारित्रगुण के स्वभावों को विकसित करने के लिए आवश्यक कहे जा रहे तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थान में अवस्थानकाल जैसे अपेक्षित है, वैसे ही सञ्चित कर्मों का फलोपभोग होना भी माना गया है। इस प्रकार कोई (नैयायिक) कह रहे हैं ॥११५॥

जिस कार्य की जितनी उपादान कारण, सहकारी कारण, उदासीन कारण, प्रेरक कारण और अवलम्ब कारणों की समुदाय रूप जितनी सामग्री उत्पादक देखी गयी है, उस कार्य के लिए उतनी ही सामग्री की अपेक्षा करना आवश्यक समझना चाहिए। जैसे कि जौ का बीज मिट्टी, पानी, मन्द वायु इत्यादि कारणों के समुदाय रूप सामग्री से जौ का अंकुर उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान आदि कारण भी मोक्षरूप कार्य के जनक प्रतीत होते हैं। तथा मोक्ष रूपी कार्य उस अपनी सामग्री का उल्लंघन नहीं कर सकता। और मिथ्याज्ञान आदि कारण-समुदाय बंध के जनक हैं। इस प्रकार मोक्ष और बंध के कारणों की संख्या का नियम है। अकेले विपर्ययज्ञान से ही बंध हो जाना और केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष हो जाना इष्ट नहीं है। दूसरे रूप से भी पूर्व में एकत्रित किये हुए कर्मों के फलोपभोग, तपस्या, वैराग्य, आदि कारण समुदाय से ही मोक्ष होना इष्ट है। इस प्रकार कोई कापिल और वैशेषिक कह रहे हैं।

एतेषामप्यनेकांताश्रयणे श्रेयसी मतिः ।

नान्यथा सर्वथैकांते बंधहेत्वाद्ययोगतः ॥११६॥

नित्यत्वैकांतपक्षे हि परिणामनिवृत्तिः ।

नात्मा बंधादिहेतुः स्यात् क्षणप्रक्षयिचित्तवत् ॥११७॥

परिणामस्याभावे नात्मनि क्रमयौगपद्ये तयोस्तेन व्याप्तत्वात् ।
पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणो हि परिणामो न पूर्वोत्तरक्षणविनाशोत्पादमात्रं स्थितिमात्रं
वा प्रतीत्यभावात् । स च क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकतया संप्रतीयते । बहिरंतश्च
बाधकाभावान्नापारमार्थिको यतः स्वयं निवर्तमानः क्रमयौगपद्ये न निवर्तयेत् । ते च निवर्तमाने
आत्मा परिणामी है सर्वथा नित्य नहीं

ग्रन्थकार कहते हैं कि इन लोगों का उक्त कथन अनेकान्त मत का आश्रय लेने पर ही
कल्याणकारी हो सकता है, अन्यथा नहीं । क्योंकि सर्वथा एकांत में बंध, बंध के हेतु, मोक्ष, मोक्ष के
कारण आदि अवस्थाओं का अभाव है ॥११६॥

यदि नित्य पक्ष ग्रहण करेंगे तो आत्मा में पर्याय होने की निवृत्ति हो जावेगी । अतः वह आत्मा
बंध, बंध के कारण, मोक्षकारण और मोक्षरूप आदि पर्यायों का कारण न बन सकेगा, जैसे कि बौद्धों
के द्वारा स्वीकृत एक ही क्षण में समूल नष्ट होने वाला विज्ञानस्वरूप आत्मा बंध का हेतु नहीं होने
पाता है और सर्वथा क्षणिक माने गये आत्मा का (अष्टाङ्ग कारणों से) मोक्ष भी नहीं हो सकता ॥११७॥

आत्मा में परिणाम होने का अभाव मानने पर कुछ अर्थ, व्यंजन-पर्यायों का क्रमरूप से होना
और कितनी ही गुण रूप सहभावी पर्यायों का एक काल में होना बन नहीं सकता है । क्योंकि क्रम और
यौगपद्य उस परिणाम में व्याप्त हैं । (अर्थात् परिणाम होना व्यापक है और उसके क्रम-यौगपद्य व्याप्य
हैं ।) पूर्व स्वभावों का त्याग करना और उत्तर कालवर्ती स्वभावों का ग्रहण करना तथा स्थूलपर्याय या
द्रव्यरूप से ध्रुव रहना यही परिणाम का नियत लक्षण है । पूर्वक्षणवर्ती स्वभावों का अन्वय सहित नाश
हो जाना और उत्तरसमयवर्ती सर्वथा नवीन ही पर्यायों की उत्पत्ति होना परिणाम नहीं है । अथवा तीनों
काल में स्थित रहना ही परिणाम नहीं है । क्योंकि इस प्रकार प्रतीति नहीं हो रही है । किन्तु तीन
लक्षणवाला परिणाम ही क्रम और यौगपद्यका व्यापक हो करके जाना जा रहा है । घट, पट आदि बहिरंग
पदार्थों में तीन लक्षणवाला ही परिणाम बाधक प्रमाणों से रहित होकर प्रतीत हो रहा है । वह परिणाम
होना वस्तु के विवर्तरूप स्वभावों पर अवलम्बित है, अतः अवास्तविक नहीं है ; जिससे कि सर्वथा
नित्य या सर्वथा अनित्य रूप से स्वीकृत कल्पित पदार्थ से वह व्यापक परिणाम स्वयं निवृत्त होता हुआ
अपने व्याप्य क्रम और यौगपद्य की निवृत्ति नहीं करता है । (अर्थात् व्यापक परिणाम के न रहने पर
सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आत्मा में व्याप्य स्वरूप क्रमिक भाव और युगपत् भाव भी नहीं रहते
हैं ।) जब एकांत पक्ष में क्रम तथा यौगपद्य निवृत्त हो जाते हैं तो वे निवृत्त होते हुए सामान्य रूप से

अर्थक्रियासामान्यं निवर्तयतस्ताभ्यां तस्य व्याप्तत्वात्। अर्थक्रियासामान्यं तु यत्र निरतिशयात्मनि न संभवति तत्र बंधमोक्षादर्थक्रियाविशेषः कथं संभाव्यते, येनायं तदुपादानहेतुः स्यात् निरन्वयक्षणिकचित्तस्यापि तदुपादानत्वप्रसंगात्।

न चात्मनो गुणो भिन्नस्तदसंबंधतः सदा।

तत्संबंधे कदाचित् तस्य नैकांतनित्यता ॥११८॥

गुणासंबंधरूपेण नाशदुणयुतात्मना।

प्रादुर्भावाच्चिदादित्वस्थानात्प्रात्मत्वसिद्धितः ॥११९॥

नापरिणाम्यात्मा तस्येच्छाद्वेषादिपरिणामेनात्यंतभिन्नेन परिणामित्वात्, धर्माधर्मोत्पत्त्याख्या बंधसमवायिकारणत्वोपपत्तेरिति न मंतव्यं, स्वतोऽत्यंतभिन्नेन परिणामेन कस्यचित्परिणामित्वासंभवात्, अन्यथा रूपादिपरिणामेनात्माकाशादेः परिणामित्वप्रसंगात्।

अर्थक्रिया को भी निवृत्त करा देते हैं। क्योंकि उन क्रम और योगपद्ध से सामान्य अर्थक्रिया व्याप्त है। (व्यापक के निवृत्त हो जाने से व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है) अनेक स्वभावों से विवर्त करना रूप अतिशयो रहित कूटस्थ या क्षणिक आत्मा में सामान्य रूप से अर्थक्रिया करना भी संभव नहीं है। उस अपरिणामी आत्मा में बंधना, छूटना, बंध का कारण मिथ्याज्ञान रूप हो जाना और मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान रूप हो जाना आदि विशेष अर्थक्रियाएँ कैसे सम्भव हो सकती हैं? जिससे कि यह आत्मा बंध आदिकों का उपादान कारण बन सके। यदि कूटस्थ नित्य आत्मा को भी बंध, मोक्ष आदि का उपादान कारण मानेंगे तो बौद्धों के माने गये निरन्वय क्षणिक विज्ञानरूप आत्मा को भी बंध, मोक्ष आदि का उपादान कारणपना हो जाने का प्रसंग आवेगा।

आत्मा से सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ गुण उस आत्मा का नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उस गुण के साथ आत्मा का सर्वकालों में सम्बन्ध नहीं है। यदि ज्ञान आदि गुणों के साथ उस आत्मा का कदाचित् समवाय सम्बन्ध होना मानोगे, तब तो उस आत्मा के एकान्त रूप से नित्यता नहीं रहेगी। क्योंकि पहले के गुणों से सम्बन्ध नहीं रखने वाले आत्मा का नाश हुआ और गुणसमवायी स्वभाव से आत्मा का प्रादुर्भाव हुआ तथा चैतन्य, आत्मत्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों से आत्मद्रव्य की स्थिति रही। अतः इस हेतु से आत्मा का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन स्वभावों से तदात्मकपना सिद्ध होता है। एकान्त रूप से आत्मा की नित्यता नहीं रहती है॥ ११८-११९॥

(वैशेषिक) आत्मा सर्वथा अपरिणामी नहीं है। इच्छा, द्वेष, सुख, ज्ञान आदि चौदह गुणरूप सर्वथा भिन्न परिणामों के द्वारा वह आत्मा परिणामी है। और पुण्य-पाप की उत्पत्ति नामक बन्ध के समवायी कारणों की उत्पत्ति भी आत्मा के युक्तियों से सिद्ध हो जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वैशेषिकों को ऐसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि अपने से सर्वथा भिन्न परिणामों के द्वारा किसी भी द्रव्य के परिणामीपना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार मानोगे (अर्थात् सर्वथा भिन्न परिणाम से भी चाहे किसी को परिणामी कहेंगे) तब तो रूप, रस आदि परिणामों से पुद्गल के समान आत्मा, आकाश, काल, मन इन द्रव्यों को भी परिणामी हो जाने का प्रसंग आवेगा। (यानी सर्वथा भिन्न ज्ञान का परिणामी पुद्गल और रूप का परिणामी आकाश हो जायेगा)। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा भिन्न परिणामों से परिणामी नहीं है। इसलिए वह बंध और बंध के कारण मिथ्याज्ञान का तथा मोक्ष और मोक्ष के कारण तत्त्वज्ञान का समवायी कारण नहीं हो सकता।

ततोऽपरिणाम्येवात्मेति न बंधादेः समवायिकारणं, नाप्यात्मांतःकरणसंयोगोऽसमवायिकारणं, प्राग्दृष्टं वा तदुणो निमित्तकारणं, तस्य ततो भिन्नस्य सर्वदा तेनासंबंधात्। कदाचित्संबंधे वा नित्यैकांतहानिप्रसंगात्, स्वगुणासंबंधरूपेण नाशादुणसंबंध-रूपेणोत्पादाच्चेतनत्वादिना स्थितेस्तत्त्रयात्मकत्वसिद्धेः। एतेनात्मनो भिन्नो गुणः सत्त्वरजस्तमोरूपो बंधादिहेतुरित्येतत्प्रतिव्यूढं, तेन तस्य शश्वदसंबंधेन तद्धेतुत्वानुपपत्तेः, कदाचित्संबंधे त्रयात्मकत्वसिद्धेरविशेषात्।

यद्विनश्यति तद्रूपं प्रादुर्भवति तत्र यत्।

तदेवाऽनित्यमात्मा तु तद्विन्नो नित्य इत्यपि ॥१२०॥

न युक्तं नश्वरोत्पित्सुरूपाधिकरणात्मना।

कादाचित्कत्वतस्तस्य नित्यत्वैकांतहानितः ॥१२१॥

आत्मा और मन का संयोग भी अदृष्टों की उत्पत्ति रूप बंध की या मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में असमवायी कारण नहीं हो सकता है। तथा बंधरूप संसार की उत्पत्ति में वैशेषिकों ने आत्मा के विशेष गुण पहले के पुण्य-पापों के बंध का निमित्त कारण माना है। सो भी नहीं बन पाता है। क्योंकि आत्मा से सर्वथा भिन्न पुण्य-पाप का उस आत्मा के साथ सभी कालों में संबंध नहीं है। यदि किसी काल में आत्मा के गुणों का उस आत्मा से सम्बन्ध मानते हैं तो आत्मा के एकान्त रूप से नित्यपने की हानि हो जाती है। क्योंकि जब तक आत्मा में विवक्षित गुण उत्पन्न नहीं है, तब तक आत्मा में गुणों से असम्बन्ध करना स्वभाव है। जब विवक्षित गुण उत्पन्न हो जाते हैं, तब उस समय गुणों से असम्बन्ध होने रूप से स्वकीय पूर्व स्वभाव रूप आत्मा का नाश हुआ और नवीन गुणों के सम्बन्ध रूप स्वभाव से आत्मा का उत्पाद हुआ तथा चेतनपना, आत्मपना आदि धर्मों से आत्मा स्थित रहा है। अतः उस आत्मा को तीन लक्षण स्वरूप परिणामीपना सिद्ध होता है। प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीन लक्षण विद्यमान हैं।

इस पूर्वोक्त हेतु से आत्मा से सर्वथा भिन्न मानी गयी प्रकृति के सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप भाव आत्मा के बंध तथा मोक्ष आदि के कारण हैं, इसका भी निराकरण हो जाता है। क्योंकि भिन्न पड़े हुए (शाश्वत सम्बन्ध नहीं रखने वाले) गुण आकाश के समान आत्मा के उस बंध, मोक्ष होने में कारण नहीं सिद्ध हो सकते हैं। यदि किसी समय इन तीन गुणों का आत्मा से संबंध होना मान लेंगे तो तीन स्वभावपना आत्मा में बिना विशेषता के सिद्ध हो जाता है।

आत्मा में जो गुण या धर्म उत्पन्न होते हैं और जो नाश होते हैं, वे ही अनित्य हैं। आत्मा तो उन गुण और स्वभावों से सर्वथा भिन्न है। अतः आत्मा न्यून, अधिक, नहीं होता है। वह अक्षुण्ण रूप से कूटस्थ नित्य बना रहता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार प्रतिवादियों का कहना भी युक्तियों से रहित है। क्योंकि नाश स्वभाव और उत्पत्ति स्वभाव वाले गुण या धर्मों के आधार स्वरूप आत्मा को भी कभी-कभी होनापन है। अतः आपके मत में उस आत्मा के नित्यता के एकान्तपक्ष की हानि हो जाती है। अर्थात् कथंचित् किसी पर्याय से आत्मा उत्पन्न होता है और किसी पर्याय से नाश को प्राप्त होता है। अतः सर्वथा नित्य नहीं है ॥१२०-१२१॥

कदाचिन्नश्वरस्वभावाधिकरणं कदाचिदुत्पित्सुधर्माधिकरणमात्मा नित्यैकांतरूप इति ब्रुवन्न स्वस्थः, कादाचित्कानेकधर्माश्रयत्वस्यानित्यत्वात्।

नानाधर्माश्रयत्वस्य गौणत्वादात्मनः सदा।

स्थासुतेति न साधीयः सत्यासत्यात्मताभिदः ॥१२२॥

सत्यासत्यस्वभावत्वाभ्यामात्मनो भेदः संभवतीत्ययुक्तं, विरुद्धधर्माध्यासलक्षणत्वाद्भेदस्यान्यथात्मानात्मनोरपि भेदाभावाप्रसंगात्।

असत्यात्मकतासत्त्वे सत्त्वे सत्यात्मतात्मनः।

सिद्धं सदसदात्मत्वमन्यथा वस्तुताक्षतिः ॥१२३॥

कदाचित् आत्मा नाश होने वाले गुण-स्वभावों का अधिकरण है और कभी उत्पन्न होने वाले धर्मों का अधिकरण है फिर भी आत्मा को एकान्त रूप से कूटस्थ नित्य कहने वाला वैशेषिक, सांख्य या नैयायिक स्वस्थ नहीं है अर्थात् उसका कथन सुसंगत नहीं है। क्योंकि कदाचित् अनेक धर्मों का आश्रय होने से आत्मा अनित्य है।

(नित्य आत्मवादी के अनुसार) अनेक धर्मों के आश्रयत्व की गौणता होने से सर्वदा आत्मा स्थिति स्वभाव वाला है। ग्रन्थकार कहते हैं इस प्रकार कहना अच्छा नहीं है। क्योंकि सर्वदा स्थित रहने वाले सत्य और असत्य स्वरूप के द्वारा आत्मा का भेद सिद्ध होता है। अतः आत्मा अनित्य है ॥१२२॥

(नित्यात्मवादी) सत्य (सत्त्व) स्वभाव और असत्य (असत्त्व) स्वभाव से आत्मा का भेद है (यानी वे सत्य और असत्य स्वभाव भी आत्मा से भिन्न हैं।) अर्थात् उन स्वभावों में ही भेद-सम्भवता है। आत्मा तो कूटस्थ नित्य एक है। ऐसा कहना भी युक्तिशून्य है। क्योंकि भेद का लक्षण विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त हो जाना ही है। ऐसा न मानकर यदि अन्यथा मानोगे (यानी अधिकरण से अधिकरणपन स्वभाव को पृथक् मान लिया जावेगा) तब तो आत्मा और अनात्मा के भेद न होने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् आत्मा में ज्ञान, सुख आदि की अधिकरणता है और जड़ पृथ्वी आदि में रूप रस आदि की अधिकरणता है। तभी तो जड़ और चेतन में भेद माना जाता है। ऐसा माने बिना जड़, चेतन का भेद भी उठ जावेगा। अतः आत्मा भी भिन्न स्वभाव वाला होकर अनित्य है।

आत्मा को गौण रूप से आरोपित किये गये असत् स्वरूप धर्मों की अपेक्षा से असत् और सर्वदा विद्यमान रहने वाले सत्य स्वरूप स्वभावों की अपेक्षा से सर्वदा सत् मानोगे तब तो आत्मा को सत् और असत् स्वरूपपना सिद्ध हो जाता है। अन्यथा आत्मा को वस्तुपने की ही क्षति हो जाती है भावार्थ— सत् असत् धर्मात्मक वस्तु होती है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा पदार्थ सत् है और पर चतुष्टयकी अपेक्षा असत् है। अन्यथा खरविषाण के समान शून्यपने या साङ्ख्य हो जाने का प्रसंग आता है ॥१२३॥

नानाधर्माश्रयत्वं गौणमसदेव, मुख्यं स्थायित्वं तु सदिति तत्त्वतो जीवस्यैकरूपत्वमयुक्तं, सदसत्स्वभावत्वाभ्यामनेकरूपत्वसिद्धेः। यदि पुनरात्मनो मुख्यस्वभावेनोपचरितस्वभावेनापि सत्त्वमुररीक्रियते, तदा तस्याशेषपररूपेण सत्त्वप्रसक्तेरात्मत्वेनैव व्यवस्थानुपपत्तिः सत्तामात्रवत्सकलार्थस्वभावत्वात्। तस्योपचरितस्वभावेनैव मुख्यस्वभावेनाप्यसत्त्वे कथमवस्तुत्वं न स्यात्, सकलस्वभावशून्यत्वात् खरशृंगवत्। ये त्वाहुः उपचरिता एवात्माः स्वभावभेदाः न पुनर्वास्तवास्तेषां ततो भेदे तत्स्वभावत्वानुपपत्तेः। अर्थांतरस्वभावत्वेन संबंधात्तत्स्वभावत्वेप्येकेन स्वभावेन तेन तस्य तैः संबंधे सर्वेषामेकरूपतापत्तिः, नानास्वभावैः संबंधेऽनवस्थानं तेषामप्यन्यैः

आत्मा में नाना धर्मों का आश्रयपना गौण रूप से आरोपित धर्म होने से असत् है, तथा आत्मत्व आदि मुख्य धर्म सत् स्वरूप है। अतः वास्तव में विचारा जावे तो जीव अपने स्थायी धर्मों से एक सत् रूप ही है। असत् अंश उसमें सर्वथा नहीं है, ऐसा (नैयायिक का) कहना अयुक्त है। क्योंकि सत् और असत् दोनों स्वभाव होने से जीव के अनेक धर्म सिद्ध है। यदि जीव को मुख्य और गौण सर्व प्रकार से सद्रूप ही माना जावेगा तो मुख्य स्वभावों से जैसे जीव के सद्रूपपना है, वैसे ही गौण कल्पित स्वभाव रूप से सत् रूपपना स्वीकार करना पड़ेगा। और ऐसा होने पर उस जीव को सम्पूर्ण (जड़पना, रसवानपना, गंधवानपना आदि) दूसरों के स्वभावों करके भी सत् रूपपने का प्रसंग आवेगा। (अतः वह जीव उन जड़ पृथ्वी, आकाश, स्वरूप बन जावेगा।) तथा जीव की आत्मपने स्वरूप से व्यवस्था होना भी असत्य हो जायेगी। (अर्थात् जड़ और चेतन पदार्थों का सांकर्य हो जावेगा।) केवल (शुद्ध) सत्ता के समान सम्पूर्ण पदार्थ सभी पदार्थों के स्वभाव वाले हो जावेंगे। (अपने स्वभावों से पदार्थ सद्रूप है और अन्य के स्वभावों से वस्तु असत् रूप है। ऐसा मानना पड़ेगा।) यदि उपचरित स्वभाव करके वस्तु जैसे असत् रूप है, वैसे ही मुख्य अपने स्वभावों करके भी उसको असत् रूप मानोगे तो उसको अवस्तुपना क्यों नहीं होगा? (क्योंकि परकीय स्वभावों से शून्य तो वस्तु थी ही अब आपने स्वकीय मुख्य स्वभावों से भी रहित मान लिया है) ऐसी दशा में सम्पूर्ण स्वभावों से शून्य हो जाने के कारण गंध के सींग समान वह अवस्तु, असत् रूप, शून्य क्यों नहीं हो जावेगी? अवश्य हो जावेगी।

यहाँ जो नित्य आत्मवादी ऐसा कहते हैं कि आत्मा के वे भिन्न-भिन्न अनेक स्वभावभेद कल्पना से आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि उन अनेक स्वभावों को उस एक आत्मा से भिन्न मानने पर उनमें उस आत्मा का स्वभावपना नहीं सिद्ध होता है। (जैसे कि ज्ञान से सर्वथा भिन्न माने गये गंध, रूप आदि गुण ज्ञान के स्वभाव नहीं होते हैं) यदि (आप जैन) आत्मा के उन भिन्न स्वभावों का अन्य भिन्न स्वभाव के द्वारा संबंध हो जाने से आत्मा के उनको स्वभावपना मानोगे तो, एक उस स्वभाव से आत्मा का उन स्वभावों के साथ संबंध माना जावेगा, तब तो उन सर्व ही स्वभावों को एक हो जाने का प्रसंग होगा। भिन्न-भिन्न नाना स्वभावों से यदि उन भिन्न स्वभावों के साथ आत्मा का संबंध माना जावेगा तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि उन स्वभावों के साथ संबंध करने के लिए भी पुनः तीसरे चौथे पाँचवें आदि अनेक स्वभावों करके संबंध मानने पड़ेंगे और उन आगे-आगे वाले स्वभावों का भी अन्य-अन्य चौथे, पाँचवें आदि स्वभावों करके सम्बन्ध होने से कहीं अवस्थान (रुकना) नहीं हो पाता है।

स्वभावैः संबंधात् । मुख्यस्वभावानामुपचरितैः स्वभावैस्तावद्विरात्मनोऽसंबंधे नानाकार्यकरणं नानाप्रतिभासविषयत्वं चात्मनः किमुपचरितैरेव नानास्वभावैर्न स्यात्, येन मुख्यस्वभावकल्पनं सफलमनुमन्येमहि ।

नानास्वभावानामात्मनोनर्थान्तरत्वे तु स्वभावा एव नात्मा कश्चिदेको भिन्नेभ्योनर्थान्तरस्यैकत्वायोगात्, आत्मैव वा न केचित्स्वभावाः स्युः, यतो नोपचरितस्वभावव्यवस्थात्मनो न भवेत् । कथंचिद्भेदाभेदपक्षेऽपि स्वभावानामात्मनोऽनवस्थानं तस्य निवारयितुमशक्तेः । परमार्थतः कस्यचिदेकस्य नानास्वभावस्य मेचकज्ञानस्य ग्राह्याकारवेदनस्य वा सामान्यविशेषादेर्वा प्रमाणबलादव्यवस्थानात्तेन व्यभिचारासंभवादिति । तेष्वनेनैव प्रतिक्षिप्ताः,

(नित्य आत्मवादी आगे कहते हैं कि) यदि जैन अनवस्था के निवारणार्थ उन अनेक मुख्य स्वभावों का उतनी संख्या वाले मुख्य स्वभावों से आत्मा के साथ संबंध होना न मानेंगे तो (उतनी संख्या वाले उपचरित स्वभावों से ही उन मुख्य स्वभावों का आत्मा में संबंध न होने पर) उन कल्पित अनेक स्वभावों के द्वारा ही आत्मा के मुख्य स्वभावों से होने वाले अनेक कार्यों को करना और अनेक ज्ञानों का विषय हो जाने रूप कार्य भी क्यों नहीं हो जावेंगे? जिससे कि जैनों के मुख्य स्वभावों की कल्पना करने को हम लोग सफल विचारपूर्वक समझें। अतः जैनों के द्वारा वास्तविक स्वभावों की कल्पना करना व्यर्थ है।

आत्मा के अनेक स्वभावों को यदि (जैन) आत्मा से अभिन्न मानेंगे तब तो वे अनेक स्वभाव ही मानने चाहिए। एक आत्मा द्रव्य कोई भी नहीं माना जावे, क्या हानि है? क्योंकि भिन्न अनेक स्वभावों से जो अभिन्न है उसके एक होने का अयोग है। (ऐसा कौन विचारशील है जो भिन्न अनेक स्वभावों से एक आत्मा को अभिन्न कहता है) तथा दूसरी बात यह है कि स्वभावों को आत्मा से अभिन्न मानने पर आत्मा ही एक मान लिया जावे, दूसरे कोई अनेक स्वभाव न माने जावें, जिससे कि मुख्य स्वभावों के समान आत्मा के उपचरित स्वभाव भी नहीं हो सकते। **भावार्थ**— आत्मा में न मुख्य स्वभाव है और न उपचरित स्वभाव ही है। किन्तु आत्मा सम्पूर्ण स्वभावों से रहित होकर निःस्वभाव रूप कूटस्थ नित्य है।

(कूटस्थ आत्मवादी कहते हैं कि) अनेक स्वभावों के कथञ्चित् भेद-अभेद पक्ष को यदि स्वीकार करेंगे तो अनेक स्वभावों का आत्मा में अवस्थान नहीं हो सकेगा। क्योंकि भेद पक्ष के अंश में अन्य स्वभावों की कल्पना करते-करते अनवस्थान हो जावेगा। उनका निवारण करना (आप जैनों के लिए) अशक्य होगा अर्थात् एक आत्मा के अनेक स्वभावों की व्यवस्था करना अनेकान्त मत में अशक्य है। क्योंकि अनेकान्त मत में संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव ये आठ दोष आते हैं।

तथा मुख्य रूप से किसी एक नाना स्वभाव वाले आत्मा के चित्रज्ञान, ग्राह्याकार वेदन ज्ञान वा सामान्य विशेष के प्रमाण के बल से अव्यवस्थान होने से उन मेचक आदि ज्ञान के द्वारा व्यभिचार संभव नहीं है। अर्थात् एक आत्मा को नाना स्वभावों से रहित सिद्ध करने के लिए दिये गये हमारे मुख्यरूप से एकत्व हेतु का उन अनेक स्वभाव रूप एक मेचकज्ञान (चित्रज्ञान) आदि से व्यभिचार होना कैसे भी सम्भव नहीं है।

स्वयमिष्टानिष्टस्वभावाभ्यां सदसत्त्वस्वभावसिद्धेरप्रतिबंधात् । न च कस्यचिदुपचरिते सदसत्त्वे तत्त्वतोनुभयत्वस्य प्रसक्तेः, तच्चायुक्तं, सर्वथा व्याघातात् । कथंचिदनुभयत्वं तु वस्तुनो नोभयस्वभावतां विरुणद्धि; कथं वानुभयरूपतया तत्त्वं तदन्यरूपतया चातत्त्वमिति ब्रुवाणः कस्यचिदुभयरूपतां प्रतिक्षिपेत् । न सत्राप्यसत्रोभयं नानुभयमन्यद्वा वस्तु; किं तर्हि? वस्त्वेव सकलोपाधिरहितत्वान्न तथा वक्तुमशक्तेरवाच्यमेवेति चेत्, कथं वस्त्वित्युच्यते? सकलोपाधिरहितमवाच्यं वा? वस्त्वादिशब्दानामपि तत्राप्रवृत्तेः । सत्यामपि वचनागोचरतायामात्मादितत्त्वस्योपलभ्यताभ्युपेया । सा च स्वस्वरूपेणास्ति न पररूपेणेति

जैनाचार्य नित्यवाद का खण्डन करते हैं— इस प्रकार आत्मा को सर्वथा नित्य कहने वाले वे भी हमारे पूर्वोक्त कथन के द्वारा ही तिरस्कृत (खण्डित) कर दिये जाते हैं। क्योंकि अपने लिए स्वयं इष्ट माने गये स्वभाव के द्वारा आत्मा को सत् स्वभाव और अपने लिए अनिष्ट स्वभाव के द्वारा उसी आत्मा के असत् स्वभाव की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि एक आत्मा में सत् और असत् ऐसे दो स्वभावों की सिद्धि होने का कोई प्रतिबंध नहीं है। किसी वस्तु के केवल उपचार से माने गये सत्त्व और असत्त्व स्वभाव कुछ कार्यकारी नहीं होते हैं। यदि मुख्य रूप से सत्त्व और असत्त्व नहीं माने जावेंगे तो वस्तु में यथार्थ रूप से अनुभयपने का प्रसंग आता है और यह अयुक्त है। वस्तु में सत् और असत् का निषेध कर सर्वथा अनुभयपना आप सिद्ध नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। जिस समय सत् स्वभाव का निषेध करते हैं, उसी समय असत् स्वभाव का विधान हो जाता है, और जिस समय असत् स्वभाव का निषेध करते हैं, उसी क्षण में सत् स्वभाव के विधि की उपस्थिति हो जाती है। युगपत् दोनों स्वभावों का निषेध कभी नहीं हो सकता है।

यदि किसी अपेक्षा से सत्, असत् का निषेध करने रूप अनुभय पक्ष लेंगे, तब तो वह कथञ्चित् अनुभयपना वस्तु के उभय स्वभावपने का विरोध नहीं करता है। जैसे सर्वथा सत् का सर्वथा असत् से विरोध है। किन्तु कथञ्चित् स्वरूप से सत् का और कथञ्चित् पररूप से असत् का विरोध नहीं है। ऐसे ही सर्वथा अनुभय का सर्वथा उभय से विरोध है, किन्तु कथञ्चित् अनुभय का कथञ्चित् उभय के साथ विरोध नहीं है। जो कूटस्थवादी सत्-असत् स्वभावों से रहित अनुभय रूप से आत्मतत्त्व को मानता है, वह भी अनुभय स्वभाव से तत्त्वपना और उससे अन्य उभय, सत्त्व, आदि स्वभावों से आत्मा को अतत्त्वपना अवश्य कहता है। अतः वह किसी भी वस्तु के उभयरूप का कैसे खण्डन कर सकता है?

यहाँ कोई एकान्त रूप से वस्तु को अवक्तव्य कहने वाला बौद्ध कहता है कि वस्तु सत् रूप भी नहीं है और असत् रूप भी नहीं है तथा सत् असत् का उभयरूप भी नहीं है। एवं सत्-असत् दोनों का युगपत् निषेध रूप अनुभय स्वरूप भी नहीं है। अथवा अन्य धर्म या धर्मरूप भी नहीं है। तब वस्तु कैसी है? इस पर बौद्धों का कहना है कि वह वस्तु वस्तु ही है। संपूर्ण उपाधि (विशेषण और स्वभावों) से रहित होने के कारण वस्तु को कहने के लिए कोई समर्थ नहीं है। वस्तु किसी शब्द के द्वारा नहीं कही जाती है। कोई भी शब्द वस्तु को स्पर्श नहीं करता है। अतः वस्तु अवाच्य ही है। जैनाचार्य कहते हैं कि वस्तु यदि सर्वथा ही अवाच्य है तो 'वस्तु' इस शब्द के द्वारा भी वह कैसे कही जा सकेगी? और वह सम्पूर्ण स्वभावों से रहित

सदसदात्मकत्वंमायातं तस्य तथोपलभ्यत्वात् । न च सदसत्त्वादिधर्मैरप्यनुपलभ्यं वस्त्विति शक्यं प्रत्येतुं खरशृंगादेरपि वस्तुत्वप्रसंगात् । धर्मधर्मिरूपतयानुपलभ्यं स्वरूपेणोपलभ्यं वस्त्विति चेत्, यथोपलभ्यं तथा सत् यथा चानुपलभ्यं तथा तदसदिति । तदेवं सदसदात्मकत्वं सुदूरमप्यनुसृत्य तस्य प्रतिक्शेपुमशक्तेः । ततः सदसत्स्वभावौ पारमार्थिकौ क्वचिदिच्छताऽनंतस्वभावाः प्रतीयमानास्तथात्मनोभ्युपगंतव्याः । तेषां च क्रमतो विनाशोत्पादौ तस्यैवेति सिद्धं त्र्यात्मकत्वमात्मनो गुणासंबंधेतररूपाभ्यां नाशोत्पादव्यवस्थानादात्मत्वेन ध्रौव्यत्वसिद्धेः ।

है, अवाच्य है, आदि इन विशेषणों का प्रयोग भी वस्तु में कैसे कर सकेंगे? तथा “अवाच्य” इस शब्द से भी वस्तु का निरूपण कैसे कर सकेंगे? (क्योंकि सर्वथा अवाच्य मानने पर वस्तु, अवाच्य, स्वभावरहित, सत् नहीं, उभय नहीं, आदि शब्दों की भी प्रवृत्ति होना वस्तु में घटित नहीं हो सकता)।

तत्त्व सदात्मक और असदात्मक दोनों रूप है

आत्मा, स्वलक्षण, विज्ञान आदि तत्त्वों को वचनों के द्वारा अवाच्य मानने पर भी वे जानने योग्य स्वभाव वाले हैं, यह तो बौद्धों को अवश्य ही मानना पड़ेगा । (अन्यथा उनका जगत् में सद्भाव ही न हो सकेगा) आत्मा आदि तत्त्व अपने-अपने स्वभावों से ही जाने जाते हैं । अतः स्वरूप की अपेक्षा अस्ति हैं और दूसरे पदार्थों के स्वरूप से नहीं जाने जाते हैं अतः पर की अपेक्षा नास्ति हैं । इस प्रकार सदात्मक और असदात्मक तत्त्व सिद्ध होता है । क्योंकि उन आत्मा आदि तत्त्वों की इस प्रकार से उपलब्धि सिद्ध है । सत्त्व, असत्त्व, उभय और अनुभय तथा अन्य स्वकीय स्वभावों से जो जानने योग्य नहीं है, वह वस्तु है, ऐसा भी नहीं प्रतीत किया जा सकता है । क्योंकि सम्पूर्ण धर्मों से रहित को भी यदि वस्तु समझ लिया जावेगा तो खरविषाण, वंध्यापुत्र आदि को भी वस्तुपना निर्णीत किये जाने का प्रसंग आयेगा ।

यदि (बौद्ध) कहे कि धर्म और धर्मी तथा कार्य और कारण एवं आधार और आधेय इत्यादि स्वभावों करके वस्तु अनुपलभ्य (नहीं देखी जाती) है । और स्वकीय स्वलक्षण स्वरूप से वह वस्तु जानने योग्य है ही तो जिस स्वरूप से वस्तु उपलभ्य है, उस प्रकार से वह सत् रूप है और जिन परकीय स्वभावों से वस्तु नहीं जानी जा रही है, उन प्रकारों से वह असत् रूप है, इस प्रकार दोनों बातें सिद्ध होती हैं । इस कारण बहुत दूर भी जाकर विलम्ब से स्याद्वादमत का अनुसरण करना ही पड़ेगा । उस वस्तु के सदात्मक और असदात्मक स्वरूप का खण्डन नहीं कर सकते हैं । अतः किसी भी स्वलक्षण या ज्ञान में सत् और असत् स्वभावों को वस्तुभूत मानना चाहने वाले के आत्मा के उसी प्रकार प्रमाणों से ज्ञात अनन्त स्वभाव भी वस्तुभूत स्वीकार कर लेने चाहिए । (बिना स्वभावों के वस्तु ठहर ही नहीं सकती है ।)

आत्मा में त्रिलक्षणत्व

तथा आत्मा में प्रतिक्क्षण अनेक स्वभावों का क्रमशः उत्पाद होता है और अनेक स्वभावों का नाश होता रहता है । उन स्वभावों का क्रम से उत्पाद और विनाश होना ही उस आत्मा का किसी अपेक्षा से उत्पाद विनाश होना है । अर्थात् स्वभाव आत्मा से कथञ्चित् अभिन्न है । अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीन आत्मा के तदात्मक धर्म सिद्ध हो जाते हैं । आत्मा में सम्यग्दर्शन आदि गुणों के उत्पन्न हो जाने

ततोऽपि बिभ्यता नात्मनो भिन्नेन गुणेन संबंधोभिर्मंतव्यो न चासंबद्धस्तस्यैव गुणो व्यवस्थापयितुं शक्यो, यतः 'संबन्धादिति हेतुः स्यादिति' सूक्तं नित्यैकांते नात्मा हि बंधमोक्षादिकार्यस्य कारणमित्यनवस्थानात्।

क्षणक्षयेऽपि नैवास्ति कार्यकारणतांजसा।

कस्यचित्कचिदत्यन्ताव्यापारादचलात्मवत् ॥१२४॥

क्षणिकाः सर्वे संस्काराः स्थिराणां कुतः क्रियेति निर्व्यापारतायां क्षणक्षयैकांते भूतिरेव क्रियाकारकव्यवहारभागिति ब्रूवाणः कथमचलात्मनि निर्व्यापारेऽपि सर्वथा भूतिरेव क्रियाकारकव्यवहारमनुसरतीति प्रतिक्षिपेत्।

पर पहली गुणों से असम्बन्धित अवस्था का नाश हुआ, तथा नवीन गुणों के संबंधीपने इस दूसरे स्वरूप से आत्मा का उत्पाद हुआ और चैतन्य स्वरूप आत्मपने की अपेक्षा ध्रुवपना सिद्ध है। यही आत्मा में त्रिलक्षणपना व्यवस्थित हो रहा है।

यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य कहने वाले वादी आत्मा को अनित्य हो जाने के प्रसंगवश आत्मा के उस त्रिलक्षणपने से भी डरते हैं, तो उनको आत्मा से सर्वथा भिन्न माने गये गुण के साथ आत्मा का सम्बन्ध होना भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। जो गुण आत्मा से सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ है, वह असंबद्ध गुण उस आत्मा का ही है, यह व्यवस्था भी तो नहीं की जा सकती है, जिससे कि समवाय संबंध हो जाने से वे गुण विवक्षित आत्मा के नियत कर दिये जाते हैं। इस प्रकार उनका पूर्वोक्त हेतु मान लिया जाता। स्याद्वादियों ने पहले एक सौ सत्रहवीं कारिका में बहुत अच्छा कहा है कि कूटस्थ नित्य का एकान्त पक्ष लेने पर आत्मा बंध, मोक्ष, तत्त्व ज्ञान, आदि कार्यों का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से अनवस्था हो जाती है। (त्रिलक्षण माने बिना नित्य आत्मा की अवस्थिति (सिद्धि) भी नहीं हो सकती है।)

कूटस्थ नित्य के समान एक क्षण में ही नष्ट होने वाले आत्मा में भी निर्दोष रूप से झट कार्यकारण भाव नहीं बनता है। क्योंकि एक ही क्षण में नष्ट होने वाले किसी भी पदार्थ का किसी भी एक कार्य में व्यापार करना अत्यन्त असम्भव है। अतः कूटस्थ निश्चल नित्य में जैसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती है, वैसे ही क्षणिक कारण भी किसी अर्थक्रिया को नहीं कर सकता है ॥१२४॥

रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध ये सबके सब संस्कार क्षणिक हैं। जो कूटस्थ स्थिर है, उनके अर्थक्रिया कैसे हो सकती है? अनेक समुदाय, साधारणता, मर कर उत्पन्न होना, प्रत्यभिज्ञान कराना, अन्वित करना आदि व्यापारों से रहित होने पर भी सर्वथा निरन्वय क्षणिक के एकान्तपक्ष में उत्पन्न होना ही क्रिया, कारक व्यवहार का कथन है।

इस प्रकार कहने वाला बौद्ध उन सांख्यों के माने गये "सर्व व्यापारों से रहित कूटस्थ आत्मा में भी सर्व प्रकारों से विद्यमान रहने रूप भूति ही क्रियाकारक व्यवहार का अनुसरण करती है" इस सांख्य सिद्धान्त का कैसे खण्डन कर सकेगा? भाषार्थ— सांख्य और बौद्ध दोनों ही मुख्य रूप से तो कार्यकारणभाव मानते नहीं हैं। केवल व्यवहार से असत् की उत्पत्ति और सत् के विद्यमान रहने रूप भूति को पकड़े हुए हैं। ऐसी दशा में कल्पित किये गये कार्य-कारण भाव से दोनों के यहाँ बंध, मोक्ष आदि व्यवस्था नहीं बन सकती है।

अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः ।

स तद्धेतुरिति न्यायस्तदेकांते न संभवी ॥१२५॥

नित्यैकांते नास्ति कार्यकारणभावोऽन्वयव्यतिरेकाभावात् । न हि कस्यचिन्नित्यस्य सद्भावोऽन्वयः सर्वनित्यान्वयप्रसंगात्, प्रकृतनित्यसद्भाव इव तदन्यनित्यसद्भावेऽपि भावात्, सर्वथाविशेषाभावात् । नापि व्यतिरेकः शाश्वतस्य तदसंभवात् । देशव्यतिरेकः संभवतीति चेत् न, तस्य व्यतिरेकत्वेन नियमयितुमशक्तेः, प्रकृतदेशे विवक्षितासर्वगतनित्यव्यतिरेकवदविवक्षितासर्वगतनित्यव्यतिरेकस्यापि सिद्धेः । तथापि कस्यचिदन्वयव्यतिरेकसिद्धौ सर्वनित्यान्वयव्यतिरेकसिद्धिप्रसंगात् किं कस्य कार्यं स्यात्?

सर्वथा नित्य या क्षणिक पदार्थ में न कार्यकारण भाव बन सकता है न अन्वय व्यतिरेक भाव

जो कार्य जिस कारण के अन्वयव्यतिरेक भाव से अनुकूल आचरण करता हुआ देखा गया है, वह कार्य उसी कारण से जन्य है। इस प्रकार प्रमाणों के द्वारा परीक्षित किया गया न्याययुक्त कार्यकारण भाव उनके एकांत पक्षों में सम्भव नहीं है। (क्योंकि जो परिणामी और कालान्तर स्थायी होगा, वही अन्वयव्यतिरेक को धारण कर सकता है, कूटस्थ नित्य या क्षणिक पदार्थ नहीं) ॥१२५॥

एकान्त से 'पदार्थों' का नित्यत्व मान लेने पर कार्यकारणभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि कार्यकारणभाव के अन्वयव्यतिरेक का वहाँ अभाव है। कार्य के होते समय किसी भी एक नित्यकारण का वहाँ विद्यमान रहना ही अन्वय नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो सभी नित्य पदार्थों के साथ उस कार्य का अन्वय होने का प्रसंग आयेगा। (ज्ञानकार्य के होने पर जैसे आत्मा नित्य कारण का पहले से विद्यमान रहना है, वैसे ही आकाश, परमाणु, काल, आदि का भी सद्भाव है) अतः प्रकरण में पड़े हुए नित्य आत्मा के सद्भाव होने पर जैसे ज्ञान का होना माना जाता है, वैसे ही उस आत्मा से अन्य माने गये आकाश आदि नित्य पदार्थों के होने पर भी ज्ञानकार्य का होना मानना पड़ेगा। आकाश, काल आदि से आत्मारूप कारण में सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है।

सर्वथा नित्य माने गये पदार्थ का कार्य के साथ व्यतिरेक भी नहीं बन सकता है अर्थात् सर्वदा रहने वाले कारण का 'जब कारण नहीं है तब कार्य नहीं है।' ऐसा व्यतिरेक बनना सम्भव नहीं है। (यदि कहें कि) नित्य पदार्थों का कालव्यतिरेक घटित नहीं होता है किन्तु देशव्यतिरेक तो घटित हो सकता है। अर्थात् जिस देश में नित्य कारण नहीं हैं, उस देश में उसका कार्य भी उत्पन्न नहीं हो पाता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस देशव्यतिरेक को व्यतिरेकत्व से नियम करना नहीं हो सकता है। अर्थात् आत्मा, आकाश आदि व्यापक द्रव्यों का देशव्यतिरेक बनना भी नहीं है। यदि असर्वगत (अव्यापक) द्रव्यों का देशव्यतिरेक बनाओगे तो प्रकरण में पड़े हुए कार्य देश में विवक्षा को प्राप्त हुए किसी अव्यापक नित्य द्रव्य का जैसे व्यतिरेक बनाया जा रहा है, वैसे ही विवक्षा में नहीं पड़े हुए दूसरे अव्यापक नित्य पदार्थ का भी देशव्यतिरेक सिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—जैसे पार्थिव परमाणुओं के न रहने से घट नहीं बनता है वैसे यों भी कह सकते हैं कि अग्नि के परमाणु के न रहने से घट नहीं बना है। इसका नियम कौन करेगा कि घट का पृथ्वी-परमाणुओं के साथ देश-व्यतिरेक है, जलीय

ततोऽचलात्मनोऽन्वयव्यतिरेकौ निवर्तमानौ स्वव्याप्यां कार्यकारणतां निदर्शयतः। तदुक्तं—
“अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोऽनुवर्तकः। स भावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नात्र संभवः॥” इति। न
चायं न्यायस्तत्र संभवतीति नित्ये यदि कार्यकारणताप्रतिक्षेपस्तदा क्षणिकेऽपि
तदसंभवस्याविशेषात्।

तत्र हेतावसत्येव कार्यात्पादेऽन्वयः कुतः।

व्यतिरेकश्च संवृत्त्या तौ चेत् किं पारमार्थिकम् ॥१२६॥

परमाणु, तैजसपरमाणु आदि के साथ नहीं है। जो पदार्थ वहाँ कार्यदेश में नहीं हैं, उन सब का अभाव वहाँ है। वैसा होने पर भी किसी एक विवक्षित नित्य कारण के साथ ही प्रकृत कार्य का मनमाना अन्वयव्यतिरेकभाव सिद्ध करोगे तो सर्व ही नित्य पदार्थों के साथ अन्वयव्यतिरेक भाव की सिद्धि हो जाने का प्रसंग आयेगा। ऐसी अवस्था में कैसे किस कारण का कार्य हो सकेगा? उस कार्य के कारणों का निर्णय न हो सकेगा।

इससे यह सिद्ध होता है कि कूटस्थ नित्य आत्मा से अन्वयव्यतिरेक दोनों निवृत्त होते हुए अपने व्याप्य हो रहे कार्यकारण भाव को भी निवृत्त कर लेते हैं। सो ही कहा है कि जो कार्य जिस कारण का अन्वयव्यतिरेक रूप से अनुसरण करता हुआ देखा जाता है, वह पदार्थ उस कार्य का उस रूप से कारण होता है। अतः जो सर्वथा भिन्न है अर्थात् अपने कतिपय स्वभावों से कार्यरूप परिणत या सहायक नहीं होता है उस कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु यह अन्वयव्यतिरेकरूप न्याय वहाँ सर्वथा नित्य में सम्भव नहीं है। अतः यदि कूटस्थ नित्य में कार्यकारणभाव का बौद्ध लोग खण्डन करते हैं, तब तो उनके एकान्त रूप से स्वीकृत क्षणिक पदार्थ में भी अन्वयव्यतिरेक न होने से वह कार्यकारणभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि दोनों एक समान हैं। अर्थात् क्षणिक और नित्य में कार्य न कर सकने की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है।

यदि वहाँ (क्षणिक एकान्त में) पूर्वक्षणवर्ती हेतु के न रहने पर ही कार्य का उत्पाद होना मानते हैं तो ऐसी दशा में उनमें अन्वय कैसे हो सकेगा? (हेतु के होने पर कार्य के होने को अन्वय कहते हैं। किन्तु बौद्धों ने हेतु के नाश होने पर कार्य होना माना है, अतः उसमें अन्वय नहीं है) और बौद्धों के यहाँ व्यतिरेक भी नहीं बन सकता है। (क्योंकि कार्यकाल में असंख्य अभाव पड़े हुए हैं। न जाने किसका अभाव होने से वर्तमान में कार्य नहीं हो रहा है) यदि वास्तविक रूप से कार्य-कारण भाव न मानकर कल्पित व्यवहार से उन अन्वयव्यतिरेकों को मानोगे तब तो वास्तविक पदार्थ क्या हो सकेगा? अर्थात् जिसके यहाँ वस्तुभूत कार्यकारण भाव नहीं माना गया है, उसके यहाँ कोई पदार्थ ठीक नहीं बनेगा। अर्थात् बौद्धों के यहाँ वस्तुभूत पदार्थों की व्यवस्था नहीं हो सकती है ॥१२६॥

न हि क्षणक्षयैकांते सत्येव कारणे कार्यस्योत्पादः संभवति, कार्यकारणयोरेककालानुषंगत् ।
कारणस्यैकस्मिन् क्षणे जातस्य कार्यकालेऽपि सत्त्वे क्षणभंगभंगप्रसंगाच्च ।

सर्वथा तु विनष्टे कारणे कार्यस्योत्पादे कथमन्वयो नाम चिरतरविनष्टान्वयवत् । तत एव
व्यतिरेकाभावः कारणाभावे कार्यस्याभावाभावात् । स्यान्मतं, स्वकाले सति कारणे कार्यस्य
स्वसमये प्रादुर्भावोऽन्वयो असति वाऽभवनं व्यतिरेको न पुनः कारणकाले तस्य
भवनमन्वयोऽन्यदात्वभवनं व्यतिरेकः । सर्वथाप्यभिन्नदेशयोः कार्यकारणभावोपगमे
कुतोऽग्निधूमादीनां कार्यकारणभावो ? भिन्नदेशतयोपलंभात् ।

भिन्नदेशयोस्तु कार्यकारणभावे भिन्नकालयोः स कथं प्रतिक्षिप्यते येनान्वयव्यतिरेको तादृशो
न स्यातां । कारणत्वेनानभिमतोऽप्यर्थे स्वकाले सति कस्यचित्स्वकाले भवनमसति वाऽभवनमन्वयो

सर्वथा क्षणिकक्षय एकान्त के होने पर (दूसरे समय में सर्व पदार्थ नष्ट हो जाते हैं अतः) उस कारण
के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होना यह अन्वय सम्भव नहीं है। क्योंकि इसमें पहले पीछे होने वाले कारण
और कार्यों को एक ही काल में रहने का प्रसंग आता है। यदि पहले एक समय में उत्पन्न हो चुके कारण को
उत्तरवर्ती कार्य के समय में भी विद्यमान मानोगे तो क्षणिकत्व सिद्धान्त के भंग हो जाने का प्रसंग आ जावेगा।
यदि क्षणिकत्व की रक्षा करोगे तो सर्वथा कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का उत्पादन मानना पड़ेगा। ऐसी
अवस्था में अन्वय कैसे बन सकेगा? जैसे कि बहुत काल पहले नष्ट हो चुके पदार्थ के साथ वर्तमान कार्य का
अन्वय नहीं हो सकता है, वैसे एक क्षण पूर्व में नष्ट हो गये कारण के साथ भी अन्वय नहीं हो सकता है और
उसी कारण से व्यतिरेक भी नहीं बन सकता है। क्योंकि कारण के अभाव होने पर कार्य का अभाव नहीं होता
है, प्रत्युत कारण के नष्ट हो जाने पर ही कार्य के होने का प्रसंग आता है।

बौद्धों का अभिमत— कार्य और कारण का समान देश तथा समान काल होने का कोई नियम नहीं
है। कारण का अपने काल में रहने पर कार्य का अपने उचित काल में प्रकट हो जाना तो अन्वय है और अपने
काल में कारण के न होने पर कार्य का स्वकीय काल में नहीं उत्पन्न होना ही व्यतिरेक है। परन्तु कारण के
समय में उस कार्य का होना यह अन्वय नहीं है, तथा जिस समय कारण नहीं है उस समय कार्य भी उत्पन्न
नहीं होता है। यह व्यतिरेक भाव भी नहीं है। (इसी प्रकार कारण के देश में कार्य का होना और जिस देश
में कारण नहीं है, वहाँ कार्य न होना, यह अभिन्नदेशता भी कार्यकारणभाव में उपयोगी नहीं है) सर्वथा अभिन्न
देश वालों का यदि कार्य कारण भाव स्वीकार करेंगे तो अग्नि और धूम (तथा कुलाल और घट) का कार्यकारण
भाव कैसे हो सकेगा? क्योंकि वह भिन्न देश में उपलब्ध है जैसे अग्नि तो चूल्हे में है और धुएँ की पंक्ति गृह
के ऊपर दिखती है अतः भिन्न देश स्थित कारण भी कार्य का उत्पादक हो सकता है।

इस प्रकार जैसे भिन्नदेशवर्ती पदार्थ में कार्य-कारण भाव होता है, वैसे ही भिन्नकालवर्ती पदार्थ में भी
कार्य-कारण भाव हो सकता है। उसका खण्डन कैसे कर सकते हैं? जिससे क्षणिक माने गये भिन्नकालस्थ पदार्थों
में वैसा अन्वय व्यतिरेक घटित नहीं हो सकता है अर्थात् भिन्नकालवर्ती पदार्थों में भी अन्वय व्यतिरेक घटित
होता है।

व्यतिरेकश्च स्यादित्यपि न मंतव्यमन्यत्र समानत्वात्। कारणत्वेनानभिमतेश्च स्वदेशे सति सर्वस्य स्वदेशे भवनमन्वयो असति वाऽभवनं व्यतिरेक इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। स्वयोग्यताविशेषात्कयोश्चिदेवार्थयोर्भिन्नदेशयोरन्वयव्यतिरेकनियमात्कार्यकारणनियमपरिकल्पनायां भिन्नकालयोरपि स किं न भवेत्तत एव सर्वथा विशेषाभावात्।

तदेतदप्यविचारितरम्यम्। तन्मते योग्यताप्रतिनियमस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः, शालिबीजांकुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यंकुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य,

कारणरूप से अस्वीकृत अर्थ के स्वकाल में होने पर चाहे किसी भी कार्य का अपने काल में हो जाना और उस तटस्थ कारण के नहीं होने पर कार्य का नहीं होना, ऐसा अन्वय और व्यतिरेक भी बन जायेगा। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर अन्यत्र (दूसरे देश व्यतिरेक में) भी यह अव्यवस्था समान रूप से है ही। अर्थात् कार्य-कारण भाव में भिन्नदेशवृत्ति का मानना तो आवश्यक है ही।

तथा कारणत्व रूप से अस्वीकृत पदार्थ के स्वदेश में होने पर सब कार्य का स्वदेश में होना अन्वय है और स्वदेश में कारण के नहीं रहने पर कार्य नहीं होता है, यह व्यतिरेक है। ऐसा भी कहना शक्य नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर कोई कारण-कार्य रूप दोनों अर्थ भिन्न देश वाले होने पर भी स्वकीय विशेष योग्यता के बल से अन्वय-व्यतिरेक के नियम के अनुसार कार्य-कारण के नियम की कल्पना करने पर भिन्न देशकाल में स्थित पदार्थों के कार्य कारण भाव का नियम क्यों नहीं होगा? अवश्य ही होगा। क्योंकि भिन्न देश और भिन्न काल में कार्य-कारण भाव में सर्वथा विशेषता का अभाव है। अर्थात् जैसे भिन्न कालस्थित पदार्थों में कार्य-कारण भाव है, वैसे भिन्न देशस्थित पदार्थों में कार्य-कारण भाव हो सकता है।

अब जैनाचार्य बौद्धों के कथन का खण्डन करते हैं। बौद्धों का कथन बिना विचारे ही रम्य प्रतीत होता है। (किन्तु विचार करने पर निस्सार होता है) क्योंकि बौद्धों के मत में ठीक-ठीक विचार करने पर विवक्षित कार्य-कारणों में नियमित योग्यता नहीं बन सकती है। (क्योंकि बौद्ध लोग अपने कहे गये तत्त्व के स्वलक्षणों को औपाधिक स्वभावों से रहित मानते हैं। कार्यकारण भाव को व्यवहार से ही मानते हैं, वास्तविक नहीं)। कार्यकारणभाव के प्रकरण में योग्यता का अर्थ कारण की कार्य को पैदा करने की शक्ति और कार्य की करण से जन्यपने की शक्ति ही है। उस योग्यता का प्रत्येक विवक्षित कार्य-कारण में नियम करना यही कहा जाता है कि धान के बीज और धान के अंकुरों में भिन्न-भिन्न समयवृत्तिपने की समानता के होने पर भी साठी चावल के बीज की ही धान के अंकुर को पैदा करने में शक्ति है, किन्तु जौ के बीज की धान के अंकुर पैदा करने में शक्ति नहीं है। तथा उस जौ के बीज की जौ के अंकुर पैदा करने में शक्ति है। धान का बीज जौ के अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता है। यही योग्यता कही जाती है।

तस्य यवांकुरजनने न शालिबीजस्येति कथ्यते । तत्र कुतस्तच्छक्तेस्तादृशः प्रतिनियमः? स्वभावत इति चेत् न, अप्रत्यक्षत्वात् । परोक्षस्य शक्तिप्रतिनियमस्य पर्यनुयुज्यमानतायां स्वभावैरुत्तरस्यासंभवात्, अन्यथा सर्वस्य विजयित्वप्रसंगात् । प्रत्यक्षप्रतीत एव चार्थे पर्यनुयोगे स्वभावैरुत्तरस्य स्वयमभिधानात् । कथमन्यथेदं शोभेत,—“यत्किञ्चिदात्माभिमतं विधाय निरुत्तरस्तत्र कृतः परेण । वस्तुस्वभावैरिति वाच्यमित्थं, तदुत्तरं स्याद्विजयी समस्तः ॥१॥ प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे, यदि पर्यनुयुज्यते । स्वभावैरुत्तरं वाच्यं, दृष्टे कानुपपन्नता ॥२॥” इति । शालिबीजादेः शाल्यंकुरादिकार्यस्य दर्शनात्तज्जननशक्तिरनुमीयत इति चेत्, तस्य तत्कार्यत्वे

वहाँ कार्य, कारण के प्रकरण में उपर्युक्त योग्यता रूप शक्ति का वैसा प्रत्येक में नियम बौद्ध कैसे कर सकता है? यदि बौद्ध पदार्थों के स्वभाव से ही योग्यता का नियम करना मानते हैं (अर्थात् अग्नि का कार्य दाह करना है। अतः यह शक्तियों का प्रतिनियम उन-उन पदार्थों के स्वभाव से हो जाता है। अग्नि दाह क्यों करती है? इसका उत्तर उसका स्वभाव ही है, यह कहना) सो ठीक नहीं है। क्योंकि असर्वज्ञों को शक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। परोक्ष शक्तियों के प्रत्येक विवक्षित पदार्थ में नियम करने पर “क्यों करता है?” यह प्रश्न होने पर उस समय आप बौद्धों की ओर से पदार्थों का स्वभाव ही है, ऐसा उत्तर देना असम्भव है। अन्यथा यानी इसके प्रतिकूल प्रत्यक्ष न करने योग्य कार्यों में भी प्रश्नमाला के उठाने पर स्वभावों के द्वारा उत्तर दे दिया जावेगा। तो सभी वादी-प्रतिवादियों को जीत जाने का प्रसंग आयेगा, स्वभाव कह कर सभी जीत जावेंगे। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाने गये ही अर्थ में यदि तर्क उठाया जाता है तब तो वस्तु के स्वभावों करके उत्तर देना समुचित है। (किन्तु परोक्ष प्रमाण से अविशद जाने गये पदार्थ में प्रश्न उठाने पर वस्तु स्वभावों करके उत्तर नहीं दिया जाता है) इस बात को बौद्धों ने भी स्वयं स्वीकार किया है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष ही नहीं है, वहाँ यह उत्तर कैसे संतोषजनक हो सकता है कि हम क्या करें, यह तो वस्तु का स्वभाव ही है।

अन्यथा (यदि प्रत्यक्षित कार्य के होने पर स्वभावों से उत्तर देना और परोक्ष में स्वभाव के द्वारा उत्तर न देना यह न्याय न मानकर अन्य प्रकार से) मानोगे तो आपका इन दो श्लोकों के द्वारा यह कथन कैसे शोभा देगा कि जो कुछ भी अपने को अभीष्ट तत्त्व है, उसका प्रतिवादी के सन्मुख पूर्वपक्ष करके पीछे प्रतिवादी के द्वारा समीचीन दोष उठाने से यदि वादी वहाँ निरुत्तर कर दिया जावे तो भी वादी चुप न बैठे, किन्तु ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है इस प्रकार से उस प्रतिवादी के दोष-उत्थापन का उत्तर देता रहे, ऐसा करने पर तो सब ही वादी विजयी हो जावेंगे ॥१॥ प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा अर्थ के निर्णीत होने पर यदि कोई शंका उठावे तो वस्तु स्वभाव को कहकर उत्तर देना चाहिए। क्योंकि सभी परीक्षकों के द्वारा देखे गये स्वभावों में क्या कभी असिद्धि हो सकती है? अर्थात् नहीं ॥२॥

‘धान के बीजरूप कारण से धान का अंकुररूप कार्य और जौ के बीज से जौ का अंकुर रूप कार्य होता हुआ देखा जाता है। अतः उनको पैदा करने वाली शक्ति का उन बीजों में अनुमान कर लिया जाता है।’ बौद्ध के ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि बौद्ध उस धान अंकुर को उस धान बीज का कार्यपना प्रसिद्ध होने पर जननशक्ति का अनुमान करते हैं? अथवा धान अंकुर को धानबीज का

प्रसिद्धेऽप्रसिद्धेऽपि वा? प्रथमपक्षेऽपि कुतः शाल्यंकुरादेः शालिबीजादिकार्यत्वं सिद्धं? न तावदध्यक्षात्तत्र तस्याप्रतिभासनात्, अन्यथा सर्वस्य तथा निश्चयप्रसंगात्। तद्भावभावाल्लिंगात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, साध्यसमत्वात्। को हि साध्यमेव साधनत्वेनाभिदधातीत्यन्यत्रास्वस्थात्। तद्भावभाव एव हि तत्कार्यत्वं न ततोऽन्यत्।

शालिबीजादिकारणकत्वाच्छाल्यंकुरादेस्तत्कार्यत्वं सिद्धमित्यपि तादृगेव। परस्पराश्रितं चैतत्, सिद्धे शालिबीजादिकारणकत्वे शाल्यंकुरादेस्तत्कार्यत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च कार्यपना नहीं प्रसिद्ध होते हुए भी कारणशक्ति का अनुमान कर लेते हैं? पहला पक्ष लेने पर धान के अंकुर आदि को धानबीज आदि का कार्यपना आपने कैसे सिद्ध किया है? पहले प्रत्यक्ष प्रमाण से तो यह सिद्ध नहीं हो सकता है कि धानबीज का कार्य धान अंकुर है। (क्योंकि जिस क्यारी में धान, जौ, गेहूँ एक साथ बो दिये गये हैं, वहाँ गीली मिट्टी के भीतर सब ही बीज छिप गये हैं। ऐसी दशा में किस बीज से कौनसा अंकुर हुआ है, इसका निर्णय करना बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का कार्य नहीं है) वहाँ प्रत्यक्ष में उस कार्यकारण का प्रतिभास नहीं होता है। अन्यथा सभी को उसी प्रकार से निर्णय होने का प्रसंग आता है। (अतः प्रत्यक्ष से कारण की कार्य को उत्पाद कराने वाली शक्ति का और कार्य की कारणों से जन्यत्व शक्ति का नियम करना जैसे नहीं बन सकता है, वैसे ही धानबीज से ही धान अंकुर कार्य उत्पन्न हुआ है, यह भी लौकिक प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता है।)

उस धानबीज के होने पर ही धान अंकुर उत्पन्न होता है, इस अन्वयरूप हेतु से अनुमान प्रमाण द्वारा धान अंकुर में धानबीज का वह कार्यपना प्रसिद्ध है, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि यह हेतु भी साध्य के समान असिद्ध होने से साध्यसम हेत्वाभास है। (धानबीज के होने पर ही धान अंकुर कार्य होता है, यही तो हमको 'साध्य' करना है और इसी को आप 'हेतु' बना रहे हैं) ऐसा कौन पुरुष है जो साध्य को ही हेतु द्वारा कथन करेगा। अस्वस्थ के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं कर सकता है। भावार्थ— विचारशील मनुष्य असिद्ध को साध्य बनाते हैं और प्रसिद्ध को हेतु बनाते हैं। किन्तु जो आपने नहीं है, अज्ञानी है, वे ही ऐसी अयुक्त बातों को कहते हैं। उस धानबीज के होने पर धान अंकुर का होना ही तो नियम से धानबीज का धान अंकुर में कार्यपना है। उससे भिन्न कोई उसकी कार्यता नहीं है।

धानबीज जौ आदिक हैं कारण जिसके ऐसे धान के या जौ आदि के अंकुर के कार्यता सिद्ध हो ही जाती है। इस प्रकार किसी का कहना भी उस पहले के समान साध्यसम हेत्वाभास है तथा उक्त कथन में परस्पराश्रय दोष भी है। क्योंकि धानबीज गेहूँ, जौ आदि हैं कारण जिनके ऐसे धान अंकुर, गेहूँ अंकुर, जौ अंकुर हैं, इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर तो धान अंकुर आदि की उन बीजों की कार्यता सिद्ध होगी और धान आदि बीजों की वह कार्यता जब-जब धान आदि अंकुरों में सिद्ध हो जावेगी तब 'धान आदि अंकुरों के धान आदि बीज कारण हैं' यह कथन सिद्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषयुक्त है।

शालिबीजादिकारणत्वसिद्धिरिति । तदनुमानात् प्रत्यक्षप्रतीते तस्य तत्कार्यत्वे समारोपः कस्यचिदव्यवच्छिद्यत इत्यप्यनेनापास्तं, स्वयमसिद्धात्साधनात् तदव्यवच्छेदासंभवात् । तदनंतरं तस्योपलंभात्तत्कार्यत्वसिद्धिरित्यपि फल्गुप्रायं, शाल्यंकुरादेः पूर्वाखिलार्थकार्यत्वप्रसंगात् । शालिबीजाभावे तदनंतरमनुपलंभात् तत्कार्यत्वमिति चेत्, साद्रैधनाभावेगाराद्यवस्थाग्रेरनंतरं धूमस्थानुपलब्धेरग्निकार्यत्वं माभूत् । सामग्रीकार्यत्वाद्धूमस्य नाग्निमात्रकार्यत्वमिति चेत्, तर्हि सकलार्थसहितशालिबीजादिसामग्रीकार्यत्वं शाल्यंकुरादेरस्तु विशेषाभावात् । तथा च न किंचित्कस्यचिदकारणमकार्यं वेति सर्वं सर्वस्मादनुमीयेतेति वा कुतश्चित् किंचिदिति

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा जाने गये वस्तुभूत पदार्थों में उत्पन्न संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोप को अनुमान ज्ञान दूर करता है। इतने ही अंश से अनुमानज्ञान प्रमाण है, क्योंकि समारोप का विच्छेद करना ही अनुमान ज्ञान का कार्य है। अर्थात् कदाचित् विपरीत समारोप हो जाता है तो पूर्वोक्त अनुमान से उस समारोप का व्यवच्छेद मात्र कर दिया जाता है। कार्यता और कारणता शक्तियों का प्रतिभास करना तथा प्रतिनियम करना ये सब प्रत्यक्ष के द्वारा ही जान लिये जाते हैं। अतः पूर्व अनुमान में साध्यसम और अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कथन करने वाले बौद्ध भी इसी दोषोत्थापन से निराकृत हो जाते हैं। क्योंकि जब तक बौद्धों का हेतु ही स्वयं सिद्ध नहीं है तो ऐसे असिद्ध हेतु से उस समारोप का निराकरण करना असम्भव है।

उस शालि बीज के अव्यवहित उत्तरकाल में वह चावलों का अंकुर पैदा होता हुआ देखा जाता है। इस अन्वयरूप हेतु से शालि अंकुर को उस शालि बीज का कार्यपना सिद्ध हो जाता है। बौद्धों का यह कहना भी व्यर्थ ही है। क्योंकि ऐसा मानने पर शालि अंकुर के पहले काल में रहने वाले संपूर्ण तटस्थ पदार्थों को कारणता का प्रसंग आयेगा। (क्योंकि शालिबीज, गेहूँ, कुलाल, कृषक आदि का भी वही काल है।) यदि सौगत, धानबीज के न होने पर गेहूँ आदि से उनके अव्यवहित उत्तरकाल में धान अंकुर पैदा होता हुआ नहीं देखा जाता है, इस व्यतिरेक की सहायता से उसके कार्यपन न होने की सिद्धि करेंगे तो गीले ईन्धन के न होने पर अंगारा, जला हुआ कोयला और तपे हुए लोहपिण्ड की अग्नि के अव्यवहित उत्तरकाल में धूम पैदा हुआ नहीं देखा जाता है, अतः धूम भी अग्नि का कार्य न होगा।

भावावार्थ— कारण के अभाव होने पर कार्य के न होने मात्र से कार्यता का यदि निर्णय कर दिया जावे तो अग्नि का कार्य धूम न हो सकेगा। क्योंकि अङ्गार (कोयले की अग्नि) के रहते हुए भी धूम नहीं होता है। अग्नि के न होने पर धूम का न होना ऐसा होना चाहिए था। तब कहीं धूम का कारण अग्नि बनती। यदि बौद्ध इसका उत्तर इस प्रकार देते हों कि गीला ईन्धन, अग्नि, वायु आदि कारणसमुदायरूप सामग्री का कार्य धूम है, केवल अग्नि का ही कार्य नहीं है। अतः हमारा व्यतिरेक असत्य नहीं हो सकता है। अतः उस अंगारे या कोयले की अग्नि के स्थान पर पूरी सामग्री के न होने से धूम का न होना उचित है। इसके प्रत्युत्तर में आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो गेहूँ, चना, मिट्टी, खेत, खात, कुलाल आदि सम्पूर्ण पदार्थों से सहित धानबीज या जौ बीज आदि कारण समुदाय रूप सामग्री का कार्यपना धान अंकुर, जौ अंकुर आदि में हो जायेगा। इसमें कोई अन्तर नहीं है। तथा ऐसी अव्यवस्था हो जाने पर न कोई किसी का अ-कारण होगा और न कोई किसी

नानुमानात्कस्यचिच्छक्तिप्रतिनियमसिद्धिर्यतोऽन्वयव्यतिरेकप्रतिनियमः कार्यकारणभावे प्रतिनियमनिबन्धनः सिद्ध्येत्। तत एव संवृत्यान्वयव्यतिरेकौ यथादर्शनं कारणस्य कार्यणानुविधीयते न तु यथातत्त्वमिति चेत्, कथमेवं कार्यकारणभावः पारमार्थिकः? सोऽपि संवृत्येति चेत्, कुतोऽर्थक्रियाकारित्वं वास्तवं? तदपि सांवृतमेवेति चेत्, कथं तल्लक्षणवस्तुतत्त्वमिति न किञ्चित्क्षणक्षयैकांतवादिनः शाश्वतैकांतवादिन इव पारमार्थिकं सिद्ध्येत्।

तथा सति न बंधादिहेतुसिद्धिः कथंचन।

सत्यानेकांतवादेन विना क्वचिदिति स्थितम् ॥१२७॥

न सत्योऽनेकांतवादः प्रतीतिसद्भावेऽपि तस्य विरोधवैयधिकरण्यादिदोषोपद्रुतत्वादिति

का अ-कार्य होगा। सब कार्यों में से किसी भी एक कार्य से सब कारणों का अनुमान किया जा सकेगा। अथवा किसी भी कार्य से चाहे जिस तटस्थ अकारण का अनुमान किया जा सकेगा। कोई भी व्यवस्था न रहेगी। इस प्रकार बौद्धों के अनुमान से भी किसी भी कार्य या कारण की शक्तियों का प्रत्येक रूप से नियम करना सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि आपके द्वारा पहले कहा गया अन्वयव्यतिरेकों का प्रतिनियम करना कार्यकारण भाव में प्रतिनियम का कारण सिद्ध हो सकता है। अर्थात् बौद्धों के द्वारा स्वीकृत अन्वयव्यतिरेक तो कार्यकारण शक्तिरूप योग्यता का नियामक नहीं हो सकता है।

बौद्ध कहता है, इसीलिए हम वास्तविक अन्वय-व्यतिरेकों को नहीं मानते हैं। केवल व्यवहार से ही कार्यकारण व्यवस्था है। तात्त्विक व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं कर परमार्थ से न कोई किसी का कारण है, न कोई किसी का कार्य है। जैसा लोक में देखा जाता है, वैसा कार्य के द्वारा कारण का अन्वय-व्यतिरेक ले लिया जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो संसार में प्रसिद्ध कार्यकारणभाव वास्तविक कैसे माना जावेगा? यदि आप उस कार्यकारण भाव को भी व्यवहार से मानेंगे (वास्तविक रूप से न मानकर असत्य कहेंगे) तो पदार्थों का अर्थक्रियाकारीपना वस्तुभूत कैसे होगा? जल में स्नान, पान, अवगाहन आदि क्रियाएँ होती हैं। घट से जलधारण आदि क्रियाएँ होती हैं, अग्नि से दाह होती है इत्यादि अर्थक्रियाएँ तो वास्तविक कार्यकारण भाव मानने पर ही बन सकती हैं। यदि आप उस अर्थक्रिया करने को भी केवल व्यावहारिक कल्पना ही कहेंगे (यानी जलधारण करना, स्नान करना आदि कुछ भी वस्तुभूत नहीं है) तब तो उस अर्थक्रियाकारीपन लक्षण से वास्तविक तत्त्वों की सिद्धि आप कैसे कर सकेंगे? इस प्रकार क्षणिकत्व का एकान्त कहने वाले बौद्धों के यहाँ कुछ भी तत्त्व परमार्थ स्वरूप सिद्ध नहीं होगा, जैसे कि कूटस्थ नित्य को ही एकान्त से कहने वाले के कोई वास्तविक पदार्थ सिद्ध नहीं हो पाता है।

स्याद्वाद निर्दोष है

उस प्रकार एकान्त पक्ष के मानने पर बंध, मोक्ष आदि के हेतुओं की सिद्धि किसी प्रकार भी नहीं हो सकती है। सत्यभूत अनेकान्तवाद के बिना किसी भी मत में बन्ध, मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं बनती है ॥१२७॥

‘स्याद्वाद दर्शन में कथित अनेकान्तवाद यथार्थ नहीं है। क्योंकि कतिपय प्रतीतियों के होने पर भी वह अनेकान्त अनेक विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, सङ्कर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषों से ग्रसित है।’ इस प्रकार एकान्तवादियों को नहीं मानना चाहिए। क्योंकि सर्वथा एकान्तपक्ष में ही विरोध

नानुमंतव्यं, सर्वथैकांत एव विरोधादिदोषावतारात्, सत्येनानेकांतवादेन विना बंधादिहेतूनां क्वचिदसिद्धेः।

आदि दोषों का अवतार होता है। सर्व ही पदार्थ अनेक धर्मों से युक्त प्रत्यक्ष से ही जाने जा रहे हैं। वहाँ दोष सम्भव नहीं हैं। भावार्थ— स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पदार्थ सत् है, परचतुष्टय से वह असत् है। यदि एक ही अपेक्षा से सत् और असत् दोनों होते तो विरोध दोषों की संभावना होती। सहानवस्थान, परस्परपरिहारस्थिति, वध्यघातकभाव रूप से विरोध तीन प्रकार का है। जो एक स्थान पर एक समय में एक साथ नहीं रह सकते हैं, उनमें सहानवस्थान विरोध है, जैसे- शीत और उष्ण स्पर्श एक साथ नहीं रहते हैं। जो एक स्थान में रहकर भी एक स्वरूप नहीं होते हैं उसे परस्परपरिहार विरोध कहते हैं। जैसे पुद्गल में रूप, रस आदि एक स्वरूप नहीं होते हैं। जिनमें परस्पर वध्य और घातक भाव है वह वध्यघातक विरोध है जैसे- सर्प और नेवला का विरोध। किन्तु अनेकान्तमत में कोई विरोध दोष नहीं है। दूसरा दोष वैयधिकरण्य भी स्याद्वादियों पर लागू नहीं हो सकता है। निषध पर्वत का अधिकरण न्याय है और नील पर्वत का अधिकरण भिन्न है। ऐसी विभिन्न अधिकरणता को वैयधिकरण्य कहते हैं। किन्तु वस्तु में जहाँ ही सत्पना है, वही असत्त्व है। जहाँ नित्यत्व है, वहीं अनित्यत्व है। अतः भिन्न-भिन्न स्वभावों का एक द्रव्य में विभिन्न अधिकरणपना दोष नहीं आता है। तीसरा संशय दोष जब हो सकता था यदि चलायमान प्रतिपत्ति होती, किन्तु दोनों धर्म एक धर्मी में निर्णीत रूप से जाने जा रहे हैं तो संशय दोष का अवसर कहाँ? भाव और अभाव से समानाधिकरण्य रखता हुआ धर्मों के नियामक अवच्छेदकों का परस्पर में मिल जाना संकर है, सो अनेकांत में सम्भव नहीं है। क्योंकि अस्तित्व का नियामक स्वचतुष्टय स्वरूप तो दूसरे नास्तित्व के नियामक धर्म से एकमेक नहीं होता है। पाँचवाँ दोष व्यतिकर भी यहाँ नहीं है। विषयों का परस्पर में बदलकर चले जाने को व्यतिकर कहते हैं। सो यहाँ टंकोत्कीर्ण न्याय से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, या अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म और उनके व्यवस्थापक स्वभाव सभी अपने अंश-उपांशों में ही प्रतिष्ठित रहते हैं, परिवर्तन नहीं होता है। छठा दोष अनवस्था भी अनेकान्त में नहीं आता है। सत् धर्म में पुनः दूसरे सत् असत् माने जावें और उस सत् में फिर तीसरे सत् असत् माने जावें तो अनवस्था हो सकती थी। किन्तु ऐसा नहीं है। एक ही सत्पन सब धर्मों में और पूरे धर्मी में ओतप्रोत होकर व्याप रहा है। सातवाँ दोष अप्रतिपत्ति है। किसी भी धर्म का ठीक-ठीक निर्णय न होने से सामान्य जन द्विविधा में पड़ जाते हैं और पदार्थ को नहीं जान पाते हैं। यह अप्रतिपत्ति है। किन्तु अनेक धर्मों का वस्तु में पशु-पक्षियों तक को ज्ञान हो रहा है। फिर अप्रतिपत्ति कैसी? आठवाँ दोष अभाव है। जिसका ज्ञान नहीं हुआ उसका बड़ी सरलता से निषेध कर देना ही अभाव है। किन्तु अनेक स्वभावों का और पदार्थों का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान हो रहा है। अतः सत्य अनेकान्त का अभाव नहीं कह सकते। इस प्रकार संक्षेप से आठ दोषों का निवारण किया गया है। अतः परमार्थभूत अनेकान्तवाद के बिना बंध और मोक्ष आदि के हेतुओं की किसी भी मत में सिद्धि नहीं हो पाती है, असिद्धि है।

सत्यमद्वयमेवेदं स्वसंवेदनमित्यसत्।

तद्व्यवस्थापकाभावात्पुरुषाद्वैततत्त्ववत्॥१२८॥

न हि कुतश्चित्प्रमाणादद्वैतं संवेदनं व्यवतिष्ठते, ब्रह्माद्वैतवत्। प्रमाणप्रमेययोर्द्वैतप्रसंगात्। प्रत्यक्षतस्तद्व्यवस्थापनेनाद्वैतविरोध इति चेन्न, अन्यतः प्रत्यक्षस्य भेदप्रसिद्धेः। अनेनानुमानादुपनिषद्वाक्याद्वा तद्व्यवस्थापने द्वैतप्रसंगः कथितः।

न च स्वतः स्थितिस्तस्य ग्राह्यग्राहकतेक्षणात्।

सर्वदा नापि तदध्वान्तिः सत्यसंवित्स्यसंभवात्॥१२९॥

संवेदनाद्वैत भी ब्रह्माद्वैत के समान असिद्ध है

यहाँ संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि बंध, मोक्ष तथा उनके हेतु मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान आदि सिद्ध नहीं होते हैं। इसमें हमारी कोई क्षति नहीं है। अतः स्वयं अपने को ही वेदन करने वाला यह अकेला शुद्ध ज्ञान रूप तत्त्व है। यह सम्पूर्ण जगत् निरंश संवेदन स्वरूप है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादियों का कहना असत्य है, प्रशंसा योग्य नहीं है। क्योंकि अकेले उस शुद्ध ज्ञान की व्यवस्था करने वाले प्रबल प्रमाण का अभाव है। जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादियों के नित्य ब्रह्मतत्त्व की व्यवस्था करने वाले प्रमाण का अभाव है॥१२८॥

बौद्धों के द्वारा स्वीकृत संवेदनाद्वैत तत्त्व किसी भी प्रमाण से व्यवस्थित नहीं हो पाता है, जैसे कि वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैत पदार्थ सिद्ध नहीं होता है। यदि अद्वैत की प्रमाण से सिद्ध करोगे तो अद्वैत प्रमेय हुआ। इस प्रकार एक तो उसका साधक प्रमाण और दूसरा अद्वैत प्रमेय, इन दो तत्त्वों के हो जाने से द्वैत हो जाने का प्रसंग आता है। यदि अद्वैतवादी कहे कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उस प्रत्यक्ष रूप अद्वैत की व्यवस्था हो जाती है अतः अद्वैत का विरोध नहीं अर्थात् द्वैत का प्रसंग न हो सकेगा। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य प्रमाणों से प्रत्यक्ष के भेद प्रसिद्ध हैं। अर्थात् दूसरे अनेक प्रत्यक्ष भेदों को सिद्ध कर रहे हैं। अथवा प्रत्यक्ष और परब्रह्म या संवेदनाद्वैत एकमेक नहीं हैं। अतः ज्ञान और ज्ञेय की अपेक्षा से द्वैत का प्रसंग आयेगा। इस कथन से यह भी कह दिया गया है कि अनुमान से अथवा वेद उपनिषद् के वाक्य से उस अद्वैत की व्यवस्था होना मानने पर भी द्वैत का प्रसंग आता है। अनुमान से संवेदनाद्वैत की सिद्धि करने पर साध्य और हेतु की अपेक्षा से द्वैतपने का प्रसंग आता है। तथा 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नो नाना' 'सर्वं ब्रह्ममयं' 'एक आत्मा सर्वभूतेषु गूढः' 'ब्रह्मणि निष्णातः' 'परब्रह्मणि लयं व्रजेत्', आदि वेदवाक्य या आगमवाक्यों से अद्वैत की सिद्धि करने पर भी वाच्यवाचकपने करके द्वैत का प्रसंग होता है।

उस संवेदनाद्वैत की अपने आप सिद्धि हो जाती है, बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जगत् में सदा ग्राह्यग्राहकभाव देखा जाता है। (ज्ञान ग्राहक पदार्थ है। उससे जानने योग्य पदार्थ ग्राह्य हैं) इस द्वैत को ग्राह्यग्राहकभाव के द्वारा जानना भ्रांतिरूप है, यह भी नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ग्राह्यग्राहक भाव के बिना तो सत्यप्रमितिका होना ही असम्भव है। अर्थात् ज्ञान का सत्यपना वास्तविक विषय को ग्रहण करने से ही निर्णीत किया जाता है॥१२९॥

न संवेदनाद्वैतं प्रत्यक्षांतरादनुमानाद्वा स्थाप्यते स्वतस्तस्य स्थितेरिति न साधीयः, सर्वदा ग्राह्यग्राहकाकाराक्रांतस्य संवेदनस्यानुभवनत्, स्वरूपस्य स्वतो गतेरिति वक्तुमशक्तेः। संविदि ग्राह्यग्राहकाकारस्यानुभवनं भ्रांतमिति न वाच्यं, तद्रहितस्य सत्यस्य संवित्यभावात्। सर्वदावभासमानस्य सर्वत्र सर्वेषां भ्रांतत्वायोगात्।

यथैवारावमविभ्रांतौ पुरुषाद्वैतसत्यता।

तत्सत्यत्वे च तद्भ्रान्तिरित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥१३०॥

तथा वेद्यादिविभ्रांतौ वेदकाद्वैतसत्यता।

तत्सत्यत्वे च तद्भ्रान्तिरित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥१३१॥

कथमयं पुरुषाद्वैतं निरस्य ज्ञानाद्वैतं व्यवस्थापयेत्। स्यान्मतं। न वेद्याद्याकारस्य भ्रांतता संविन्मात्रस्य सत्यत्वात्साध्यते किं त्वनुमानात्ततो नेतरेतराश्रयः इति तदयुक्तं, लिंगाभावात्।

(बौद्धों के अनुसार) स्वसंवेदन के अद्वैत को अन्य प्रत्यक्षों से अथवा अनुमान प्रमाणों से या आगमवाक्यों से स्थापित नहीं किया जाता है किन्तु उस शुद्ध अद्वैत की तो अपने आप से ही स्थिति हो रही है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है क्योंकि सर्वदा ग्राह्य आकार और ग्राहकाकारों से वेष्टित हुए ही संवेदना का सब जीवों को अनुभव हो रहा है। अतः ग्राह्य-ग्राहक अंशों से रहित माने गये संवेदन के स्वरूप की अपने से ही ज्ञप्ति हो जाती है, यह भी नहीं कह सकते हो तथा ज्ञान में ग्राह्य और ग्राहक आकार के अनुभव करने की मनुष्यों को भ्रान्ति है। (बौद्धों का) ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि उन ग्राह्य-ग्राहक अंशों से रहित होकर समीचीन प्रमाण की ज्ञप्ति होना सम्भव नहीं है। (प्रमाणात्मकज्ञान तो स्व और अर्थरूपग्राह्य के ग्राहक ही देखे जाते हैं)। जो पदार्थ सदा सर्वस्थानों में सर्व ही व्यक्तियों के द्वारा समीचीन अनुभव में आ रहा है उसको भ्रांत नहीं कह सकते हैं। उसमें भ्रान्तपने की अयोग्यता होती है अन्यथा सभी सम्यग्ज्ञान भ्रांत हो जावेंगे।

घट, पट आदि भिन्न पर्यायें भ्रांत हैं। एक ब्रह्म ही सत्य है ऐसा कहने वाले (ब्रह्मवादी) के प्रति बौद्ध कहते हैं कि- आराम, घट, पट, आदि अनेक भिन्न पर्यायों का भ्रान्तपना सिद्ध होने पर तो ब्रह्माद्वैत का सत्यपना सिद्ध हो और उस ब्रह्माद्वैत का सत्यपना सिद्ध होने पर उन घट, पट आदि अनेक भिन्न पर्यायों का भ्रांतपना सिद्ध होवे। जैसे ही यह अन्योन्याश्रय दोष ब्रह्मवादियों के प्रति उठाया जाता है वैसे ही तुमसे (बौद्धों के प्रति) भी कह सकते हैं कि वेद्य अंश, वेदक अंश, प्रमाणत्व अंश, घट, पट आदि अनेक भिन्न पदार्थों के भ्रांतरूप सिद्ध होने पर तो संवेदनाद्वैत का सत्यपना सिद्ध होवे। और उस अकेले संवेदनाद्वैत की सत्यता सिद्ध होने पर उन वेद्य आदि भिन्न तत्त्वों की भ्रांति होना सिद्ध होवे। अतः दोनों अद्वैतों में इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष समान है ॥१३०-१३१॥

यह बौद्ध पुरुषाद्वैत का खण्डन करके अपने ज्ञानाद्वैत की व्यवस्था कैसे करा सकेगा? (क्योंकि दूसरे के खण्डन में जो युक्ति दी जा रही है, वही युक्ति इस पर भी लागू हो जाती है।)

(बौद्ध) वेद्य आकार, वेदनाकार और संवित्ति आकार आदिका भ्रान्तपना केवल संवेदन (अद्वैत) की सत्यता से सिद्ध नहीं है, किन्तु वेद्य आदि की भ्रान्तता अनुमान से भी सिद्ध है। अतः अन्योन्याश्रय दोष हम पर नहीं आता है। इस प्रकार बौद्धों का कहना युक्तियों से रहित है। क्योंकि इसकी सिद्धि में कोई समीचीन हेतु नहीं है। (जिससे कि अनुमान द्वारा वेद्य आदि आकारों को भ्रान्तपना सिद्ध कर सके)।

विवादगोचरो वेद्याद्याकारो भ्रांतभासजः ।

अथ स्वप्नादिपर्यायाकारवद्यदि वृत्तयः ॥१३२॥

विभ्रांत्या भेदमापन्नो विच्छेदो विभ्रमात्मकः ।

विच्छेदत्वाद्यथा स्वप्नविच्छेद इति सिद्ध्यतु ॥१३३॥

न हि स्वप्नादिदशायां ग्राह्याकारत्वं भ्रांतत्वेन व्याप्तं दृष्टं न पुनर्विच्छेदत्वमिति शक्यं वक्तुं प्रतीतिविरोधात् । तदुभयस्य भ्रांतत्वसिद्धी किमनिष्टमिति चेत् ?

नित्यं सर्वगतं ब्रह्म निराकारमनंशकम् ।

कालदेशादिविच्छेदभ्रांतत्वेऽकलयद्ब्रह्म ॥१३४॥

(बौद्ध) विवाद में पड़ा हुआ वेद्य अंश आदि का भेद या देशभेद, आकारभेद ये सब भिन्न-भिन्न आकार (पक्ष) भ्रांत ज्ञान से उत्पन्न हुए हैं (साध्य) भिन्न-भिन्न ग्राह्य आदि आकारपना होने से (हेतु) जैसे कि स्वप्न, मूर्च्छित या मत्त अवस्था में अनेक भिन्न-भिन्न ग्राह्य आकार वाले भ्रांतज्ञान हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार अनुमान की प्रवृत्तियाँ करेंगे तो यह भी अनुमानसिद्ध हो जाता है कि विपर्यय या भ्रान्तज्ञान से भेद को प्राप्त हुआ अर्थात् सच्चे प्रमाणस्वरूप विशेष स्वसंवेदन ज्ञान का क्षण-क्षण में बदलते हुए बीच में व्यवधान होना भी (पक्ष) विभ्रम स्वरूप है (साध्य) विच्छेद होने से (हेतु) जैसे कि स्वप्नों का विच्छेद (अन्वयदृष्टांत)। इस अनुमान से विच्छेद को भी भ्रमपना सिद्ध होता है। अर्थात् बौद्धजन संवेदन को मानते हुए भी संवेदन के क्षण-क्षण के परिणामों में बीच में विच्छेद पड़ जाना इष्ट करते हैं। तभी तो उनका क्षणिकत्व बन सकेगा। यदि पृथक्-पृथक् विच्छेदों का होना भी भ्रान्त हो जावेगा तो ज्ञान नित्य, एक, अन्वयी हो जावेगा। इससे तो ब्रह्मवादियों की पुष्टि होगी ॥१३२-१३३॥

संवेदना द्वैतवादी स्वप्न आदि अवस्था में होने वाले ज्ञानों के - ग्राह्य अंश और ग्राहक अंशों को भ्रमरूप समझते हैं और इस दृष्टांत में ग्राह्य आकारों की भ्रान्तपने के साथ व्याप्ति को ग्रहणकर जागते हुए स्वस्थ अवस्था के ज्ञानों में भी प्रतीति में आने वाले ग्राह्य-ग्राहक अंशों का भ्रांतपना सिद्ध कर देते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि स्वप्न आदि अवस्था के ज्ञानपरिणामों में ग्राह्याकारत्वं भ्रमरूप से व्याप्त नहीं देखा जाता है। अतः यह नहीं कह सकते कि स्वप्नदशा के ज्ञान आकार तो भ्रमरूप हैं और उनके बीच-बीच में पड़ा हुआ विच्छेद होना भ्रमरूप नहीं है क्योंकि ऐसा कहना प्रतीतियों से विरुद्ध है। (अतः स्वप्नज्ञान के विच्छेद को भ्रमरूप निदर्शन के द्वारा परमार्थभूत संवेदनाद्वैत के परिणामों में पड़े हुए विच्छेद का भ्रमपना सिद्ध हो जाता है)। शंकरा- स्वप्न और जागृत दशा इन दोनों या ग्राह्य आकार और ज्ञान सम्बन्धी सन्तान के बीच में पड़ा हुआ विच्छेद दोनों ही भ्रान्त सिद्ध हों तो क्या अनिष्ट है ?

उत्तर - यदि विच्छेद को भ्रान्तरूप कहोगे तो वह संवेदनाद्वैत परमब्रह्म के समान नित्य, सर्वव्यापक, निराकार और निरंश बन जावेगा, अथवा संवेदन की सिद्धि करते हुए ब्रह्माद्वैत सिद्ध हो जावेगा। क्योंकि कालविच्छेद, देशविच्छेदादि, अंशभेद का उण्डन कर देने से नित्य, व्यापक, निराकार निरंश ब्रह्म अंशवश सिद्ध हो जाता है ॥१३४॥

कालविच्छेदस्य भ्रांतत्वे नित्यं, देशविच्छेदस्य सर्वगतमाकारस्य निराकारमंशविच्छेदस्य निरंशं ब्रह्म सिद्धं क्षणिकाद्वैतं प्रतिक्षिपति । इति कथमनिष्टं सौगतस्य न स्यात् ?

नित्यादिरूपसंवित्तेरभावान्तदसंभवे ।

परमार्थात्मतावित्तेरभावादेतदप्यसत् ॥१३५॥

न हि नित्यत्वादिस्वभावे परमार्थात्मादिस्वभावे वा संवित्यभावं प्रति विशेषोऽस्ति, यतो ब्रह्मणो सत्यत्वे क्षणिकत्वे संवेदनाद्वैतस्यासत्यत्वं न सिद्ध्येत् ।

यदि ज्ञान में भिन्न समय के ज्ञान परिणामों का व्यवधान करने वाले कालविच्छेद को भ्रांत होना मानोगे तो संवेदन नित्य हो जावेगा। क्योंकि काल का विच्छेद ही तो उसके क्षणिक अनित्य को बनाये हुए था। ऐसे ही भिन्न-भिन्न देशों की विशेषता को करने वाले देशविच्छेद को आप भ्रान्त मानेंगे तो वह संवेदन सर्वव्यापक बन जावेगा क्योंकि आकाश के एक-एक प्रदेश में पड़ा ज्ञान का एक-एक परमाणु आपने एकदेशवृत्ति अव्यापक माना है। किन्तु देश का अंतराल यदि टूट जावेगा तो ज्ञान व्यापक हो जावेगा। इसी प्रकार आकारों के विशेषों को भ्रांतरूप मानलोगे तो संवेदन निराकार हो जावेगा (किन्तु आपने ज्ञान को साकार माना है। ज्ञान की साकारता ही आपके मत में प्रमाणता का प्राण है) तथा पृथक्-पृथक् ज्ञान परमाणुओं के अंशों में पड़े हुए अंशविच्छेदों को यदि भ्रांत कहोगे तो संवेदन निरंश हो जावेगा। (किन्तु आपने ज्ञानों को स्वकीय-स्वकीय शुद्ध अंशों से सांश माना है।) अतः विच्छेदों के भ्रांतपने हो जाने से ब्रह्मवादियों का मत सिद्ध होता है। क्योंकि ब्रह्मवादी अपने ब्रह्मतत्त्व को नित्य, व्यापक, निराकार और निरंश मानते हैं। अतः परमब्रह्म की सिद्धि हो जाना ही आपके माने हुए क्षणिक संवेदनाद्वैत का खण्डन कर देती है। यह बौद्धों को अनिष्ट क्यों नहीं है, अवश्य ही है।

(बौद्ध कहे कि) नित्य, व्यापक, निराकार और निरंश आदि स्वरूप वाले ऐसे परब्रह्म की ज्ञप्ति नहीं होती है। अतः उस ब्रह्मतत्त्व का सिद्ध होना असम्भव है। ऐसा कहने पर तो (हम भी कहेंगे) कि परमार्थस्वरूप क्षणिक अद्वैत संवेदन की ज्ञप्ति नहीं हो रही है। अतः (बौद्धों का) यह संवेदनाद्वैत भी असत् पदार्थ है यानी कुछ भी नहीं है ॥१३५॥

जैसे बौद्ध कहते हैं कि नित्य, व्यापक होना आदि स्वभाव वाले ब्रह्म की ज्ञप्ति का कोई उपाय नहीं है, वैसे ही आपके परमार्थभूत, क्षणिक, साकार, परमाणुस्वरूप स्वांश आदि स्वभाव वाले संवेदन की भी किसी को ज्ञप्ति नहीं हो रही है। परमब्रह्म और संवेदन की भी किसी को ज्ञप्ति नहीं हो रही है। अतः परमब्रह्म और संवेदन में समीचीन ज्ञप्ति न होने की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है। जिससे कि (बौद्ध के) कथनानुसार ब्रह्मतत्त्व का असत्यपना तो सिद्ध हो जावे और क्षणिक होते हुए भी उनके द्वारा संवेदनाद्वैत का असत्यपना सिद्ध न होवे। क्योंकि जो तत्त्व प्रमाणों से नहीं जाना जाता है, उसके सत्त्व की सिद्धि नहीं मानी जाती है।

न नित्यं नाप्यनित्यत्वं सर्वगत्वमसर्वगम् ।
 नैकं नानेकमथवा स्वसंवेदनमेव तत् ॥१३६॥
 समस्तं तद्वचोऽन्यस्य तत्राद्वैतं कथंचन ।
 स्वेष्टेतरव्यवस्थानप्रतिक्षेपाप्रसिद्धितः ॥१३७॥

स्वेष्टस्य संवेदनाद्वयस्य व्यवस्थानमनिष्टस्य भेदस्य पुरुषाद्वैतादेर्वा प्रतिक्षेपो यतोऽस्य न कथंचनापि प्रसिद्ध्यति, ततो नाद्वैतं तत्त्वं बंधहेत्वादिशून्यमास्थातुं युक्तमनिष्टतत्त्ववत् ।

नन्वनादिरविद्येयं स्वेष्टेतरविभागकृत् ।
 सत्येतरैव दुःपारा तामाश्रित्य परीक्षणा ॥१३८॥
 सर्वस्य तत्त्वनिर्णीतेः पूर्वं किं चान्यथा स्थितिः ।
 एष प्रलाप एवास्य शून्योपप्लववादिवत् ॥१३९॥

(बौद्ध कहते हैं कि) संवेदन नित्य नहीं है, अनित्य भी नहीं है, वह व्यापक भी नहीं है और अव्यापक भी नहीं है, अथवा वह एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं है। वह जो है सो स्वसंवेदन ही है। जो कुछ इसके कहने के लिए विशेषण दिये जाते हैं, वह उन संपूर्ण वचनों के वाच्य से रहित ही है। जितने कुछ वचन हैं, वे सब कल्पित अन्य पदार्थों को कहते हैं। संवेदन तो अवाच्य है। आचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के कथनों से तो संवेदनाद्वैत की सिद्धि कैसे भी नहीं हो सकती। क्योंकि अपने इष्ट तत्त्व की व्यवस्था करना और अनिष्ट पक्ष का खण्डन करना ये दोनों तो शब्द के बिना अद्वैतवाद में सिद्ध नहीं हो सकते हैं ॥१३६-१३७॥

इस संवेदनाद्वैतवादी बौद्धों के दर्शन में अपने इष्ट संवेदनाद्वैत की व्यवस्था करना और अपने अनिष्ट माने गये द्वैत का अथवा पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत तथा चित्राद्वैत का खण्डन करना प्रमाण द्वारा कैसे भी नहीं सिद्ध हो सकता है और बौद्धों के द्वारा स्वीकृत अद्वैतरूप तत्त्व, बंध के कारण, कार्य और मोक्ष के कारण सम्यग्ज्ञान आदि स्वभावों से रहित संवेदनाद्वैत कैसे भी युक्तियों से सहित सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि आपको सर्वथा अनिष्ट नित्यादि तत्त्वों की आपके यहाँ प्रमाणों से सिद्धि नहीं होती है। अतः नित्यपक्ष और क्षणिकपक्ष में आत्मा बंध, मोक्ष आदि अर्थ-क्रियाओं का हेतु नहीं हो पाता है, यह सिद्धान्त युक्तियों से सिद्ध कर दिया गया है।

शून्यवादी और तत्त्वोपप्लववादी की स्थापनाएँ समीचीन नहीं हैं

संसारी जीवों के अनादि काल से लगी हुई दुस्तर यह असत्य अविद्या ही 'संवेदनाद्वैत इष्ट है और पुरुषाद्वैत अनिष्ट है' ऐसा विभाग करती है। वास्तव में, वह अविद्या असत्य ही है किंतु उस अविद्या का आश्रय लेकर तत्त्वों की परीक्षा की जाती है। सम्पूर्ण ही वादी पण्डित तत्त्वों का निर्णय हो जाने के पहले कल्पित अविद्या को स्वीकार करते हैं। तथा निर्णय हो जाने पर दूसरे प्रकार से पदार्थों की व्यवस्था कर दी जाती है। भावार्थ— संवेदनाद्वैतवादी तत्त्वनिर्णय के पहले अविद्या से प्रमाण, प्रमेय,

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते ।

सर्वविप्रतिपत्तौ हि क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥१४०॥

न हि सर्वं सर्वस्यानिर्णीतमेव विचारात्पूर्वमिति स्वयं निश्चिन्वन् किञ्चिन्निर्णीतमिष्टं प्रतिक्षेपुमर्हति विरोधात् ।

तत्रेष्टं यस्य निर्णीतं प्रमाणं तस्य वस्तुतः ।

तदंतरेण निर्णीतेस्तत्रायोगादनिष्टवत् ॥१४१॥

यथानिष्टे प्रमाणं वास्तवमंतरेण निर्णीतिर्नोपपद्यते तथा स्वयमिष्टेऽपीति । तत्र निर्णीतिमनुमन्यमानेन तदनुमतव्यमेव ।

खण्डन, मण्डन, इष्ट, अनिष्ट आदि की कल्पना कर लेते हैं। अद्वैत के सिद्ध हो जाने पर पीछे से सब को त्याग कर शुद्ध संवेदन की प्रतीति कर लेते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार इन बौद्धों का यह कहना भी शून्यवादी और तत्त्वों का उपप्लव कहनेवालों के समान प्रलापमात्र ही है। (केवल आग्रहभाव ही है)। कुछ भी निर्णीत किये गये प्रमाण या हेतु तथा आगम का आश्रय लेकर तो अन्य विवादस्थल पदार्थ में विचार किया जाता है। परन्तु बौद्धों के तो सब ही उपाय और उपेय तत्त्वों में विवाद पड़ा हुआ है (अर्थात् किसी भी प्रमाण और प्रमेय का निर्णय नहीं है)। ऐसी दशा में तत्त्वों की परीक्षा करना ही कैसे हो सकता है ॥१३८-१३९-१४०॥

सभी वादी-प्रतिवादियों को विचार करने से पूर्व सभी तत्त्व अनिर्णीत ही होते हैं। इस बात को स्वयं निश्चय करता हुआ शून्यवादी या तत्त्वोपप्लववादी कुछ निर्णय किये हुए इष्ट पदार्थ को अवश्य इष्ट करता है। अन्यथा सभी प्रकार से सब का खण्डन करने के लिए नियुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि इसमें विरोध है। अर्थात् जो विचार करने से पहले निर्णय न होना कह रहा है, उस वादी को अंतरंग में कुछ-न-कुछ तत्त्व तो अभीष्ट है ही। इस तत्त्व को माने बिना खण्डन, मण्डन, किस उद्देश्य से होगा।

जिसके मत में कुछ भी इष्ट तत्त्व का निर्णय किया गया है, उसके मत में वास्तविक रूप से कोई प्रमाण अवश्य माना गया है। क्योंकि प्रमाण के बिना इष्ट पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकते, जैसे प्रमाण के बिना अनिष्ट तत्त्व का निर्णय भी नहीं होता है ॥१४१॥

जैसे अपने को अनिष्ट पदार्थ में वास्तविक प्रमाण को माने बिना अनिष्टपने का निर्णय करना सिद्ध नहीं हो सकता है, वैसे ही स्वयं को अभीष्ट पदार्थ में भी प्रमाण माने बिना निर्णय नहीं हो सकता है। अतः उस इष्ट-अनिष्ट पदार्थ में निर्णय करने को विचारपूर्वक स्वीकार करने वाले अद्वैतवादियों को प्रमाण अवश्य स्वीकार कर लेना ही चाहिए। (बौद्धों ने स्वसंवेदन को माना है पर उसे) प्रमाण, प्रमेय, ग्राह्य, ग्राहक, स्वभावों से रहित स्वीकार किया है। ऐसे कोरे संवेदन से इष्ट, अनिष्ट पदार्थों का निर्णय नहीं हो सकता है।

तत्स्वसंवेदनं तावद्यद्युपेयेत केनचित् ।
 संवादकत्वतस्तद्वदक्षलिगादिवेदनम् ॥१४२॥
 प्रमाणान्निश्चितादेव सर्वत्रास्तु परीक्षणम् ।
 स्वेष्टेतरविभागाय विद्या विद्योपगामिनाम् ॥१४३॥

स्वसंवेदनमपि न स्वेष्टं निर्णीतं येन तस्य संवादकत्वान्नत्वतः प्रमाणत्वे तद्वदक्षलिगादिजनितवेदनस्य प्रमाणत्वसिद्धेर्निश्चितादेव प्रमाणात् सर्वत्र परीक्षणं स्वेष्टेतरविभागाय विद्या प्रवर्तते तत्त्वोपप्लववादिनः, परपर्यनुयोगमात्रपरत्वादिति कश्चित् । सोऽपि यत्किंचनभाषी, परपर्यनुयोगमात्रस्याप्ययोगात् । तथाहि—

यस्यापीष्टं न निर्णीतं क्वापि तस्य न संशयः ।
 तदभावे न युज्यन्ते परपर्यनुयुक्तयः ॥१४४॥

किसी उपाय के द्वारा संवेदन का निर्णय करना यदि बौद्ध स्वीकार करते हैं और सफल प्रवृत्ति को कराने वाले संवादकपने से उस स्वसंवेदन को ही प्रमाण सिद्ध करते हैं, तब तो उसी के समान इन्द्रियों से जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान को और हेतु से जन्य अनुमान ज्ञान को तथा शब्दजन्य आगम ज्ञान आदि को भी प्रमाण स्वीकार कर लेना चाहिए । क्योंकि निश्चित प्रमाण से ही सब स्थानों पर तत्त्वों का परीक्षण होता है । उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान को स्वीकार करने वाले वादियों के यहाँ प्रमाण रूप विद्या ही अपने इष्ट और अनिष्ट पदार्थ के विभाग करने के लिए समर्थ होती है । अविद्या स्वयं तुच्छ है । अतः वह इस इष्ट-अनिष्ट का विभाग नहीं कर सकती है ॥१४२-१४३॥

(पदार्थों को सर्वथा नहीं मानना शून्यवाद है, और विचार से पूर्व व्यवहार रूप से सत्य मानकर विचार होने पर सर्वप्रमाण, प्रमेय पदार्थों का न स्वीकार करना तत्त्वोपप्लववाद है ।) कोई तत्त्वोपप्लववादी कहता है कि हम स्वसंवेदन को भी प्रमाणस्वरूप से इष्ट होने का निर्णय नहीं कर सकते हैं और अद्वैतवादियों के मूल संवेदन को भी नहीं मानते हैं, जिससे जैन यह कह सकें कि संवादकत्व होने से उस संवेदन को वास्तविक रूप से प्रमाणता मान लो तो उसी के समान इन्द्रिय, हेतु और शब्द से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ज्ञानों को भी प्रमाणता सिद्ध हो ही जावेगी और निश्चित प्रमाण के द्वारा ही सब ही स्थलों पर परीक्षा हो करके अपने इष्ट अनिष्ट तत्त्वों के विभाग के लिए सम्यग्ज्ञान ही प्रवर्तगा । हम वितण्डावादी हैं । दूसरे के माने हुए तत्त्वों में कुशंका उठाकर उनका खण्डन करने में ही तत्पर रहते हैं । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई उपप्लववादी का सहायक कह रहा है । किंतु वह निष्प्रयोजन बकवाद करने की टेव रखता है । क्योंकि प्रमाण का निर्णय किये बिना दूसरे वादियों के तत्त्वों पर खण्डन करने के लिए केवल प्रश्नों की भरमार या आक्षेप उठाना भी तो नहीं बन सकेगा । इसी बात को आचार्य महाराज स्पष्ट कर दिखलाते हैं—

जिसके यहाँ कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नहीं किया गया है, उसको कहीं भी संशय करना नहीं बन सकता है और संशय के अभाव में दूसरे वादियों पर कुशंकाएँ करना भी तत्त्वोपप्लववादियों के न बन सकेगा ॥१४४॥

कथमव्यभिचारित्वं वेदनस्य निश्चीयते? किमदुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन बाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगाः संशयपूर्वकास्तदभावे तदसंभवात्, किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्यादेः पर्यनुयोगवत्। संशयश्च तत्र कदाचित्क्वचिन्निर्णयपूर्वकः स्थाणवादिसंशयवत्। तत्र यस्य क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिना प्रमाणत्वनिर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वकः संशयः, तदभावे कुतः पर्यनुयोगाः प्रवर्तैरन्निति न परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणि स्युः।

(उपप्लववादी कहते हैं—) ज्ञान के अव्यभिचारित्व (निर्दोषता) का निश्चय कैसे होता है? क्या इस ज्ञान के अदुष्ट (निर्दोष) कारणों के समूह के द्वारा उत्पन्न होने से निर्दोषता है? अथवा किसी भी प्रमाण से बाधा न आने से निर्दोषता है? (मीमांसक) वा प्रवृत्ति के सामर्थ्य से इस ज्ञान में प्रमाणता (निर्दोषता) है? (नैयायिक) अथवा अन्यथा (दूसरे प्रकार से अविस्वादी आदि कारणों से) ज्ञान में निर्दोषता है (बौद्ध)।

ज्ञानाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार ज्ञान के प्रमाणत्व में प्रश्न उठाना संशयपूर्वक ही हो सकता है। संशय के अभाव में उक्त प्रश्नमाला का उठना असंभव है। जैसे कि यह स्थाणु (सूखे वृक्ष का टूँठ) है या पुरुष? इत्यादि प्रश्न संशय के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। जहाँ कहीं भी किसी पदार्थ का आश्रय लेकर किसी को संशय होता है, उस पदार्थ का पूर्व में कभी-न-कभी किसी स्थल पर निर्णय अवश्य कर लिया गया है। अर्थात् संशय किसी स्थल पर निर्णीत वस्तु में ही होता है। जैसे जिस किसी मनुष्य ने कहीं भी स्थाणु और पुरुष का पूर्व में निर्णय कर लिया है, वही मनुष्य साधारण धर्मों के प्रत्यक्ष होने पर और विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर तथा विशेष धर्मों का स्मरण होने पर 'यह स्थाणु है कि पुरुष है' इस प्रकार का संशय करता है। अतः संशय पूर्व में निर्णीत की हुई वस्तु में ही होता है। जिसका कभी निर्णय ही नहीं हुआ है, उस वस्तु में संशय नहीं हो सकता है। जिस शून्यवादी का किसी भी प्रमाणव्यक्ति में निर्दोष कारणों से जन्यपने और बाधारहितपने आदि के द्वारा प्रमाणता का निर्णय ही नहीं है तो उसका नैयायिक, मीमांसकों के प्रमाण तत्त्व में संशय उठाना कैसे (उचित) हो सकता है? (पूर्व में कुछ निर्णय को मानकर हुए संशय को कैसे उठा सकते हैं।) विशेष धर्मों के द्वारा संशय उठाना सामान्य प्रमाण की स्वीकृति को इष्ट मानकर विशेष प्रमाण को स्वीकार करना है। संशय करने वाले को संदिग्ध विषयों का किसी स्थल पर कभी निर्णय करना अति आवश्यक है। तभी संशय के समय विशेष धर्मों का स्मरण होता है।

किसी स्थल में कभी जिसका निर्णय नहीं किया गया है, उसका प्रश्न उठाकर संशय करना कैसे बन सकता है? तथा जब संशय नहीं हो सकता है तब प्रमाण, प्रमेय वादियों के प्रति उपप्लववादियों के प्रश्नों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इस प्रकार दूसरे आस्तिकों के द्वारा इष्ट किये गये प्रमाण, प्रमेय पदार्थों का खण्डन करने के लिये बृहस्पति के सूत्र दूसरे मतों के प्रति कुशंका करने में समर्थ नहीं हो सकते। उपप्लववादी (तत्त्वों को नहीं मानने वाले चार्वाक) कहते हैं कि हमारे यहाँ प्रमाण प्रमेय आदि का निर्णय नहीं है— अतः संशय भी नहीं है? प्रश्नों की प्रवृत्ति भी नहीं होवे? चार्वाक के सूत्र भी दूसरों के ऊपर प्रश्न नहीं उठा सके, इसमें हमारी कोई क्षति नहीं है।

ओषिति ब्रुवतः सिद्धं सर्वं सर्वस्य वाञ्छितम्।

क्वचित्पर्यनुयोगस्यासंभवात्तन्निराकुलम् ॥१४५॥

ततो न शून्यवादवत् तत्त्वोपप्लववादो वादांतरव्युदासेन सिद्ध्येत् तथानेकांततत्त्वस्यैव सिद्धेः।

शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थितिः।

स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेरनुपप्लुते ॥१४६॥

शून्यतायां हि शून्यत्वं जानुचित्रोपगम्यते।

तथोपप्लवनं तत्त्वोपप्लवेऽपीतरत्र तत् ॥१४७॥

शून्यमपि हि स्वस्वभावेन यदि शून्यं तदा कथमशून्यवादो न भवेत्। न

हम उक्त आपत्तियों को^१ सहर्ष स्वीकार करते हैं क्योंकि तत्त्वों का उपप्लव (नाश) ही हमें इष्ट है। ऐसा कहने वालों के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि- इस प्रकार तो सभी सिद्धान्तवादियों के निराकुल स्वकीय अभीष्ट सर्व तत्त्वों की सिद्धि हो जायेगी। कहीं पर प्रश्न करना संभव नहीं होगा ॥१४५॥

अर्थात् जब प्रमाण, प्रमेय, प्रश्न करना, संशय करना आदि की व्यवस्था ही नहीं है तो कोई भी अपनी बात को पुष्ट कर लेगा। इसमें बाधा क्या है।

अतः शून्यवाद के समान तत्त्वों का अपलाप करने वाला तत्त्वोपप्लववाद भी सिद्ध नहीं हो सकता है। तथा इससे अनेकान्तवाद की (स्याद्वाद सिद्धान्त की) ही सिद्धि होती है।

शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववाद में भी अनेकान्त के बिना स्थिति नहीं रह सकती है। क्योंकि शून्यतत्त्व में भी शून्यरहितपना तो स्वयं स्वीकार करना ही पड़ेगा। अर्थात् तत्त्व शून्य है- ऐसा कहने वाले को भी तत्त्व को तो स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि तत्त्व के बिना शून्यता किसकी कही जायेगी ॥१४६॥

शून्यता में शून्यत्व कभी सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् शून्यवादियों का शून्यत्व तो शून्य नहीं हो सकता है। शून्य रूप तत्त्व की सिद्धि तो अस्तिरूप ही होती है। उसी प्रकार तत्त्वों का उपप्लव मानने वालों के सिद्धान्त में उपप्लव का उपप्लव (प्रलय) हो नहीं सकता है। इसलिये शून्यवाद में भी शून्यत्व अशून्यत्व सहित होगा तथा उपप्लव एवं अनुपप्लव की सिद्धि होने से अनेकान्त सिद्ध होता है ॥१४७॥

शून्य भी यदि स्व स्वभाव से शून्य है तो अशून्यवाद की सिद्धि क्यों नहीं होगी? अर्थात् जैसे घट के अभाव में अघटत्व हो जाता है, उसी प्रकार शून्य को भी स्वभाव से शून्य मानने पर अशून्य की उपलब्धि होगी।

१. 'ओम्' सहर्ष स्वीकार करने में आता है।

तस्याशून्यत्वेऽनेकांतादेव शून्यवादप्रवृत्तिः, शून्यस्य निःस्वभावत्वात्। न स्वभावेनाशून्यता नापि परस्वभावेन शून्यता, खरविषाणादेरिव तस्य सर्वथा निर्णेतुमशक्तेः कुतोऽनेकांतसिद्धिरिति चेत्, तर्हि तत्त्वोपप्लवमात्रमेतदायातं शून्यतत्त्वस्याप्यप्रतिष्ठानात्। न तदपि सिद्ध्यत्यनेकांतमंतरेण तत्त्वोपप्लवमात्रेणुपप्लवसिद्धेः। तत्राप्युपप्लवे कथमखिलं तत्त्वमनुपप्लुतं न भवेत्?

ननुपप्लवमात्रेऽनुपप्लव इत्ययुक्तं, व्याघातादभावे भाववत्। तथोपप्लवो न तत्र साधीयांस्तत एवाभावेऽभाववत्। ततो यथा न सत्राप्यसन्नभावः सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेः किं तर्ह्यभाव एव, तथा तत्त्वोपप्लवोपि विचारात् कुतश्चिद्यदि सिद्धस्तदा न तत्र केनचिद्रूपेणोपप्लवो

यदि निषेध रूप उस शून्य को अशून्यपना स्वीकार करते हैं तब शून्यवाद तो बन जायेगा किन्तु अशून्यपना भी आपके कहने से ही सिद्ध हो जावेगा। इस प्रकार अनेकान्तवाद से ही शून्यमत की प्रवृत्ति हो सकेगी।

शंका— शून्यतत्त्व का गधे के सींग के समान निर्णय करना अशक्य होने से न तो तत्त्व स्व स्वभाव से अशून्य है और न परस्वभाव से शून्य है अतः अनेकान्तवाद की सिद्धि कैसे हो सकती है?

उत्तर — जैनचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो केवल तत्त्वों का उपप्लव करना ही सिद्ध होता है। शून्यत्व की विधि (अस्ति) रूप से प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

तथा तत्त्वों का अपलाप (उपप्लव) भी अनेकान्त के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि तत्त्वों का अपलाप मात्र भी अनुपप्लव (खण्डित नहीं होता है, अस्ति स्वरूप है) है, ऐसा मानना ही पड़ेगा।

यदि उपप्लव का भी उपप्लव (अपलाप अभाव) मानोगे तो सर्व तत्त्व अनुपप्लुत क्यों नहीं हो जायेंगे। अर्थात् सभी पदार्थों के उपप्लव का अपलाप है, अभाव है- तो स्वयं वस्तु अनुपप्लव सिद्ध हो जाती है। जैसे घट का अभाव रूप अघट अस्ति रूप है। अतः सर्वत्र अघटत्व की सिद्धि हो जाती है।

उपप्लव मात्र में अनुपप्लव मानना युक्ति से रहित है- जैसे तुच्छाभाव को भाव स्वरूप मानने पर व्याघात दोष लगता है, वैसे उपप्लव को अनुपप्लव मानना व्याघात दोष से युक्त है।

तथा उपप्लव यहाँ साध्य नहीं है। जैसे अभाव में अभाव की सिद्धि नहीं है। क्योंकि अभाव का पुनः अभाव नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपप्लव को उपप्लव नहीं कहा जा सकता है। जैसे तुच्छाभाव न सत् रूप है और न असत् रूप है वह तुच्छाभाव रूप है। तुच्छाभाव को सर्वथा सत् वा असत् रूप से व्यवस्थापन करना शक्य नहीं है।

शंका— जैनचार्य कहते हैं कि तुच्छाभाव का स्वरूप क्या है?

उत्तर — अभाव, अभाव स्वरूप ही है। उसमें अन्य विशेषणों का अभाव है। उसी प्रकार उपप्लव भी किसी विचार से (कारण से) सिद्ध हो जाता है तब तो वहाँ किसी भी चिद्रूप (स्वभाव) से उपप्लव नहीं है, अनुपप्लव भी नहीं है। अन्यथा (उपप्लव वा अनुपप्लव मानने पर) व्याघात दोष

नाप्यनुपप्लवो व्याघातात्, किं तर्ह्युपप्लव एवेति नानेकांतावतार इति चेत्, तर्हि प्रमाणतत्त्वनादुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन नापि बाधारहितत्वादिभिः स्वभावैर्व्यवस्थाप्यते व्याघातात्, किं तु प्रमाणं प्रमाणमेव प्रमाणत्वेनैव तस्य व्यवस्थानात्। न हि पृथिवी किमग्नित्वेन व्यवस्थाप्यते जलत्वेन वायुत्वेन वेति पर्यनुयोगो युक्तः, पृथिवीत्वेनैव तस्याः प्रतिष्ठानात्। प्रमाणस्वभावा एवादुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादयस्ततो न तैः प्रमाणस्य व्यवस्थापने व्याघात इति चेत्, किमिदानीं पर्यनुयोगेन? तत्स्वबलेन प्रमाणस्य सिद्धत्वात्। स्यान्मतं। न विचारात्प्रमाणस्यादुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादयः स्वभावाः प्रसिद्धाः परोपगममात्रेण तेषां प्रसिद्धेः।

आता है। अर्थात्- उपप्लव में उपप्लव न होने से अनुपप्लव कहना विरुद्ध है। शंका— वह उपप्लव क्या है? उत्तर— उपप्लव उपप्लव ही है। इसमें अनेकान्तवाद का अवतार नहीं है।

जैनाचार्य इसका प्रत्युत्तर देते हैं— यदि उपप्लव उपप्लव ही है तो प्रमाणतत्त्व भी अदुष्ट कारक समुदाय जन्य नहीं है, और न बाधारहित जन्य है, और न प्रवृत्ति की सामर्थ्य से व्यवस्थित है। इन स्वभावों के द्वारा प्रमाण व्यवस्थित नहीं है। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। किन्तु निश्चय नय से प्रमाण प्रमाण स्वरूप ही है। प्रमाण की व्यवस्था स्वकीय प्रमाणत्व से ही होती है। जैसे घर की व्यवस्था घर ही है। अग्नि के द्वारा पृथिवी की व्यवस्था नहीं हो सकती। तथा जल के द्वारा और वायु के द्वारा पृथ्वी की व्यवस्था की शंका उठाना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि पृथ्वी की व्यवस्था पृथ्वी के द्वारा ही प्रतिष्ठित है। (अर्थात् जैसे आकाश अपने स्वरूप से ही प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार प्रमाण स्वकीय प्रमाण रूप से ही प्रतिष्ठित है।)

तत्त्वोपप्लववादी कहता है कि निर्दोष कारणों के समुदाय से जनकत्व (उत्पन्नत्व), बाधारहितत्व और प्रवृत्ति कराने में समर्थत्व आदि ये सर्व प्रमाण के स्वभाव ही हैं। अतः इनके द्वारा प्रमाणतत्त्व की व्यवस्था कराने में व्याघात दोष नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि यदि उपप्लववादी प्रमाण को प्रमाण ही मानता है— 'निर्दोष कारण जन्यत्व आदि से व्याघात दोष नहीं मानता है' तब तो इस समय प्रमाण तत्त्व में प्रश्न क्यों उठाता है? जबकि उसने प्रमाणतत्त्व को स्वकीय शक्ति के द्वारा सिद्ध हुआ स्वीकार किया है। अर्थात् जब प्रमाणतत्त्व अपने स्वरूप से सिद्ध है तो उसका खण्डन नहीं कर सकते। और प्रमाणतत्त्व की सिद्धि हो जाने पर प्रमेय तत्त्व भी सिद्ध हो जाता है। अतः तत्त्वोपप्लववाद सिद्ध नहीं हो सकता।

तत्त्वोपप्लववादी कहता है कि विचार करने पर निर्दोष कारण से उत्पन्न होना आदि प्रमाण के स्वभाव सिद्ध नहीं होते हैं। अपितु दूसरों (जैनाचार्यों) के स्वीकार करने मात्र से निर्दोष कारण जन्यत्व आदि को प्रमाण का स्वभाव कह दिया है। क्योंकि उनके इस प्रकार की प्रसिद्धि है। अर्थात् जैन दर्शनानुसार निर्दोषकारण जन्यत्व आदि को प्रमाण का स्वभाव माना है इसलिए हमने भी उनको प्रमाण का स्वरूप कह दिया है परन्तु विचार करने पर ये प्रमाण के स्वभाव सिद्ध नहीं होते हैं। इसलिए उपरिक्थित संशयों का अवतारण करके तत्त्वोपप्लववादी के प्रति कुशंका करना युक्त नहीं है।

संशयावतारोत्पर्यनुयोगो युक्त एवेति तदप्यसारं, अविचारस्य प्रमाणस्वभावव्यवस्थानप्रतिक्षेपकारिणः स्वयमुपप्लुतत्वात् । तस्थानुपप्लुतत्वे वा कथं सर्वथोपप्लवः? यदि पुनरुपप्लुतानुपप्लुतत्वाभ्यामवाच्योऽविचारस्तदा सर्वं प्रमाणप्रमेयतत्त्वं तथास्त्विति न क्वचिदुपप्लुतैकांतो नाम । यथा चोपप्लवोऽविचारो वा तद्धेतुरुपप्लुतत्वानुपप्लुतत्वाभ्यामवाच्यः स्वरूपेण तु वाच्यः तथा सर्वं तत्त्वमित्यनेकांतादेवोपप्लववादे प्रवृत्तिः सर्वथैकांते तदयोगात् । नन्वेवमनेकांतोप्यनेकांतादेव प्रवर्तते

जैनाचार्य कहते हैं कि तत्त्वोपप्लववादी का यह कथन निस्सार है। क्योंकि विचारते समय तो वे प्रमाण, प्रमेयादि तत्त्वों को स्वीकार करते हैं और पीछे उसका खण्डन करते हैं। उस प्रमाण के स्वभाव की व्यवस्था का खण्डन करने वाले अविचार के भी स्वयं उपप्लुतत्व है। अर्थात् अविचार खण्डनीय है, तुच्छ स्वरूप है। यदि अविचार को तुच्छ रूप उपप्लुत नहीं मानोगे तो सभी पदार्थ उपप्लव (नाश रूप) कैसे सिद्ध होंगे? क्योंकि अविचार तत्त्व उपप्लव रहित वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है।

यदि कहो कि उपप्लुत और अनुपप्लुत के द्वारा अवाच्य (नहीं कहने योग्य) अविचार है, तब तो सर्व प्रमाण और प्रमेय भी उसी प्रकार अवाच्य हो जायेंगे। अतः क्वचित् उपप्लुत का एकान्त नहीं रह सकता।

जैसे कि उपप्लव या अविचार तथा उन दोनों के कारण पर्यनुयोग (प्रश्न), संशय आदि तत्त्वोपप्लववादी के द्वारा स्वीकृत तत्त्व उपप्लव और अनुपप्लव के द्वारा कहे नहीं जाते हैं, अतः अवाच्य हैं। किन्तु फिर भी अपने स्वरूप से तो वे कहे ही जाते हैं- अतः वाच्य हैं, तब तो सम्पूर्ण प्रमाण प्रमेय आदि तत्त्व भी पर-चतुष्टय की अपेक्षा अवाच्य हैं और अपने निश्चित स्वचतुष्टय की अपेक्षा वाच्य हैं, इस प्रकार अनेकान्त का प्रतिपादन करने वाले स्याद्वाद सिद्धान्त से ही उपप्लववाद की प्रवृत्ति हो सकती है। सर्वथा एकान्त में उसका अयोग (सिद्धि नहीं) है।

भावार्थ— उपप्लववाद, संवेदनाद्वैत, क्षणिकत्व, नित्यत्व, शून्यवाद, अद्वैतवाद आदि सब की स्थिति (व्यवस्था) अनेकान्तवाद के आश्रय पर ही हो सकती है, सर्वथा एकान्तवाद में वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।

अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है

शंका— अनेकान्त की भी अनेकान्त से प्रवृत्ति होती है अर्थात् इस प्रकार अनेकान्त भी अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों के द्वारा ही वस्तु का कथन करने में प्रवृत्त होता है और वह अनेकान्त भी दूसरे अनेकान्त से प्रवृत्त होगा। अतः अनवस्था दोष आने से प्रकृत (प्रकरणागत) अनेकान्त की सिद्धि कैसे हो सकती है? तथा बहुत दूर भी जाकर एकान्त से अनेकान्त की प्रवृत्ति मानने पर सभी की अनेकान्त से सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् 'सिद्धिरनेकान्तात्' 'सिद्धि अनेकान्त से होती है' यह सूत्र घटित नहीं होगा।

तथा प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त कहा जाता है, ऐसा कहोगे तो 'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः' प्रमाण की अर्पणा से स्वीकृत अनेकान्त भी तो अनेकान्त (एकान्त नहीं) है', यह बृहत्सव्यम्भूस्तोत्र में समन्तभद्र का वाक्य कैसे घटित होगा? तथा प्रमाण के भी अनेकान्तात्मकत्व स्वीकार करने पर अनवस्था दोष का परिहार करना शक्य नहीं है।

सोप्यन्यस्मादनेकांतादित्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतानेकांतसिद्धिः? सुदूरमप्यनुसृत्यानेकांतस्यैकांतात्प्रवृत्तौ न सर्वस्यानेकांतात् सिद्धिः। 'प्रमाणार्पणादनेकांत' इत्यनेकांतोप्यनेकांतः कथमवतिष्ठते? प्रमाणस्यानेकांतात्मकत्वेनानवस्थानस्य परिहर्तुमशक्तेरेकांतात्मकत्वे प्रतिज्ञाहानिप्रसक्तेः।

नयस्याप्येकांतात्मकत्वे अयमेव दोषोऽनेकांतात्मकत्वे सैवानवस्थेति केचित्। तेऽप्यतिसूक्ष्मेक्षिकांतरितप्रज्ञाः, प्रकृतानेकांतसाधनस्यानेकांतस्य प्रमाणात्मकत्वेन सिद्धत्वादभ्यस्तविषयेऽनवस्थाद्यनवतारात्, तथा तदेकांतसाधनस्यैकांतस्य सुनयत्वेन स्वतः प्रसिद्धेर्नानवस्था प्रतिज्ञाहानिर्वा संभवतीति निरूपणात्। ततः सूक्तं 'शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थिति' रिति।

ग्राह्यग्राहकतैतेन बाध्यबाधकतापि वा।

कार्यकारणतादिर्वा नास्त्येवेति निराकृतम् ॥१४८॥

यदि प्रमाण को एकान्त स्वरूप मानते हो तो 'सर्व अनेकान्त स्वरूप है' इस प्रतिज्ञा की हानि का प्रसंग आता है। यदि नय को भी एकान्तात्मक स्वीकार करते हैं तो इसमें भी अनवस्था और प्रतिज्ञा-हानि का प्रसंग आता है। अर्थात् नय की अपेक्षा मान लेने पर 'सर्व अनेकधर्मात्मक है' इस प्रतिज्ञा की हानि होती है तथा नय की अपेक्षा अनेकान्तात्मक स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आता है। इस प्रकार कोई (एकान्तवादी) कहता है।

अब जैनाचार्य इसका समाधान करते हैं -

इस प्रकार अनेकान्तवाद के प्रति आक्षेप करने वाले एकान्तवादी भी अति सूक्ष्म पदार्थों को देखने में कारणभूत विचारशालिनी बुद्धि से रहित हैं। क्योंकि इस प्रकरण में स्थित अनेकान्त की सिद्धि अनेकान्त से ही होती है। और प्रमाणस्वरूप अनेकान्त सिद्ध है। अर्थात् प्रमाण से तत्त्वों का विचार करने पर अनेकान्त ही प्रतीत होता है। जिन विषयों का बार-बार अभ्यास हो चुका है, उनमें अनवस्था, अन्योऽन्याश्रय, अनैकान्तिक आदि दोषों का अवतार (प्रादुर्भाव) नहीं होता है। अर्थात् जैसे अभ्यस्त (परिचित नगर आदि में) दशा में शीतल वायु, पुष्पगन्ध आदि से जल में प्रामाण्य जान लिया जाता है, वैसे ही अभ्यास दशा में अनेक धर्म वाले प्रमाण से अनेकान्त की सिद्धि हो जाती है।

वैसे ही उस एकान्त को सिद्ध करने वाले समीचीन एकान्त की भी परस्पर सापेक्ष सुनयों के द्वारा स्वतः प्रसिद्धि होने से प्रतिज्ञाहानि दोष संभव नहीं है। क्योंकि नय से एकान्त का कथन करना इष्ट है, प्रमाण और युक्ति से अबाधित है। ऐसा स्याद्वाद सिद्धान्त में निरूपित है। अर्थात् एकान्त भी परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों के साथ ही सिद्ध होता है। अतः 'शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववाद में भी अनेकान्त के बिना सिद्धि नहीं होती है', एक सौ छ्यालीसवीं गाथा का यह कथन समीचीन है, निर्दोष है।

संवेदनाद्वैत प्रमाणसिद्ध नहीं है

शुद्ध संवेदनाद्वैत में ग्राह्य-ग्राहकता, बाध्य-बाधकता, कार्य-कारणता तथा वाच्य-वाचक भाव नहीं हैं। अर्थात् न तो कोई वस्तु ग्रहण करने योग्य है (प्रमेय है), न उसको ग्रहण करने वाला ग्राहक (प्रमाण) है। न कोई किसी से बाध्य है और न कोई किसी का बाधक है। न तो कोई किसी का कार्य है, न कोई कारण है। न कोई किसी शब्द का वाच्य है, न कोई अभिधान किसी का वाचक है। इस प्रकार कहने वाले संवेदनाद्वैत का भी अनेकान्त के कथन से खण्डन कर दिया गया है ॥१४८॥

ग्राह्यग्राहकबाध्यबाधककार्यकारणवाच्यवाचकभावादिस्वरूपेण नास्ति संवेदनं संविन्मात्राकारतयास्तीत्यनेकांतोभीष्ट एव संवेदनाद्वयस्य तथैव व्यवस्थितेर्ग्राह्याद्याकाराभावात्सद्वितीयतानुपपत्तेः सर्वथैकांताभावस्य सम्यगेकांतानेकांताभ्यां तृतीयतानुपपत्तिवत्। इति न प्रातीतिकं, ग्राह्यग्राहकभावादिनिराकरणस्यैकांततोऽसिद्धेः।

ग्राह्यग्राहकशून्यत्वं ग्राह्यं तद्ग्राहकस्य चेत्।

ग्राह्यग्राहकभावः स्यादन्यथा तदशून्यता ॥१४९॥

बाध्यबाधकभावोऽपि बाध्यते यदि केनचित्।

बाध्यबाधकभावोऽस्ति नोचेत्कस्य निराकृतिः ॥१५०॥

कार्यापाये न वस्तुत्वं संविन्मात्रस्य युज्यते।

कारणस्यात्यये तस्य सर्वदा सर्वथा स्थितिः ॥१५१॥

(बौद्ध कहता है कि) ग्राह्य-ग्राहक, बाध्य-बाधक, कार्य-कारण और वाच्य-वाचक स्वरूप से वस्तु का संवेदन नहीं होता है। अपितु केवल शुद्ध संवित्ति के आकार से ही संवेदन होता है। इस प्रकार अनेकान्त इष्ट ही है तथा ऐसा करने पर अद्वैत संवेदन की व्यवस्थापूर्वक सिद्धि हो जाती है। क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक आदि आकारों के अभाव से सद्वितीयता (द्वैतपना) सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक आदि द्वैत की उत्पत्ति नहीं है। ग्राह्यादि आकारों से रहित अकेला संवेदनाद्वैत सिद्ध होता है। जैसे स्याद्वाद सिद्धान्त में सर्वथा एकान्त का अभाव समीचीन एकान्त और समीचीन अनेकान्त से भिन्न तीसरा पदार्थ सिद्ध नहीं है। अर्थात् जैसे सर्वथा एकान्त का अभाव ही स्याद्वाद सिद्धान्त का अनेकान्त है, उसी प्रकार ग्राह्य-ग्राहक आदि सर्व आकारों के वेदन का अभाव ही बौद्ध मत में संवेदनाद्वैत है। जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्ध का संवेदनाद्वैत प्रमाणसिद्ध प्रतीतियों से सिद्ध नहीं है अर्थात् प्रतीतिविरुद्ध है। संवेदनाद्वैत की प्रतीति नहीं हो रही है। क्योंकि सर्वथा एकान्त रूप से ग्राह्य ग्राहक, कार्यकारण भाव आदि का निराकरण करना सिद्ध नहीं है।

ग्राह्य-ग्राहक भाव से शून्यपने को यदि उसके ग्रहण करने वाले ज्ञान का ग्राह्य (पदार्थ) मानोगे तब तो ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो ही जाता है। अर्थात् ग्राह्य ग्राहक भाव से शून्य पदार्थ ग्राह्य ज्ञान के द्वारा ग्रहण से ग्राहकभाव की सिद्धि हो जाती है। अन्यथा (यदि ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित पदार्थ ज्ञान का विषय नहीं है तब तो) अशून्यता (ग्राह्य-ग्राहक आदि भावयुक्तता) सिद्ध हो जाती है ॥१४९॥

बाध्य-बाधक भाव भी किसी के द्वारा यदि बाधित होता है तब तो बाध्य-बाधक भाव का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि बाध्य-बाधक भाव नहीं है तो उसका खण्डन कैसे किया जाता है ॥१५०॥

कार्य के अभाव में संवेदन मात्र के वस्तुपना युक्त नहीं हो सकता। क्योंकि जो अर्थक्रियाओं को करता है, वही वस्तुभूत पदार्थ है। यदि उस संवेदन के कारण का अभाव माना जायेगा तो उस संवेदन की सर्वकाल में सर्व प्रकार से स्थिति रहेगी। अतः कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है ॥१५१॥

वाच्यवाचकतापायो वाच्यश्वेतद्वयवस्थितिः ।

परावबोधनोपायः को नाम स्यादिहान्यथा? ॥१५२॥

सोयं तयोः वाच्यवाचकयोः ग्राह्यग्राहकभावादेर्निराकृतिमाचक्ष्णस्तद्भावं साधयत्येवान्यथा तदनुपपत्तेः ।

संवृत्या स्वप्नवत्सर्वं सिद्धमित्यतिविस्मृतम् ।

निःशेषार्थक्रियाहेतोः संवृतेर्वस्तुतासितः ॥१५३॥

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ।

सांवृतं रूपमन्यतु संविन्मात्रमवस्तु सत् ॥१५४॥

‘स्वप्नवत्सांवृतेन रूपेण ग्राह्यग्राहकभावाभावो ग्राह्यो बाध्यबाधकभावो बाध्यः कार्यकारणभावोऽपि कार्यो वाच्यवाचकभावो वाच्य’ इति ब्रुवाणो विस्मरणशीलः, स्वयमुक्तस्य

वाच्य-वाचक का अभाव यदि वाच्य है तब तो वाच्य की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् वाच्य-वाचक का अभाव शिष्य को समझाया जाता है। अतः वाच्य और वाचक भाव है। अन्यथा (यदि वाच्यवाचक का अभाव वाच्य नहीं है) तो वाच्य-वाचक के अभाव को समझाने का उपाय क्या है? ॥१५२॥

भावार्थ— ग्राह्य-ग्राहक भाव, कार्य-कारण भाव, बाध्य-बाधक भाव, वाच्य-वाचक भाव आदि की सिद्धि हो जाती है। इनका अभाव सिद्ध करने में भी सद्भाव सिद्ध हो जाता है। क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक भाव के अभाव का यदि अस्तित्व नहीं है तो उनका खण्डन कैसे किया जाता है। तथा वाच्य-वाचक के तथा ग्राह्य-ग्राहक भावादि के निराकरण को कहने वाला वह यह बौद्ध ग्राह्य-ग्राहक आदि भावों के सद्भाव को सिद्ध करता ही है। अन्यथा (यदि वाच्य-वाचक भाव नहीं है तब तो) उनका निषेध करना भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

जो अर्थ क्रियाकारी है वही परमार्थ सत् है, संवेदनाद्वैत अवस्तु है

संवेदनाद्वैतवादी कहता है कि परमार्थ रूप से ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव का हम खण्डन करते हैं। किन्तु संवृति (व्यवहार) से स्वप्न के समान कल्पनासिद्ध ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव का खण्डन नहीं करते हैं। क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव सर्व कल्पनासिद्ध हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धों का कथन अतिविस्मृति (भूल) से युक्त है। क्योंकि सम्पूर्ण अर्थक्रिया के कारणभूत संवृति रूप संव्यवहार को वस्तुत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् संवृति अर्थक्रिया की निमित्त है, अतः वस्तुभूत है। जो अर्थक्रियाकारी है, वही परमार्थ सत् है। परन्तु इससे विपरीत जो अर्थक्रिया से रहित सांवृत (व्यवहार) है, उपचार मात्र से कल्पित है, वह संवेदनाद्वैत अवस्तु है, असत् है अर्थात् परमार्थभूत वस्तु नहीं है ॥१५३-१५४॥

“स्वप्न के समान कल्पित व्यवहार के द्वारा ग्राह्य-ग्राहक भाव का अभाव भी ग्राह्य हो जाता है। बाध्यबाधक भाव भी बाध्य हो जाता है, कार्यकारणभाव भी कार्य हो जाता है और वाच्यवाचकभाव भी शब्दों के द्वारा वाच्य हो जाता है।” इस प्रकार कहने वाला संवेदनाद्वैत भी विस्मरणशील है। अर्थात्

सांवृतरूपानर्थक्रियाकारित्वस्य विस्मरणात्। तथा हाशेषग्राह्यग्राहकताद्यर्थक्रियानिमित्तं यत्सांवृतं रूपं तदेव परमार्थसत् तद्विपरीतं तु संवेदनमात्रमवस्तु सदिति दर्शनांतरमायातम्।

सांवृतं चेत्स्व नामार्थक्रियाकारि च तन्मतम्।

हंत सिद्धं कथं सर्वं सांवृत्या स्वप्नवत्तव ॥१५५॥

ग्राह्यग्राहकभावाद्यर्थक्रियापि सांवृती न पुनः पारमार्थिकी यतस्तन्निमित्तं सांवृतं रूपं परमार्थसत् सिद्ध्येत्। तात्त्विकी त्वर्थक्रिया स्वसंवेदनमात्रं, तदात्मकं संवेदनाद्वैतं कथमवस्तु सन्नाम? ततोऽर्थक्रियाकारि सांवृतं चेति व्याहतमेतदिति यदि मन्यसे, तदा कथं स्वप्नवत् सांवृत्या सर्वं सिद्धमिति ब्रूषे? तदवस्थत्वाद्वाधातस्य सांवृतं सिद्धं चेति।

वह अपनी पूर्व की प्रतिज्ञा को भूल जाता है। तभी तो स्वयं कही हुई “कल्पित स्वभाव कभी अर्थक्रिया को नहीं करते हैं” इस बात को भूल गया है। अर्थात् पूर्व में बौद्ध ने कहा था कि व्यवहार से कल्पित पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करता है। और अब कहते हैं कि स्वप्न में चलना, बोलना आदि कल्पित अर्थक्रिया होती है। यह उनका विस्मरणपना ही है।

तथा जैन सिद्धान्त में स्पष्ट किया गया है कि जो व्यवहार में स्वीकृत पदार्थ सम्पूर्ण ग्राह्य-ग्राहकतादि भाव अर्थक्रिया का निमित्त है वह सर्व सांवृत रूप व्यवहार परमार्थ सत् है, वस्तुभूत है। और उससे विपरीत अर्थक्रिया नहीं करने वाला केवल निरंश संवेदन मात्र है- वह वस्तुभूत सत् पदार्थ नहीं है। यदि उसको परमार्थ सत् मानेंगे तो दर्शनान्तर (स्याद्वाद की सिद्धि) की सिद्धि हो जाती है, स्याद्वाद की शरण लेनी पड़ती है।

यदि सांवृत (कल्पित व्यवहार) अर्थक्रियाओं को करता है, ऐसा मन्तव्य हो तो जैनाचार्य कहते हैं- बड़े खेद की बात कि पूर्व में जो ‘सम्पूर्ण पदार्थ व्यावहारिक कल्पना से स्वप्न के समान अर्थक्रिया करते हुए प्रसिद्ध हैं’ यह कैसे हो सकता है। अर्थात्- ऐसा मानने पर तो आप (बौद्ध) व्यवहार से किसी पदार्थ को सिद्ध नहीं कर सकते ॥१५५॥

बौद्ध कहते हैं कि ग्राह्य-ग्राहक भाव आदि अर्थक्रियाएँ भी कल्पित हैं, पुनः पारमार्थिक नहीं हैं, जिससे कि उन अर्थक्रियाओं का कारणभूत सांवृत (व्यवहार) रूप परमार्थ सिद्ध हो सकता है संवेदन मात्र अर्थक्रिया ही तात्त्विकी है। अतः तदात्मक (अर्थक्रिया के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला) संवेदनाद्वैत अवस्तु कैसे हो सकता है? अर्थात् संवेदनाद्वैत तत्त्व तो वस्तु स्वरूप ही है। इसलिए अर्थक्रिया को करने वाला है, ‘वह सांवृत है, कल्पित है’ इस नियम में व्याघात दोष है। जैनाचार्य कहते हैं कि जो अर्थक्रिया को करता है वह परमार्थभूत है, कल्पित नहीं है और जो अर्थक्रिया को नहीं करता है वह कल्पित है। ऐसा मानते हो तो ‘स्वप्न के समान सम्पूर्ण तत्त्व व्यवहार दृष्टि से सिद्ध हैं’ इस बात को कैसे कह सकते हैं? अतः व्याघात दोष का वैसे का वैसे अवस्थान होने से सांवृत (कल्पित) सिद्ध कैसे हो सकता है। अर्थात् जो सिद्ध है वह कल्पित कैसे है?

स्वप्नसिद्ध (कल्पित पदार्थ) अवश्य सिद्ध नहीं हैं। अन्यथा (यदि स्वप्न को भी वास्तविक सिद्ध मान लेंगे तो) दूसरा कौन अस्वप्न पदार्थ सिद्ध हो सकता है। अर्थात् जागृत दशा और स्वप्न दशा में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

स्वप्नसिद्धं हि नो सिद्धमस्वप्नः कोऽपरोऽन्यथा ।

संतोषकृत्त वै स्वप्नः संतोषं न प्रकल्पते ॥१५६॥

वस्तुन्यपि न संतोषो द्वेषात्तदिति कस्यचित् ।

अवस्तुन्यपि रागात् स्यादित्यस्वप्नोस्त्वबाधितः ॥१५७॥

यथा हि स्वप्नसिद्धमसिद्धं तथा संवृत्तिसिद्धमप्यसिद्धमेव, कथमन्यथा स्वप्नसिद्धमपि सिद्धमेव न भवेत्तथा च न कश्चित्ततोऽपरोऽस्वप्नः स्यात् ।

संतोषकार्यस्वप्न इति चेन्न, स्वप्नस्यापि संतोषकारित्वदर्शनात् । कालान्तरे न स्वप्नः संतोषकारी इति चेत्, समानमस्वप्ने । सर्वेषां सर्वत्र संतोषकारी न स्वप्न इति चेत्, तादृगस्वप्नेऽपि ।

(बौद्ध कहते हैं) स्वप्न संतोष करने वाला नहीं है और जागृत दशा संतोष कर देती है- यह दोनों में अन्तर है तो ऐसी कल्पना करना भी युक्त नहीं है। क्योंकि संतोष करने और न करने की अपेक्षा जागृत दशा और स्वप्न अवस्था समान ही हैं। किसी को द्वेष के कारण जागृत अवस्था में परमार्थभूत वस्तु में भी संतोष नहीं होता है और किसी को राग के कारण स्वप्न दशा में काल्पनिक वस्तु में भी संतोष हो जाता है। अतः अस्वप्न (परमार्थभूत वस्तु) का निर्दोष लक्षण यही मानना चाहिए जो त्रिकाल में उत्तरवर्ती बाधक प्रमाणों से रहित हो ॥१५६-१५७॥

जिस प्रकार स्वप्नसिद्ध पदार्थ असिद्ध है, उसी प्रकार संवृत्ति (कल्पना) सिद्ध पदार्थ भी असिद्ध ही है। अन्यथा (यदि ऐसा नहीं माना जाता है तो) स्वप्न की सिद्धि क्यों नहीं हो सकती है? और ऐसा होने पर स्वप्न से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ यानी जागृत अवस्था का तत्त्व अस्वप्न रूप नहीं हो सकेगा।

अस्वप्न (जागृतावस्था में होने वाले पदार्थ) संतोषकारी है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि स्वप्न भी सन्तोषकारी देखे जाते हैं। अर्थात् शुभ स्वप्न देखने से मन आह्लादित होता है। यदि बौद्ध कहे कि स्वप्न कुछ क्षण के लिए सन्तोषकारी हैं, कालान्तर में स्वप्न सन्तोषकारी नहीं होते हैं- तब तो यह कालान्तर में असन्तोषकारीपना जागृत अवस्था वाले पदार्थों में भी पाया जाता है। अतः दोनों समान हैं। अर्थात् जागृत अवस्था में भोग में आने वाली भोग्योपभोग्य वस्तु भी सेवन करते समय आनन्ददायक प्रतीत होती है। कालान्तर में दुःख रूप प्रतीत होती है तथा उनके सेवन में संतोष भी नहीं होता है। पुनःपुनः भोगने की भावना बनी रहती है।

यदि कहो कि स्वप्न सर्व जीवों को सर्वत्र संतोषकारी नहीं है, तो स्याद्वादी यों कह सकते हैं कि अस्वप्न भी सर्व जीवों के सर्वत्र सन्तोषकारी नहीं है। अस्वप्न में भी यह बात घटित होती है। रोगी को भोजन करने में आनन्द नहीं आता है। योगी को भोग रुचिकर नहीं हैं।

किसी भी जीव को किसी-न-किसी स्थान पर किसी समय में भी जो पदार्थ सन्तोष का कारण है, वह अस्वप्न है, ऐसा कहने पर तो कोई भी स्वप्न नहीं रह सकता है। क्योंकि स्वप्न भी किसी समय में किसी जीव को किसी स्थान पर सन्तोषकारी होता है। जैसे तीर्थंकर की माता के देखे हुए स्वप्न आनन्दकारी होते हैं। अतः स्वप्न और अस्वप्न के निर्णय की कोई परिभाषा नहीं होगी।

कस्यचित्कचित्कदाचित्संतोषहेतोरस्वप्नत्वे तु न कश्चित्स्वप्नो नाम । न च संतोषहेतुत्वेन वस्तुत्वं व्याप्तं, क्वचित्कस्यचिद् द्वेषात् संतोषाभावेऽपि वस्तुत्वसिद्धेः । नापि वस्तुत्वेन संतोषहेतुत्वमवस्तुन्यपि कल्पनारूढे रागात् कस्यचित्संतोषदर्शनात् । ततः सुनिश्चितासंभवद्वाधकोऽस्वप्नोऽस्तु ।

बाध्यमानः पुनः स्वप्नो नान्यथा तद्विदेक्ष्यते ।

स्वतः क्वचिदबाध्यत्वनिश्चयः परतोऽपि वा ॥१५८॥

कारणद्वयसामर्थ्यात्संभवन्ननुभूयते ।

परस्परश्रयं तत्रानवस्थां च प्रतिक्षिपेत् ॥१५९॥

तथा सन्तोषहेतुत्व के साथ वस्तुपना व्याप्त नहीं है। अर्थात् जो सन्तोष का कारण है, वही वस्तुभूत है। ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। क्योंकि किसी जीव को किसी पदार्थ में द्वेष हो जाने से संतोष न होने पर भी पदार्थ का वस्तुपना सिद्ध है। अर्थात् वस्तुभूत कूड़ा, नारक आदि पर्याय सन्तोषकारी नहीं होते हुए भी वस्तुभूत हैं। तथा यह भी व्याप्ति नहीं है कि जो-जो वस्तुभूत है, वही संतोषकारक है। क्योंकि राग के कारण किसी जीव को कल्पना आरूढ़ अवस्तु में भी सन्तोष (आनन्द) होता हुआ देखा जाता है अर्थात् काल्पनिक आम, अमरूढ़ या हाथी, घोड़े आदि के खिलौनों को देखकर भी संतोष होता है। इसलिए जिस पदार्थ के अस्तित्व में बाधक प्रमाणों के असंभव होने का निश्चय है, वही अस्वप्न पदार्थ है। ऐसा निर्णय करना चाहिए।

जिस पदार्थ में बाधक प्रमाणों के असंभव का निश्चय है वह अस्वप्न (सत्यार्थ) है। और जो प्रमेय पदार्थ बाधक प्रमाणों से बाधित है, वह स्वप्न (असत्य) है। अन्यथा स्वप्न और अस्वप्न का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है। प्रमेय में अबाध्यत्व का निश्चय कहीं पर स्वतः होता है और कहीं पर परतः होता है अर्थात् अभ्यास दशा में स्वतः निश्चय होता है और अनभ्यास दशा में परतः निश्चय होता है ॥१५८॥

कारणद्वय (अंतरंग और बहिरंग कारण) के सामर्थ्य से होने वाले अबाधितपने का निश्चय होना अनुभव में आ रहा है। अर्थात् अभ्यास दशा में जैसे जलज्ञान का अबाधितपना स्वयं प्रतीत होता है और अनभ्यास दशा में शीतल वायु आदि के कारण अबाधितपने का निश्चय हो जाता है कि यहाँ जल है। इसमें परस्परश्रय दोष भी नहीं है कि स्नान आदि क्रियाओं से जल का अबाधितपना सिद्ध होता हो और जलज्ञान के अबाधित सिद्ध होने पर स्नान आदि क्रियाओं का अबाधितपना सिद्ध होता हो। क्योंकि उत्तरकाल में होने वाली अर्थक्रियाओं से पूर्व काल के ज्ञान का अबाधितपना सिद्ध हो जाता है। यदि उन क्रियाओं में कोई संशय हो तो दूसरों से निर्णय कर लिया जाता है। तथा इसमें अनवस्था दोष का भी निराकरण कर दिया गया है। क्योंकि दूसरों के द्वारा अबाधितपने का निर्णय करने में अनवस्था दोष नहीं आता है। दूसरे के द्वारा समझने पर वस्तु का निर्णय हो जाता है ॥१५९॥

बाधारहितोऽस्वप्नो बाध्यमानस्तु स्वप्न इति तयोर्भेदोन्वीक्ष्यते, नान्यथा। ननु चास्वप्नज्ञानस्याबाध्यत्वं यदि अत एव निश्चीयते तदेतरेतराश्रयः, सत्यऽबाध्यत्वनिश्चये संवेदनस्यास्वप्नकृत्रिश्चयस्तस्मिन् सत्यबाध्यत्वनिश्चय इति। परतोऽस्वप्नवेदनात्तस्याबाध्यत्वनिश्चये तस्याप्यबाध्यत्वनिश्चयोन्यस्मादस्वप्नवेदनादित्यनवस्थानान्न कस्यचिदबाध्यत्वनिश्चय इति केचित्। तदयुक्तं। क्वचित्स्वतः क्वचित्परतः संवेदनस्याबाध्यत्वनिश्चयेऽन्योन्याश्रयानवस्थानवतारात्। न च क्वचित्स्वतस्तन्निश्चये सर्वत्र स्वतो निश्चयः परतोऽपि वा क्वचिन्निर्णीतौ सर्वत्र परत एव निर्णीतिरिति चोद्यमनवद्यं हेतुद्वयनियमान्नियमसिद्धेः। स्वतस्तन्निश्चये हि बहिरंगो हेतुरभ्यासादिः, परतोऽनभ्यासादिः, अंतरंगस्तु तदावरणक्षयोपशमविशेषः संप्रतीयते। तदनेन स्वप्नस्य

बाधक प्रमाणों से रहित है, वह अस्वप्न (सत्यार्थ) है और जो अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित है, वह स्वप्न है। इस प्रकार स्वप्न और अस्वप्न में भेद देखा जाता है। अन्यथा स्वप्न और अस्वप्न में भेद नहीं किया जा सकता।

शंका— जागृत अवस्था में होने वाले अस्वप्न (वस्तुभूत पदार्थ) ज्ञान का निश्चय यदि अस्वप्न संवेदन से किया जाता है तो अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि संवेदन के अबाधितपने का निश्चय होने पर तो संवेदन के अस्वप्नकृतपने का निश्चय होता है और अस्वप्नकृतपने के निश्चय होने पर संवेदन के अबाधितत्व का निश्चय होता है। इस प्रकार परस्पराश्रय दोष हुआ।

यदि प्रकरण प्राप्त अस्वप्न ज्ञान के अबाधितत्व का दूसरे अस्वप्न ज्ञान से निश्चय करेंगे तो उसके भी अबाधितत्व का निर्णय तीसरे अस्वप्न ज्ञान से होगा और उसका निश्चय चौथे अस्वप्न ज्ञान से होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। किसी के भी अबाधितत्व का निश्चय नहीं होगा। ऐसा कोई कहता है। इस शंका का समाधान करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञानाद्वैतवादियों का यह कहना युक्तिसंगत नहीं है— क्योंकि कहीं पर स्वतः और कहीं पर परतः संवेदन (ज्ञान) के अबाध्यत्व (प्रमाणत्व) का निश्चय हो जाने पर अन्योऽन्याश्रय दोष और अनवस्था दोष नहीं आ सकता है।

कहीं पर अभ्यस्त दशा में स्वतः प्रमाण में प्रमाणता आजाने पर अभ्यास और अनभ्यास दोनों अवस्था में स्वतः ही प्रमाणता का निर्णय होता है, ऐसा कहना उचित नहीं है। और किसी स्थल में किसी जीव के परतः प्रमाण के अबाधितत्व (प्रमाणत्व) सिद्ध हो जाने पर सर्वत्र (सर्व स्थानों में) परतः ही प्रमाण का प्रमाणत्व सिद्ध होता है, ऐसी शंका करना भी निर्दोष नहीं है। क्योंकि अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणों के नियम से सभी पदार्थों के परिणमन का नियम सिद्ध है। अर्थात् कोई भी कार्य एक कारण से नहीं होता है। अतः प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः आती है।

स्वतः निश्चय में अभ्यासादि बहिरंग हेतु हैं और अनभ्यास दशा में परतः बहिरंग कारण है। परन्तु अन्तरंग कारण तो दोनों में ही ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष ही प्रतीत होता है। व्यवहार में भी अनुभव किया जाता है कि अभ्यास दशा में मानव चलती गाड़ी में बैठ जाता है और अनभ्यास दशा में खड़ी गाड़ी में चढ़ने में भी सशंक होता है।

बाध्यमानत्वनिश्चयेऽप्यन्योन्याश्रयानवस्थाप्रतिक्षेपः प्रदर्शित, इति स्वप्नसिद्धमसिद्धमेव, तद्वत्संवृतिसिद्धमपीति न तदाश्रयं परीक्षणं नाम ।

ततो न निश्चितान्मानाद्विना तत्त्वपरीक्षणम् ।

ज्ञाने येनाद्वये शून्येऽन्यत्र वा तत्प्रतन्यते ॥१६०॥

प्रमाणासंभवाद्यत्र वस्तुमात्रमसंभवि ।

मिथ्यैकांतेषु का तत्र बंधहेत्वादिसंकथा ॥१६१॥

प्रमाणनिष्ठा हि वस्तुव्यवस्था तन्निष्ठा बंधहेत्वादिवार्ता, न च सर्वथैकांते प्रमाणं संभवतीति वक्ष्यते ।

स्याद्वादिनामतो युक्तं यस्य यावत्प्रतीयते ।

कारणं तस्य तावत्स्यादिति वक्तुमसंशयम् ॥१६२॥

इस अस्वप्न ज्ञान में स्वतः और परतः निश्चय हो जाता है, ऐसा सिद्ध करने वाले कथन से स्वप्न ज्ञान के भी बाध्यमानत्व का निर्णय हो जाने पर अन्योऽन्याश्रय और अनवस्था दोष का निराकरण दिखाया गया है। अर्थात् स्वप्न ज्ञान के प्रमाणों के द्वारा बाध्यत्व का निर्णय होने में अनवस्था और अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं हैं। ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि अनेकान्तवाद में दोषों का अवतार नहीं होता है। इसलिए स्वप्नसिद्ध पदार्थ असिद्ध ही हैं। उसी प्रकार संवृतिसिद्ध भी सिद्ध नहीं हैं। अतः असिद्ध पदार्थ का आश्रय लेकर संवेदनाद्वैतवादी भी परीक्षण नहीं कर सकते। अर्थात् काल्पनिक अनादिकालीन अविद्या के द्वारा परीक्षा करने का प्रयास करना प्रशस्त नहीं है।

वस्तुव्यवस्था प्रमाणाधीन है

इससे यह सिद्ध होता है कि निश्चित प्रमाण के बिना तत्त्व का परीक्षण नहीं होता है। जिससे संवेदनाद्वैत में, शून्यवाद में और अन्य उपप्लववाद में, ब्रह्माद्वैतवाद आदि सम्प्रदाय में तत्त्वपरीक्षा का विस्तार किया जा सके। अर्थात् जो प्रमाणतत्त्व को नहीं मानते हैं, वे तत्त्व की परीक्षा नहीं कर सकते हैं ॥१६०॥

जिनके सिद्धान्त में प्रमाण की असंभवता है, प्रमाणतत्त्व को स्वीकार नहीं किया है, उनके वस्तु मात्र का होना भी संभव नहीं है। उन मिथ्या एकान्तों में बन्ध, बन्ध के कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्ष के कारण (संवर, निर्जरा) आदि का कथन कैसे हो सकता है। प्रमाणतत्त्व के बिना किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती ॥१६१॥

क्योंकि वस्तु (पदार्थों, तत्त्वों) की व्यवस्था प्रमाणाधीन है। तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप तत्त्वों की व्याख्या, वार्ता प्रमाण के द्वारा ही होती है। परन्तु सर्वथा एकान्तवाद में प्रमाण तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है। इसका कथन आगे करेंगे।

अतः स्याद्वाद मत में जिस कार्य के जितने भी कारण प्रतीत होते हैं, उन सर्व कारणों की समग्रता से कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा निःसंशय कथन कर सकते हैं ॥१६२॥

प्रतीत्याश्रयणे सम्यक्चारित्रं दर्शनविशुद्धिविजृम्भितं प्रवृद्धेद्बोधमधिरूढमनेकाकारं
सकलकर्मनिर्दहनसमर्थं यथोदितमोक्षलक्ष्मीसंपादननिमित्तमसाधारणं, साधारणं तु कालादिसंपदिति
निर्बाधमनुमन्यध्वं, प्रमाणनयैस्तत्त्वाधिगमसिद्धेः।

नाना नानात्मनीनं नयनयनयुतं तत्र दुर्णीतिमानं,

तत्त्वश्रद्धानशुद्ध्यध्युषिततनु बृहद्बोधधामादिरूढम्।

चंचच्चारित्रचक्रं प्रचुरपरिचरच्चंडकर्मारिसेनां,

सातुं साक्षात्समर्थं घटयतु सुधियां सिद्धसाम्राज्यलक्ष्मीम् ॥१॥

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

भावार्थ— आचार्य विद्यानन्द के कथनानुसार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये बन्ध के कारण हैं। इन तीन में ही मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बन्ध के कारणों का अन्तर्भाव हो जाता है। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के कारण हैं। सूत्र का शब्दबोधप्रणाली से वाक्यार्थबोध करने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का कारण है, यह ध्वनित होता है। अतः मोक्ष के कारणों में चारित्र की पूर्णता ही साक्षात् मुक्ति का कारण है। इसमें कोई संशय नहीं है।

प्रमाणसिद्ध प्रतीतियों का आश्रय लेने पर दर्शनविशुद्धि से विजृम्भित (वृद्धि को प्राप्त), अनेक आकारों को आरूढ़ (अनन्तानन्त पदार्थों का उल्लेख करने वाला, जानने वाला) प्रवृद्ध (परिपूर्णता को प्राप्त) केवलज्ञान सहित सम्यक्चारित्र ही सकल कर्मों को भस्म करने में समर्थ यथोदित मोक्षलक्ष्मी के सम्पादन करने का निमित्त, असाधारण कारण है। अर्थात् मुक्ति का असाधारण कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र ही है। परन्तु काल, वज्रवृषभ संहनन आदि सामग्री रूप सम्पत्ति साधारण कारण हैं। इसको निर्बाध स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समग्रता ही मोक्ष का मार्ग (कारण) है। यह निर्बाध रूप से स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार प्रमाण और नय के द्वारा तत्त्वों के अधिगम की सिद्धि है। इसलिए तत्त्व के परीक्षकों को प्रमाण, नयविकल्पों से सिद्ध तत्त्वों को स्वीकार करना चाहिए।

अब आचार्य प्रथम सूत्र का कथन करके आशीर्वादात्मक श्लोक कहते हैं—

नाना (अनेक), अनाना (एक) है धर्म जिसमें (अर्थात् व्यवहार नय से चारित्र अनेक प्रकार का है और निश्चय नय से एक प्रकार का है। सर्व सावद्य योग निवृत्ति रूप चारित्र एक ही है), नय रूपी नेत्र से युक्त है वा अनेक भेद वाले नयों की प्राप्ति से युक्त है, दुर्नय और मिथ्याज्ञान से रहित है, अर्थात् कुज्ञान, कुनय की जिसमें संभावना नहीं है, तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन की शुद्धि से आक्रान्त है शरीर जिसका (सम्यग्दर्शन ही जिसका शरीर है), केवलज्ञान रूप तेज से आरूढ़ है, प्रचुर प्रचण्ड कर्म रूपी शत्रु की सेना को साक्षात् (उत्तरकाल में) नाश करने में समर्थ है, ऐसा आत्मीय शक्ति से देदीप्यमान चारित्रगुण रूपी चक्र बुद्धिमान भव्य जीवों को मुक्ति रूपी साम्राज्य लक्ष्मी प्रदान करे ॥१॥

इसमें आचार्यदेव ने चारित्र को चक्र की उपमा दी है। जैसे चक्र शत्रुओं की सेना का विध्वंस करके चक्रवर्ती को सम्राट् पद प्रदान करता है उसी प्रकार चारित्र रूपी चक्र कर्मशत्रु की सेना का विध्वंस करके भव्य जीवों को मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्रदान करता है।

इस प्रकार विद्यानन्दी आचार्य विरचित तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक नामक महान् ग्रन्थ का प्रथम अध्याय सम्बन्धी प्रथम आह्निक पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट : १

卐 पारिभाषिक लक्षणावली 卐

- **अनवस्था दोष :** एक को सिद्ध करने के लिए दूसरे का, दूसरे को सिद्ध करने के लिए तीसरे का, उसको सिद्ध करने के लिए चौथे का आश्रय लिया जाता है... वहाँ अनवस्था दोष होता है।
- **अनैकान्तिक हेत्वाभास :** जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष (साध्य के अभाव) में भी रहता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। संदिग्ध साध्य वाले धर्मी को पक्ष कहते हैं। साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं और साध्य से विरुद्ध धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जो हेतु इन तीनों में रहता है उसे अनैकान्तिक या व्यभिचारी हेतु कहते हैं।
- **अन्यथानुपपत्ति :** साध्य के बिना साधन के नहीं होने को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं।
- **अन्वय :** जिसके होने पर जो होता है, उसे अन्वय कहते हैं। (साध्य के साथ निश्चय से व्याप्ति रखने वाला साधन जहाँ पर दिखलाया जावे वह अन्वय दृष्टान्त है। जैसे- जहाँ जहाँ धूम वहाँ वहाँ अग्नि-जैसे रसोई घर)
- **अर्थापत्ति :** जिसके बिना जो न हो सके, ऐसे अदृष्ट पदार्थ के जानने को अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे- मोटे पुष्ट देवदत्त को देखकर दिन में खाने की बाधा उपस्थित हो जाने पर रात्रि में भोजन करना अर्थापत्ति से जान लिया जाता है।

प्रमाणवद्वक्तृविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।

अदृष्टं कल्पयेदन्यत् सार्थापत्तिरुदाहृता ॥

- **उपनय :** 'हेतोरुपसंहार उपनयः' हेतु के उपसंहार को उपनय कहते हैं। हेतु का पक्ष धर्मरूप से उपसंहार करना अर्थात् 'उसी प्रकार यह धूमवाला है' इस प्रकार से हेतु का दुहराना उपनय है।
- **उपमान ज्ञान :** 'उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्' प्रसिद्ध पदार्थ की समानता से साध्य के साधन को अर्थात् ज्ञान को उपमान ज्ञान कहते हैं। सदृश पदार्थ के देखने पर सादृश्यज्ञान का स्मरण करते हुए इसके सदृश यह है, ऐसा ज्ञान उपमान ज्ञान है।
- **कालात्ययापदिष्ट :** 'प्रत्यक्षागमबाधितकाला (पक्षा) नन्तरं प्रयुक्तत्वात्कालात्ययापदिष्टः' जो हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पक्ष के अनन्तर प्रयुक्त होता है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहते हैं।
- **खारपटिक शास्त्र :** खारपट मत के शास्त्रों में लिखा है कि स्वर्ग का प्रलोभन देकर जीवित ही धनवान को मार डालना चाहिए, एतदर्थ काशीकरवत, गंगाप्रवाह, सतीदाह आदि कुत्सित क्रियाएँ इनके मत में प्रकृष्ट मानी गयी हैं।
- **खड्गी :** जैनमत में जैसे अन्तकृत् केवली होते हैं, उसी प्रकार बौद्धों के यहाँ तलवार आदि से घात को प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये हैं, उन्हें खड्गी कहते हैं।

- **जातिदोष** : असत् उत्तर को जाति कहते हैं। 'असदुत्तरं जातिः। दोषसम्भवात्प्रयुक्ते स्थापनाहेतौ दूषणाशक्तमुत्तरं जातिमाहुः।' दोष की सम्भावना से जाति नामक दूषणरूप उत्तर होता है।
- **निगमन** : 'प्रतिज्ञाया उपसंहारः साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनमित्यर्थः' प्रतिज्ञा का उपसंहार अर्थात् साध्यधर्म विशिष्टता के साथ (कि धूमवाला होने से यह अग्निवाला है) प्रतिज्ञा का दुहराना निगमन है।
- **पक्ष** : साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। अथवा जहाँ साध्य को सिद्ध करना अभिप्रेत है उस अधिकरण या धर्मी को पक्ष कहते हैं।
- **परम्परा सम्बन्ध** : नैयायिकों ने सम्बन्ध दो प्रकार का माना है- जिसके साथ इन्द्रियों का व्यवधान रहित सम्बन्ध होता है, वह साक्षात् सम्बन्ध है, जैसे घट, पट आदि के जानने में इन्द्रियों का सम्बन्ध। जिसके साथ इन्द्रियों का, व्यवधान डालकर सम्बन्ध होता है, वह परम्परा सम्बन्ध है जैसे चक्षु का सम्बन्ध घट से, फिर घट में रहने वाले रूप से।
- **परस्परश्रयदोष** : अन्योन्याश्रय दोष - आपस में एक-दूसरे को सिद्ध किया जाय तो परस्परश्रय या अन्योन्याश्रय दोष होता है। जैसे श्लोकवार्तिक का प्रामाणिकपना गोम्मटसार से और गोम्मटसार का प्रामाणिकपना श्लोकवार्तिक से माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष होगा।
- **परार्थानुमान** : 'परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्' स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं। अर्थात् स्वयं अनुमान से साध्य का निश्चय कर दूसरों को समझाने के लिए बोले गये वचनों से उत्पन्न ज्ञान परार्थानुमान है। शिष्य का ज्ञान परार्थानुमान है।
- **परीक्षा** : अनेक युक्तियों की सम्भावना में प्रबलता और दुर्बलता का विचार करना परीक्षा है।
- **प्रतिज्ञा** : पक्ष में साध्य का उल्लेख करने को प्रतिज्ञा कहते हैं। अथवा साध्य और पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं।
- **प्रत्यभिज्ञान** : वर्तमान का प्रत्यक्ष और पूर्वदर्शन का स्मरण है कारण जिसमें- ऐसे जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।
- **प्रमाण** : 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' - स्व अर्थात् अपने आपके और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित वस्तुतत्त्व जाना जाय वह प्रमाण कहलाता है।
- **प्रमाणसंप्लव** : एक प्रमेय में विशेष, विशेषांशों को जानने के लिए अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति प्रमाणसंप्लव है। जैसे एक ही अग्नि आगमप्रमाण, अनुमानप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण से जानी जाती है।
- **प्रयोजनवाक्य** : आगम का फल सूचित करने वाले वाक्य को प्रयोजनवाक्य कहते हैं।
- **लक्षण** : परस्पर मिली हुई वस्तुओं के पृथक् करने के हेतु को लक्षण कहते हैं।

- **वार्तिक** : 'श्लोकबद्ध वार्तिक'। मूल ग्रन्थकार से कथित तथा उनके हृदयगत गूढ़ अर्थों की एवं मूल ग्रन्थकर्ता से नहीं कहे गये अतिरिक्त भी अर्थों की अथवा दो बार कहे गये प्रमेय की चिन्तना को वार्तिक कहते हैं। 'उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्।'

‘उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।

तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

- **विपक्ष** : साध्य से विरुद्ध धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं।
- **विप्रतिषेध** : पूरी-पूरी शक्ति वाले अनेक विरुद्ध पदार्थों के विरोध करने को विप्रतिषेध कहते हैं। विप्रतिषेध वाले दो पदार्थ एक जगह नहीं रह सकते हैं। जहाँ घट है वहाँ घटाभाव नहीं और जहाँ घटाभाव है वहाँ घट नहीं। एक की विधि से दूसरे का निषेध उसी समय हो जाता है और दूसरे की विधि से एक का निषेध तत्काल हो जाता है।
- **व्यतिरेक** : साध्य के अभाव में साधन का अभाव होना व्यतिरेक कहलाता है। व्यतिरेक प्रधान दृष्टान्त को व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं होता, यथा जलाशय।
- **व्याप्य-व्यापक** : जो सब में रहे वह व्यापक और अल्प में रहे वह व्याप्य कहलाता है। जैसे वृक्षपना व्यापक है क्योंकि वह आम, नीम, शीशम आदि सभी जाति के वृक्षों में रहता है और शीशमपना व्याप्य है क्योंकि वह केवल शीशम जाति के वृक्षों में ही रहता है। व्यापक को गम्य और व्याप्य को गमक भी कहा जाता है।
- **सपक्ष** : साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं।
- **समर्थन** : हेतु के असिद्धत्व आदि दोषों का परिहार करके अपने साध्य के साधन करने की सामर्थ्य के निरूपण करने में प्रवीण वचन को समर्थन कहते हैं।
- **साक्षात्सम्बन्ध** : जिसके साथ इन्द्रियों का व्यवधान रहित सम्बन्ध होता है, वह साक्षात्सम्बन्ध है।
- **सिद्धसाध्यता** : अनुमान वा किसी ज्ञान के द्वारा सिद्ध हुए को सिद्ध करना सिद्धसाध्यता है।
- **स्वरूपासिद्ध** : जिसकी सत्ता स्वरूप से ही असिद्ध है, उस हेतु को स्वरूपासिद्ध कहते हैं। जैसे शब्द स्वरूप से कर्णेन्द्रियगम्य है, उसे चाक्षुष कहना स्वरूप से ही असिद्ध है।
- **स्वार्थानुमान** : दूसरे के उपदेश बिना स्वतः ही साधन से साध्य का जो अपने लिए ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।
- **हेत्वाभास** : सदोष हेतु हेत्वाभास है। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास के भेद हैं। (१) जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। (२) साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। (३) जो हेतु पक्ष-सपक्ष के समान विपक्ष में भी बिना किसी विरोध के रहता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। (४) साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है।



परिशिष्ट : २

अन्य दर्शन परिचय

卐 न्याय दर्शन 卐

न्यायदर्शन के आदिप्रवर्तक महर्षि गौतम माने जाते हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है- न्यायसूत्र। इस ग्रन्थ में ५ अध्याय हैं, प्रत्येक में दो-दो आह्निक हैं और ५३८ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में उद्देश्य तथा लक्षण और अगले अध्यायों में पूर्वकथन की परीक्षा की गई है।

‘न्याय’ शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है परन्तु दार्शनिक साहित्य में ‘न्याय’ का अर्थ है- नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः। जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके, जिसकी सहायता से किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके, उसी का नाम न्याय है।

न्यायदर्शन को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है-

१. सामान्य ज्ञान की समस्या को हल करना।
२. जगत् की पहेली को सुलझाना।
३. जीवात्मा तथा मुक्ति।
४. परमात्मा और उसका ज्ञान।

उपर्युक्त विषयों की सिद्धि के लिए न्यायदर्शन ने प्रमाण आदि सोलह पदार्थ माने हैं।

न्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ‘प्रमाण’ है।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है-

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति-पापपुण्य, दोष-रागद्वेष, मोह और मिथ्याज्ञान-इनमें से उत्तर-उत्तर के नाश से उससे अनन्तर (पूर्व) का नाश होने से मोक्ष होता है।

शरीर को आत्मा समझना इत्यादि जो मिथ्याज्ञान है, उससे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेष से पुण्यपाप, पुण्यपाप से जन्म और जन्म से दुःख होता है। यह संसारचक्र है। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है तब उससे मिथ्याज्ञान का नाश होता है। मिथ्याज्ञान के नाश से रागद्वेष आदि का नाश होकर दुःख का नाश होता है। दुःख का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है।

न्याय आस्तिक दर्शन है। नैयायिक ईश्वर को सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ, जगन्नियन्ता और कर्मफलप्रदाता मानते हैं। ईश्वर की सिद्धि में न्यायदर्शन की युक्तियाँ इस प्रकार हैं-

१. जितने पदार्थ हैं, वे सब सावयव हैं, अतः उनका कोई चैतन्य कर्ता होना चाहिए।
२. मनुष्यों को उनके कर्मों की फलप्रदाता कोई चैतन्य सत्ता होनी चाहिए।
३. वेद ज्ञान के भण्डार हैं और अपौरुषेय हैं। ईश्वर ही उनका कर्ता है।

न्यायदर्शन आत्मा को नित्य और अनन्त मानता है। पुनर्जन्म और परलोक व कर्मफल में विश्वास करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण स्वीकार करता है।

॥ वैशेषिक दर्शन ॥

इस दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। खेतों से अन्न के कण बीन कर अपने उदर की पूर्ति करने के कारण इनका यह नाम पड़ा था। वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है। इस दर्शन का उद्देश्य है- निःश्रेयस अथवा मोक्ष की प्राप्ति। वैशेषिक का अर्थ है-

विशेषं पदार्थमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्। पृथिव्यादि परम सूक्ष्मभूत तत्त्वों का नाम विशेष है। विशेष नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त होने से इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है। इस दर्शन की मान्यताएँ अधोलिखित हैं-

१. पदार्थ छह हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।
२. द्रव्य नौ हैं - पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।
३. गुण चौबीस हैं - स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पार्थक्य, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, स्नेह, गुरुत्व और द्रवत्व।
४. कर्म पाँच प्रकार के हैं - उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।
५. सामान्य दो प्रकार का है - सत्तासामान्य और द्रव्यत्वादि (विशिष्ट) सामान्य।
६. विशेष - विशेष किसी पदार्थ की उस सत्ता का नाम है, जो उसे अन्य पदार्थों से भिन्न दिखलाता है।

७. समवाय - दो वस्तुओं के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं, जैसे गुलाब में सुगन्ध, मनुष्य में मनुष्यता।

मूल सिद्धान्त :

१. परमाणुवाद - जगत् के मूल उपादान कारण परमाणु हैं। इन्हीं परमाणुओं के संयोग से नाना वस्तुएँ बनी हैं।

२. अनेकात्मवाद - आत्माएँ अनेक हैं और कर्मफलभोग के लिए भिन्न-भिन्न शरीर धारण करती हैं।

३. असत्कार्यवाद - कारण से नवीन कार्य उत्पन्न होता है और कार्य अनित्य है।

४. परमाणुनित्यतावाद - परमाणु नित्य हैं, अवयवरहित होने के कारण उनका नाश नहीं होता।

५. सृष्टिवाद - बिना कारण के कार्य नहीं होता। जगत् कार्य है और उसका कर्त्ता ईश्वर है।

६. मोक्षवाद - आवागमन के चक्र से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना जीव का चरम लक्ष्य है।

इस दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य है, पुनर्जन्म है, जीव को कर्म फल देते हैं, परलोक है। ईश्वर सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ है। वेद प्रामाणिक हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं।

卐 सांख्य दर्शन 卐

सांख्यदर्शन के प्रमुख प्रवक्ता कपिल हैं। इस द्वैतवादी दर्शन का उद्देश्य प्रकृति और पुरुष की विवेचना करके उनके अलग-अलग स्वरूप को दर्शाना है। प्रायः गणनार्थक 'संख्या' से सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है- विवेकज्ञान। संख्या शब्द सम्पूर्वक 'चक्षिडः ख्याञ्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है 'सम्यक् ख्यानम्' अर्थात् सम्यक् विचार। इसी को विवेक कहते हैं। जब मनुष्य विवेक द्वारा यह जान लेता है कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है, तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सांख्यशास्त्र में तत्त्वों के चार प्रकार स्वीकृत हैं- (१) प्रकृति (२) प्रकृति-विकृति, उभयात्मक (३) केवल विकृति और (४) अनुभयात्मक-दोनों से भिन्न।

सांख्य दर्शन के अनुसार तत्त्व पच्चीस हैं- प्रकृति, महत् तत्त्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत और पुरुष। इनमें से प्रकृति कारण ही है, कार्य नहीं। महान्, अहंकार और पंच तन्मात्रायें कार्य और कारण दोनों हैं। शेष सोलह (११ इन्द्रियाँ और ५ महाभूत) केवल कार्य हैं, कारण नहीं। पुरुष न किसी का कारण है और न कार्य।

सांख्य का एक प्रमुख सिद्धान्त है- सत्कार्यवाद अर्थात् जो कुछ इस जगत् में है, वह सदा से है और जो नहीं है, वह कभी नहीं होता। इसके दो रूप हैं परिणामवाद और विवर्तवाद।

सत्त्व, रज और तम - इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और पुरुष का संयोग अन्धे और लंगड़े का संयोग है। दोनों मिलकर रास्ता तय करते हैं। प्रकृति भोग्या और पुरुष भोक्ता है। परस्परापेक्षा रखने वाले इस प्रकृति और पुरुष के द्वारा सृष्टि का क्रम चलता रहता है।

सांख्य के मत में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों से सर्वथा निवृत्त हो जाना ही मुक्ति है। मुक्ति भी दो प्रकार की है- जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। मुक्ति के साधन हैं-

(१) प्रकृति का यथार्थ बोध।

(२) ध्यान - ध्यान तभी सम्भव है, जब मनुष्य रागरहित हो जाए।

(३) निष्काम भाव से अपने आश्रमविहित कर्मों का पालन करना।

(४) अभ्यास और वैराग्य।

यह दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, कर्मफल और परलोक में इसका विश्वास है। ईश्वर नहीं है। इनके अनुसार वेद प्रमाण हैं पर वैदिक यज्ञादि इन्हें अमान्य हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (आप्त वचन)- ये तीन प्रमाण हैं। आत्माएँ अनन्त हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है। प्रकृति के समस्त कार्य पुरुष के लिए होते हैं, पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है।

卐 योग दर्शन 卐

इस दर्शन के प्रवर्तक हैं महर्षि पतञ्जलि। प्रसिद्ध कृति है- योगसूत्र। योग शब्द के अनेक अर्थ हैं। योग शब्द का एक अर्थ जोड़, मिलाना है (युजिर् योगे); योग शब्द 'युज् समाधौ' से भी सिद्ध होता है। योगदर्शन में यह शब्द दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

योगशास्त्र के चार व्यूह हैं। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और औषध— ये चार व्यूह हैं उसी प्रकार योगदर्शन में संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय— ये चार व्यूह माने जाते हैं। दुःखमय संसार हेतु है, प्रकृति का संयोग दुःखमय संसार का हेतु है। प्रकृति के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है और उसका उपाय है— सम्यग्दर्शन।

क्लेशों से मुक्ति पाने और चित्त को समाहित करने के लिए योग के आठ अंगों का अभ्यास करना आवश्यक है।

(१) यम — यम का अर्थ है संयम, ये पाँच हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।
(२) नियम — नियम भी पाँच हैं— १. शौच-अन्तर्बाह्य शुद्धि, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय और ५. ईश्वर प्रणिधान।

(३) आसन — स्थिरता और सुखपूर्वक एक ही स्थिति में बहुत देर तक बैठने का नाम आसन है। ध्यान के लिए सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन, स्वस्तिकासन आदि अनेक साधन हैं।

(४) प्राणायाम — श्वास और प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम प्राणायाम है।

(५) प्रत्याहार — इन्द्रियों को रूप, रस आदि अपने-अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करने का नाम प्रत्याहार है।

(६) धारणा — चित्त को नाभिचक्र, आज्ञाचक्र आदि किसी स्थान में स्थिर कर देना धारणा है।

(७) ध्यान — किसी स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब तेलधारावत् एक प्रवाह में संलग्न होता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान में ध्यान, ध्येय और ध्याता का पृथक्-पृथक् भान होता है।

(८) समाधि — जब ध्यान ही ध्येय के आकार में भासित हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे तो वही समाधि है। समाधि में ध्यान और ध्याता का भान नहीं होता, केवल ध्येय रहता है।

योगदर्शन के अनुयायी क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और उनसे उत्पन्न वासनाओं से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार के पुरुष को ईश्वर कहते हैं। उसका श्रेष्ठ नाम प्रणव = ॐ है। ओम् के अर्थसहित जप से अपने स्वरूप का साक्षात्कार और योग के विघ्नों का नाश होता है। सांख्यदर्शन की भाँति यह भी आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है; पुनर्जन्म, कर्मफल और परलोक में विश्वास करता है। ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता। वेद को प्रामाणिक मानता है। योगदर्शन सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को अंगीकार करके उसमें एक ईश्वर तत्त्व को जोड़कर २६ तत्त्व मानता है इसलिए योग सेश्वर सांख्य कहलाता है। सांख्य और योग दोनों समान विद्या के प्रतिपादक शास्त्र हैं। सांख्य अध्यात्मविद्या का सैद्धान्तिक रूप है, योग उसका व्यावहारिक रूप। दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं।

योगदर्शन भी सांख्य की तरह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण मानता है।

卐 मीमांसा दर्शन 卐

मीमांसा शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं—कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा। यज्ञों की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्ममीमांसा का विषय है। जीव जगत् और ईश्वर के स्वरूप तथा सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानमीमांसा का विषय है। कर्ममीमांसा को पूर्व मीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। परन्तु वर्तमान में कर्ममीमांसा के लिए केवल मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है और ज्ञानमीमांसा को वेदान्त नाम से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसादर्शन के इतिहास में कुमारिलभट्ट का युग स्वर्णयुग कहा जाता है। भट्ट के अनुयायी भाट्ट कहलाते हैं। प्राभाकर मिश्र भी मीमांसादर्शन के दूसरे प्रमुख आचार्य हैं उनके अनुयायी प्राभाकर कहे जाते हैं। इस प्रकार मीमांसा में भाट्ट और प्राभाकर ये दो पृथक् सम्प्रदाय हुए हैं।

प्राभाकर पदार्थों की संख्या ८ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। भाट्टों के अनुसार पदार्थ ५ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। वैशेषिक नौ द्रव्य मानते हैं किन्तु भाट्ट अन्धकार और शब्द मिलाकर ११ द्रव्य मानते हैं। प्राभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं और भाट्ट अनुपलब्धि-अभावसहित छह प्रमाण मानते हैं।

मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है। ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है और न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अतएव वह परोक्ष है। ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता कैसे आती है, इस विषय में विवाद है। न्याय-वैशेषिक दोनों को परतः, सांख्य दोनों को स्वतः तथा मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान पहले प्रमाण ही उत्पन्न होता है, बाद में यदि कारणों में दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय के द्वारा उसकी प्रमाणता हटा दी जाय तो वह अप्रमाण कहलाने लगता है। अतः जब तक कारणदोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय का उदय न हो तब तक सब ज्ञान प्रमाण ही है। इसलिए ज्ञान में प्रमाणता स्वतः ही आती है किन्तु अप्रामाण्य में ऐसी बात नहीं है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि उसमें ज्ञान के कारणों के अतिरिक्त दोषरूपी सामग्री की अपेक्षा होती है।

मीमांसकों के अनुसार कोई पुरुष सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं हो सकता क्योंकि किसी में भी पूर्ण ज्ञान का और वीतरागता का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। इसलिए उन्होंने प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि बतलाकर अभाव प्रमाण के द्वारा उसके अभाव को सिद्ध किया है।

मीमांसक वेद को नित्य, अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण मानते हैं। क्योंकि वक्ता के अभाव में दोष निराश्रय नहीं रह सकते। वेद को अपौरुषेय मानने के कारण मीमांसकों को शब्दमात्र को नित्य मानना पड़ा क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और अपौरुषेय मानना पड़ता जो उन्हें अभीष्ट नहीं है। वेद में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है अतः हमारा कर्तव्य वही है जिसका प्रतिपादन वेद ने किया है।

मीमांसक इस जगत् को न तो अद्वैत वेदान्तियों की भाँति मिथ्या मानता है और न ही बौद्धों की भाँति क्षणिक। वह इस जगत् और इसकी वस्तुओं को सत्ता का यथार्थ रूप मानता है। वह आत्मा की सत्ता

को भी स्थिर और नित्य मानता है। शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता अपितु अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता रहता है। जितने व्यक्ति हैं, उतनी ही आत्माएँ हैं। वे ही बन्धन में आती हैं और उन्हीं का मोक्ष होता है।

मुक्तिप्राप्ति के दो साधन हैं- १. निष्काम कर्म और २. आत्मिक ज्ञान। इन दोनों साधनों के पूर्ण हो जाने पर सब पूर्वकर्म क्षीण हो जाते हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है। मुक्ति दुःखों से अत्यन्ताभाव का नाम है, किसी सत्तात्मक अवस्था का नाम नहीं।

॥ वेदान्त दर्शन ॥

‘वेदान्त’ शब्द का अर्थ है- वेदस्य अन्तः, अन्तिमो भाग इति वेदान्तः। वेद के अन्तिम भाग (उपनिषदों) का नाम वेदान्त है। उपनिषद् ही वेद के अन्तिम सिद्धान्त को खोलते हैं। उपनिषदों के ज्ञान को व्यवस्था में लाने के लिए ही इस दर्शन का निर्माण हुआ है। ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र) के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास हैं। शंकर, रामानुज और मध्व ये ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। मीमांसकों की भाँति वेदान्ती भी छह प्रमाण मानते हैं।

वेदान्त में ब्रह्म, जीव और प्रकृति इन तीन का वर्णन है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। जीव और प्रकृति ये दोनों ब्रह्म के आधीन हैं। जीव नित्य है, न जन्मता है और न मरता है। जीवात्मा अणु है, क्योंकि शरीर से निकलना, परलोक में जाना और इस लोक में आना अणु में ही सम्भव है, विभु में नहीं। जीवात्मा कर्ता है। जीव निष्क्रिय नहीं क्रियाशील है। यह विज्ञानात्मा पुरुष देखने वाला, सुनने वाला, समझने वाला और करने वाला है। इस संसार में जो नानात्मकता दृष्टिगोचर होती है, वह सब मायिक (अविद्याजनित) है। एक ही तत्त्व की सत्ता स्वीकार करने के कारण यह दर्शन अद्वैतवादी है।

वेदान्तियों ने मुख्य रूप से ‘यह सब ब्रह्म है, इस जगत् में नाना कुछ भी नहीं है, सब उसी की पर्यायों को देखते हैं, उसको कोई भी नहीं देखता’ ऐसी श्रुति (वेद) के आधार पर ब्रह्म की सिद्धि की है। तथा इसके समर्थन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की दुहाई भी दी है।

॥ चार्वाक दर्शन ॥

इस दर्शन का प्राचीन नाम लोकायत है। सामान्यजन की तरह प्रवृत्ति करने के कारण यह नाम पड़ा। जनता को प्रिय लगने वाली सुन्दर बातों के कहने के कारण अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्चण कर जाने के कारण इनका नाम चार्वाक हुआ। बृहस्पति को इस दर्शन का संस्थापक माना जाता है। अतः यह बार्हस्पत्य दर्शन भी कहा जाता है।

चार्वाकों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

(जब तक जिओ सुख से जिओ, ऋण लेकर घी पिओ। ऋण चुकाने की चिन्ता भी मत करो क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः आगमन (जन्म) नहीं होता है।)

चार्वाकों की मान्यता है कि- (१) पृथिवी, अप, तेज और वायु इन चार भूतों का संघात ही आत्मा है। इन चार भूतों के विशिष्ट संयोग से शरीर की उत्पत्ति के साथ चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। अतः चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर शरीर का ही धर्म है। इस प्रकार चार्वाक 'देहात्मवाद' सिद्धान्त के प्रवर्तक है। (२) मरण ही मुक्ति है, परलोक नहीं है। धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि कुछ भी नहीं है, न पुण्य-पाप के फल स्वर्ग, नरक आदि हैं। जीवन का ध्येय मात्र इसी भौतिक जीवन का सुख है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, अनुमान आदि को नहीं, अर्थात् आँखों से जो कुछ दिखाई देता है, वही सत्य है, अन्य कुछ नहीं। न कोई तीर्थंकर प्रमाण है, न कोई आगम है, न वेद है।

भारतीय दर्शनों में मीमांसक और चार्वाक- ये दो दर्शन सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नहीं करते।

卐 बौद्ध दर्शन 卐

बुद्ध ने विशेष रूप से धर्म का ही उपदेश दिया, दर्शन का नहीं। फिर भी बुद्ध के बाद बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्ध के वचनों के आधार से दार्शनिक तत्त्वों को खोज निकाला।

बुद्ध के तीन मौलिक सिद्धान्त हैं- १. सर्वमनित्यम्- सब कुछ अनित्य है। २. सर्वमनात्मम्- सब पदार्थ आत्मा (स्वभाव) से रहित हैं। ३. निर्वाणं शान्तम्- निर्वाण ही शान्त है।

अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, अन्यापोह आदि इस दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं। बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद - हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से पदार्थों की उत्पत्ति; इसी को सापेक्षकारणतावाद भी कहते हैं : हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। माध्यमिककारिकावृत्ति पृ.७

बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं जिनके अपने-अपने विशिष्ट दार्शनिक मत हैं- (१) वैभाषिक- बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद। (२) सौत्रान्तिक - बाह्यार्थानुमेयवाद (३) योगाचार - विज्ञानवाद और (४) माध्यमिक - शून्यवाद।

वैभाषिक मत - अन्तरंग (आत्मा) और बाह्य पदार्थ (द्रव्य, जड़ पदार्थ) दोनों को प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य तथा वास्तविक मानता है। बाह्य जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य मानने के कारण इन्हें बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी भी कहा जाता है। ये भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों कालों को वास्तविक सत्ता स्वरूप मानते हैं। तत्त्वों की अनेकता (७५ तत्त्व) तथा नैरात्म्य में विश्वास करते हैं। निर्वाण को सत् मानते हुए भी उसे अभावात्मक ही मानते हैं। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दोनों मानते हैं कि सब पदार्थ अन्त में विभक्त होकर अणुओं के रूप में आ जाते हैं।

सौत्रान्तिक भी बाह्य और अभ्यन्तर दोनों पदार्थों को मानते हैं। परन्तु इतनी विशेषता है कि वैभाषिक बौद्ध बाह्य पदार्थ को प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य मानते हैं जबकि सौत्रान्तिक बौद्ध बाह्य पदार्थों को मात्र अनुमानगम्य मानते हैं। ज्ञान के विषय में ये स्वप्रकाशवादी हैं। ज्ञान अपना संवेदन आप ही करता है इसी का नाम स्वसंविधि है। वैभाषिक तीनों कालों को मानते हैं पर सौत्रान्तिक मात्र वर्तमान की सत्ता ही मानते हैं। निर्वाण को

अभावरूप मानते हैं। इस मत के अनुसार सभी प्राणियों के रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार ये पाँच स्कन्ध होते हैं, किन्तु आत्मा नहीं। ये स्कन्ध ही परलोक जाते हैं। शब्द का वाच्य विधिरूप न होकर अन्यापोहात्मक है। ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर तथा पदार्थ के आकार को धारण करके अर्थ का ज्ञान करता है। संसार अनादि है तथा प्राणियों की सृष्टि ईश्वर, आत्मा या प्रकृति के द्वारा नहीं होती है।

योगाधार - इस मत का अपर नाम विज्ञानवाद भी है। यह मत अभ्यन्तर पदार्थ (विज्ञान तत्त्व) को ही मानता है, बाह्य पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। चेतना को ही सत्य मानने के कारण इन्हें विज्ञानाद्वैतवादी भी कहते हैं। इस मत के अनुसार दृश्य जगत् मिथ्या है। बाह्य वस्तुएँ असत् हैं। वस्तु तो विज्ञान मात्र है। विचार ही समस्त ज्ञान का आदि एवं अन्त है। विचार को हटा दो तो सब कुछ (बाह्य जगत्) नष्ट होकर रह जाएगा।

माध्यमिक - इस मत का अपर नाम शून्यवाद अथवा सर्वनाशिक भी है। यह जगत् शून्य है। न तो जगत् में बहिरंग पदार्थ (दृश्य जड़ पदार्थ) हैं, न ही अन्तरंग पदार्थ (आत्मा)। सर्वथा शून्यमात्र ही तत्त्व है। ऐसी मान्यता के कारण ही यह मत शून्यवाद कहलाता है। बुद्ध के मध्यम मार्ग के अनुयायी होने के कारण इन्हें माध्यमिक कहा जाता है। बुद्ध ने नैतिक जीवन में दो अन्तों को - अखण्ड तापस जीवन तथा सौम्य भोग-विलास को छोड़कर बीच के (मध्यम) मार्ग का अवलम्बन लिया, इस मध्यम मार्ग के अनुयायी माध्यमिक कहलाए। माध्यमिकों का कहना है कि वस्तुओं का वास्तविक रूप सत्ताविहीन है। इसी कारण आत्मा भी मिथ्या है- असत् है। यह जगत् मायामय है। यह विश्व व्यावहारिक रूप से ही सत्य है, पारमार्थिक रूप से नहीं। इस तरह समग्र जगत्-स्वभाव शून्य है। कारण-कार्य की कल्पना सापेक्ष है अतः असत्य है। जगत् सर्वथा अनुत्पन्न तथा अविनष्ट है। परिणाम नामक कोई वस्तु नहीं होती। उष्णता को अग्नि का स्वभाव कहना मिथ्या है। तीनों काल मिथ्या हैं। काल की समग्र कल्पना अविश्वसनीय है। न कर्म है, न कर्मफल है।

इस शून्यवाद का खण्डन आचार्य विद्यानन्द ने अनेक तर्कों के माध्यम से किया है।

बौद्ध पुनर्जन्म को मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने नया जन्म धारण किया है वह यद्यपि मृत मनुष्य के कर्म का उत्तराधिकारी है तथापि है वह एक नया प्राणी। बुद्ध परलोक की सत्ता तथा पुण्यपाप को कर्मों का फल मानते थे। बुद्ध यह नहीं मानते कि इस जगत् का रचयिता ईश्वर है। यह लोक अनादि अनन्त तथा अनिर्मित है, ईश्वर नहीं है, न ही सृष्टि का कोई कर्त्ता है, यही बुद्ध का अनीश्वरवाद है। बुद्ध विश्व के आदि कारण एक स्रष्टा एवं कर्म के उभर नियंत्रण करने वाले ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं।

बौद्धों ने अविश्ववादी तथा अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है और कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। वस्तु में नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की योजना करना कल्पना है। प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित अर्थात् निर्विकल्पक होता है। प्रत्यक्ष के चार भेद हैं- इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष।

स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रियज्ञान उपादान कारण होता है और इन्द्रियज्ञान का अनन्तर विषय सहकारी कारण होता है। सब चित्त और चैत्यों का जो आत्मसंवेदन होता है वह स्वसंवेदन है। सामान्यज्ञान को चित्त और विशेषज्ञान को चैत कहते हैं। दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य भूतार्थ हैं। उनकी भावना (चिन्तन) करते-करते एक समय ऐसा आता है जब भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और तब भाव्यमान अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है। यही योगिप्रत्यक्ष है। यह चारों प्रकार का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है।

बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं। अनुमान पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति वाले हेतु से उत्पन्न होता है। हेतु तीन हैं— स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि और ये तीनों ही हेतु तीन रूप वाले हैं। उन्होंने हेतु का लक्षण त्रैरूप्य माना है। बौद्धों के यहाँ हेतु और दृष्टान्त ये दो ही अनुमान के अवयव हैं। वे पक्ष आदि के प्रयोग को अनावश्यक मानते हैं किन्तु हेतु के समर्थन को आवश्यक मानते हैं। स्वार्थ तथा परार्थ-अनुमान के दो भेद हैं। त्रिरूप लिंग को देखकर स्वयं लिंगी अर्थात् साध्य का ज्ञान करना स्वार्थानुमान है। जब पर को साध्य का ज्ञान कराने के लिए त्रिरूप हेतु का कथन किया जाता है तब उस हेतु से पर को होने वाला साध्य का ज्ञान परार्थ अनुमान कहलाता है।



परिशिष्ट-३

✽ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारान्तर्गत उद्धरणसूची ✽

क्र. सं.	पृष्ठ सं.	उद्धरण	स्रोत
१.	५	अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः । प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ॥ इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः । न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥	()
२.	११	सिद्धं चेद्वेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः । सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥	— देवागमस्तोत्र : समन्तभद्राचार्य
३.	१२	वक्तव्यनाम्ने यद्वेतोः साध्यं तद्वेतुसाधितं । आम्ने वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितं ॥	— देवागमस्तोत्र : समन्तभद्राचार्य
४.	१२	जो हेदुवादपरकम्पि हेदुओ आगमम्पि आगमओ । सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविरोहओ अण्णोत्ति ॥	— सन्मत्तिसूत्र ३/४५, सिद्धसेन
५.	१५	वाच्यो हेतुरेव हि केवलः	— बौद्ध
६.	१६, २५०	अथातो धर्मजिज्ञासा	— मीमांसादर्शन १/१
७.	३४	जैमिन्यादि सूत्र	()
८.	५०	प्रसिद्धो धर्मीति	— न्यायप्रवेश पृष्ठ १
९.	६१	धर्मे चोदनैव प्रमाणं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम् इति कश्चित्	()
१०.	६५	यज्ञेन यज्ञमय.....प्रथमान्यासन्निति शवराः	()
११.	९०	स्वरूपेऽवस्थानम्	— योगसूत्र १/३
१२.	९५	सर्वेषु समवायिष्वेक एव समवायस्तत्त्वं भवेन व्याख्यातम्-इति वचनात्	()
१३.	१०८	बुद्धो भवेयं जगते हितायेति	— अद्वयवज्रसं. पृष्ठ ५
१४.	११९	चिन्तारत्नोपमानो जगति विजयते विश्वरूपोऽप्यरूपः इति केचित्	()
१५.	१५७	नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा । क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥	— देवागमस्तोत्र : समन्तभद्राचार्य

१६. २५० दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ
इति केचित्। - सांख्यकारिका १
१७. २९० भूवादिदृग्भ्यो णित्र ()
१८. २९० चरेर्वृत्ते ()
१९. २९० यूङ्ख्या बहुलं ()
२०. २९३ गाथा २९-लगभग आप्तमीमांसा की ३५वीं कारिका ही है।
२१. ३०९ गद्य में अभिव्यक्त भाव आचार्य समन्तभद्र की इस कारिका के भाव ही हैं-
अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोर्पितान्नयात्॥
२२. ३१० दुःखजन्मप्रवृत्ति-दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
- न्यायसूत्र १/१/२
२३. ३१४ दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा बन्धकारणम्।
जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति॥ - यौगमत
२४. ३४८ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः। - तत्त्वार्थसूत्र अ. ८ सू. १।
२५. ३६४ सम्बन्धादिति हेतुः स्यात् इति सूक्तं। ()
२६. ३६६ अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः।
स भावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न सम्भवः॥ ()
२७. ३६९ यत्किञ्चिदात्माभिमतं विधाय, निरुत्तरस्तत्र कृतः परेण।
वस्तुस्वभावैरिति वाच्यमित्थं, तदुत्तरं स्याद् विजयी समस्तः॥१॥
प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थ, यदि पर्यनुयुज्यते।
स्वभावैरुत्तरं वाच्यं, दृष्टे कानुपपन्नता॥२॥ ()
२८. ३८६ सिद्धिः अनेकान्तात् - जैनेन्द्र व्याकरण
२९. ३८६ अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः - बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्राचार्य
३०. ३८६ ततः सूक्तं-शून्योपप्लववादेऽपि नानेकान्ताद्
बिना स्थितिः इति ()
३१. ३८८ 'स्वप्नवत् सांवृतेन रूपेण.....वाच्य' इति ब्रुवाणो - संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध



परिशिष्ट-४

※ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत श्लोकसूची ※

※ प्रथम खंड ※

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
(अ)		(क)	
अतोऽनुमानतोऽप्यस्ति	२७२	कर्तृस्थस्यैव संवितेः	१५४
अनाश्रयः कथं चायं	१७	कर्तृरूपतया वितेः	२०७
अनेकान्ते हि विज्ञानं	७५	कथञ्चाव्यभिचारेण	१८४
अनेकान्ते ह्यपोद्धार-	१७६	कथञ्चात्मा स्वसंवेद्यः	२२५
अन्वयव्यतिरेकाद्यो	३६५	कथञ्चिदुपयोगात्मा	२२५
असत्यात्मकतासत्त्वे	३५९	कथञ्चिन्नश्वरत्वस्या-	२३६
अहं सुखीति संवित्तौ	१५३	कल्मषप्रक्षयश्चास्य	७९
(आ)		करणत्वं न बाध्येत	२८०
आविर्भावतिरोभावा-	८८	कषायादकषायेण	३५४
आसन् सन्ति भविष्यन्ति	७६	कादाचित्कः परापेक्षा-	२३५
आत्मा चार्थग्रहाकार-	२८९	कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं	७१
आद्यसूत्रस्य सामर्थ्यात्	३३६	कार्यकारणभावस्य	१८६
(इ)		कायाद्बहिरभिव्यक्ते	२२९
इत्ययुक्तमनैकान्ताद्	१०९	कार्यापाये न वस्तुत्वं	३८७
(उ)		कायश्चेत्कारणं यस्य	१४४
उपादेयं हि चारित्रं	३२०	कालपर्युषितत्वं चेत्	१४५
(ए)		कालानन्तर्यमात्राच्चेत्	१८५
एकसन्तानगाक्षित-	१६१	कालादिलब्ध्युपेतस्य	२४७
एकद्रव्यस्वभावत्वात्	१८५	कालादेरपि तद्धेतु-	३०४
एकसन्तानवर्तित्वात्	१८६	कालाभेदादभिन्नत्वं-	३१६
एतेनैवेश्वरः श्रेयः	९३	कालापेक्षितया वृत्तं	३३४
एतेन देहचैतन्य-	१४६	कारणं यदि सददृष्टिः	३२६
एतेन ज्ञानवैराग्यान्	३१४	कारणद्वयसामर्थ्यात्	३९१
एतेषामप्यनेकान्ता-	३५६	किञ्चिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे	७६
एवं साधीयसी साधोः	२७२	किं चाहंप्रत्ययस्यास्य	२०२
(ओ, औ)		किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य	३७९
ओमिति ब्रुवतः सिद्धम्	३८२	किमेवमीश्वरस्यापि	११९
औदासीन्यादयो धर्माः	२२७	कुंभादिभिरनेकान्तो	१३६

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
कुम्भादयो हि पर्यन्ता	१५६	ततश्च चिदुपादानात्	१४६
क्रमतोऽनन्तपर्याया	१६७	ततो भेदे नरस्यास्य	२१०
क काष्ठान्तर्गतादग्नेः	१३८	ततोऽर्थग्रहणाकारा-	२८७
केवलापेक्षिणी ते हि	३०८	ततो नान्योस्ति मोक्षस्य	३०८
(ख)		तत एव न चारित्रं	३१५
खड्गिनोऽप्युपकार्यस्य	१०९	ततो मोहक्षयोपेतः	३३५
खादयोऽपि हि किं नैव	१९६	ततो मिथ्याग्रहावृत्त-	३४०
(ग)		ततो न निश्चिन्तान्मानात्	३९३
गुणासम्बन्धरूपेण	३५७	तथानेकान्तवादस्य	१०३
ग्राह्यग्राहकतैतेन	३८६	तथागतोपकार्यस्य	१०९
ग्राह्यग्राहकशून्यत्वं	३८७	तथा सति न दृष्टस्य	१४६
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं	७१	तथैवानागतातीत-	१६५
(च)		तथा चैकस्य नानात्वं	२०४
चरमत्वविशेषस्तु	११०	तथैवोभयरूपत्वे	२१७
चारित्र्योत्पत्तिकाले च	३२२	तथा च बाह्यदेशेऽपि	२२९
चित्तान्तरसमारम्भि	१०९	तथा सति न सा शक्ति	२८४
चित्राद्यद्वैतवादे च	१२१	तथा चारित्रशद्वोऽपि	२९०
चित्राद्वैताश्रयाच्चित्रं	१७४	तथा च सूत्रकारस्य	३१५
चैतन्ययोगतस्तस्य	१८८	तथा हेत्वन्तरोन्मुक्तः	३२५
(ज)		तथा केवलबोधस्य	३२९
जगद्धितैषितासक्तेः	१०८	तथा सति कुतो ज्ञानी	३३८
जाग्रतः सति चैतन्ये	२३३	तथा विपर्ययज्ञाना-	१०४
जायते तद्विधं ज्ञानं	७९	तथा च सति सिद्धान्तं	३४९
जीवो ह्यचेतनः काये	२२८	तथा सति न बंधादि-	३७२
जीवत्कायेऽपि तत्सिद्धे	१५०	तथा वेद्यादिविभ्रंती	३७५
जीवत्कायगुणोऽप्येष	१५१	तथोत्पादव्ययध्रौव्य-	३२४
(त)		तदसत्तत्प्रतिद्वन्दि-	३२६
ततोऽसिद्धं परस्यात्र	६८	तदा दुःखफलं कर्म	८२
ततो निःशेषतत्त्वार्थ-	८३	तदा सोऽपि कुतो ज्ञानात्	८८
ततः स्याद्वादिनां सिद्धं	८८	तदा देहेन्द्रियादीनि	१४५
ततोऽर्थस्यैव पर्यायः	१०१	तदा भ्रान्तेतराकारं	१७५
ततोऽनाश्वास एवैतत्	१२०	तदाप्यर्थान्तरत्वेस्य	२८३
ततः प्रमाणान्वितमोक्षमार्ग-	१२४	तदेवाबाधितज्ञानं	२८७

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
तदेतदनुकूलं नः	३५३	तस्यार्थग्रहणे शक्ति-	२८२
तदेवेदमिति ज्ञानात्	१६२	तस्योदासीनरूपत्व-	२८९
तद्वद्वृत्तिर्गुणादीनां	२८५	तत्परिध्वंसनेनातः	२३८
तद्वा नेव यथोक्तात्मा	२५४	तत्सम्यग्दर्शनादीनि	३०४
तद्वासना च तत्पूर्व-	१७९	तत्त्वश्रद्धानलाभे हि	३१९
तद्विरोधि विरागादि	८२	तत्स्वसंवेदनं तावत्	३८०
तद्विलोपे न वै किञ्चित्	१२८	तत्रोपादेय सम्भूतेः	३२०
तद्विजातिः कथं नाम	१४०	तेनायोगिजिनस्यान्त्य-	३०९
तद्विशिष्टविवर्तस्या-	१४५	तेषां फलोपभोगेन	३१०
तद्विपक्षस्य निर्वाण-	३४७	तेषां प्रसिद्ध एवायं	३४०
तदीश्वरस्य विज्ञान-	१०३	तेषां प्रक्षयहेतू च	८१
तत्र मिथ्यादृशो बंधः	३५४	तेषां सवासनं नष्टं	११५
तत्र हेतावसत्येव	३६६	तेषां पूर्वस्य लाभेऽपि	३१९
तत्र नास्त्येव सर्वज्ञो	५४	तेषामप्यात्मनो लोपे	१७९
तत्र भेदविवक्षायां	२८०	तेषामशेषनृशाने	७२
तत्रेष्टं यस्य निर्णीतं	३७९	तेषामप्यात्मकर्तृत्व-	२१०
तज्ज्ञापकोपलम्भस्या-	७१	तेषामध्यक्षतो बाधा	२२६
तज्ज्ञापकोपलम्भोपि	७२	तेपि नूनमनात्मज्ञा	१९७
तपो ह्यनागताघौघ-	८१	(द)	
तद्भावभावितामात्रात्	११९	देहस्य च गुणत्वेन	१४८
तद्गुणत्वे हि बोधस्य	१४९	देशाभेदादभेदश्चेत्	३१६
तद्गृहीतिः स्वतो नास्ति	१९५	द्रव्यार्थस्य प्रधानत्व-	३१५
तद्रूपावरणं कर्म	३२९	द्रव्यतोऽनादिपर्यन्तः	१५६
तच्च प्रबाधतेऽवश्यं	१७५	दृढमोहोहविगमज्ञाना-	३१७
तत्र प्रायः परिक्षीण-	२५९	(न)	
तस्य दर्शनशुद्ध्यादि-	८३	न कुंभकारचक्रादि-	२७१
तस्य पुंसः स्वरूपत्वे	८८	न हेतोः सर्वथैकांतैः	६७
तस्यादृश्यस्य तद्धेतु-	१२०	न वाशेषनरञ्जानं	७२
तस्माद्द्रव्यान्तरापोढ	१४२	नन्वेवं सर्वथैकान्तः	७४
तस्मादबाधिता संवित्	१७८	न चांत्यचित्तनिष्पत्तौ	१०९
तस्मात्स्वावृत्तिविश्लेष	१८७	न निरोधो न चोत्पत्तिः	१२३
तस्यापि च परोक्षत्वे	२२२	न ब्रह्मवादिनां सिद्धा	१२३
तस्य जात्यन्तरत्वेन	१७४	न विग्रहगुणो बोधः	१४८

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
नन्वहंप्रत्ययोत्पत्तिः	१९६	नैकान्ताकृत्रिमान्नाय-	३४
नरान्तरप्रमेयत्व-	२०५	नोपादानाद्विना शब्द-	१३८
ननु निर्वाणजिज्ञासा	२५९	(प)	
नन्वेवमात्मनो ज्ञान-	२८१	परोपगमतः सिद्धः स	७३
ननु रत्नत्रयस्यैव	३०६	परोपगतसंवित्ति	१७७
न च तेन विरुध्येत	३०९	परापेक्षः प्रसिद्धोऽत्र	२३५
न चात्र सर्वथैकत्वं	३१४	परिच्छेदकशक्त्या हि	२०६
नन्वेवमुत्तरस्यापि	३२०	परोक्षात् करणज्ञानात्	२१७
ननूपादेयसम्भूतिः	३२१	परोक्षमपि निर्वाण-	२६४
नन्वत्र क्षायिकी दृष्टिः	३२३	पीताकारादिसंवित्तिः	१६९
नन्वेवं पञ्चधा बन्ध-	३५२	पुंसो विवर्तमानस्य	२८०
न चात्मनो गुणोभिन्न-	३५७	पूर्वकालविवक्षातो	११५
न युक्तं नश्वरोत्पित्सु	३५८	पूर्वं दर्शनशब्दस्य	२९७
न च स्वतः स्थितिस्तस्य	३७४	पूर्वावधारणं तेन	३०४
न नित्यं नाप्यनित्यत्वं	३७८	पूर्वावधारणेऽप्यत्र	३०५
नन्वनादिरविद्येयं	३७८	पूर्वोत्तरक्षणोपाधि	३२४
नानाधर्माश्रयत्वस्य	३५९	प्रणिधानविशेषोत्थ-	२७३
नानुमानादलिङ्गत्वात्	७१	प्रत्येकं सम्यगित्येतत्	३०३
नापि पश्चादवस्थाना-	८५	प्रमाणात्रिंशतितादेव	३८०
नार्थस्य दर्शने सिद्ध्येत्	१३०	प्रमाणासंभवाद्यत्र	३९३
नापि ते कारका वित्तेः	१३८	प्रमाणमागमः सूत्रं	३८
नानाकारस्य नैकस्मिन्	१७८	प्रमाणान्तरतोऽप्येषां	७२
नाप्यसत्यां बुभुत्सायां	३६	प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे	२०
निःशेषकर्मनिर्मोक्षः	२७७	प्रतीतेऽनंतधर्मात्म-	७४
निरंशस्य च तत्त्वस्य	२९६	प्रधानाश्रयि विज्ञानं	९४
नित्यत्वैकान्तपक्षे हि	३५६	प्रतीतिः शरणं तत्र	१९३
नित्यं सर्वगतं ब्रह्मं	३७६	प्रमितेः समवायित्व-	२०४
नित्यादिरूपसंवित्तेः	३७७	प्रमाणसहकारी हि	२०४
निश्शेषकल्पनातीतं	१७६	प्रत्यक्षत्वं ततोऽंशेन	२११
नीलवासनया नील	१७९	प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे	२१८
नृणामप्यघसम्बन्धो	८२	प्रवादिकल्पनाभेदा	२६०
नैवातः कल्पनामात्र	२९३	प्राच्यं हि वेदनं तावत्	१३०
नैवं सर्वस्य सर्वज्ञ-	७६	प्राणादयो निवर्तन्ते	२३४

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
प्रागेव क्षायिकं पूर्णं	३२७	यथा भेदस्य संवित्तिः	१६२
प्राच्यसिद्धक्षणोत्पादा-	३३४	यथा तथैव संज्ञानं	१६३
(ब)		यथा चैतन्यसंसिद्धिः	२३३
बन्धप्रत्ययपाञ्चध्य-	३४८	यथैव वर्तमानार्थ-	१६५
बाध्यबाधकभावोपि	३८७	यथैकवेदनाकारा-	१६८
बाध्यमानः पुनः स्वप्नो	३९१	यदा च कचिदेकत्र	७२
बाध्या केनानवस्था स्यात्	२०५	यद्यज्ञानस्वभावः स्यात्	९२
बृहस्पतिमतस्थित्या	१५८	यद्यनेकोऽपि विज्ञाना-	१६८
(भ)		यदि हेतुफलज्ञाना-	२१७
भवहेतुप्रहाणाय	२७६	यथैवापूर्णचारित्र-	३२७
भविष्यत्कालकूटादि	८१	यद्विनश्यति तद्रूपं	३५८
भावस्य वासतो नास्ति	२९१	यथैवारामविभ्रान्तौ	३७५
भावाः सन्ति विशेषाच्चेत्	१८५	यस्यापीष्टं न निर्णीतं	३८०
भ्रान्तेयं चित्रता ज्ञाने	१७५	यदेवार्थक्रियाकारि	३८८
भिन्नप्रमाणवेद्यत्वात्	१३३	युतसिद्धिर्हि भावानां	२८५
भिन्नकालतया वित्तिः	१६८	येन नैकं भवेत्तत्त्वं	१४०
भिन्नस्य करणज्ञानात्	२१६	येऽपि सर्वात्मना मुक्तेः	२६३
भूतानि कतिचित्किञ्चित्	१४५	(१)	
भेदाभेदात्मकत्वे तु	२११	रत्नत्रितयरूपेणा-	३३५
भोक्तुः फलोपभोगो हि	३११	(ल)	
(म)		लौकिको देशभेदश्चेत्	२८६
मयि ज्ञानमितीहेदं	१८९	(व)	
मा भूतच्छांतनिर्वाणं	११२	व्यञ्जका न हि ते तावत्	१३५
मिथ्यार्थाभिनिवेशेन	९०	व्यतीतेऽपीन्द्रियेऽर्थे च	१४४
मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिः	३१३	व्यभिचारविनिर्मुक्त-	१८१
मिथ्याश्रद्धानविज्ञान	३१७	व्यवहारनयाश्रित्या-	३३५
मिथ्यादृगादिहेतुः स्यात्	३४१	वस्तुन्यपि न संतोषो	३९०
मोहो ज्ञानदृगावृत्य-	८१	वर्तमानार्थविज्ञानं	१६३
मौलो हेतुर्भवस्येष्टो	३३६	वाच्यवाचकतापायो	३८८
(य)		वायुविश्लेषतस्तस्य	१४४
यथाहमनुमानादेः	७७	विज्ञानात्सोपि यद्यन्यः	८७
यथा मम न तज्ज्ञप्तेः	७७	विज्ञानसमवायाच्चेत्	९३
यथा चानादिपर्यन्त-	१५६	वितथाग्रहरागादि	३३९

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
विशिष्टः समवायोऽयं	९५	समस्ताः कल्पना हीमा	१७६
विशेषणत्वे चैतस्य	९९	सन्तानैकत्वसंसिद्धिः	१८०
विशिष्टभावनोद्भूत-	११२	स च बुद्धेतरज्ञान-	१८१
विभिन्नलक्षणत्वाच्च	१३१	सन्तानवासनाभेद-	१८७
विभूनां च समस्तानां	२८६	सदात्मानवबोधादि-	२२८
विभ्रान्त्या भेदमापन्नो	३७६	सर्वस्य सर्वदा पुंसः	२३६
विवक्षा च प्रधानत्वात्	२९१	सम्बन्धान्तरतः सा चेत्	२८३
विवक्षा चाविवक्षा च	२९३	सर्वथैव सतोनेन	२९२
विवादगोचरो वेद्या-	३७६	सहकारिविशेषस्या-	३०७
विशिष्टज्ञानतः पूर्व-	३०२	स तु शक्तिविशेषः स्यात्	३०७
विशिष्टोपक्रमादेव	३१२	सम्यग्ज्ञानं विशिष्टं चेत्	३१३
विशेषतः पुनस्तस्या-	३४९	सामानाधिकरण्यस्य	३१६
(श)		सत्यं कथंचिदिष्टत्वात्	३२१
शरीरादय एवास्य	१४४	सद्बोधपूर्वकत्वेऽपि	३२७
शरीराद्बहिरप्येष	२२९	समुच्छिन्नक्रियस्यातो	३२७
शक्तिः कार्ये हि भावानां	२८२	सम्यग्बोधस्य सददृष्टा	३५४
शक्तित्रयात्मकादेव	३१३	सामग्रीजनिका नैकं	१४४
शारीरमानसासात-	२६९	सामग्री यावती यस्य	३५५
शून्योपप्लववादेपि	३८२	सान्निध्यमात्रतस्तस्य	११८
शून्यतायां हि शून्यत्वे	३८२	साधारणगुणत्वे तु	१५२
श्रीवर्धमानमाध्याय	१	साध्यसाधनवैकल्यं	१६०
(स)		सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं	१६१
सत्यां तत्प्रतिपित्सायाम्	२०	सत्यमद्वयमेवेदं	३७४
सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं	७०	समस्तं तद्वचोन्यस्य	३७८
सर्वसम्बन्धिसर्वज्ञ-	७०	सर्वस्य तत्त्वनिर्णीतेः	३७८
सर्वप्रमातृसम्बन्धि-	७१	सिद्धांते क्षायिकत्वेन	३२४
समवायो हि सर्वत्र	९५	सिद्धं परमतं तस्य	११३
सन्तानस्याप्यवस्तुत्वात्	११४	सिद्धोऽप्यात्मोपयोगात्मा	१८८
सर्वथानुपकारित्वात्	११९	स्थितस्य च चिरं स्वायु-	८३
सत्त्वादिना समानत्वात्	१४०	सुखबुद्ध्यादयो धर्माः	२३५
सर्वथा पंचमं भूत-	१४३	सुगतोऽपि न मार्गस्य	१०४
सर्वथैकान्तरूपेण	१५७	सुषुप्तस्यापि विज्ञानः	२३२
सह नीलादिविज्ञानं	१६९	सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि	५५

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
सूक्ष्माद्यर्थोपि वाध्यक्षः	६७	स्वाध्यायादि स्वभावेन	८२
सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेत्	१४०	स्वार्थाकारपरिच्छेदो	२७४
सूक्ष्मो भूतविशेषश्च	१४३	स्वाभिप्रेतप्रदेशात्	२७८
सूक्ष्मत्वान्न कचिद्वाह्य-	१५०	स्वाभिप्रेतार्थसम्प्राप्ति-	११३
संयोगो द्रव्यरूपायाः	२८३	(ह)	
संयोगो युतसिद्धानां	२८४	हेतोर्नरत्वकायादि	७७
संसारकारणत्रित्वा-	३३६	हेतोरात्मोपभोगेना-	२३५
संसारे तिष्ठतस्तस्य	३३७	हंत रत्नत्रयं किं न	९०
संवृत्या स्वप्नवत्सर्वं	३८८	(क्ष)	
संवृतं चेत्क नामार्थ-	३८९	क्षणक्षयेऽपि नैवास्ति	३६४
संप्रदायाव्यवच्छेदः	३८	क्षायिकत्वान्न सापेक्ष-	३०७
संस्कारस्याक्षयात्तस्य	८६	क्षित्यादिसमुदायार्थाः	१३५
संस्कारस्यायुरारब्धस्य	८७	क्षीणमोहस्य किं न स्यात्	३२९
संवेदनतरेणैव	१२९	क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये	३३०
संयुक्ते ऽति किन्न स्यात्	१४४	क्षीयते कचिदामूलं	८०
संवेदनाविशेषेऽपि	१७८	(ज्ञ)	
संसारव्याधिविध्वंसः	२३८	ज्ञाताहमिति निर्णीतिः	१९३
ऽद्वादिनामतो युक्तं	३९३	ज्ञानमात्रात्तु यो नाम	८५
स्यादगुणी चेत् स एवात्मा	१५४	ज्ञानमेव स्थिरीभूतं	८८
स्थानत्रयाविसंवादि	६८	ज्ञानसंसर्गतोऽप्येष	९२
स्वसंबन्धि यदीदं स्याद्	६८	ज्ञानाश्रयत्वतो वेधा	९४
स्वचित्तशमनात्तस्य	१०९	ज्ञानवानहमित्येष	१९४
स्वसंवेदनतः सिद्धः	१२५	ज्ञानं विशेषणं पूर्वं	१९५
स्वसंवेदनमप्यस्य	१२६	ज्ञानवानहमित्येष	१९६
स्वसंवेदनमेवास्य	१८३	ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वात्	२९७
स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः	२०३	ज्ञानादेवाशरीरत्व-	३०९
स्वसंवेद्ये नरे नायं	२०६	ज्ञानोत्पत्तौ हि सददृष्टिः	३२२
स्वरूपं चेतना पुंसः	२२६	ज्ञानावृत्यादिकर्माणि	३३०
स्वप्नसिद्धं हि नो सिद्धं	३९०	ज्ञापकानुपलम्भोऽस्ति	७९

